पुष्प नं० १

शांति पथ प्रदर्शन

अर्थात्

जैन दर्शन भाग

लेखक

ब्र० जिनेन्द्र

—(०)—

प्रकाशक

विश्व जैन मिशन

(केन्द्र) पानीपत

दातार सूची

जिन दानी महानुभावो ने इस शुभ कार्य मे सहायता देकर अपने धन को सुकृत बनाया है, उनका आभार प्रदर्शनार्थ उनके नामों की सूची देता हूँ। इस ग्रन्थ के विक्रिय से उपलब्ध द्रव्य पुन: पुन वाणी के प्रकाशनार्थ उपयोग मे लाया जा सके तथा अपात्रो के हाथ मे जाने से ग्रन्थ की जो अविनय होनी सम्भव है उसे रोका जा सके, इसलिये ग्रन्थ को नि:शुल्क न दे कर कम मूल्य पर देना ही उचित समझा गया फिर भी किन्ही असमर्थ जिज्ञासुओ को तथा किन्ही प्रमुख सस्थाओ व मन्दिरों को यह नि:शुल्क ही दिया जायेगा।

रूप चन्द गार्गीय जैन
पानीपत

१	श्रीमान शिवदयाल मल अनूपसिह जी जैन आडती—रोहतक मण्डी	१५००)
२	श्रीमती प्रभावती धर्मपत्नि श्री सुन्दरलाल जी जैन—रोहतक मण्डी	१२१)
३	,, मनोकान्ता देवी धर्मपत्नि श्री फणेन्द्रकुमार जैन—सहारनपुर	५०१)
४	,, फूलवती धर्मपत्नि श्री फणेन्द्रकुमार जैन—सहारनपुर	३०१)
५	,, जयमाला देवी धर्मपत्नि श्री जैनेन्द्र किशोर जैन जौहरी–दरीबा कलां देहली	४०१)
६	,, चन्दाबाई जैन—आनन्द भवन तुको गज इन्दौर	२५१)
७	,, शुगन देवी धर्मपत्नि सेठ फूलचन्द जी जैन—इन्दौर छावनी	२०१)
८	,, लालकुंवर देवी मेहता पलासिया इन्दौर	१०१)
९	,, दयाबाई—श्राविका आश्रम तुको गज इन्दौर	५१)
१०	अन्य मुमुक्षु महिला वर्ग—इन्दौर	१११)
११	श्रीमती कृष्णादुलारी धर्मपत्नि श्री शौकीचन्द जैन इञ्जीनियर—पानीपत	१३५)
१२	,, कैलाशवती धर्मपत्नि श्री लालचन्द जी जैन—पानीपत	१०१)
१३	श्रीमान सीमन्दर दास मुनिसुव्रत दास जी जैन—पानीपत	१०१)
१४	रूपचन्द गार्गीय जैन—पानीपत	५१)
१५	श्रीमान प्रेमचन्द जी जैन कसेरे—पानीपत	५१)
१६	श्रीमती चलती देवी धर्मपत्नि पण्डित जीयालाल जी जैन—पानीपत	५१)
१७	अन्य मुमुक्षु महिला वर्ग—पानीपत	४७५)
१८	श्रीमती सुदेश कुमारी धर्मपत्नि श्री अजितकुमार जी जैन—सिन्दरी	१०१)
१९	श्रीमान जिनेश्वर दास जी जैन डालडा एजेन्ट—मुजफ्फर नगर	१०१)
२०	पुस्तको के मूल्य के प्रति सहारनपुर के ग्राहकों से पेशगी मिले	२००)
		४९०६

दो शब्द

घर पर सर्व सुविधाये उपलब्ध होते हुए भी जीवन शान्तिके लिये व्याकुल था। न
जाने किस प्रकार अन्धकारमे चलते २ मै सहसा ही गुरुवरके द्वारपर पहुच गया,
जहां आकर मानो मै आज ही कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा प्रतीत हो रहा है।
मै एक तुच्छ कीट उन गुरुओ का आभार प्रदर्शन करने को शब्द कहा
से लाऊ। उनके द्वारा प्रदत्त रहस्य के प्रकाशनार्थ यह जो भाषा
निकल रही है, वह भी मेरे हृदय मे स्थित उन ही से चली आ
रही है। मैं तो उस अमृत का एक तृषातुर मृग मात्र हूँ।
प्रस्तुत ग्रन्थ की कर्त्ता तो वह वाणी ही है। मैं तो उसका
एक तुच्छ दास हूँ। इसको लिपि बद्ध करके गुरुदेव
के चरणो मे अर्पण करते हुए आज मुझे अत्यन्त
हर्ष हो रहा है। रहस्य तो गुरुओ का होने के
कारण ठीक ही है, पर लिपि मे इस तुच्छ बुद्धि
की छद्मस्थता के कारण कही भी कोई त्रुटि
रह गई हो तो इस बालक को क्षमा कर
देना और विज्ञ जन उसको सुधार कर
पढ लेना, पर छल ग्रहण न करना।
आधुनिक युग मे वैज्ञानिक व
सरल भाषा के द्वारा वाणी
का प्रसार करना मेरा
और आप सभो का
कर्तव्य है। आओ
हम सब मिलकर
प्रेम – पूर्वक
उसे पूरा
करें।

—ब्र० जिनेन्द्र

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म विज्ञान से ओत प्रोत है। 'अध्यात्म विज्ञान' अत्यन्त परिष्कृत और कोमल रुचि वाले व्यक्तियो के लिये है। इस विज्ञान के छात्र का मन इतना कोमल होता है कि स्व अथवा पर के तनिक से भी दुख को देख कर उसे निवारण करने के लिए छटपटाने लगता है। उसे केवल शान्ति की आकाक्षा होती है। लौकिक सुख भोग वस्तुत. स्थूल रुचि वाले व्यक्तियो को लुभा सकते हैं, कोमल रुचि वालो को नही। लौकिक सुख भोगो के साथ अनिवार्य रूप से लगा रहने वाला तृष्णा जनक दु ख जब किसी ऐसे सूक्ष्म रुचि वाले व्यक्ति को संसार से उदासीन बना देता है, तब ही वह व्यक्ति अध्यात्म विज्ञान के रहस्य को समझ पाता है, और यह विज्ञान उसी व्यक्ति के लिये कार्यकारी भी हो सकता है। शेष व्यक्तियो मे तो इसका पठन पाठन, मात्र भोग है योग नही—

"भुक्तये न तु मुक्तये"

किन्तु ऐसे व्यक्ति मन मे कोमल होने पर भी अत्यन्त दृढ सकल्प शक्ति के होते है। जिन विपत्तियो के ध्यान मात्र से हम लौकिक व्यक्तियो का मन कॉपने लगता है, उन्ही विपत्तियो का सामना वह एक शीतल मधुर मुस्कान के साथ किया करते हैं। उनका नारा होता है—"करेगे या मरेगे"

"कार्य वा साधयेयम्, देह वा पातयेयम्।"

यह मार्ग कोमल हृदय-परन्तु वीर-पुरुषों का है।

अध्यात्म विज्ञान जीवन विज्ञान है। इसमे जीवन की कला निहित है। जीवन का सौम्य विकास इसका प्रयोजन है। जिस प्रकार जीवन-स्तर अर्थात् रहन सहन का स्तर ऊचा उठाने के लिये अर्थ शास्त्र, भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र पढा जाता है, उसी प्रकार जीवन को ऊ चा उठाने के लिये अध्यात्म विज्ञान पढा जाना चाहिए। इस विज्ञान की प्रयोगशाला जीवन है। मन, शरीर और वाणी इस विज्ञान की प्रयोगशाला के यन्त्र हैं। यह विज्ञान जीवन को मृत्यु से अमरत्व, अन्धकार से ज्योति और असत् से सत् की ओर ले जाता है। भारत के बालक बालक को इस विज्ञान के मूल सिद्धान्त पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त होते है। वे सिद्धान्त है-दया, दान और दमन।

भौतिक विज्ञान ने हमे जो कुछ दिया उसका निषेध या अनुमोदन करना यहा अभिप्रेत नही, परन्तु यह आवश्यक है कि हम उसकी सीमाये समझे। जीवन के उपकरणो-धन-ऐश्वर्य और शरीर-का जीवन से तादात्म्य सम्बन्ध मानना समस्त अनर्थ का मूल है। इनमे साधन साध्य सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नही। विज्ञान ने हमे नये नये मनोरञ्जन और यातायात के साधन दिये, तदर्थ विज्ञान का स्वागत है-किन्तु विज्ञान की चकाचौंध मे पड कर अपने को भूल जाने का कोई अधिकार हमे नही।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक बीसवी शती के एक साधक वैज्ञानिक है। भारत मे अध्यात्म विज्ञान जानने वाले पहले बहुत से साधक हुए, परन्तु उनकी परिभाषावली और लेखनशैली हम बीसवी शती के लोगों के लिये न उतनी सुगम है और न उतनी आकर्षक। वर्तमान समय मे अध्यात्म विज्ञान के प्रति अरुचि का यह भी एक कारण है। प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही इस अभाव की पूर्ति करेगा।

रामजस कालेज — दयानन्द भार्गव

२५-११-६० — एम० ए०

प्रकाशकीय वक्तव्य

सर्व साधारण मनुष्य समाज के हितार्थ 'शान्ति पथ प्रदर्शन' ग्रन्थ प्रकाशन करते हुए मुझे बडा हर्ष व उल्लास हो रहा है, क्योकि यह मेरी उन भावनाओ का फल है जो मेरे हृदय मे उस समय उठी थीं जब कि मैने यह सुना कि ब्र० जिनेन्द्र कुमार के अपूर्व प्रवचनो के द्वारा मुजफ्फर नगर की मुमुक्षु समाज मे अध्यात्म पिपासा जागृत हुई और इसके प्रति एक अद्वितीय बहुमान भी। तब मैने सोचा कि यह प्रवचन तो बहुत थोड़े व्यक्तियो को सुनने को मिल सकेंगे और हमारे देश का एक बहुत बडा भाग इनके सुनने से वंचित रह जायेगा। मैंने उनसे प्रार्थना की कि यह प्रवचन लिपि बद्ध करदे। मेरी तथा मुजफ्फर नगर समाज की प्रार्थना पर उन्होने वे सब प्रवचन सकलित कर दिये। फल स्वरूप एक बडे ग्रन्थ की रचना हो गई, जिसमे जैन दर्शन का सार अत्यन्त सरल व वैज्ञानिक भाषा मे जगत के सामने प्रगट हुआ। अन्य स्थानो पर भी यही प्रवचन चले जिनसे वहा की समाज बड़ी प्रभावित हुई और उदार हृदय से उसके प्रकाशनार्थ योग दान दिया। दानी महानुभावो के नाम की सूची आगे दी गई है। मैं इस सहयोग के लिये उनका हृदय से आभारी हूँ।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी ने विश्व जैन मिशन के धर्म प्रचार कार्य की प्रगति, तथा असाम्प्रदायिक मानव प्रेम को देख कर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय इस संस्था को देने का विचार प्रगट किया, और विश्व जैन मिशन के प्रधान संचालक डा० कामता प्रसाद जी की स्वीकारता से पानीपत केन्द्र द्वारा इसके प्रकाशन की आयोजना की गई।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार, जैन जगत तथा वैदिक, बौद्ध व अन्य जैनेतर साहित्य के सुप्रसिद्ध पारगत विद्वान पानीपत निवासी श्री जय भगवान जी जैन एडवोकेट के सुपुत्र है। यही सम्पत्ति पैतृक धन के रूप मे हमारे युवक विद्वान को भी मिली। अध्यात्म क्षेत्र मे आपका प्रवेश बिना किसी बाहर की प्रेरणा के स्वभाव से ही हो गया। बालापने से ही अपने हृदय मे शान्ति प्राप्ति की एक टीस छिपाये वह कुछ विरक्त से रहते थे। फल स्वरूप वैवाहिक बन्धनो से मुक्त रहे। इलैक्ट्रिक व रेडियो विज्ञान का गहन अध्ययन करने के पश्चात् आपने अपनी प्रतिभा बुद्धि का व्यापार क्षेत्र मे दस साल तक प्रयोग किया और खूब प्रगति की। परन्तु धन व व्यापार के प्रति उनको कभी आकर्षण न हुआ। अपने दोनो छोटे भाइयों को समर्थ बना देने मात्र के लिये वह अपना एक कर्तव्य पूरा कर रहे थे। इसीलिये कलकत्ता मे ठेकेदारी का काम सम्भालने मे ज्यो ही वे समर्थ हो गये, आप व्यापार छोड कर वापिस पानीपत आ गये और अपनी शान्ति की खोज मे सच्चे हृदय से व्यस्त हो गये। शीघ्र ही वह इस रहस्य का कुछ कुछ स्पर्श करने लगे। यह साधना उन्होने केवल आठ वर्ष मे पूरी करली। सन् १९५० मे उन्होने स्वतन्त्र स्वाध्याय प्रारम्भ की, सन् १९५४ व ५५ मे सोन गढ रह कर उन्होने उस स्वाध्याय के सार को खूब जाना। अध्यात्म ज्ञान के साथ साथ अन्तर अनुभव व वैराग्य भी बराबर बढता गया, यहा तक कि सन् १९५७ मे आप ब्र० धारण करके गृहत्यागी हो गये। सन् १९५८ मे आप इसरी गये और पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी के सम्पर्क मे रह कर आपने रही सही कमी भी पूरी करली।

सारा हृदय अन्तर शान्ति व प्रेम से ओत प्रोत साम्यता व मधुरता का आवास है। सन् १९५८ मे प्रथम बार मुजफ्फरनगर की मुमुक्षु समाज के समक्ष उनको अपने अनुभव का परिचय

देने का अवसर प्राप्त हुआ, और तब से अब तक उनकी लोक प्रियता इतनी बढ गई कि सब की मांगें पूरी करना उनके लिये असम्भव हो गया। ज्ञान व अन्तर शान्ति के अतिरिक्त, शारीरिक स्वास्थ्य अत्यन्त प्रतिकूल होते हुए भी उनकी बाह्य चारित्र सम्बन्धी साधना भी अति प्रबल है, जिसकी साक्षी कि उनका परिग्रह प्रमाण व जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी नियन्त्रण दे रहा है। पोष व माघ की सर्दियो मे भी वह दो धोतियो व एक पतली सी सूती चादर मे सतुष्ट है।

रूढ़ि व साम्प्रदायिक बन्धनो से परे वह शान्ति के स्वतन्त्र वैज्ञानिक ससार मे वास करते हैं। उनकी भाषा बिलकुल बालकों सरीखी सरल व मधुर है। इन आठ वर्षो की उनकी गहन स्वाध्याय के फल स्वरूप 'जैनेन्द्र कोष' जैसी महान कृति का निर्माण हुआ है जो जैन वाङ्मय मे अपनी जाति की प्रथम कृति है। इसके आठ मोटे मोटे खण्ड है। शीघ्र ही प्रकाश मे आने वाली है। इसके अतिरिक्त भी इनके हृदय से अनेकों ग्रन्थ स्वत निकलते चले आ रहे है, जिनमे से एक यह 'शान्ति पथ प्रदर्शन' भी है।

यद्यपि इस ग्रन्थ मे सम्पादित विषय श्री पूज्यपाद व कुन्दकुन्द आदि महान आचार्यो की देन है, फिर भी श्री जिनेन्द्र कुमार जी ने अपने अध्यात्म बल व सम्यक् आचार विचार की दृढ़ता से जो अनुभव प्राप्त किया है उसका सार इसमें आ जाता है। इन दिनो यद्यपि साहित्य का बहुत बडा निर्माण हुआ है तथा शिक्षण सस्थाये व अध्यात्मिक सत भी अध्यात्म प्रचार की दिशा मे बहुत कार्य कर रहे है, परन्तु विषय की जटिलता व शुष्कता के कारण तथा आगम प्रयुक्त शब्दो का अर्थ सर्व साधारण की समझ मे न आने के कारण धर्म सम्बन्धी अविश्वास और सम्यक् आचार की शिथिलता दिनो दिन जोर पकड़ती जा रही है। आज का युवक धर्म स्वीकार करने को तैयार नही। मार्ग की इस कठिनाई को दूर करने मे यह ग्रन्थ बड़ा प्रभावशाली सिद्ध होगा। पढ़े लिखे युवक इसको पढ कर धर्म की सार्थकता को स्वीकार किये बिना नही रह सकते। विश्व को सुख व शान्ति का मार्ग दर्शाने के लिये यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। यद्यपि आत्म-कल्याण स्वावलम्बन से होता है, फिर भी अनुभव प्राप्त महानुभावो के मार्ग प्रदर्शन से बहुत कुछ सहायता मिलती है।

प्राचीन काल की भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अध्यात्म का विषय कठिनता से ग्रहण होने योग्य समझा जाता रहा है। ससार दु.खो से भयभीत तथा शरीर भोगों से विरक्त व्यक्ति ही इसका अधिकारी होता था। सर्व साधारण जन इस विज्ञान से अनभिज्ञ रहते थे। उनके लिये तो केवल पंच पापो का त्याग तथा दान दया भक्ति रूप व्यवहार धर्म करना ही पर्याप्त था। योग्य अधिकारी को ही अध्यात्म शिक्षा दी जाती थी। इसके विपरीत यद्यपि आजकल सर्व साधारण मे इस विज्ञान की चर्चा तो बहुत होने लगी है परन्तु आचरण मे दिन दिन शिथिलता आती जा रही है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ मे ज्ञान के अनुकूल ही आचरण धारण करने की ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया गया है। आप्त मीमांसा मे कहा है—

"अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीत मोहतः।
ज्ञान स्तोकाच्च मोक्षः स्यात् मोहान्मोहितोऽन्यथा।९८।"

मोही (सम्यक् चारित्र विहीन) का अज्ञान बन्ध का कारण है, परन्तु निर्मोही का अज्ञान

(अल्प ज्ञान) बन्ध का कारण नही है। अल्प ज्ञान होते हुए भी मुक्ति हो जाती है परन्तु मोही को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। (मोह क्षीण हो जाने पर ज्ञान स्वत पूर्ण हो जाता है)।

यह ग्रन्थ धार्मिक साम्प्रदायिकता के विष से निर्लिप्त है। इसमे वस्तु स्वरूप दर्शा कर, शुद्ध अध्यात्म विचारणाओ के द्वारा, जीवन को उन्नत व शान्त बनाने का वैज्ञानिक व स्वाभाविक उपाय बताया गया है। सभी विचारो, सभी जातियो व सभी देशो के व्यक्ति इससे लाभ उठा सकते है।

अन्त मे मै ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी का हृदय से आभारी हूँ कि जिन्होने मेरी छोटी सी प्रार्थना पर लोक कल्याण का इतना बडा कार्य बडा परिश्रम करके पूर्ण किया। प० दयानन्द जी भार्गव एम० ए० शास्त्री, रामजस कालेज, देहली ने इस ग्रन्थ के प्रूफ सशोधन मे सहयोग दिया है, इसलिये मैं उनका कृतज्ञ हू। श्री नेमचन्द जी जैन रईस-महावीर हैट कम्पनी, सदर बाजार, देहली ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बडी सहायता की है तथा कर रहे है। और भी जिन भाइयो ने तन से मन से व धन से इस पुण्य कार्य मे सहयोग दिया है मै विश्व जैन मिशन की ओर से उनको कार्य पूर्ति के लिये धन्यवाद देता हूँ।

मंगसिर शुक्ल अष्टमी
वी० नि० स० २४८७

रूप चन्द गार्गीय जैन
व्यवस्थापक--विश्व जैन मिशन
(केन्द्र) पानीपत

सूची पत्र

V आस्रव बन्ध

* शान्ति पथ प्रदर्शन *

—: मंगलाचरण :—

कार्तिक के पूर्ण चन्द्रमा वत तीन लोक मे शान्ति की शीतल ज्योति फैलाने वाले हे शान्ति चन्द्र वीतराग प्रभु ! जिस प्रकार प्रारम्भ मे ही 'जग' के इस अधम कीट को, भाई बन्धुओ की राग रूप कर्दम से बाहर निकाल कर आपने इस पर अनुग्रह किया है, उसी प्रकार आगे भी सदा उसकी सम्भाल करना ।

सस्कारो को ललकार कर उनके साथ अद्वितीय युद्ध ठानने वाले महा पराक्रमी बाहुबली ! जिस प्रकार कर्दम से बाहर निकाले गये इस कीट के सर्व दोषो को क्षमा कर इसका वाह्य मल आपने पूर्व मे ही धोया था, उसी प्रकार आगे भी इस निर्बल को बल प्रदान करना । ताकि पुन मल की ओर इसका गमन न हो ।

महान उपसर्ग विजयी हे नागपति ! जिस प्रकार व्रतो की यह निधि प्रदान कर, इस अधम का आपने उस समय उद्धार किया था, उसी प्रकार आगे भी इसे उस महान निधान से वञ्चित न रखना ।

हे विश्व मातेश्वरी सरस्वती ! कुसगति मे पडा मै आज तक तेरी अवहेलना करता हुआ, अनाथ बना दर दर की ठोकरे खाता रहा । माता की गोद के सुख से वञ्चित रहा । अब मेरे सर्व अपराधो को क्षमा कर । मुझे अपनी गोद मे छिपा कर भव के भय से मुक्त करदे ।

हे वैराग्य आदर्श गुरुवर ! मुझको अपनी शरण मे स्वीकार किया है, तो अब अत्यन्त शुभ चन्द्र ज्योति प्रदान करके मेरे अज्ञान अन्धकार का विनाश कीजिये ।

* I भूमिका *

—: शिक्षण पद्धति क्रम :—

दिनांक ३० जून १९५९

प्रवचन नं० १

१—प्रत्येक कार्य की प्रयोजकता, २—वक्ता व श्रोता की पात्रता, ३—वक्ता की प्रमाणिकता, ४—वक्तव्य की प्रामिकता, ५—वक्तव्य का विस्तार, ६—श्रोता की पात्रता, ७—पक्षपात व साम्प्रदायिकता का निषेध, ८—वैज्ञानिक व फिलास्फर बनकर चलने की प्रेरणा, ९—पक्षपात निषेध की पुन प्रेरणा।

१ प्रत्येक कार्य की प्रयोजकता

अहो ! शान्ति के आदर्श वीतरागी गुरुओ की महिमा, जिसके कारण आज इस निकृष्ट काल मे भी, जबकि चहुं ओर हाय पैसा ! हाय धन ! के सिवाय कुछ सुनाई नही देता, कही कही इस कचरे मे दबी यह धर्म की इच्छा दिखाई दे ही जाती है। आप सब धर्म प्रेमी बन्धुओ मे उसका साक्षात्कार हो रहा है। यह सब गुरुओ का ही प्रभाव है। सौभाग्य हम सभी का, कि हमे वह आज प्राप्त हो रहा है। लोक पर दृष्टि डालकर जब यह अनुमान लगाने जाते है, कि ऐसे व्यक्ति जिनको कि गुरुओ का यह प्रसाद प्राप्त हुआ है कितने है, तो इस सौभाग्य के प्रति कितना बहुमान उत्पन्न होता है-अपने अन्दर। सर्व लोक ही तो इस धर्म कर्म की भावना से, या इसके सम्बन्ध मे सुनने मात्र की भावना से शून्य है। आज के लोक को तो यह धर्म शब्द भी कुछ कडुआ सा लगता है। ऐसी अवस्था मे हमारे अन्दर धर्म के प्रति उल्लास ? सौभाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है इसे ?

परन्तु कुछ निराशा सी होती है, यह देख कर, कि धर्म के प्रति की भावना का यह भग्नावशेष, क्या काम आ रहा है-मेरे ? पडा है अन्दर-मे-यू ही-बेकार सा। कुछ दिन के पश्चात विलीन हो जायेगी धीरे-धीरे और मै भी जा मिलू गा उन्ही की श्रेणी में, जिनको कि इसके नाम से चिड है। बेकार वस्तु का पडा रहना कुछ अच्छा भी तो नही लगता। फिर उसके पडे रहने से लाभ भी क्या है ? समय बरबाद करने के सिवाय निकलता ही क्या है-उसमे से ? उस भावना के दबाव के कारण कुछ न चाहते हुए भी, रुचि न होते हुए भी, जाना पडता है मन्दिर मे, या पढता हूँ शास्त्र, या कभी कभी चला जाता हूँ किसी ज्ञानी के उपदेश में। मैं स्वय नही जानता कि क्यो ? क्या मिलता है वहाँ ? कभी कभी उपवास भी करना है-देखा देखी। पर क्षुधा की पीडा के अतिरिक्त और रखा ही क्या है उसमे ?

चलो फिर भी यह सोच कर कि लाभ न सही हानि भी तो कुछ नही है। अपनी एक मान्यता ही पूरी हो जायेगी। वह मान्यता जोकि मेरे बाप दादा से चली आ रही है। उनकी मान्यता की रक्षा करना भी तो मेरा कर्तव्य है ही। भले मूर्ति के दर्शन से कुछ मिल न सकता हो, वह मेरी रक्षा न कर सकती हो-मुझ पर प्रसन्न होकर, परन्तु कुछ न कुछ पुन्य तो होगा ही। भले समझ न पाऊ-क्या लिखा है शास्त्र मे, पर इसे पढने का कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही—आगे जाकर—अगले भव मे मुझे ?

इन पण्डित जी ने या इन क्षुल्लक महाराज ने, या ब्रह्मचारी जी ने क्या कहा है, भले कुछ न जान पाऊ, पर कान मे कुछ पडा ही तो है । कुछ तो लाभ हुआ ही होगा उसका ? और इस प्रकार की अनेको धारणाएँ धर्म के सम्बन्ध मे ।

निष्प्रयोजन उपरोक्त क्रियाये करके सतुष्ट हो जाने वाले ओ चेतन । क्या कभी विचारा है इस बात पर, कि तू क्या कर रहा है ? क्यो कर रहा है ? और इसका परिणाम क्या निकलेगा ? लोक मे कोई भी कार्य बिना प्रयोजन तू करने को तैयार नही होता, यहाँ क्यो हो रहा है ? अनेको जाति के व्यापार है लोक मे, अनेको जाति के उद्योग धन्धे है लोक मे, परन्तु क्या तू सबकी ओर ध्यान देता है कभी ? उसी के प्रति तो ध्यान देता है कि जिस से तेरा प्रयोजन है ? अन्य धन्धो मे भले अधिक लाभ हो पर वह तेरे किस काम का ? किसी भी कार्य को निष्प्रयोजन करने मे अपने पुरुषार्थ को खोना मूर्खता है ।

आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी उस भावना के इस भग्नावशेष को कहा जा रहा है-तेरा सौभाग्य । ठीक है प्रभु ! वह फिर भी तेरा सौभाग्य है । क्योकि उन व्यक्तियो को तो, जिन्हे कि इनका नाम सुनना भी नही रुचता, इसके प्रयोजन व इसकी महिमा का भान होना ही असम्भव है , इस को अपनाकर लाभ उठाने का तो प्रश्न ही क्या ? परन्तु इस तुच्छ मात्र निष्प्रयोजन भाव के कारण तुझे वह अवसर मिलने का तो अवकाश है कि जिसे पाकर तू समझ सकेगा-इसके प्रयोजन को-व इसकी महिमा को । और यदि कदाचित समझ गया तो , कृतकृत्य हो जायेगा तू । स्वय प्रभु बन जायेगा तू । क्या इतनी बात कोई छोटी बात है ? महान है यह । क्योकि तुझे अवसर प्राप्त हो जाते है-कभी-कभी-ज्ञानी जनो के सम्पर्क मे आने के, जो बराबर प्रयत्न करते रहते है-तुझे यह समझाने का, कि धर्म का प्रयोजन क्या है ? और इसकी महिमा कैसी अद्भुत है। यह अवसर उनको तो प्राप्त नहीं होता , समझेंगे क्या बेचारे ?

अनेको बार आज तक तुझे ऐसे अवसर प्राप्त हो चुके है-पूर्व भवो मे, और प्राप्त हो रहे है आज । बस यही तो तेरा सौभाग्य है । इससे अधिक कुछ नही । "अनेको बार सुना है मैने धर्म का स्वरूप व उसका प्रयोजन व उसकी महिमा । परन्तु सुनकर भी क्या समझ पाया हूँ- कुछ ? अत यह सौभाग्य भी हुआ न हुआ बराबर ही हुआ" । ऐसा न विचार । क्योकि अब तक भले न समझ पाया हो, अबकी बार अवश्य समझ जायेगा। ऐसा निश्चय है। विश्वास कर । आज वही सौभाग्य जागृत हो गया है-जो पहले सुप्त था ।

२ श्रोता की पात्रता न समझने के कारण कई है। वह सब कारण टल जाये तो क्यो न समझेगा ? पहला कारण है तेरा अपना प्रमाद, जिसके कारण कि तू स्वय करता हुआ भी, अन्दर मे उसे कुछ फोकट की व बेकार की वस्तु समझे हुए है, तथा जिसके कारण कि तू इसके समझने मे उपयोग नही लगाता केवल कानो मे शब्द पडने मात्र को सुनना समझता है । और वचनो के द्वारा बोलने मात्र को पढना समझता है । आख के द्वारा देखने को दर्शन समझता है । दूसरा कारण है वक्ता की अप्रमाणिकता । तीसरा कारण है विवेचन की अक्रमिकता । और चौथा कारण है विवेचन क्रम का लम्बा विस्तार जो कि एक दो दिन मे नही वल्कि महीनो तक वरावर कहते रहने पर ही पूरा होना सम्भव है । और पाँचवा कारण है श्रोता का पक्षपात ।

पहिला कारण तो तू स्वय ही है । जिसके सम्बन्ध मे कि ऊपर बता दिया गया है। यदि इस बात को फोकट की न समझ कर वास्तव मे कुछ हित की समझने लगे, तो कानो मे शब्द पडने

मात्र से सन्तुष्ट न होकर, वक्ता के, उपदेष्टा के, या शास्त्रो के उल्लेख के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करने लगे। और धर्म की महिमा अवश्य समझ मे आ जावे। शब्द सुने जा सकते है पर अभिप्राय नही। वह वास्तव मे रहस्यात्मक होता है परोक्ष होने के कारण। और इसी लिये उन उन वाचक शब्दो का ठीक ठीक वाच्य नही बन रहा है। क्योकि किसी भी शब्द को सुनकर, उसका अभिप्राय आप तभी तो समझ सकते है, जबकि उस पदार्थ को, जिसकी ओर कि वह शब्द सकेत कर रहा है, आपने कभी छू कर देखा हो, सू घ कर देखा हो, आख से देखा हो, अथवा चख कर देखा हो। आज मै आप के सामने अफ्रीका मे पैदा होने वाले किसी फल का नाम लेने लगू, तो आप क्या समझेगे-उसके सम्बन्ध मे ? शब्द कानो मे पड जायेगा और कुछ नही। इसी प्रकार धर्म का रहस्य बताने वाले शब्दो को सुन कर, क्या समझेगे आप ? जब तक कि पहले उन विषयो को, जिनके प्रति कि वह शब्द सकेत कर रहे है, कभी छू कर-सू घ कर-देख कर व चख कर न जाना हो आपने। इसीलिये उपदेश मे कहे जाने वाले, अथवा शास्त्र मे लिखे शब्द ठीक ठीक अपने अर्थ का प्रतिपादन करने को वास्तव मे असमर्थ है। वह केवल सकेत कर देते है किसी विशेष शिक्षा की ओर। यह बता सकते है कि अमुक स्थान पर पडा है-आपका अभीष्ट। यह भी बता सकते है, कि वह आप के लिये उपयोगी है कि अनुपयोगी। परन्तु वह पदार्थ आपको किसी भी प्रकार दिखा नही सकते। हा, यदि शब्द के उन सकेतो को धारण करके, आप स्वय चलकर, उस दिशा में जाये, और उस स्थान पर पहुँच कर, स्वय उसे उपयोगी समझ कर चखे। उसका स्वाद ले, किसी भी प्रकार से, तो उस शब्द के रहस्यार्थ को पकड अवश्य सकते है।

दिनाक १ जुलाई १९५९

प्रवचन न० २

३ वक्ता की प्रमाणिकता

धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा क्या है ? यह समस्या है। उसको सुलझाने के पाच कारण बतलाये गये थे-कल। पहिला कारण था इस विषय को फोकट का समझना तथा उसको रुचि पूर्वक न सुनना। उसका कथन हो चुका। अब दूसरे कारण का कथन चलता है।

दूसरा कारण है वक्ता की अपनी अप्रमाणिकता। आज तक धर्म की बात कहने वाले अनेको मिले, पर उनमे से अधिकतर वास्तव मे ऐसे थे, कि जिन बेचारो को स्वयम् उसके सम्बन्ध मे कुछ खबर न थी। और यदि कुछ जानकार भी मिले तो, उनमे से अधिकतर ऐसे थे जिन्होने शब्दो मे तो यथार्थ धर्म के सम्बन्ध मे कुछ पढा था, शब्दो में कुछ जाना भी था, पर स्वयम् उसका स्वाद न चखा था। अव्वल तो कदापि ऐसा मिला ही नही, जिसने उसकी महिमा को चखा हो, और यदि सौभाग्य वश मिला भी तो, उनकी कथन पद्धति आगम के आधार पर रही। उन शब्दो के द्वारा व्याख्यान करने लगा, जिनके रहस्यार्थ आप जानते न थे। सुनकर समझते तो क्या समझते ?

ज्ञान की अनेको धारायें है। सर्व धाराओ का ज्ञान किसी एक साधारण व्यक्ति को होना असम्भव है। आज लोक मे कोई भी व्यक्ति अनधिकृत विषय के सम्बन्ध में कुछ बताने को तैयार नही होता। यदि किसी सुनार से पूछे कि यह मेरी नब्ज तो देख लीजिये, क्या रोग है, और क्या औषधि दू ? तो कहेगा कि वैद्य के पास जाइये, मै वैद्य नही हूं। इत्यादि। यदि किसी वैद्य के पास जाकर कहू कि देखिये तो यह जेवर खोटा है कि खरा ? खोटा है तो कितना खोट है ? तो अवश्य

यही कहेगा कि सुनार के पास जाओ, मै सुनार नही हूँ, इत्यादि। परन्तु एक विषय इस लोक मे ऐसा भी ह, जो आज किसी के लिये भी अनधिकृत नही। सब ही मानो जानते है-उसे। और वह है धर्म। घर मे बैठा, राह चलता, मोटर मे बैठा, दुकान पर काम करता, मन्दिर मे बैठा या चौपाड़ मे झाड़ू लगाता कोई भी व्यक्ति आज भले कुछ और न जानता हो पर धर्म के सम्बन्ध मे अवश्य जानता है। किसी से पूछिये, अथवा वैसे ही कदापि चर्चा चल जाये, तो कोई भी ऐसा नही है, कि इस फोकट की वस्तु धर्म के सम्बन्ध मे कुछ अपनी कल्पना के आधार पर बताने का प्रयत्न न करे। भले स्वय उसे यह भी पता न हो कि धर्म किस चिडिया का नाम है। भले इस शब्द से भी चिड हो। पर आप को बताने के लिये वह कभी भी टांग अड़ाये बिना न रहेगा। स्वय उसे अच्छा न समझता हो अथवा स्वय उसे अपने जीवन मे अपनाया न हो, पर आपको उपदेश देने से न चूकेगा कभी। सोचिये तो, कि क्या धर्म ऐसी ही फोकट की वस्तु है? यदि ऐसा ही होता तो सबके सब धर्मी ही दिखाई देते। पाप, अत्याचार, अनर्थ, आदि शब्द व्यर्थ ही जाते।

परन्तु सौभाग्य वश ऐसा नही है। फोकट की वस्तु नही है। यह अत्यन्त गुप्त व रहस्यात्मक वस्तु है। अत्यन्त महिमावन्त है। सब कोई इसको नही जानते। शास्त्रो के पाठी बडे बडे विद्वान भी इसके रहस्य को नही पा सकते। कोई बिरला अनुभवी ही ऐसा है जो कि इसके पार को पाया है। बस वही हो सकता है प्रमाणिक वक्ता। इसके अन्य किसी के मुख से धर्म का स्वरूप सुनना ही, इस प्राथमिक स्थिति मे' आप के लिये योग्य नही। क्योकि अनेको अभिप्रायो को सुनने से, भ्रम मे उलझ कर, झु झलाये बिना न रह सकोगे। क्योकि जितने मुख उतनी ही बाते। जितने उपदेश उतने ही आलाप। जितने व्यक्ति उतने ही अभिप्राय। सब अपने अपने अभिप्राय का ही पोषण करते हुए, वर्णन कर रहे है धर्म का स्वरूप। किस की बात को सच्ची समझोगे? क्योकि सब बाते होगी एक दूसरे को झूठा ठहराती। परस्पर विरोधी।

वक्ता की किञ्चित प्रमाणिकता का निर्णय किये बिना जिस किसी से धर्म चर्चा करना या उपदेश सुनना योग्य नही। परन्तु इस अज्ञान दशा में वक्ता की प्रमाणिकता का निर्णय कैसे करे? ठीक है तुम्हारा प्रश्न। है तो कुछ कठिन काम, पर फिर भी सम्भव है। कुछ बुद्धि का प्रयोग अवश्य माँगता है। और वह तुम्हारे पास है। धेले की वस्तु की परीक्षा करने के लिए तो आप मे काफी चतुराई है। क्या जीवन की रक्षक अत्यन्त मूल्यवान इस वस्तु की परीक्षा न कर सकोगे? अवश्य कर सकोगे। पहिचान भी कठिन नही। स्थूलत देखने पर जिसके जीवन मे उन बातो की झाकी दिखाई देती हो जोकि वह मुख से कह रहा हो, अर्थात जिसका जीवन सरल-शान्त व दया पूर्ण हो, जिसके शब्दो मे माधुर्य हो, करुणा हो और सर्व सत्व का हित हो, साम्यता हो, जिसके बचनो मे पक्षपात की बू न आती हो, जो हट्टी न हो, सम्प्रदाय के आधार पर सत्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न न करता हो, वाद विवाद रूप चर्चा करने से डरता हो, आप के प्रश्नो को शान्ति पूर्वक सुनने की जिसमे क्षमता हो, तथा धैर्य से व कोमलता से उसे समझाने का प्रयत्न करता हो, आप की बात सुन कर जिसे क्षोभ न आ जाता हो, जिसके मुख पर मुस्कान खेलती हो, विषय भोगो के प्रति जिसे अन्दर से कुछ उदासी हो, प्राप्त विषयो के भोगने से भी जो घबराता हो, तथा उनका त्याग करने से जिसे सन्तोष होता हो, अपनी प्रशसा सुन कर कुछ प्रसन्न सा और अपनी निन्दा सुन कर कुछ रुष्ट सा हुआ प्रतीत न होता हो, तथा अन्य भी अनेको इसी प्रकार के चिन्ह है जिसके द्वारा स्थूल रूप से आप वक्ता की परीक्षा कर सकते है।

४. विवेचन की अक्रमिकता

तीसरा कारण है विवेचन की अक्रमिकता। अर्थात यदि कोई अनुभवी ज्ञानी भी मिला और सरल भाषा मे समझाना भी चाहा तो भी अभ्यास न होने के कारण या पढाने का ठीक ठीक ढग न आने के कारण, या पर्याप्त समय न होने के कारण, क्रम पूर्वक विवेचन कर न पाया।

क्योकि उस धर्म का स्वरूप बहुत विस्तृत है। जो थोडे समय में या थोडे दिनों मे ठीक ठीक हृदयॉगत कराया जाना शक्य नही है। भले ही वह स्वयं उसे ठीक ठीक समझता पर समझने और समझाने मे अन्तर है। समझा एक समय मे जा सकता है, और समझाया जा सकता है क्रम पूर्वक काफी लम्बे समय मे। समझाने के लिये 'क' से प्रारम्भ करके 'ह' तक क्रम पूर्वक धीरे धीरे चलना होता है-समझाने वाले की पकड के अनुसार। यदि जल्दी करेगा तो उसका प्रयास विफल हो जायगा। क्योकि अनभ्यस्त श्रोता बेचारा इतनी जल्दी पकडने मे समर्थ न हो सकेगा। इसलिये इतने झंझट से बचने के लिये तथा, श्रोता समझता है या नही, इस बात की परवाह किये बिना अधिकतर वक्ता, अपनी रुचि के अनुसार, पूरे विस्तार मे से बीच बीच मे कुछ विषयो का विवेचन कर जाते है, और श्रोताओ के मुख से निकली वाह वाह से तृप्त होकर चले जाते है। श्रोता के कल्याण की भावना नही है - उन्हे। है केवल इस वाह, वाह की। क्योकि इस प्रकार सब कुछ सुन लेने पर भी, वह तो रह जाता है कोरा का कोरा। उस बेचारे का दोष भी क्या हो ? कही कही के टूटे हुए वाक्यो या प्रकरणो से अभिप्राय का ग्रहण हो भी कैसे सकता है ?

और यदि बुद्धि तीव्र है श्रोता की, तो इस अक्रमिक विवेचन को पकड़ तो लेगा पर वह खण्डित पकड उसके किसी काम न आ सकेगी। उल्टा उसमे कुछ पक्षपात उत्पन्न कर देगी-उन प्रकरणो का, जिन्हे कि वह पकड पाया है। और वह द्वेश वश काट करने लगेगा-उन प्रकरणो की, जिन्हे कि वह या तो सुनने नही पाया, और यदि सुना भी हो तो-पूर्वोत्तर मेल न बैठने के कारण, एक दूसरे के सहवर्ती पने को न जान पाया। दोनो को पृथक पृथक अवसरो पर लागू करने लगा, और प्रत्येक अवसर पर दूसरे का मेल न बैठने के कारण काट करने लगा उसकी। इस प्रकार कल्याण की बजाय, कर बैठा अकल्याण; हित की बजाय, कर बैठा अहित, प्रेम की बजाय, कर बैठा द्वेष।

५ वक्तव्य का विस्तार

अथवा यदि सौभाग्य वश कोई अनुभवी वक्ता भी मिला और क्रम पूर्वक विवेचन भी करने लगा, तो श्रोता को बाधा हो गई। अधिक समय तक सुनने की क्षमता न होने के कारण, या परिस्थिति वश प्रतिदिन न सुनने के कारण, या अपने किसी पक्षपात के कारण, किसी श्रोता ने सुन लिया उस सम्पूर्ण विवेचन का एक भाग, और किसी ने सुन लिया उसका दूसरा भाग। फल क्या हुआ ? वही जो कि अक्रमक विवेचन मे बताया गया। अन्तर केवल इतना ही है, कि वहा वक्ता मे अक्रमिकता थी, और यहाँ श्रोता मे। वहाँ वक्ता का दोष था, और यहाँ श्रोता का। परन्तु फल वही निकला पक्षपात, वाद विवाद व अहित।

६ श्रोता के मुख्य दोष

ऊपर बताये गये दोष के अतिरिक्त श्रोता मे और भी कई दोष है। जिनके कारण प्रमाणिकता व योग्य वक्ता मिलने पर भी वह उसके समझने मे असमर्थ रहता है। उन दोषो में से मुख्य है उसका अपना पक्षपात, जो किसी अप्रमाणिकता अथवा अयोग्य वक्ता का विवेचन सुनने के कारण उसमे उत्पन्न हो गया है। अथवा प्रमाणिक और योग्य वक्ता के विवेचन को अधूरा सुनने के कारण उनमे उत्पन्न हो गया है। अथवा पहले से ही बिना किसी का सिखाया कोई अभिप्राय उसमे पडा है। यह पक्षपात वस्तु स्वरूप जानने के मार्ग का सबसे बडा शत्रु है।

क्योकि इस पक्षपात के कारण अव्वल तो अपनी रुचि या अभिप्राय से अन्य कोई बात उसे रुचती ही नही और इस लिये ज्ञानी की बात सुनने का प्रयत्न ही नही करता -वह। और यदि किसी की प्रेरणा से सुनने भी चला जाये, तो समझने की दृष्टि की बजाय सुनता है वाद विवाद की दृष्टि से, शास्त्रार्थ की दृष्टि से, दोष ढूनने की दृष्टि से। जहां अपनी रुचि के विपरीत कोई बात आई, कि पड़

गया उस बेचारे के पीछे-हाथ धोकर । तथा अपने अभिप्राय के पोषक कुछ प्रमाण उसही के वक्तव्य मे से छाट कर, पूर्वापर मेल बैठाने का स्वय प्रयत्न न करता हुआ, बजाय स्वय समझने के समझाने लगता है वक्ता को। "वहा देखो तुमने या तुम्हारे गुरू ने ऐसी बात कही है या लिखी है। और यहा उससे उल्टी बात कह रहे हो"? और प्रचार करने लगता है लोक मे इस अपने पक्ष का, तथा विरोध का। फल निकला है-एक बिशाल द्वेष।

श्रोता का दूसरा दोष है धैर्य हीनता। चाहता है तुरन्त ही कोई सब कुछ बता दे। एक राजा को एक बार कुछ हठ उपजी। कुछ जौहरियो को दरबार मे बुला कर उनसे बोला, कि मुझे रत्न की परीक्षा करना,सिखा दीजिये, नही तो मृत्यु का दण्ड भोगिये। जौहरियो के पाव तले की धरती खिसक गई। असमजस मे पडे सोचते थे, कि एक बृद्ध जौहरी आगे बढा। बोला कि "मै सिखाऊगा, पर एक शर्त पर। बचन दो तो कहूं"। राजा बोला, "स्वीकार है। जो भी शर्त होगी पूरी करू गा"। बृद्ध बोला,"गुरू दक्षिणा पहले लू गा"। हा, हा, तैयार हू। मागो क्या मागते हो? जाओ कोषाध्यक्ष, दे दो सेठ साहब को लाख करोड जो भी चाहिये।" बृद्ध बोला, "कि राजन्! लाख करोड नही चाहिये। बल्कि जिज्ञासा है राज्यनीति सीखने की - और वह भी अभी इसी समय। शर्त पूरी कर दीजिये और रत्न परीक्षा की विद्या ले लीजिये"। "परन्तु यह कैसे सम्भव है?" राजा बोला, "राज्यनीति इतनी सी देर मे थोडे ही सिखाई जा सकती है? वर्षो हमारे मत्री के पास रहना पडेगा"। "बस तो रत्न परीक्षा भी इतनी जल्दी थोडे ही बताई जा सकती है? वर्षो रहना पडेगा दुकान पर"। और राजा को अकल आ गई।

इसी प्रकार धर्म सम्बन्धि बात भी कोई थोडी देर मे सुनना या सीखना चाहे यह बात असम्भव है। वर्षो रहना पडेगा ज्ञानी के सग मे, अथवा वर्षों सुनना पडेगा उसके विवेचन को। जब स्थूल-प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर लौकिक बातो मे भी यह नियम लागू होता है, तो सूक्ष्म परोक्ष-इन्द्रियअगोचर अलौकिक बात मे क्यो लागू न होगा? इसका सीखना तो और भी कठिन है। अत ओ जिज्ञासु! यदि धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा का ज्ञान करना है तो धैर्य पूवक वर्षों तक सुनना होगा। शात भाव से सुनना होगा। और पक्षपात व अपनी पूर्व की धारणा को दबा कर सुनना होगा।

दिनाक २ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३

७. पक्षपात व साम्प्रदायिकता का निषेध

धर्म के प्रयोजन व महिमा को जानने या सीखने सम्बन्धी बात चलती है। अर्थात धर्म सम्बन्धि शिक्षण की बात है। वास्तव मे यह जो चलता है। उसे प्रवचन न कह कर, शिक्षण क्रम नाम देना अधिक उपयुक्त है। किसी भी बात को सीखने या पढने मे क्या क्या बाधक कारण होते है, उनकी बात है। पाच कारण बताये गये थे। उनमे से चार की व्याख्या हो चुकी जिस पर से यह निर्णय कराया गया कि यदि धर्म का स्वरूप जानना है और उससे कुछ काम लेना है तो १ उसके प्रति बहुमान व उत्साह उत्पन्न कर, २ निर्णय करके यथार्थ वक्ता से उसे सुन, ३ अक्रम रूप न सुन कर 'क' से 'ह' तक क्रम पूर्वक सुन, ४ धैर्य धार कर बिना चूक प्रतिदिन महीनो तक सुन।

अब पांचवे बाधक कारण की बात चलती है वह है वक्ता व श्रोता का पक्षपात। वास्तव मे यह पक्षपात बहुत घातक है। इस मार्ग मे साधारणत उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता। कारण पहले बताया जा चुका है। पूरा वक्तव्य क्रम पूर्वक न सुनना ही उस पक्षपात का मुख्य कारण

है। थोडा जानकर "मै वहुत कुछ जान गया हू" ऐसा अभिमान अल्पज्ञ जीवो मे स्वभावत- उत्पन्न हो जाता है। जो आगे जानने की उसे आज्ञा नही देता। वह "जो मैने जाना, सो ठीक है, तथा जो दूसरे ने जाना सो झूठ"। और दूसरा भी "जो मैने जाना सो ठीक तथा जो आपने जाना सो झूठ" एक इसी अभिप्राय को धार परस्पर लडने लगते है। शास्त्रार्थ करते हैं। वाद विवाद करते है। उस वाद विवाद को सुन कर कुछ उसकी रुचि के अनुकूल व्यक्ति उसके पक्ष का पोषण करने लगते है, तथा दूसरे की रुचि के अनुकूल व्यक्ति दूसरे की पक्ष का। उसके अतिरिक्त कुछ साधारण व भोले व्यक्ति भी, जो उसकी वात को सुनते है उसके अनुयायी वन जाते हैं, और जो दूसरे की वात को सुनते है, वे दूसरे के-विना इस वात को जाने कि इन दोनो मे से कौन क्या कह रहा है ? और इस प्रकार निर्माण हो जाता है सम्प्रदायो का। जो वक्ता की मृत्यु के पश्चात भी परस्पर लडने मे ही अपना गौरव समझते रहते है। और हित का मार्ग न स्वय खोज सकते है और न दूसरे को दर्शा सकते हैं। मजे की वात यह है कि यह सव लडाई होती है धर्म के नाम पर।

यह दुष्ट पक्षपात कई जाति का होता है। उनमे से मुख्य दो जाति है। एक अभिप्राय का पक्षपात तथा दूसरा शब्द का पक्षपात। अभिप्राय का पक्षपात तो स्वयं वक्ता तथा उसके श्रोताओ दोनो के लिये घातक है और शब्द का पक्षपात केवल श्रोताओ के लिये। क्योकि इस पक्षपात मे वक्ता का अपना अभिप्राय तो ठीक रहता है। पर विना शब्दो मे प्रगट हुये श्रोता वेचारा कैसे जान सकेगा। अभिप्राय को ? अत वह अभिप्राय मे भी पक्षपात धारण करके, स्वय वक्ता के अन्दर मे पडे हुए अनुक्त अभिप्राय का भी विरोध करने लगता है। यदि विषय को पूर्ण सुन व समझ लिया जाये तो कोई भी विरोधी अभिप्राय शेष न रह जाने के कारण पक्षपात को अवकाश नही मिल सकता। इस पक्षपात का दूसरा कारण है श्रोता की अयोग्यता। उसकी स्मरण शक्ति की हीनता, जिसके कारण कि सारी वात सुन लेने पर भी वीच वीच मे कुछ कुछ वात तो याद रह जाती है, और कुछ कुछ भूल जाती है-उसे। और इस प्रकार एक अखण्डित धारा प्रवाही अभिप्राय खण्डित हो जाता है-उसके ज्ञान मे। फल वही होता है जो अक्रम रूप से सुनने का। तथा पक्षपात का तीसरा कारण है व्यक्ति विशेष के कुल मे परम्परा से चली आई कोई मान्यता या अभिप्राय। इस कारण का तो कोई प्रतिकार ही नही है। भाग्य ही कदाचित प्रतिकार वन जाये। तथा अन्य भी अनेको कारण हैं। जिनका विशेष विस्तार करना यहा ठीक सा नही लगता।

८. वैज्ञानिक व फिलास्फर बनकर चलने की प्रेरणा

हमे तो यह जानना है, कि निज कल्याणार्थ धर्म का स्वरूप कैसे समझे ? धर्म का स्वरूप जानने से पहले इस पक्षपात को तिलाजली देकर यह निश्चय करना चाहिये, कि धर्म साम्प्रदाय की चार दीवारी से दूर किसी स्वतन्त्र दृष्टि मे उत्पन्न होता है। स्वतन्त्र वातावरण मे पलता है। और स्वतन्त्र वातावरण मे ही फल देता है। यद्यपि साम्प्रदायों को आज धर्म के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु वास्तव मे यह भ्रम है। पक्षपात का विषैला फल है। सम्प्रदाय कोई भी क्यो न हो धर्म नही हो सकता। सम्प्रदाय पक्षपात को कहते हैं, और धर्म स्वतन्त्र अभिप्राय को जिसे कोई भी जीव, किसी भी सम्प्रदाय मे उत्पन्न हुआ-छोटा या वड़ा-गरीव या अमीर यहां तक कि तिर्यञ्च या मनुष्य - सव धारण कर सकते हैं, जव कि सम्प्रदाय इस मे अपनी टांग अड़ा कर, किसी को धर्म पालन का अधिकार देता है और किसी को नही देता। आज यह जैन सम्प्रदाय भी वास्तव मे धर्म नही है, सम्प्रदाय है, एक पक्षपात है। इसके आधीन क्रियाओ मे ही कूप मण्डूक वन वर्तने से कोई हित होने वाला नही है।

पहले कभी नही सुनी होगी ऐसी बात, और इसलिये कुछ क्षोभ भी सम्भवत आ गया हो। धारणा पर ऐसी सीधी व कडी चोट कैसे सहन की जा सकती है ? यह धर्म तो सर्वोच्च धर्म है न जगत का ? परन्तु क्षोभ की बात नही है भाई ! शान्त हो। तेरा यह क्षोभ ही तो वह पक्षपात है, साम्प्रदायिक पक्षपात जिसका निषेध कराया जा रहा है। इस क्षोभ से ही तो परीक्षा हो रही है तेरे अभिप्राय की। क्षोभ को दबा। आगे चल कर स्वय समझ जायेगा, कि कितना सार था तेरे इस क्षोभ मे। अब जरा विचार कर, कि क्या धर्म भी कही ऊचा या नीचा होता है ? बड़ा और छोटा होता है ? अच्छा या बुरा होता है ? धर्म तो धर्म होता है। उसका क्या ऊचा नीचा ? उसका क्या जैन पना व अजैन पना ? क्या वैदिक पना क्या मुसलमान पना ? धर्म तो धर्म है। जिसने जीवन मे उतारा उसे हितकारक ही है। जैसा कि आगे के प्रकरणो से स्पष्ट हो जायेगा। उस हित को जानने के लिये कुछ शान्त चित्त होकर सुन। पक्षपात को भूल जा-थोड़ी देर के लिये।

तेरे क्षोभ के निवारणार्थ यहाँ इस विषय पर थोडा और प्रकाश डाल देना उचित समझता हूं। किसी मार्ग विशेष पर श्रद्धान करने का नाम सम्प्रदाय नही है। सम्प्रदाय तो अन्तरग के किसी विशेष अभिप्राय का नाम है, जिसके कारण कि दूसरो की धारणाओ के प्रति कुछ अदेख सका सा भाव प्रगट होने लगता है। इस अभिप्राय को परीक्षा करके पकडा जा सकता है। शब्दो मे बताया नही जा सकता। कल्पना कीजिये कि आज मै यहाँ इस गद्दी पर कोई ब्रह्माद्वैतवाद का शास्त्र ले बैठूं और उसके आधार पर आप को कुछ सुनाना चाहूं, तो बताइये आपकी अन्तर वृती क्या होगी ? क्या आप उसे भी इसी प्रकार शान्ति व रुची पूर्वक सुनना चाहोगे, जिस प्रकार कि इसे सुन रहे है ? सम्भवत: नही। यदि मुझसे लड़ने न लगे तो, या तो यहाँ से उठ कर चले जाओगे और या बैठ कर चुपचाप चर्चा करने लगोगे। या ऊघने लगोगे और या अन्दर ही अन्दर कुछ कुढने लगोगे "सुनने आये थे जिनवाणी, और सुनाने बैठ गये अन्य मत की कथनी।" बस इसी भाव का नाम है, साम्प्रदायिकता।

इस भाव का आधार है-गुरू का पक्षपात। अर्थात जिनवाणी की बात ठीक है, क्योकि मेरे गुरू ने कही है, और यह बात झूठ है क्योकि अन्य के गुरू ने कही है। यदि जिनवाणी की बात को भी युक्ति व तर्क द्वारा स्वीकार करने का अभ्यास किया होता, तो यहा भी उसी अभ्यास का प्रयोग करते। यदि कुछ बात ठीक बैठ जाती तो स्वीकार कर लेते, नही तो नही। इसमे क्षोभ की क्या बात थी ? बाजार मे जायें, अनेको दूकानदार आपको अपनी ओर बुलाये। आप सब की ही तो सुन लेते है। किसी से क्षोभ करने का तो प्रश्न उत्पन्न नही होता। किसी से सौदा पटा तो ले लिया, नही पटा तो आगे चल दिये। इसी प्रकार यहा क्यो नही होता ?

बस इस अदेख सके भाव को टालने की बात कही जा रही है। मार्ग के प्रति जो तेरी श्रद्धा है, उसका निषेध नही किया जा रहा है। युक्ति व तर्क पूर्वक समझने का अभ्यास हो तो सब बातो मे से तथ्य निकाला जा सकता है। भूल भी कदापि नही हो सकती। यदि श्रद्धान सच्चा है तो उसमे बाधा भी नही आ सकती, सुनने से डर क्यो लगता है ? परन्तु "क्योकि मेरे गुरू ने कहा है इसलिये सत्य है' तेरे अपने कल्याणार्थ इस बुद्धि का निषेध किया जा रहा है। वैज्ञानिकों का यह मार्ग नही है। वह अपने गुरू की बात को भी बिना युक्ति के स्वीकार नही करते। यदि अनुसन्धान या अनुभव मे कोई अन्तर पडता प्रतीत होता है, तो युक्ति द्वारा ग्रहण की हुई को भी नही मानता। बस तत्व की यथार्थता को पकडना है तो इसी प्रकार करना होगा। गुरु के पक्षपात से सत्य का निर्णय ही न हो सकेगा। अनुभव तो दूर की बात है। अपनी दही को मीठा बताने का नाम सच्ची श्रद्धा नही है। वास्तव मे मीठी हो, तथा उसके मिठास को चखा हो, तब उसे मीठी कहना सच्ची श्रद्धा है।

देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक जौहरी था। आयु पूर्ण हो गई। पुत्र था तो पर निखट्टू। पिता की मृत्यु के पश्चात अलमारी खोली, और कुछ जेवर निकाल कर ले गया-अपने चचा के पास। "चचा जी, इन्हे बिकवा दीजिये।" चचा भी जौहरी था। सब कुछ समझ गया। कहने लगा बेटा! आज न बेचो इन्हे। बाजार मे ग्राहक नही है। बहुत कम दाम उठेगे। जाओ जहाँ से लाये हो वही रख आओ इन्हे। और मेरी दुकान पर आकर बैठा करो। घर का खर्चा दुकान से उठा लिया करो। वैसा ही किया। और कुछ महीनों के पश्चात पूरा जौहरी बन गया-वह। अब चचा ने कहा, "कि बेटा! जाओ आज ले आओ वह जेवर"। आज ग्राहक हैं-बाजार में। बेटा तुरन्त गया, अलमारी खोली, जेवर के डब्बे उठाने लगा। पर है! यह क्या? एक डब्बा उठाया-रख दिया वापिस, दूसरा उठाया रख दिया वापिस, और इसी तरह तीसरा चौथा आदि। सब डब्बे जू के तूं अलमारी मे रख दिये, अलमारी बन्द करी, और चला आया खाली हाथ-दुकान पर-निराशा मे गर्दन लटकाये-विकल्प सागर मे डूबा वह युवक। 'जेवर नही लाये बेटा?" चचा ने प्रश्न किया। और एक धीमी सी, लज्जित सी आवाज निकली युवक के कण्ठ से "क्षमा करो चचा। भूला था। भ्रम था। वह सब तो कांच है। मैं हीरे समझ बैठा था उन्हे - अज्ञान वश। आज आपसे ज्ञान पाकर आख खुल गई है मेरी।

बस इसी प्रकार तेरे भ्रम की, पक्षपात की सत्ता उसी समय तक है, जब तक कि धैर्य पूर्वक कुछ महीनो तक बराबर उस विशाल तत्व को सुन व समझ नही लेता। उसे सम्पूर्ण को यथार्थ रीत्या समझ लेने के पश्चात तू स्वयं लज्जित हो जायेगा, हसेगा - अपने ऊपर।

जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायेगा। धर्म का स्वरूप साम्प्रदायिक नही वैज्ञानिक है। अन्तर केवल इतना है, कि लोक में प्रचलित विज्ञान भौतिक विज्ञान है और यह आध्यात्मिक विज्ञान। धर्म की खोज तुझे एक वैज्ञानिक बन कर करनी होगी, साम्प्रदायिक बन कर नही। स्वानुभव के आधार पर करनी होगी, गुरुओ के आश्रय पर रह कर न्ही। अपने ही अन्दर से तत्सम्बन्धि 'क्या' और 'क्यों उत्पन्न करके तथा अपने ही अन्दर से उनका उत्तर लेकर करनी होगी, किसी से पूछ कर नहीं। गुरू जो सकेत दे रहे हैं-उनको जीवन पर लागू करके करनी होगी, केवल शब्दो मे नही। तुझे एक फिलास्फर बन कर चलना होगा, कूपमण्डूक बन कर नही। स्वतत्र वातावरण मे जाकर विचारना होगा, साम्प्रदायिक बन्धनो में नहीं।

देख एक वैज्ञानिक का ढग, और सीख कुछ उससे। अपने पूर्व के अनेको वैज्ञानिकों व फिलास्फरो द्वारा स्वीकार किये गये सर्व ही सिद्धान्तो को स्वीकार करके, उनका प्रयोग करता है-अपनी प्रयोग शाला मे, और एक आविष्कार निकाल देता है। कुछ अपने अनुभव भी सिद्धान्त के रूप मे लिख जाता है-पीछे आने वाले वैज्ञानिको के लिये। और वह पीछे वाले भी इसी प्रकार करते हैं। सिद्धान्त मे बराबर वृद्धि होती चली जा रही है। परन्तु कोई भी अपने से पूर्व सिद्धान्त को झूठा मान कर उसको मैं नहीं छूऊंगा ऐसा अभिप्राय नहीं बनाता। सब ही पीछे पीछे वाले अपने से पूर्व पूर्व वालो के सिद्धान्तो मे आश्रय लेकर चलता है। उन पूर्व मे किये गये अनुसन्धानों को पुन, नही दोहराता। इसी प्रकार तुझे भी अपने पूर्व में हुए प्रत्येक ज्ञानी के, चाहे वह किसी नाम, व ग्राम, व सम्प्रदाय का क्यो न हो-अनुभव और सिद्धान्तों से कुछ न कुछ सीखना चाहिये। कुछ न कुछ शिक्षा लेनी चाहिये। किसी न किसी रूप मे उसे अपना कर, अपने जीवन की प्रयोगशाला मे उसको अनुभव करना चाहिये। बाहर से ही, केवल इस आधार पर कि तेरे कुल ने तुझे अमुक बात, अमुक ही शब्दो मे नही बताई है उनके सिद्धान्तों को झूठा मान कर, उनसे लाभ लेने की बजाये उनसे द्वेष करना योग्य नही है। वैज्ञानिको का यह कार्य नही है।

जिस प्रकार प्रत्येक वैज्ञानिक जो जो सिद्धान्त बनाता है, उसका आधार कोई कपोल कल्पना मात्र नही होती, बल्कि होता है उसका अपना अनुभव, जो वह अपनी प्रयोग शालाओ मे प्रयोग विशेष के द्वारा प्राप्त करता है। पहले स्वय प्रयोग करके उसका अनुभव करता है, और फिर दूसरो के लिये लिख जाता है-अपने अनुभव को। कोई चाहे तो उससे लाभ उठा ले, न चाहे तो न उठाये। परन्तु वह सिद्धान्त स्वय एक सत्य ही रहता है। एक ध्रुव सत्य।

इसी प्रकार अनेको ज्ञानियो ने अपने जीवन की प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये-उस धर्म सम्बन्धी अभिप्राय की पूर्ति के मार्ग मे। कुछ उसे पूर्ण कर पाये और कुछ न कर पाये। बीच मे ही मृत्यु की गोद मे जाना पडा। परन्तु जो कुछ भी उन सब ने अनुभव किया, या जो जो प्रक्रियाये उन्होने उन उन प्रयोगो मे स्वय अपनाई वह लिख गये हमारे हित के लिये-कि हम इन मे से कुछ तथ्य समझ कर अपने प्रयोगो में कुछ सहायता ले सके। सहायता लेना चाहे तो ले, और न लेना चाहे तो न ले, परन्तु वे सिद्धान्त सत्य है। परम सत्य है।

इस मार्ग मे इतनी बात दुर्भाग्य वश अवश्य रहती है जो कि वैज्ञानिक मार्ग मे देखने मे नही आती। और वह यह है कि यहाँ कुछ स्वार्थी अनुभव विहीन ज्ञानाभिमानी जन, विकृत कर देते है उन सिद्धान्तो को-पीछे से कुछ अपनी धारणाये उसमे मिश्रण करके। और वैज्ञानिक मार्ग मे ऐसा होने नहीं पाता। पर फिर भी वे विकृतियें दूर की जा सकती हैं-कुछ अपनी बुद्धि से-अपने अनुभव के आधार पर।

ओ जिज्ञासु ! तनिक विचार तो सही, कि कितना बडा सौभाग्य है तेरा कि उन उन ज्ञानियो ने जो बाते बडे बलिदानो के पश्चात बडे परिश्रम से जानी, बिना किसी मूल्य के दे गये तुझे। अर्थात बडे परिश्रम से बनाया हुआ अपना भोजन परोस गये तुझे। और आज भूखा होते हुये भी, तथा उनके द्वारा परोसा यह भोजन सामने रखा होते हुये भी, तू खा नही रहा है इसे, कुछ सशय के कारण या साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण, जिसका आधार है केवल पक्षपात। तुझ सा मूर्ख कौन होगा ? तुझसा अभागा कौन होगा ? ओ जिज्ञासु ! अब इस विष को उगल दे। और सुन कुछ नई बात, जो आज तक सम्भवत. नही सुनी है और सुनी भी हो तो समझी नही है। सर्व दर्शनकारो के अनुभव का सार, और स्वय मेरे अनुभव का सार, जिसमे न कही है किसी का खण्डन, और न है निज की बात का पक्षपात। वैसा वैसा स्वय अपने जीवन मे उतार कर उसकी परीक्षा कर। बताये अनुसार ही फल हो तो ग्रहण कर ले। और वैसा फल न हो तो छोड दे। *पर वाद विवाद किसके लिये और क्यो ? बाजार का सौदा* है। मर्जी मे आये ले, मर्जी मे आये न ले। यह एक नि.स्वार्थ भावना है, तेरे कल्याण की भावना और कुछ नही। कुछ लेना देना नही है तुमसे। तेरे अपने कल्याण की बात है। निज हित के लिये एक बार सुन तो सही। तुझे अच्छी लगे बिना न रहेगी। क्यो अच्छी न लगे, तेरी अपनी बात है। घर बैठे बिना परिश्रम के मिल रही है तुझे। इससे बडा सौभाग्य और क्या हो सकता है ? निज हितके लिए अब पक्षपात की दाह मे इसकी अवहेलना मत कर।

६ पक्षपात निषेध की पुन प्रेरणा — परन्तु पक्षपात को छोड कर सुनना। नही तो पक्षपात का ही स्वाद आता रहेगा, इस बात का स्वाद न चख सकेगा। देख एक दृष्टान्त देता हू। एक चीटी थी। नमक की खान मे रहती थी। कोई उसकी एक सहेली उससे मिलने गई। बोली "बहन, तू कैसे रहती हैं यहा ? इस नमक के खारे स्वाद मे। चल मेरे स्थान पर चल। वहा बहुत अच्छा स्वाद मिलेगा तुझे। तू बड़ी प्रसन्न

होगी-वहां जाकर" । कहने सुनने से चली आई-वह उसके साथ-उसके स्थान पर हलवाई की दुकान में । परन्तु मिठाई पर घूमते हुए भी उसको कुछ विशेष प्रसन्नता न हुई । उसकी सहेली ताड गई-उसके हृदय की वात, और पूछ वैठी उससे "क्यो वहन आया कुछ स्वाद ?" नही कुछ विशेष स्वाद नही । वैसा ही सा लगता है मुझे तो, जैसा वहां नमक पर घूमते हुए लगता था ।" सोच में पड़ गई उसकी सहेली । यह कैसे सम्भव है ? मीठे मे नमक का ही स्वाद कैसे आ सकता है ? कुछ न कुछ गड़बड़ अवश्य है । झुक कर देखा उसके मुख की ओर । "परन्तु बहन ! यह तेरे मुख मे क्या है ?" "कुछ नही, चलते समय सोचा कि वहां यह पकवान मिले कि न मिले, थोड़ा साथ ले चल । और मुंह मे धर लाई छोटी सी नमक की डली । वही है यह" । "अरे ! तो यहां का स्वाद कैसे आवे तुझे ? मुंह में रखी है नमक की डली, मीठे का स्वाद कैसे आयेगा ? निकाल इसे" । डरती हुई ने कुछ कुछ झिझक व आशंका के साथ निकाला उसे । एक ओर रख दिया इसलिये कि थोडी देर पश्चात पुन. उठा लेना होगा इसे । अब तो सहेली कहती है । खैर निकाल दो इसके कहने से और उसके निकलते ही पहुंच गई किसी दूसरे लोक मे । "उठा ले वहन ! अव इस अपनी डली को" सहेली बोली । लज्जित हो गई वह यह सुन कर, क्योकि अव उसे कोई आकर्षण नही था, उस नमक की डली मे ।

वस तुम भी जब तक पक्षपात की यह डली मुख मे रखे वैठे हो, नही चख सकोगे इस मधुर आध्यात्मिक स्वाद को । आता रहेगा केवल द्वेष का कड़वा स्वाद । एक बार मुंह मे से निकाल कर चखो इसे । भले फिर उठा लेना-इसी अपने पहले खाजे को । परन्तु इतना विश्वास दिलाता हूं, कि एक वार के ही इस नई वात के आस्वादन से, तुम भूल जाओगे उसके स्वाद को । लज्जित हो जाओगे उस भूल पर । उसी समय पता चलेगा कि यह डली स्वादिष्ट थी कि कडवी । दूसरा स्वाद चखे बिना कैसे जान पाओगे इसके स्वाद को ?

अत: कोई भी नई वात जानने के लिये प्रारम्भ मे ही पक्षपात का विष अवश्य उगलने योग्य है । इस वात को सुनकर या किसी भी शास्त्र मे पढकर, वक्ता या लेखक के अभिप्राय को ही समझने का प्रयत्न करना । जबरदस्ती उसके अर्थ को घुमाने का प्रयत्न न करना । वक्ता या लेखक के अभिप्राय का गला घोट कर अपनी मान्यता व पक्ष के अनुकूल बनाने का प्रयत्न न करना । तत्व को अनेको दृष्टियो से समझाया जायेगा । सव दृष्टियो को पृथक पृथक जान कर ज्ञान मे उनका सम्मिश्रण कर लेना । किसी दृष्टि का भी निषेध करने का प्रयत्न न करना, अथवा किसी एक ही दृष्टि का आवश्यकता से अधिक पोषण करने के लिये शब्दो में खीचातानी न करना । ऐसा करने से भी अन्य दृष्टियो का निषेध वत ही हो जायेगा । तथा अन्य भी अनेकों वाते है जो पक्षपात के आधीन पडी हैं उन सब को उगल डालना । समन्वयात्मक दृष्टि बनाना । साम्यता धारण करना । इसी मे निहित है तुम्हारा हित और तभी समझा या समझाया जा सकता है-तत्व ।

उपरोक्त इन सर्व पाँचो कारणो का अभाव हो जाये तो ऐसा नही हो सकता कि तुम धर्म के उन प्रयोजन को व उसकी महिमा को ठीक ठीक जान न पाओ । और जान कर उससे इस जीवन में कुछ नवीन परिवर्तन लाकर, किञ्चित इसके मिष्ट फल की प्राप्ति न करलो, और अपनी प्रथम की ही निष्प्रयोजन धार्मिक क्रियाओ के रहस्य को समझ कर उन्हें सार्थक न बना लो ।

* II धर्म व शान्ति *

२

—: धर्म का प्रयोजन :—

१—धर्म की आवश्यकता क्यों, २—धर्म का प्रयोजन शान्ति, ३—उपाय जानने का वैज्ञानिक ढग ४—वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता, ५—अशान्ति का कारण इच्छायें।

दिनांक ३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४

१. धर्म की आवश्यकता क्यों — धर्म सम्बन्धी वास्तविकता को जानने के लिये, वक्ता व श्रोता की आवश्यकताये व शिक्षण पद्धति क्रम को जानने के पश्चात; तथा धर्म सम्बन्धी बात को जानने के लिये, उत्साह प्रगट हो जाने के पश्चात; अब यह बात जाननी आवश्यक है, कि धर्म कर्म की जीवन मे आवश्यकता ही क्या है? जीवन के लिये यह कुछ उपयोगी तो भासता नही। यदि बिना किसी धार्मिक प्रवृतियो के ही जीवन विताया जाये तो क्या हर्ज है ? फिलास्फर बनने के लिये कहा गया है न मुझे।

प्रश्न बहुत सुन्दर है। और करना भी चाहिए था। अन्दर मे उत्पन्न हुए प्रश्न को कहते हुए शर्माना नही चाहिए, नही तो यह विषय स्पष्ट न होने पायेगा। प्रश्न बेधडक कर दिया करो। डरना नही। वास्तव मे ही धर्म की कोई आवश्यकता न होती, यदि मेरे अन्तर की सर्व अभिलाषाओ की पूर्ति साधारणत' हो जाती। कोई भी पुरुषार्थ किसी प्रयोजन वश ही करने मे आता है। किसी अभिलाषा विशेष की पूर्ति के लिये ही कोई भी कार्य किया जाता है। ऐसा कोई कार्य नही, जो बिना किसी अभिलाषा के किया जा रहा हो।

२ धर्म का प्रयोजन शान्ति — अत उपरोक्त बात का उत्तर पाने के लिए मुझे विश्लेषण करना होगा अपनी अभिलाषाओ का। ऐसा करने से स्पष्टत कुछ ध्वनि अन्तरग से आती प्रतीत होगी। इस रूप मे "कि मुझे शान्ति चाहिये, मुझे सुख चाहिए, मुझे निराकुलता चाहिये। यह ध्वनि छोटे बडे सर्व ही प्राणियो की चिर परिचित है। क्योकि कोई भी ऐसा नही है कि इस ध्वनि को बराबर उठते न सुन रहा हो। और यह ध्वनि कृत्रिम भी नही है। किसी अन्य से प्रेरित होकर, यह सीख उत्पन्न हुई हो, ऐसी नही है। स्वाभाविक है। कृत्रिम बात का आधार तो वैज्ञानिक जन नही लिया करते। परन्तु इस स्वाभाविक ध्वनि का कारण तो अवश्य जानना पडेगा।

अपने अन्दर की इस ध्वनि से प्रेरित होकर, इस अभिलाषा की पूर्ति के लिये, मै कोई प्रयत्न न कर रहा हूँ, ऐसा भी नही है। मै बराबर कुछ न कुछ उद्यम कर रहा हूँ। जहाँ भी जाता हूँ कभी खाली नही बैठता, और कब से करता आ रहा हूँ यह भी नही जानता। परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि

सब कुछ करते रहते हुये भी, वडे से वडा धनवान या राजा आदि वन जाने पर भी, यह ध्वनि आज तक शान्त होने न पाई है। यदि शान्त हो गई होती, या उसके लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ जितनी देर तक चलता रहता है, उतने अन्तराल मात्र के लिये भी कदाचित शान्त होती हुई प्रतीत होती, तो अवश्य ही धर्म आदि की कोई आवश्यकता न होती। उसी पुरुषार्थ के प्रति और अधिक उद्यम करता और कदाचित सफलता प्राप्त कर लेता। वह शान्ति की अभिलाषा ही मुझे वाध्य कर रही है कोई नया आविष्कार करने के लिये, जिसके द्वारा कि मैं इसकी पूर्ति कर पाऊ। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। और इसी कारण से धर्म का आविष्कार ज्ञानी जनों ने अपने जीवन मे किया, और उसी का उपदेश सर्व जगत को भी दिया है, तथा दे रहे हैं, किसी स्वार्थ के कारण नही, वल्कि प्रेम व करुणा के कारण, कि किसी प्रकार आप भी सफल हो सके उस अभिलाषा को शान्त करने मे।

३. उपाय जानने का वैज्ञानिक ढग

किस प्रकार किया उन्होने यह आविष्कार ? कहाँ से सीखा इसका उपाय ? कही वाहर से नही। अपने अन्दर से। उपाय ढू ढने का जो वैज्ञानिक ढग है-उसके द्वारा। उपाय ढू ढने का वैज्ञानिक व स्वाभाविक ढग यद्यपि सबके अनुभव मे प्रतिदिन आ रहा है। पर विश्लेषण न करने के कारण सैद्धान्तिक रूप से उसकी धारणा किसी को नही है। देखिये उस कबूतर को जिसकी अभिलाषा है कि आपके कमरे मे किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर पाये अपना घोसला वनाने के लिये। कमरे मे प्रवेश करने का उपाय किससे पूछे। स्वय अपने अन्दर से ही उपाय निकालता है। अत प्रयत्न करता है। कभी इस द्वार पर जाता है और वन्द पाकर वापिस लौट जाता है। कुछ देर पश्चात उस खिडकी के निकट जाता है, वहां सरिये लगे पाता है। सरियो के वीच मे गर्दन घुसाकर प्रयत्न करता है-घुसने का, परन्तु सरियो में अन्तराल कम होने के कारण उसका शरीर निकल नही पाता-उनके वीच मे से। फिर लौट आता है। दूसरी दिशा मे जाता है। वहाँ भी वैसा ही प्रयत्न। फिर तीसरी मे और फिर चौथी दिशा मे। कही से मार्ग न मिला। सामने वाले मण्डेर पर वैठकर सोच रहा है-अव भी उसी का उपाय। निराश नही हुआ है। हैं! यह क्या है-ऊपर छत के निकट ? चल कर देखू तो सही। एक रोशनदान। झुक कर देखता है-अन्दर की ओर। कुछ भय के कारण तो नही है वहाँ ? नही नही-कुछ नही है। रोशनदान मे घुस जाता है। कमरे की कार्निस पर वैठ कर प्रतीक्षा करता है-कुछ देर कमरे के स्वामी के आने की। स्वामी आता है, तो देखता है गौर से उसकी मुखाकृति को। क्रूर तो नही है ? नहीं, भला आदमी है। और फिर जाता है और आता है वे रोक टोक। मानो उसके लिये ही बनाया था यह द्वार। इसी प्रकार एक चींटी भी पहुँच जाती है अपने खाद्य पदार्थ पर, और थोड़ी देर इधर उधर घूम कर मार्ग निकाल ही लेती है-डव्वे मे प्रवेश पाने का।

विश्लेपण कीजिये-इन छोटे से जन्तुओ की इस प्रक्रिया का। धैर्य और साहस के साथ वार वार प्रयत्न करना। असफल रहने पर भी एक दम निराश न हो जाना। एक द्वार उपयुक्त न दीखे तो दूसरी दिशा मे जाकर ढूंढना या दूसरे द्वार पर ट्राई करना और अन्त मे सफल हो जाना। यह है क्रम किसी अभीष्ट विषय के उपाय ढू ढने का। इसे वैज्ञानिक जन कहते है 'Trial & Error Theory' सफल न होने पर प्रयत्न की दिशा घुमा देने का सिद्धान्त। आप स्वय भी तो इस सिद्धान्त का प्रयोग कर रहे हैं-अपने जीवन में। कोई रोग हो जाने पर, आते हो वैद्यराज के पास। औषधि लेते हो। तीन चार दिन खा कर देखने के पश्चात कोई लाभ होता प्रतीत नही होता। तो वैद्य जी से कहते हो-औषधि वदल देने के लिये। उससे भी यदि काम न चले तो पुन. वही क्रम। और अन्त मे तीन वार औषधि वदली जाने पर, मिल ही जाती है- कोई अनुकूल औषधि। इस प्रक्रिया का विश्लेपण करने पर भी तो उपरोक्त ही फल निकलेगा।

बस यही है वह सिद्धान्त, जो यहाँ शान्ति प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे भी लागू करना है ।- किसी अनुभूत व दृष्ट विषय का विश्लेषण करके एक सिद्धान्त बनाना, तथा उसी जाति के किसी अननुभूत व अदृष्ट विषय पर लागू करके अभीष्ट की सिद्धि कर लेना ही तो वैज्ञानिक मार्ग है-किसी नवीन खोज करने का । शान्ति की नवीन खोज करनी है तो उपरोक्त सिद्धान्त को लागू कीजिये । एक प्रयत्न कीजिये, यदि सफल न हो तो उस प्रयत्न की दिशा घुमा कर देखिये, फिर भी सफलता न मिले तो पुन. कोई और प्रयोग कीजिये, और प्रयोगों को बराबर बदलते जाइये जब तक कि सफल न हो जाये ।

४. वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता

अब प्रश्न होता है यह कि क्या आज तक प्रयत्न नही किया ? नही ऐसी तो बात नही है। प्रयत्न तो किया है, और बराबर करता आ रहा है । प्रयत्न करने मे कमी नही है । धन उपार्जन करने मे, जीवन की आवश्यक वस्तुऐं जुटाने में, उन की रक्षा करने मे, तथा उनको भोगने में अवश्य तू पुरुषार्थ कर रहा है, और खूब कर रहा है । फिर कमी कहाँ है जो आज तक असफल रहा है-उसकी प्राप्ति मे ? कमी है प्रयोग को बदल कर न देखने की । प्रयत्न तो अवश्य करता आ रहा है, पर अव्वल तो आज तक भी कभी तुझे यह विचारने का अवसर ही न मिला, कि तुझे सफलता नही मिल रही है, और यह यदि प्रतीति भी हुई, तो प्रयोग बदल कर न देखा । वही पुराना प्रयोग चल रहा है-जो पहले चलता था धन कमाने का, भोगो की उपलब्धि व रक्षा का तथा उन्हे भोगने का । कभी विचारा है यह कि अधिक से अधिक भोगो को प्राप्त करके भी यह ध्वनि शान्त नही हो रही है,तो अवश्यमेव मेरी धारणा मे--मेरे विश्वास मे कही भूल है । धन या भोग शान्ति की प्राप्ति का उपाय ही नही है । यदि ऐसा होता तो अवश्य ही मैं शान्त हो गया होता । आवाज का न दबना ही यह बता रहा है कि मेरा उपाय झूठा है । वास्तव मे उपाय कुछ और है, जिसे मै नही जानता । अत. या तो किसी जानकार से पूछ कर, या स्वयं पुरुषार्थ की दिशा घुमा कर देखूं तो सही । इस उपरोक्त प्रयोग को यदि अपनाता , तो अवश्य आज तक वह मार्ग पा लिया होता ।

अब सुनने पर तथा अपनी धारणा बदल जाने के कारण, कुछ इच्छा भी प्रगट हुई हो-यदि प्रयत्न बदलने की, तो उससे पहले तुझको यह बात जान लेनी आवश्यक है, कि किस चीज का आविष्कार करने जा रहा है तू ? क्योकि बिना किसी लक्ष्य के हुये किस ओर लगायेगा पुरुषार्थ को । केवल शान्ति व सुख कह देने से काम नही चलता । उस शान्ति या सुख की पहिचान भी होनी चाहिये, ताकि आगे जाकर भूल वश पहले की भान्ति उस दु,ख या अशान्ति को सुख या शान्ति न मान बैठे, और तृप्त वत सा हुआ चलता चला जाये-उसी दिशा मे-बिल्कुल असफल व असन्तुष्ट ।

५. अशान्ति का कारण इच्छायें

शान्ति की पहिचान भी अनुभव के आधार पर करनी है, किसी की गवाही लेकर नही और बडी सरल है वह । केवल अन्तरंग के परिणामो का या उस अन्तर ध्वनि का विश्लेषण करके देखना है । असन्तोष मे डूबी आज वही की ध्वनि प्रतिक्षण मांग रही है-तुझसे, 'कुछ और । "कुछ और चाहिये । अभी तृप्त नही हुआ । अभी कुछ और भी चाहिये " बराबर ऐसी ध्वनि सुनने मे आ रही है, वास्तव मे इस ध्वनि का नाम ही तो है-अभिलाषा, इच्छा या व्याकुलता, क्योकि इच्छा की पूर्ति का न होना ही व्याकुलता है । क्या कुछ सन्देह है-इसमे भी ? यदि है तो देख, आज तुझे इच्छा है-अपनी युवती कन्या का जल्दी से जल्दी विवाह करने की, पर योग्य वर न मिलने के कारण कर नही पा रहा है । तेरी इच्छा पूरी नही हो रही है । बस यही तो है तेरे अन्दर की व्याकुलता, व्यग्रता, अशान्ति या दु;ख ।

पुरुषार्थ करके अधिकाधिक कमा डाला, पर उस ध्वनि की ओर उपयोग गया तो, आश्चर्य हुआ यह देख कर, कि जूं जूं धन वढ़ा वह 'कुछ और' की ध्वनि और और वलवान ही होती गई जूं जूं भोग भोगे, भोगो के प्रति की अभिलाषा और और बढती ही गई। क्या कारण है-इसका ? जितनी कुछ भी धनराशि की प्राप्ति हुई थी, उतनी तो इस को कम होना चाहिये था या बढना ? बस सिद्धान्त निकल गया कि इच्छाओं का स्वभाव ही ऐसा है, कि ज्यों ज्यों इसकी मांग पूरी करें त्यो त्यों दबने की वजाय और और वढे। इच्छा के वढने मे भी सम्भवत: हर्ज न होता, यदि यह सम्भव होता, कि एक दिन जाकर इस इच्छा का अन्त आ जायेगा। क्योंकि इच्छा का अन्त आ जाने पर भी मैं पुरुषार्थ करता रहूंगा—और और धन कमाने का। और एक दिन इतना सचय कर लूंगा, कि उसकी पूर्ति हो जाये। परन्तु विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीति मे आता है, कि इच्छा का कभी अन्त न होगा। इच्छा असीम है, और इसके सामने पडी है तीन लोक की सम्पत्ति सीमित। सम्भवत. इतनी मात्र, कि इच्छा के खड्डे मे पड़ी हुई इतनी भी दिखाई न दे, जैसा कि कोई परमाणु। इस पर भी इसको बटवाने वाली इतनी वड़ी जीव राशि ? क्योकि सव ही को तो इच्छा है-उसकी-तेरी भान्ति। बता क्या सम्भव है ऐसी दशा से-इस इच्छा की पूर्ति ? इसका अनन्तवा अश भी तो सम्भवत: पूर्ण न हो सके ? फिर कैसे मिलेगी-तुझे-शान्ति-धन प्राप्ति के पुरुपार्थ से ? वस वन गया सिद्धान्त। धन व भोगो की प्राप्ति का नाम सुख व शान्ति नही। वल्कि उनका अभाव शान्ति है। और इस लिये धनोपार्जन या भोगो सम्बन्धी पुरुषार्थ, इस दिशा का सच्चा पुरुपार्थ नही है।

३

—: शान्ति की पहिचान :—

दिनाक ४ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ५

१—भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है, २—भोग इच्छाओं का मूल, ३—चार कोटि की शान्ति, ४—सच्ची या झूठी शान्ति की पहिचान।

१. भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है

शान्ति की पहिचान की बात चलती है। धनोपार्जन या विषय भोगों मे शान्ति नही है यह बात कल बताई गई। परन्तु सन्तोष न हुआ-उसे सुनकर। अभी भी अन्तरग मे बैठा कोई अभिप्राय यह कह रहा है, कि भले इच्छा का अन्त न आये, पर भोग आदि के क्षण मे तो कुछ सुख प्रतीत होता ही है। फिर सर्वथा उसे दु,ख किस प्रकार कह सकते है? ठीक है भाई! प्रश्न सुन्दर है। यह बात ही आज बताई जायेगी, कि वह क्षणिक सुख जो भोग भोगते समय प्रतीत होता है, झूठा है। मेरे कहने मात्र से विश्वास न कर लेना, और किसी के कहने से विश्वास आता भी तो नही। हृदय कब मानता है? ले तो इस बात की प्रमाणिकता स्वयं तेरी अन्तरध्वनि से ही सिद्ध करता हू। सुन-।

२. भोग इच्छाओं का मूल

एक बात तो आचुकी, कि ज्यों ज्यो भोगो की प्राप्ति होती है, त्यो त्यो इच्छा बढती है, इसलिये भोगो की प्राप्ति मे शान्ति नही। दूसरी बात यह है, कि भोग भोगते समय भी तो उसे शान्ति नही कह सकते। जरा यह तो विचार, कि वह क्षणिक सुखाभास, सुख है कि क्षणिक तीव्र वेदना का प्रतिकार? देख भोग भोगने से पहले ही, उस भोग के प्रति अकस्मात ही कोई तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा तेरी पूर्व वाली इच्छाओ के अतिरिक्त, कोई नवीन ही होती है-किसी तीव्र रोग-वत। भोग-द्वारा इस नवीन इच्छा का प्रतिकार मात्र किया गया, जिसके कारण कुछ क्षणो के लिये वह इच्छा दब सी गई। पर यह न विचारा तू ने, कि इसके इस प्रकार दबाने का after effect उत्तर फल क्या हुआ? पूर्व की इच्छा मे और वृद्धि। भोग से पहले नवीन तीव्र इच्छा, और भोग के पश्चात पूर्व इच्छा मे वृद्धि होते हुये भी, क्या इस भोग को सुख कहा जा सकता है? किसी प्रकार भी इसे सुख कह लिया जा सकता, यदि भोग भोगते समय भी पुरानी इच्छा मे कोई क्षणिक कमी आ जाती। उसमे तो उस समय भी कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई प्रतीत होती है। भोग भोगते समय जो वह इच्छा प्रतीति मे नही आती, वह भ्रम है।

देख, कल्पना कर कि तेरे दातो मे दर्द है-बड़ा तीव्र। तडफ रहा है-तू-उसकी पीडा से। इसी हालत मे बैठा दिया जाये तुझे-कुछ खडी सुइयो पर, तो बता दात की पीडा भासेगी या सुइयो के चुभने की? स्पष्ट है कि उस समय दात की पीडा तेरे उपयोग मे ही न आ सकेगी। क्या पीड़ा चली गई? नही, ज्यों की त्यो है। अब उठा लिया गया उन सुइयो पर से। तब कुछ सुख सा लगा, या दु ख? स्पष्ट

है कि कुछ सुख सा महसूस होगा। क्योकि सुइयो की तीव्र पीडा जिसने दात की पीड़ा को ढक दिया था, अब दूर हो गई है। बता तो सही, कि क्या दान्त की पीड़ा मे कुछ कमी पडी ? नही ज्यों की त्यों है। बल्कि सुइयो पर से उठने के पश्चात, अवशेष रही सुइयां चुभने की कुछ पीडा बढ़ गई है-इसमें। और कुछ देर के पश्चात-वही दान्त की पीड़ा, वही तड़पन। साथ साथ सुइयों की थोड़ी सी पीड़ा भी।

बस इसी प्रकार भोग भोगते हुये समझना। भोग की तीव्र अभिलाषा कुछ देर के लिये, पहले की इच्छा पर हावी होकर उसे उपयोग मे आने से अवश्य रोक लेती है, पर उसका अभाव नही कर देती। भोग भोगते समय इस नवीन तीव्र इच्छा का कुछ प्रतिकार हो जाने के कारण, उपयोग मे आई वह इच्छा दबी सी अवश्य प्रतीत होती है। पर पूर्व इच्छा मे अब भी कोई कमी नही आती, बल्कि इस नवीन इच्छा के प्रतिकार के उत्तर फल रूप से उसमे वृद्धि अवश्य हो जाती है। जैसेकि मियादी बुखार को औषधि के द्वारा दबा देने पर, दिल की कमजोरी आदि कई नवीन रोग उत्पन्न हो जाने पर भी रोगी अपने को अच्छा हुआ मान लेता है। यह उसका भ्रम नही तो क्या है ?

३. चार कोटि की शान्ति — लोक मे अनुभव की जाने वाली शान्तिये कई प्रकार की होती है। उनके कुछ भेदो को दर्शा देना यहाँ आवश्यक है। क्योंकि उनको जाने बिना सच्ची व झूठी शान्ति मे विवेक न किया जा सकेगा, और उसके अभाव मे अपने पुरुषार्थ की दिशा की भी ठीक प्रकार से परीक्षा न की जा सकेगी। क्योकि वास्तव मे मार्ग की परीक्षा का आधार आगम नही, बल्कि शान्ति का अनुभव है।

शान्तियो को मुख्यत: चार कोटियो में विभाजित किया जा सकता है। जो उत्तरोत्तर कुछ अधिक अधिक निर्मलता व सन्तोष लिये हुए है। एक शान्ति तो वही है जो ऊपर दर्शा दी गई है। अर्थात भोग की नवीन तीव्र इच्छा के किञ्चित प्रतिकार से, क्षण भर के लिये प्रतीति मे आने वाली, इन्द्रिय भोगो सम्बन्धी। दूसरी शान्ति, जो इससे कुछ ऊची है, वह प्राय' अपने कर्तव्य की पूर्ति हो जाने पर कदाचित अनुभव करने मे आती है भोगो से निर्पेक्ष होने के कारण वह कुछ पहली की अपेक्षा अधिक निर्मल है।

दृष्टांत द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि आपकी कन्या की शादी है। नाता करने के दिन से ही आपकी चिन्तायें, सामानादि जुटाने के सम्बन्ध मे, बराबर बढ़ रही है, यहां तक कि उस दिन, जिस दिन कि बारात घर पर आई हुई है आप पागल से बन गये है। न आपको चिन्ता नहाने की है न खाने की। आपको यह भी याद नही कि आज कमीज़ ही नहीं है- बदन मे। बौखलाये हुए से, सबकी कुछ कुछ बाते सुनने पर भी, किसी को कुछ उत्तर नही दे सकते। "मै कुछ नही जानता भई। तुम करलो जो चाहो" बस होता था एक वाक्य, जो कभी कभी निकल जाता था-मुंह से। बारात विदा हुई। डोला आंखो से ओझल हुआ। घर को लौटे, और बैठ गये अपने घर के चबूतरे पर दो मिनट को-एक कुछ सन्तोष की ठण्डी सी साँस लेते। आ हा हा ! अब कुछ बोझ हल्का हुआ। मानो किसी ने मनों की गठडी सर से उतार ली हो। भले ही अगले मिनट मे अन्य अनेको चिन्तायें आकर घेर लें, पर उस क्षण मे तो कोई हल्कापन सा, कुछ शान्ति सी, अवश्य प्रतीति मे आई, जिसका सम्बन्ध न खाने से था, न धन की उपज से। न अन्य किसी भोग विलास से। फिर भी यह शान्ति क्यो ? केवल इसलिये कि गृहस्थि के कर्तव्य का एक भार था, जो आज हल्का हो गया।

तीसरी शान्ति है वह, जो प्राणियों को नि स्वार्थ सेवा से उत्पन्न होती है। यह उसकी अपेक्षा कुछ और ऊंची है। क्योंकि इसमे न है भोग विलास, और न ही गृहस्थ सम्बन्धी कोई कर्तव्य। इस शान्ति का कारण भी यद्यपि कर्तव्य परायणता ही है, पर यहाँ कर्तव्य केवल ५ व्यक्तियो के सकुचित कुटुम्ब सम्बन्धी न होकर, समस्त विश्व के प्रति है। दृष्टि मे विशालता है, और अपने कर्तव्य के अतिरिक्त कोई लौकिक आकांक्षा या अभिलाषा नही है। अत यह शान्ति बहुत अधिक निर्मल है। इस अत्यन्त निर्मलता का कारण है, उसकी सर्व प्राणियो पर साम्यता व निराभिलाषता। और चौथी शान्ति है वह जिसके प्रति कि सकेत मात्र किया जा सकता है, परन्तु जो आज तक आपके जीवन में प्रगट नही हो पाई है। अत· इसके लिये कोई दृष्टान्त नही दिया जा सकता। वह अकथनीय है। केवल अनुभवनीय है। इतना मात्र अवश्य अनुमान कराया जा सकता है इसके सम्बन्ध मे कि तीसरी कोटि से भी अनन्त गुणी है इसकी निर्मलता। और उसका कारण भी है उसकी अपेक्षा अनन्त गुणी साम्यता व निरभिलाषता।

४. सची व झूठी शान्ति की पहिचान

तीन प्रकार की शान्तियों पर से विश्लेषण कर लेने पर, हम शान्ति की यथार्थता व निर्मलता सम्बन्धी एक सिद्धान्त बना सकते है "शान्ति वहा है जहा अभिलाषा न रहे शान्ति वहां है जहां सर्व के प्रति साम्यता हो, शान्ति वहां जहा दृष्टि मे व्यापकता हो, शान्ति वहां है, जहा कोई लौकिक स्वार्थ न हो। इसके अतिरिक्त एक पांचवी बात और भी है, जो इन तीनों मे तो नही पर उस चौथी शान्ति में पाई जाती है। वही चिन्ह वास्तव मे, उसमे और इस तीसरी मे भेद दर्शाता है। और वह है, सर्व लोकाभिलाषा का सर्वथा प्रशमन। एक मात्र उसी शान्ति के प्रति का बहुमान। जहाँ अन्तर मे उठने वाली, "कुछ और" की ध्वनि सिमट कर-रूप धर ले-'बस यही' का। "वस यही चाहिए मुझे कुछ और नही। तीन लोक की सम्पत्ति भी धूल है-इसके सामने।" ऐसा भाव जहां उत्पन्न हो जाये, वह है चौथी शान्ति। इस चिन्ह का न पाया जाना, इस बात का द्योतक है, कि इसमे कही न कही छिपी पड़ी है-कोई अभिलाषा और जहां अभिलाषा का कण मात्र भी शेष है, वहां निरभिलाषता का लक्षण घटा नही कहा जा सकता।

इन चारो में से प्रथम तो बिल्कुल झूठी है, क्योंकि वह तो शान्ति का भ्रम रूप है, जैसा कि दर्शाया जा चुका है। दूसरी भी झूठी है। क्योंकि यद्यपि निरभिलाषता का लक्षण यहां घटित होता है, परन्तु साम्यता, दृष्टि की व्यापकता, नि स्वार्थता, व 'बस यही की ध्वनि वाले लक्षण यहां घटित नही होते। तीसरी शान्ति भी यद्यपि बहुत निर्मल है, परन्तु झूठी है। क्योकि सर्व लक्षण घटित होते हुये भी "बस यही" का लक्षण यहाँ धटित नही होता। चौथी शान्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति, यदि बहुत ऊचे भी बढेगा, तो इस तीसरी शान्ति पर आकर अटक जायेगा, और इसी को सच्ची मान कर, इसके प्रति अपने पुरुषार्थ की सार्थकता समझने लगेगा। चौथी शान्ति का, वह न प्रयत्न करेगा, और न उसे मिलेगी। बस तेरे मार्ग मे यह बाधा न उत्पन्न होने पावे, इसलिये सावधान कराया जा रहा है-पहले ही पग मे। तीसरी शान्ति मे यद्यपि स्थूलत. कोई अभिलाषा देखने मे नही आ रही है, परन्तू 'वस यही' के लक्षण का अभाव, उसमे सूक्ष्म रूप से छिपी, अपनी शान्ति के अतिरिक्त, किसी अन्य इच्छा को दर्शा रहा है।

बस जिस उपाय से यह चौथी शान्ति प्रगट हो सके, उसे ही धर्म समझे, क्योकि वही मेरा अभिप्रेत व लक्ष्य है। वही मेरी अन्तरध्वनि की मांग है, जिसकी परीक्षा 'वस यही' वाले लक्षण से की जा सकती है। 'बस यही' के विना माग की पूर्ति नही कही जा सकती, और इसी कारण तीसरी शान्ति इस माग को पूरा करने मे असमर्थ ;है।

४

—: धर्म का स्वरूप :—

दिनाक ५ जुलाई १६५६

प्रवचन न० ६

१—सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा, २—धर्म के अनेको झूठे व सच्चे लक्षण तथा उनका समन्वय

१ सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा

अहो ! शान्त मूर्ति वीतराग जनो की नि स्वार्थता. कि इतने वडे उद्यम से, वडे से वडे कष्ट सह कर, अपने जीवनो की प्रयोगशालाओ मे अनुभव प्राप्त करके, महान वस्तु शान्ति आज वाँट रहे है-वह, नि शुल्क, मुफ्त। जो चाहे वे लो। मनुष्यो को ही दे, यह बात नही, तिर्यञ्चो को भी। राजा हो चाहे रक, सत्ताधारी हो चाहे फकीर, स्त्री हो कि पुरुष, वाल हो कि वृद्ध, पतित समझे जाने वाले वह व्यक्ति हो जिनको कि आज शूद्र कहा जा रहा है या हो कोई तिलकधारी ब्राह्मण, सव उनकी दृष्टि मे एक है। सवको अधिकार है- उसे लेने का। उदारता-महान उदारता। परन्तु खेद है कि फिर भी मै हाथ खैच लू उससे- कुछ वेकार की वस्तु समझ कर ? ऐसा न कर प्रभु ! हाथ वढा। तू भी इन गुरुओ के प्रसाद से वचित न रह। तेरे ही हित की वात है। वहुत स्वाद लगेगी तुझे। विश्वास कर, कि एक वार चखने के पश्चात, पूरी की पूरी खाकर पेट भरे विना छोडेगा नही। तू कृत कृत्य हो जायेगा। भव भव की इच्छा तुझे छोड कर भाग जायेगी। और निरभिलाप स्वय तू वन जायेगा-पूर्ण शान्त व सन्तुष्ट, पूर्ण प्रभु। एक वार थोडी सी अवश्य चख ले, मेरे कहने से चख ले। वहुत स्वाद है यह। मैने स्वय इसे चखा है, विश्वास कर। और फिर तुझसे कुछ ले तो नही रहे है।। कुछ न कुछ दे ही रहे है। अच्छा न लगेगा तो छोड देना। पर एक वार लेकर देख तो सही।

धर्म वेकार की वस्तु नही, वल्कि वह महान वस्तु है, जो मुझे मेरा सवसे बड़ा अभीष्ट-वह जिसके लिए कि मै, न मालुम कव से, असफल पुरुषार्थ करता आ रहा हूं। अथात शान्ति प्रदान करता है। इच्छाओ को परास्त करता है। वैसे तो पूर्व मे कहे अनुसार आज कौन व्यक्ति है, जो धर्म के सम्वन्ध मे कुछ न कुछ अपनी टाँग न अडाता हो। अपनी रुचि व कल्पनाओं के आधार पर कुछ न कुछ मनघड़न्त व कपोल कल्पित धर्म का स्वरूप न वता रहा हो- विना इस वात का निश्चय किये, कि मै क्या कहे जा रहा हु। परन्तु यहा जो वात इसके सन्वन्ध मे वताई जायेगी, वह कपोल कल्पित न होगी। वह, वह होगी-जिसका कि आविष्कार योगीजनो ने किया है-अनुभव के द्वारा-स्वयं अपने जीवन मे उतार कर। वह वात वह है, जिसकी एक धीमी सी रेखा का, आज इस निकृष्ट युग में भी, मै स्वय साक्षात्कार कर रहा हूं।

वह बात वह है, जिसका आधार कल्पना नही, युक्ति है, कल्याण है, जिसका मूल शान्ति है, जिसकी कसौटी शान्ति है, जिसकी परीक्षा का आधार अनुभव है, साम्प्रदायिकता या पक्षपात नही ।

माना कि आज लोक के कौने कौने से धर्म का बाना पहन कर, बरसाती मैडको की भान्ति, निकल पडने वाले, वक्ताओ की, अनेकों परस्पर विरोधी बाते, सुन सुन कर, एक झु झलाहट सी उत्पन्न हो चुकी है-तेरे अन्दर । एक अविश्वास सा उत्पन्न हो चुका है- तेरे अन्दर-धम के प्रति । परन्तु एक बार और सही । यह बात अवश्य सुन । सब झु झलाहट, सब अविश्वास दूर हो जायेगा । समझ मे न आये, ऐसी भी बात नही है । बडी सरल बात है । तेरे अपने जीवन पर से गुजरी हुई । तेरी आप बीती । क्यो समझ मे न आयेगी । डर मत ! इधर आ एक बार, केवल एक बार ।

२ धर्म के अनेकों सच्चे व झूठे लक्षण व समन्वय

धर्म के अनेको लक्षण सुनने मे आ रहे है, पर किसी न किसी प्रकार प्रत्येक मे कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा पडा है-उन वक्ताओं का । अत परीक्षा करके तू स्वय पहिचान सकता है-उनकी असत्यार्थता । कोई, जिसे रोटी खाने को नही मिलती, कहता है कि भूखो को भोजन बाटना धर्म है । कोई, जिसे ख्याति की भावना है, कह रहा है कि ब्राह्मणो की सेवा करना धर्म है । कोई, जिसे पैसे की भूख लगी है, कह रहा है कि दिवाली पर जुआ खेलना धर्म है । कोई, जिसे माँस की चाट पडी है, कह रहा है कि देवता पर बकरे की बली चढाना धर्म है । कोई, जिसे स्वयं धनिकजनों से द्वेष है, कह रहा है कि इनका धन छीन लिया जाना धर्म है । कोई, जिसे भोगो की अभिलाषा है, कह रहा है कि धर्म कर्म कुछ नही, खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, यही धर्म है । कोई, जो उपाय हीन है, कह रहा है कि भगवान को भोग लगाना धर्म है । कोई, जिसमे द्वेष की अग्नि अधिक है, कह रहा है कि शास्त्रार्थ करना धर्म है । कोई, जिसे धन की हाय लगी है, कहता है कि भगवान को रिश्वत देना, अर्थात बोलत कबूलत करना धर्म है । यहा तक कि सन ४७ के हत्याकाण्ड मे हिन्दुओ के द्वारा मुसलमानो का और मुसलमानो के द्वारा हिन्दुओ का क्रूरता से रक्त बहाया जाना भी धर्म था । चोरों तक का कोई न कोई धर्म है । फलितार्थ-जितने मुँह उतनी बाते । जितनी जाति की रुचि, उतनी जाति के धर्म । इस जाति के लक्षणो की असत्यार्थता तो स्पष्ट ही है, कुछ कहने की आवश्यकता नही । क्योकि इसमे तो स्वार्थ का ही नग्न नृत्य दिखाई दे रहा है । इन सब लक्षणो मे है प्रथम कोटि की शान्ति की अभिलाषा ।

इनके अतिरिक्त भी धर्म के अनेको लक्षण है । जो ज्ञानी जनो ने भिन्न-भिन्न अभिप्रायो को दृष्टि मे रखते हुये किये है । उदाहरण के रूप मे, दया धर्म का मूल है ; अहिंसा परम धर्म है ; नि:स्वार्थ सेवा धर्म है, परोपकार धर्म है, दान या त्याग धर्म है, श्रद्धा ज्ञान व चरित्र धर्म है; तथा अन्य अनेको । इन सब तथा अन्य अनेको लक्षणो पर विशेष दृष्टि डालने से, बहुत से लक्षण, कुछ एकार्थ वाचक से दिखाई देते है । जैसे दया, अहिंसा, सेवा व परोपकार एकार्थ वाचक से है ? इन सब लक्षणों को यदि सकुचित करके देखे तो मुख्यत: तीन रूप मे देख पाते है दया (अहिंसा), दान, दमन (त्याग), यह तीनो भी गर्भित किये जा सकते है एक चारित्र मे, अर्थात जीवन चर्या मे । और इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र वाला लक्षण कुछ व्यापक सा दिखाई देने लगता है । इन सब ही लक्षणो का विशेष विस्तार तो आगे आगे के प्रकरणो मे आयेगा । यहा तो केवल इनकी सत्यार्थता व असत्यार्थता का विचार करना है ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, धर्म का फल चौथी कोटि की शान्ति होना चाहिये। यही कसौटी है, धर्म के किसी भी लक्षण की सत्यार्थता व असत्यार्थता का निर्णय करने की। अत. उपरोक्त तथा अन्य भी, जिन क्रियाओ के करने से, मुझे आंशिक रूप से भी, 'वस यही' वाली शान्ति का, कुछ वेदन अन्तर मे होता हुआ प्रतीत होता हो, वह वह सब क्रियाये सत्यार्थ धर्म कहला सकती हैं। उसके अभाव मे सब वही क्रियायें असत्यार्थ हैं। क्योकि यह सभी क्रियाये दो ढंग की होती हैं। एक उस शान्ति के साथ साथ चलने वाली, और एक उस शान्ति से निर्पेक्ष, किसी भावुकता या साम्प्रदायिकता वश चलने वाली। इसीलिये तुझे अभी से इन दोनों सम्बन्धी विवेक जागृत करके, अपने को सावधान कर लेना चाहिये। ताकि आगे आगे के कथन क्रम मे आने वाली, अथवा लोक मे यत्र तत्र दीखने वाली, उन्ही, या उस ही जाति की, किन्ही क्रियाओ मे तुझे धर्म सम्बन्धी भ्रम न हो जाये। और तेरा पुरुषार्थ फिर निस्फलता की दिशा मे प्रवाहित न होने लग जाये।

इतने ही नही, कुछ और भी लक्षण ज्ञानी जनों ने किये हैं, जो बहुत अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। उन मे से दो मुख्य हैं।

(१) 'वस्तु का स्वभाव धर्म कहलाता है।'

(२) 'जो जीव को ससार के दु ख से उठा कर उत्तम सुख मे धर दे सो धर्म है।' यह दोनो ही लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट हैं। क्योकि दोनो शान्ति की ओर सकेत कर रहे हैं। पहले लक्षण को यद्यपि जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी लागू किया जा सकता है, जैसे कि जल का स्वभाव शीतल होने से शीतलता जल का धर्म है, और अग्नि का स्वभाव उष्णता होने से उष्णता अग्नि का धर्म है, इत्यादि। परन्तु यहाँ जीव के धर्म का प्रकरण है। अत. लक्षण मे कहे गये 'वस्तु' शब्द का अर्थ प्रकरण वश यहाँ जीव ग्रहण करना चाहिये। जीव का स्वभाव चिदानन्द अर्थात ज्ञान व शान्ति होने से, शान्ति पना जीव का धर्म है। दूसरा लक्षण स्पष्टत. ही उत्तम सुख अर्थात शान्ति प्राप्ति के उपाय को धर्म बता रहा है। अल्पज्ञो के लिए धर्म के यह दो लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट और आकर्षक हैं।

ऊपर बताये गये दयादि से इस सुख पर्यन्त के अनेकों लक्षणो को सुन कर, उलझने की आवश्यकता नही। इन में से कौन से लक्षण को सत्य मानूं, इस संशय को अवकाश नही। क्योकि जैसा कि दयादि लक्षणो की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताते हुये समझा दिया गया है, यदि वे दयादि लक्षण अन्तरंग शान्ति सापेक्ष हैं, तो ये सर्व ही इस एक शान्ति वाले जीव स्वभाव मे गर्भित हो जाते हैं। किस प्रकार सो देखिये—

श्रद्धा ज्ञान व आचरण का अर्थ है-शान्ति के प्रति अत्यन्त रुचि-प्रतीति व बहुमान, शान्ति के सच्चे स्वरुप का ज्ञान, तथा जीवन मे कुछ इस प्रकार के कार्य करना, कि आंशिक रूप से आपको शान्ति का वेदन होता रहे। अहिंसा या इसमे गर्भित होने वाले अन्य दयादि लक्षणो का अर्थ है, अपनी शान्ति के वेदन मे प्रगटे, उसके बहुमान वश, दूसरे जीवों को भी शान्त देखने की इच्छा। फल स्वरुप, उनको स्वयं दुखी करने या पीडा देने से दूर रहना, अथवा किसी दूसरे से पीडित हुआ देख

कर, उनके कष्ट को जिस किस प्रकार भी दूर करके उन्हे पुनः शान्ति प्रदान करना। तथा त्याग या दमन का अर्थ है-प्रत्येक उन वस्तुओं तथा कार्यों का त्याग करना, जिसके द्वारा विकल्पोत्पादक, अशान्ति व व्याकुलता की जननी, अभिलाषा मे वृद्धि होने की सम्भावना हो। अतः वे सर्व ही लक्षण एक शान्ति की सिद्धि के लिये है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले दयादि लक्षण चारित्र या पुरुषार्थ को आश्रय करके लिखे गये है, स्वभाव लक्षण श्रद्धा व ज्ञान को आश्रय करके लिखा गया है, तथा सुख मे धरने वाला लक्षण उपरोक्त क्रियाओं के फल को दृष्टि मे रख कर किया गया है।

इस प्रकार धर्म की आवश्यकता तथा सत्यार्थ शान्ति व धर्म की पहिचान जान लेने के पश्चात अब उस धर्म की सीद्धि के उपाय या क्रम की बात चलती है। सो कल से प्रारम्भ होगी।

५

—: धर्म का प्रारम्भिक क्रम :—

दिनाक ६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ७

१—अन्तरध्वनि व सस्कार मित्र व शत्रु के रूप में

१ अन्तरध्वनि व सस्कार मित्र व शत्रु के रूप में — अनादि काल से आज तक के इतने लम्बे जीवन मे पहिला अवसर है, जब कि मै धर्म प्रारम्भ करने चला हूँ। नव जात शिशु चलना प्रारम्भ करने का प्रयास करता है। आज अत्यन्त सौभाग्य का दिन है। प्रभु की शरण मे आना ही शुभ चिन्ह है। इससे उत्तम शुभ मुहूर्त और कौन सा हो सकता है ? मुझे आशीर्वाद दीजिये गुरुवर। वह क्या आधार है, जिस को पकड कर मुझे अपने डिगमगाते हुये पग इस धर्म मार्ग पर रखने होगे ? बच्चे को गडीलना दिया जाता है। मुझे किस का सहारा लेना होगा गुरुवर ! क्या आपका सहारा पर्याप्त है ? नही, मेरा सहारा तुझे अधिक लाभ नही पहुचा सकता। मेरा सहारा तो केवल इतना ही है, कि मै किन्ही दिशा विशेष की ओर सकेत करके आगे आने वाली ठोकरो से तुझे सावधान कर दू। पर चलना तो तुझे होगा-अपना सहारा लेकर। अर्थात अन्तरध्वनि का सहारा लेकर। मै तो केवल उस अन्तरध्वनि को पढने का उपाय तुझे दर्शा सकता हूँ, पर उसे तेरे अन्दर उत्पन्न नही कर सकता। अत उस अन्तरध्वनि की मेरे कहे अनुसार पहिचान कर। वही तेरे मार्ग का सब से बडा साथी होगा। पद पद पर वही तेरी रक्षा करेगा।

देख ! क्या कोई भी बुरा काम करके तेरा अन्तष्करण स्वय तुझे धिक्कारता हुआ प्रतीत नही होता ? तो सुन। कौन शक्ति है, जो उस बालक को, अपने साथी की पुस्तक चुराते हुए, कम्पा देती है ? किसकी प्रेरणा से वह इधर उधर ताकने लगता है ? पुस्तक उठाता और सीधा चल देता घर। वहाँ कौन था, उसे रोकने वाला ? किसी व्यक्ति की चुगली कर देने के पश्चात तू क्यो उस व्यक्ति से आख नही मिला सकता ? कौन शक्ति है, जो तुझे उस व्यक्ति से आख चुराने के लिये मजबूर करती है ? नदी में डूबते हुए किसी अपरिचित बालक को नदी से निकाल कर, तू क्यो पुलकित सा हो जाता है ? उसको साथ लेकर उसके घर तक जाते हुए, क्यो तुझे कुछ गर्व सा प्रतीत होता है ? भूखा होते हुए भी, किसी दूसरे के हाथ से रोटी क्यो नही उठा लेता है तू ? कौन है वह शक्ति जिसकी प्रेरणा से तू शुभ कार्यो को करते हुए हर्षित होता है, और अशुभ कार्यो को करते हुए डरता है ? बाहर मे तो कोई भी तुझे रोकता नही, या करने के लिये कहता नही।

बस इसी तेरे अन्तष्करण की शक्ति विशेष को, यहाँ अन्तरध्वनि शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। सर्व जीवो की यह कोई स्वाभाविक ध्वनि है, जो अन्तर मे छिपी, स्वत एव, बिना पूछे,

अशुभ कार्य करने का निषेध, व शुभ कार्य करने की प्रेरणा देती रहती है। इसके सम्बन्ध म अधिक कहने की आवश्यकता नही, क्योकि यह सर्व परिचित है। इतनी बात अवश्य है, किन्ही व्यक्तियो म, किन्ही कार्य विशेषो के लिये यह बडी जोर से पुकारा करती है, और किन्ही व्यक्तियो मे, किन्ही कार्य विशेषो के लिए इसकी आवाज बहुत धीमी होती है। सम्भवत इतनी धीमी कि वह स्वय भी उसे सुनने न पाये। आज का एक डाकू, चोरी करने का निषेध करती हुई, उस अन्तरध्वनि को सुन नही पाता, परन्तु वही उस काम को करने के प्रारम्भिक दिवस मे, बहुत जोर से सुन रहा था उसे। इतने पर से यह नही कहा जा सकता, कि आज उसकी अन्तरध्वनि सर्वथा मर चुकी है, अचेत हो गई है, यह भले कहो। क्योकि आज भी अपने सहायक डाकुओ की सम्पत्ति पर हाथ डालने का साहस उसे नही है ? आज के युग का एक विशेष आविष्कार, उसके हृदय मे दबी हुई उस अन्तरध्वनि की उस तेज हीन कणिका के अस्तित्व को दर्शा रहा है ? भारत मे न सही पर इङ्गलैंड की न्याय शालाओ मे यह यत्र काम मे आ रहा है। कितना भी बडे से बड़ा व सिद्धहस्त दोषी भी, इस यन्त्र पर हाथ रख कर, अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करे, तो इस यत्र को धोखा नही दे सकता। उसकी काँपती हुई सूई यह बता ही देती है, कि अब तक भी इसके हृदय मे अपने दोष के प्रति कुछ कम्पन पडा हुआ है, जो इसको बराबर धिक्कार रहा है। यह भले उसको सुनने न पावे, पर इस यत्र को वह स्पष्ट सुनाई दे रही है।

इस वक्तव्य व दृष्टान्त मे से एक बहुत बडा सिद्धान्त निकल रहा है। प्रत्येक प्राणी के अन्तष्करण मे एक स्वाभाविक अन्तरध्वनि प्रति क्षण उठती रहती है। यह ध्वनि सदा उसे दोषो से हटने का उपदेश देती है। दोष हो जाने पर उसे धिक्कारती है। कुछ भले कार्य करने के लिए उसे उत्साहित करती है, और ऐसा कोई कार्य हो जाने पर उसकी प्रशसा करती है, कमर थपथपाती है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे इसकी आवाज ऊची होती है। पर ज्यो ज्यो उस कार्य विशेष मे अभ्यास बढता जाता है, त्यो त्यो वह आवाज धीमी पड़ती जाती है, और एक दिन कुछ अचेत सी होकर पड रहती है। आवाज के दबने का कारण है-उसकी अवहेलना। पुन पुन सचेत करती हुई, उस आवाज को सुनते हुए भी, जब मै उसकी परवाह किये बिना, कुछ अपनी मन मानी ही करता हूँ, तो एक प्रकार से उसकी अवहेलना ही करता हूँ, उसका अपमान करता हूँ, उसको ठुकरा देता हू, और यदि मै बराबर ही उसका अपमान करता चला जाऊ, तो कहाँ तक और कब तक दे सकेगी वह मेरा साथ ? आखिर धीमी पड़ते २ अचेत हो जायेगी। इतना सौभाग्य अवश्य है कि वह अमर है ? अवसर पाने पर पुन सचेत होकर मुझे झझोड़ डालती है, और मै सावधान होकर अपने पहले कृत्य पर पश्चाताप करने लगता हू। इस अन्तर-ध्वनि को अग्रेजी मे 'कान्शस' कहते है। यह सदा प्राणी को हित की ओर ले जाने तथा अहित से हटाने का ही प्रयत्न किया करती है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी शक्ति भी है, जिसे मै सस्कार शब्द से पुकारता हूँ। यह उस उपरोक्त अन्तरध्वनि का शत्रु है। इसकी आवाज सदा उसके विरोध मे उठा करती है ? वह जिधर ले जाना चाहे, यह सस्कार उससे विपरीत दिशा मे ही खेचने का प्रयत्न करते है। प्रत्येक प्राणी के यह सस्कार, उसके द्वारा ही, स्वय आगे पीछे बनाये जाते है। जिस प्रकार बचपन से धीरे धीरे चोरी का अभ्यास करते हुए, आज वह डाकू बन गया है। जिस चोरी को करते हुए पहले वह डरता था, वही आज उसके लिये खेल है। कम्पन के साथ प्रारम्भ किया जाने वाला वह कार्य, आज उसकी आदत बन चुका है। एक सस्कार बन चुका है। अग्रेजी मे इसी का नाम **Instinct** 'इन्स्टिंक्ट' है। क्योकि इसका

प्रारम्भ अन्तरध्वनि की अवहेलना पूर्वक होता है, इसलिये यह उसका शत्रु बन कर ही रहता है। उसकी अवहेलना करने के लिये मुझे उकसाता रहता है। इसकी शक्ति यहा तक बढ़ जाती है, कि फिर मैं अन्तरध्वनि को सुनना भी पसन्द नहीं करता।

यह दो शक्तियाँ प्रत्येक प्राणी मे पाई जा रही हैं। इनमे से एक शान्ति पथ प्रदर्शक है, और एक इच्छा व चिन्ता पथ प्रदर्शक। एक स्वाभाविक है और दूसरी कृत्रिम। एक अमर है और एक विनाशीक। क्योंकि प्राणियों के यह संस्कार तो बदलते हुये देखे जाते हैं, पर अन्तरध्वनि नहीं। बस यही वह सहायक साथी है, जो सदा तेरा साथ देगा, इसका आश्रय लेकर चलना। आज तक संस्कार का साथ लेता, और अन्तरध्वनि की अवहेलना करता चला आया है? इसी कारण दु:खी व अशान्त बना हुआ है। अब औषधि बदल देनी होगी। क्रम को उल्टा कर देना होगा। अन्तरध्वनि का आश्रय लेकर, व संस्कार की अवहेलना करके चलना होगा, इसके विरुद्ध सत्याग्रह करना होगा। जो यह कहे उसे स्वीकार न करना होगा, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पडे। और इस प्रकार अवहेलना को सहन करने में असमर्थ, यह संस्कार तेरा देश छोड़ कर सदा के लिये विदा ले जायेगे। रह जायेगी वह अमर अन्तरध्वनि अकेली, जिसके साथ शान्ति पथ पर ही चलता रहेगा-तू। विचलित न होने पायेगा।

परन्तु उस अन्तरध्वनि को सुन कर उसका ठीक ठीक अर्थ लगाना प्रत्येक का काम नहीं। उसके लिये कुछ विवेक चाहिये, जिसके बिना कि अन्तरध्वनि व संस्कार इन दोनो की आवाजों व प्रेरणाओं मे ठीक ठीक भेद नहीं हो पाता। कभी कभी उनका अर्थ ठीक भी लगा लेता है और कभी कभी गलती भी खा जाता है। अर्थात अन्तरध्वनि की आवाज को मान बैठता है संस्कार की, और संस्कार की आवाज को मान बैठता है अन्तरध्वनि की। कभी कभी ठीक ठीक जान जाने पर भी संस्कार के प्राबल्य के कारण अन्तरध्वनि का अर्थ जबरदस्ती घुमा डालता है। और इस प्रकार सर्वदा हित से वंचित रहा है। इस विवेक को उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष सामग्री चाहिये। वह ही बड़े विस्तार के साथ अगले प्रकरणो मे चलेगी। ज़रा धीरज धर कर ध्यान पूर्वक सुनना। सम्भवत. कई महीने तक बराबर सुनना पडे। ऊब कर बीच में न छोड़ देना। नहीं तो इधर के रहोगे न उधर के।

III श्रद्धा

६

—: लक्ष्य बिन्दु :—

दिनाक ७ जुलाई १९५९

प्रवचन न० ८

१—मार्ग की त्रयात्मकता, २—लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व सार्थकता

१ मार्ग की त्रयात्मकता — स्वतंत्र रीति से शान्ति की खोज करने की बात है। सहायता लेनी है अन्तरध्वनि की। बचना है-संस्कार से। इन दोनों विरोधी बातो मे, विवेक उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष बाते चलनी है-अब। अर्थात मूल विषय शान्ति पथ या धर्म का स्वरूप।

किसी भी कार्य मे प्रवृति करने के क्रम का यदि विश्लेषण करने बैठते है, तो उसे त्रयात्मक पाते है। अर्थात तीन मुख्य बातो का एक पिंड रूप ही वह प्रवृति होती है। वे तीन अंश है श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र। देखिये डाक्टरी के कार्य मे प्रवृति का विश्लेषण करके। 'मुझे डाक्टर बनना है,' ऐसा लक्ष्य बिन्दु, अर्थात "मेरे लिये यही हितकर है और कुछ नही", ऐसी दृढ श्रद्धा व रुचि, रोग निदान-रोग का कारण-तथा रोग की औषधि सम्बन्धी ज्ञान, तथा दुकान पर बैठ कर रोगियो पर उस ज्ञान का प्रयोग रूप चारित्र। यही तो है डाक्टर की प्रवृति। यदि एक अंग की भी कमी हो, तो विचारिये कि क्या उसका डाक्टरी कर सकना सम्भव है ? लक्ष्य बिन्दु यदि फोटोग्राफर बनने का हो, या फोटोग्राफरी को ही अपने लिये हितकर समझता हो, और उसी की रुचि रखता हो, तो क्या सम्भव है कि वह डाक्टरी करे ? भले ही डाक्टरी का ज्ञान भी क्यो न हो ? और यदि लक्ष्य मे तो डाक्टरी करना हो, तथा उसको हितकर मान कर उसमे रुचि रखता हो, पर तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो, तो क्या चित्त मसोस कर ही न रह जायेगा ? और यदि लक्ष्य व रुचि भी हो ,और डाक्टरी का ज्ञान भी हो, पर दुकान पर बैठे नही, या बैठ कर रोगियों को देखे नही, और पढा करे नाविल, तो क्या डाक्टरी कर सकेगा ? इसी प्रकार जौहरी की, बजाज की या किसी और की प्रवृति का भी विश्लेषण करके यही फलितार्थ निकलेगा। प्रत्येक प्रवृति त्रयात्मक ही होगी।

२ लक्ष्य बिन्दु की महता व सार्थकता — बस इसी प्रकार शान्ति पथ पर चलने की प्रवृति भी त्रयात्मक ही है। शान्ति का लक्ष्य बिन्दु, अर्थात इस ही को हितकर मान कर, अन्तरग से इसकी रुचि व श्रद्धा, शान्ति सम्बन्धी ज्ञान, तथा उन क्रिया विशेषो मे प्रवृति, जिनके करने पर कि उस शान्ति का अनुभव हो, ऐसा चारित्र। इन श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के सच्चे झूठेपने की परीक्षा लक्ष्य बिंदु से होती है। डाक्टरी का लक्ष्य बिंदु रखने वाले के लिये शांति पथ सम्बन्धी श्रद्धा झूठी है। उस लक्ष्य बिंदु की पूर्ति के लिये शान्ति या शान्ति पथ सम्बन्धी ज्ञान या चारित्र झूठा है। और इसी प्रकार शान्ति का लक्ष्य रखने वाले के लिये डाक्टरी सम्बन्धी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र झूठा है। लक्ष्य बिंदु के अनुकूल ही यह

त्रयात्मकता कार्यकारी है ? इस लिये शांति पथ की जिज्ञासा रखने वाले ओ भव्य ! तनिक अपने अन्दर मे उतर कर इस जिज्ञासा व रुचि की परीक्षा तो कर। कही ऐसा न हो कि लक्ष्य विंदु तो पड़ा रहे, धन कमाने या भोग भोगने का, और सीखने या सुनने लगे, शांति पथ सम्बन्धी बाते। यदि ऐसा है, तब तो सुना सुनाया बेकार हो जायेगा। क्योकि जो बात बताई जायेगी, उससे तेरे लक्ष्य विंदु की सिद्धि न हो सकेगी। यह मार्ग जो कि बताया जाने वाला है, धन कमाने का नही। इससे कदाचित धन हानि तो होना सम्भव है, पर धन लाभ नही। अत. देखले। दिल कड़ा करना होगा। और उसके लिये बदलना होगा-अपना लक्ष्य विंदु।

विना लक्ष्य विंदु बनाये चला किस ओर को, और चला जायेगा किस ओर-यह कौन जाने ? लक्ष्य रहित व्यक्ति वनो मे भटकने के अतिरिक्त और करेगा ही क्या ? यद्यपि पहले भी बता दिया गया है, परन्तु एक विस्तृत विषय चालू करने से पहले उसको-पुन. याद दिला देना आवश्यक है, कि वह विस्तृत कथन केवल बस लक्ष्य विंदु को आधार बना कर चलेगा। पद पद पर, वाक्य वाक्य मे उस ही की ओर सकेत कराया जायेगा। एक क्षण को भी उसे भूलना न होगा, क्योकि उसे भूल जाने पर कथन का रहस्य समझ मे न आ सकेगा। वह सब विस्तार कुछ मनघड़न्त सा, कुछ साम्प्रदायिक सा दिखाई देने लगेगा। वह लक्ष्य विंदु है "शांति।" वह शांति जिसके प्रगट हो जाने पर अन्तर से उठने वाली "और चाहिये" की ध्वनि बदल जायेगी "और बस यही चाहिये।" इसके अतिरिक्त कुछ नही। तीन लोक की सम्पत्ति हीरे मोती आदि, सब थूक देने योग्य है, ठुकरा दिये जाने योग्य हैं-इसके सामने," इस रूप में। यह लक्ष्य विंदु दृढतय हृदयगम कर लेना योग्य है। यह तुझे शक्ति प्रदान करेगा। उस विस्तृत कथन को समझने की, तथा उससे कुछ हित उत्पन्न करने की। इस लक्ष्य विंदु का बड़ा महत्व है-प्रत्येक कार्य मे। क्योकि किसी भी दिशा मे जाने की, या कोई भी कार्य करने की, उस कार्य मे सफलता व असफलता का निर्णय करने की, कार्य क्रम की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताने की, शक्ति इसी से मिला करती है। उत्तर दिशा मे चलता चलता दूर निकल जाने वाला कोई व्यक्ति, यदि उस दिशा में चलना बन्द करके, दक्षिण की ओर मुख करके खड़ा हो जाये-उस ओर चलने का लक्ष्य रख कर, तो क्या उसे दक्षिण देश के निकट हुआ न कहेगे ? भले अभी वही खड़ा हो, एक पग भी आगे रखे बिना। इसी प्रकार शांति के उपाय को जीवन में घटित किये बिना भी, अशांति की ओर जाने वाले ओ चेतन ! यदि केवल अशांति के अभिप्राय के कार्यो को छोड़ कर, शांति के अभिप्राय मात्र को धारण करके, तू शान्ति का लक्ष्य विन्दु बना ले, तो अवश्य अपने को शान्ति के निकट ही समझ। परन्तु सच्चा लक्ष्य विंदु उसे कहते हैं, जो अन्तरग से रुचि पूर्वक उस दिशा मे ही चलने के लिये व्यक्ति को उकसाये और अन्य दिशा मे चलने से रोके। अत. यहां लक्ष्य विंदु का तात्पर्य केवल शाब्दिक शान्ति या मोक्ष की अभिलाषा से नही।

ऐसी अभिलाषा या मोक्ष के प्रति का झूठा लक्ष्य विंदु तो आज भी बना हुआ है-सबको। सब ही तो कहते हैं कि प्रभु ! किसी प्रकार मुझे शान्ति प्रदान करें। आज के इस लक्ष्य विंदु की असत्यार्थता का पता चलता है-इस दृष्टान्त से।

एक सेठ जी थे। भगवान के बड़े भक्त। प्रभु के सामने अपने उदगार प्रगट करते, स्तुति करते, तथा अपने दोषो के लिये रोते हुए, कई २ घण्टे मन्दिर मे व्यतीत करते। यही थी उनकी एक-पुकार, कि भगवन ! किसी प्रकार मोक्ष प्रदान कीजिये। उनकी भक्ति की परीक्षा का अवसर आया। एक देव आकर कहने लगा, "सेठ जी ! आपकी भक्ति से बड़े प्रसन्न हुये है भगवन। मुझे भेजा है आपकी

इच्छा पूर्ति के लिये।" सेठ जी की बाँछे खिल गई। आज उन्हे मोक्ष मिलने वाली थी। पर वह स्वय न जानते थे कि, मोक्ष किसे कहते है? देव बोला "कि 'सेठ जी! आपके दश पुत्र हैं तथा दश कारखाने। एक पुत्र प्रति दिन मरेगा और एक कारखाना रोज फैल होगा। दश दिन पीछे तुम पुत्र हीन हो जाओगे और कंगाल भी। बस ग्यारहवे दिन मैं ले जाऊगा तुम्हे आकर।" परन्तु सेठ जी सहम गये-यह बात सुन कर। पुत्रों की मृत्यु भी सम्भवत: ली पडती पर कंगाल होना? नही, नही। यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है। गले से नीचे न उतर सकेगी। देव से बोले "कि भाई! बड़ा कष्ट किया है, तुमने मेरे लिये। एक कष्ट और देता हूं। क्षमा करना। प्रभु से जाकर, मेरी ओर से यह प्रार्थना करना, कि यदि किसी और क्वालिटी की, किसी और प्रकार की मोक्ष हो, तो प्रदान करने की कृपा करे। परन्तु इस क्वालिटी की मोक्ष तो सम्भवत मुझे पच न सकेगी।"

बस ऐसा है हमारा भी लक्ष्य बिंदु। धन न छूटे, कुटुम्ब न छूटे, खूब भोग भोगता रहूं, और शान्ति भी चखता रहूँ। अर्थात विष भी पीता रहूँ, और अमृत का स्वाद भी लेता रहूँ। ऐसा लक्ष्य वास्तव मे लक्ष्य बिंदु कहलाता नही। सुनी सुनाई सी कोई बात है जो रट सी गई है। चौथी जाति की सच्ची शान्ति के प्रति, सच्चा लक्ष्य बिंदु बनाने के लिये कहा जा रहा है। वह लक्ष्य बिंदु कि जिसके कारण लौकिक सर्व बाधाये आ पड़ने पर भी, उसके मार्ग पर से तेरी प्रगति मन्द न पड़ने पावे।

७

—: श्रद्धा :—

दिनाक ८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ९

१—श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता

१ श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता

मार्ग की त्रयात्मकता कल बताई गई। उसमे से पहला अंग है श्रद्धा। उसकी बात चलेगी। श्रद्धा का अर्थ है लक्ष्य बिन्दु, रुचि, प्रतीति व अभिप्राय। किसी बात को बिना परीक्षा किये, मुझे स्वीकार नही करना है। मै वैज्ञानिक बन कर चला हूँ साम्प्रदायिक नही। श्रद्धा इस मार्ग का सर्व प्रथम व सर्व प्रमुख अंग है। क्योंकि बिना ठीक ठीक लक्ष्य बिन्दु व रुचि के उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान व चारित्र अकार्यकारी है। इन अगले दो अंशो की सत्यार्थता का आधार यह श्रद्धा ही है। यद्यपि यह श्रद्धा व लक्ष्य बिन्दु, दोनों एक ही बात है। परन्तु फिर भी श्रद्धा के सम्बन्ध में साधारणत बहुत भ्रम चलता है। लक्ष्य बिन्दु रहित केवल साम्प्रदायिकता श्रद्धा को सच्ची माना जा रहा है। और उसी पर सन्तोष धर कर कुछ क्रियाए केवल अन्ध विश्वास के आधार पर की जा रही है। जिनका कोई फल नही। निष्फल उस पुरुषार्थ से ऊब कर आज का जगत, धर्म की जिज्ञासा ही छोड़ बैठा है। और भोग विलास के तीव्र वेग मे बहा चला जा रहा है-बे सुध। अत श्रद्धा की सत्यार्थता व सुन्दरता बता देना आवश्यक है ? जिससे कि भ्रमात्मक उस झूठे सन्तोष से पग पग पर सावधान रहा जा सके-उस अभिप्राय के अनुकूल जिस अभिप्राय को रख कर कि उसका स्वरूप दिखाया जा रहा है। जैसाकि आगे आगे के प्रकरणो मे दिखलाने मे आयेगा-अभिप्राय या श्रद्धा पर ही किसी क्रिया विशेष की सत्यार्थता व असत्यार्थता निर्भर है।

श्रद्धा के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी धारणा बन रही है, कि मै तो ठीक ही स्वीकार करता हूँ। अमुक ही प्रकार के देव व गुरु व धर्मादि को स्वीकार करता हूँ। अन्य प्रकार के को नही और यही गुरुदेव की आज्ञा है। गुरु वचनो में कभी सशय नही करता, भले समझ मे आवें या न आवे, हृदय उसे स्वीकार करे या न करे, क्योकि भ्रम है, इस बात का कि कही मेरी श्रद्धा झूठी न पड़ जाये, सशय उत्पन्न करने से। परन्तु भाई ! कभी विचारा है यह कि वह श्रद्धा सच्ची है ही कब, जो झूठी पड़ जायेगी ? पहले ही से जो झूठी है उसका क्या झूठा पड़ना ? भले बाहर से शब्दो मे शका न कर, पर अन्तरंग की शका को कैसे दबायेगा ? और यदि अन्तरग मे शका नही है तो तत्व समझते समय "यह तो बिल्कुल ठीक है परन्तु ····· ?" यह परन्तु कहा से आ रही है ?

इसके अतिरिक्त शास्त्र के आधार पर तत्वो सम्बन्धी कुछ जानकारी सी करके "यह बिल्कुल ठीक है। ऐसा ही है। अन्य मतो के द्वारा प्ररूपित तत्व ठीक नही है" इस प्रकार के साम्प्रदायिक अन्ध श्रद्धान को श्रद्धा की सच्ची कोटि मे गिना जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता, तो ऐसी श्रद्धा तो सब को ही है। मुसलमानो द्वारा प्ररूपित तत्व को माने सो मोमिन और न माने तो काफिर। वेद को माने

तो आस्तिक और न माने तो नास्तिक। उनके इस कथन मे तथा उपरोक्त कथन मे अन्तर ही क्या रहा ? यदि अपनी अपनी दही को मीठा बताने का नाम ही सच्ची श्रद्धा है, तो लोक मे कोई भी झूठी श्रद्धा नही रहेगी। सब शान्ति पथ गामी होगे। अतः साम्प्रदायिक श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा नही। यह साम्प्रदायिक नही वैज्ञानिक मार्ग है। अन्ध श्रद्धान को यहाँ अवकाश ही नही। बिना 'क्या' और 'क्यो' के स्वीकार की गई बात स्वीकृत नही कही जा सकती। क्योकि 'ऐसे ही है' इस श्रद्धा का विषय केवल उस तत्व सम्बन्धी शब्द है। उस तत्व का रहस्यार्थ नही। अर्थात ऐसी श्रद्धा केवल शाब्दिक है तात्विक नही। जीव अजीव आदि के भेद प्रभेदो को शब्दों मे जानते हुए भी वास्तव मे वह नही जानता कि जीव किस चिडिया का नाम है, और अजीव आदि के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार के शाब्दिक ज्ञान से विद्वान बन सकता है, तार्किक बन सकता है, वक्ता बन सकता है, पर श्रद्धालु नही। कुल परम्परा के आधार पर अन्ध विश्वास करने वाले की तो बात ही नही, वह तो है ही कोरा अन्ध श्रद्धालु। परन्तु तत्वों आदि को जानने वाला भी सच्चा श्रद्धालु नही। यहाँ तो यह बताया जा रहा है।

किसी भी विषय सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा तो वास्तव में उस समय तक सम्भव नही, जब तक कि उस विषय का अनुभव न हो जाये। अनुभव से पहले की जाने वाली श्रद्धा की पोचता की परीक्षा भी की जा सकती है। दृष्टान्त सुनिये—कल्पना करो-किसी ऐसी परिस्थिति की, जिसमे कि आप स्वय घिर गये है। किसी गाँव को लक्ष्य मे रख कर चलते चलते पहुच गये किसी भयानक बन मे जहां से बहुत सी पगडण्डिया फट जाती हैं। असमंजस मे पडे विचारने लगे कि कौन सी पगडण्डी पर चलू ? किसी राहगीर की प्रतीक्षा करते हो। सौभाग्य से एक व्यक्ति दिखाई दिया। शरीर नगा। केवल घुटनो से ऊची मैली कुचैली एक धोती थी, उसकी टागो मे-कुछ अस्त व्यस्त सी उलझी हुई। कन्धे पर एक लठ्ठ। हट्टा कट्टा, काला कलूटा.सा, एक मानव, जिसे रात को देखे तो भय के मारे सम्भवत प्राण ही निकल जाये। खैर, साहस करके पूछा भी तो उत्तर मिला इतना कर्कश मानो खाने को ही दौडता है। "चला जा अपनी दाईं ओर। मार्ग जानता नही, आ गया पथिक बन कर।" आप ही बताइये, कि क्या उसके द्वारा बताई गई दिशा मे आप एक भी पग रखने मे समर्थ हो सकोगे ? भले ही रात बन मे बितानी पड़े, पर उसके कहे पर आपको कदापि विश्वास नही आयेगा।

परन्तु कुछ ही देर पश्चात दिखाई दिया एक और भला, परन्तु अपरिचित कोई अन्य व्यक्ति, सफेद सादे वस्त्र पहने, मस्तक पर तिलक लगाये, और हाथ मे डोरी लोटा लिये। उससे भी पूछा अपना अभीष्ट मार्ग। बड़े मधुर व सहानुभूति पूर्ण शब्दो मे उत्तर मिला। करुणा ही टपक रही थी उन शब्दो से। "ठीक मार्ग पर नही आये हो पथिक, बन बड़ा भयानक है। भयानक जन्तुओ का वास। यदि रात्रि पड गई तो जीवित न बचोगे। खैर अब भी समय है। इस दाहिनी ओर वाली पगडण्डी पर चलो। लगभग डेढ मील जाने पर एक नाला मिलेगा, जिस पर पड़ा होगा खजूर का एक तना पुल के रूप में। नाले को पार कर जाओ। एक मील और आगे दिखाई देगा वृक्षो का एक बहुत बडा झुण्ड। बड़ा साया रहता है वहां। वहाँ पहुंच कर बाईं ओर मुड़ जाना। आध मील ही रह जायेगा वहा से आपका स्थान। विचारिये, क्या अब भी उस दिशा मे आपका पग न उठेगा ? आपको अवश्य उसके कहने पर विश्वास आ जायेगा और आप प्रसन्न चित चल पड़ोगे उस दिशा मे।

भला क्या अन्तर था पहले तथा इस व्यक्ति के सकेत मे ? मार्ग तो इसने भी वही बताया था जो कि पहले ने। परन्तु पहले मे अविश्वास और अब विश्वास का क्या कारण है ? कारण है वक्ता

की प्रामाणिकता। इसी प्रकार यहा धर्म सम्बन्ध मे वीतरागी गुरुओ ही की बात आपको स्वीकार है, रागी जनो की नही। कारण कि आपको दिखती है वहाँ नि स्वार्थता व करुणा। जो बात वे मुख से कहते है उस की झाँकी उनके जीवन मे स्पष्ट दिखाई देती है। और इन्ही गुणो के कारण वे आपकी दृष्टि मे प्रामाणिक है। अन्य वक्ताओं मे यह गुण दिखाई नही देते है, इसलिये वे आपको अप्रामाणिक हैं। श्रद्धा के पथ पर आपका यह पहला पग है, जिसमे क्या कमी है सो आगे दर्शाता हूँ।

चले अवश्य जा रहे हो उसी मार्ग पर परन्तु हृदय मे है कुछ कम्पन सा-"यदि यह भी मार्ग ठीक न निकला तो, या आगे जाकर फिर भटक गया तो? बीहड वन है कौन जाने-पहुँच भी पाऊगा या नही? खैर चलो भगवान सहायी है।" और इस प्रकार के अनेको विकल्प। तनिक विचारो पक्ष को छोड कर। क्या यही अवस्था न होगी आपके हृदय की इस श्रद्धा की प्रथम श्रेणी मे? बस स्पष्ट हो गया-उस श्रद्धा का झूठा पना या अन्ध विश्वास पना। अन्तरध्वनि से आने वाली यह "तो" इस बात की साक्षी है, कि स्वीकार करते हुये भी आपका सशय दूर नही हुआ है अभी। बस इसी प्रकार यहां धर्म मार्ग मे भी, यद्यपि स्वीकार हैं गुरुओ की वातें परन्तु "निश्चय से न सही, पर व्यवहार से तो ठीक है न यह हमारी पहले की धारणा? इस प्रकार जो पोषण करने का प्रयत्न किया जा रहा है-अपने ही अभिप्राय को, यह कहा से निकल रहा है? बस यही है साक्षी इस बात की कि वास्तविक तत्व आपको स्वीकार ही नही है। नही तो आपकी धारणा बदल जानी चाहिये थी।

आगे चलिये नाला दिखाई दिया और साथ मे वह खजूर का पुल भी। विचारिये तो कुछ कमी पडेगी उस कम्पन मे या नही? अवश्य पड़ेगी। "नही नही, यह मार्ग ठीक ही होगा। वही पहिला चिन्ह जैसे बताया था आ गया। अब कुछ सशय नही रहा इसमे। अब तो आ ही जायेगा गाँव।" कुछ ऐसी सी बात प्रगट हो जायेगी। यद्यपि सशय बहुत मन्द पड चुका है परन्तु यह नही कहा जा सकता कि उसका सर्वथा अभाव हो गया है। जिसकी साक्षी ऊपर के 'ठीक ही होगा,' "आ ही जायेगा' यह कुछ शब्द दे रहे है। दृढ श्रद्धान मे भविष्यत सूचक शब्दो का प्रयोग नही हुआ करता। और इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र मे भी गुरु वाणी से तत्वो को सीख कर यद्यपि कुछ व्रतादि भी धारण कर लिये है, परन्तु फिर भी उन तत्वो की श्रद्धा मे अन्तर पडा हुआ है। जिसकी साक्षी इस अभिप्राय से निकलती है। जो कि कह रहा है कि भले आज न सही पर यह व्रतादि करते करते आगे कभी तो "होगी ही" मोक्ष। यह श्रद्धा की दूसरी कोटि है। यद्यपि पहली से कुछ दृढ, पर सच्ची नही।

आगे चलिये, वृक्षो का झुण्ड आया। हृदय मे एक आह्लाद उत्पन्न हुआ। मानो टागो मे शक्ति आ गई हो। और तेजी से कदम उठने लगे। "बस अब तो गाव आ ही गया समझो। बस इस मार्ग मे किञ्चित भी सशय नही। यह ठीक ही है" इस प्रकार की दृढता, यद्यपि इस श्रद्धा की दृढता को सूचित कर रही है परन्तु नही, वास्तव मे श्रद्धा अब भी दृढ नही है। यह बात गले उतरनी कुछ कठिन पडती है। परन्तु विचार करने से अवश्य इसकी सत्यता ध्यान मे आ जायेगी। कल्पना कीजिये कि कुछ ही दूर झुण्ड से आगे निकल जाने पर, आपका कोई चिरपरिचित मित्र मिल जाता है, और कुछ आश्चर्य मे पड कर आप से पूछ बैठता है "कहा जा रहे हो मित्र इस मार्ग से? बाल बच्चो का प्रबन्ध कर आये हो या नही?" स्वभावतः ही आप घबरा जायेगे-उसकी इस बात पर, कि क्या कारण है उसके इस आश्चर्य का? और यदि वह बताये, कि तुम्हे गलत मार्ग पर डाला गया है। आगे उसी ठग का गाव पडेगा जिसने कि तुम्हे मार्ग बताया था। तो क्या आप काप न उठोगे? बताइये कहा चली जायेगी

आपको इस समय तक दृढ बनी श्रद्धा ? बस यही बात साक्षी है, कि यह तीसरी कोटि की अत्यन्त दृढ दीखने वाली श्रद्धा भी वास्तव में सच्ची नही थी। इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र मे भी व्रतो आदि या विद्वता आदि के कारण, सम्मान से मिली प्रतिष्ठा मे भ्रमित होकर, भले आप यह मान बैठे कि मेरी श्रद्धा बिल्कुल सच्ची है। यही गुरुओ के द्वारा प्रतिपादित मार्ग है। इतने बडे बडे प्रसिद्ध व्यक्ति तथा विद्वान इन मेरी श्रद्धा का पोषण कर रहे है। परन्तु वास्तव मे यह श्रद्धा भी सच्ची नही है। क्योकि भले बाहर मे आपके मुख से कोई शब्द ऐसा न निकले जिस पर से कोई तार्किक आपके अभिप्राय मे भूल निकाल सके। भले ही बाहर मे यह कहते सुने जाओ, कि आपको बडा आनन्द आ रहा है-इस जीवन मे। परन्तु आप स्वय यह जान नही पाते कि यह आनन्द जीवन मे से आ रहा है कि प्रतिष्ठा के कारण लोकैषणा मे से आ रहा है ? आपको अन्तरग मे तो यह मार्ग कुछ कठिन सा भास रहा है-असि धारा के समान। बस जीवन मे इस कठिनाई का वेदन ही इस बात की साक्षी है कि आपकी यह तीसरी कोटि की श्रद्धा भी सच्ची नही है। भले दूसरो की अपेक्षा अधिक दृढ हो।

और आगे चलिये। वह देखो कलशे सर पर रखे गाव की स्त्रिया कुए पर से पानी लाती दिखाई दे रही है। सामने मन्दिर के शिखर पर लहराती ध्वजा मानो हाथ की झोली दे देकर आपको बुला रही है। और कह रही है कि चले आइये, यही है वह गाव जहा आप जाना चाहते थे। अब विचारिये कि स्वय वीर प्रभु भी आकर यह कहने लगे कि "किधर जाते हो ? यह मार्ग ठीक नहीं है।" तो क्या उनकी बात स्वीकार करोगे आप ? कदापि नही। आपको आंखों के सामने गाव है, इस चक्षु प्रत्यक्ष के सामने आप भगवान की बात को भी स्वीकार करके कोई सशय उत्पन्न करने को तैयार नही। बस इसी प्रकार धर्म क्षेत्र मे भी साक्षात चौथी कोटि की शान्ति की रूप रेखाओ का जीवन मे सवेदन हो जाने पर, लोक की कोई शक्ति आपको आपके शान्ति पथ से विचलित करने मे समर्थ न हो सकेगी। स्वसवेदन प्रत्यक्ष के सामने आपको गुरुजनो के आश्रय की भी आवश्यकता नही रहेगी। यह अनुभवात्मक चौथी कोटि की श्रद्धा ही वास्तव मे सच्ची श्रद्धा कही जा सकती है।

यहां शान्ति के इस वैज्ञानिक मार्ग की त्रयात्मकता मे अभिप्रेत श्रद्धा से तात्पर्य इस उपरोक्त चौथी कोटि की श्रद्धा से है। कुल परम्परा के आधार पर हुई, या साम्प्रदायिक पक्षपात के आधार पर हुई, या गुरुओ पर भक्ति आदि की भावुकता वश हुई, या विद्वता वश हुई, या लोक प्रतिष्ठा वश हुई, श्रद्धाओ का नाम यहा श्रद्धा नही कहा जा रहा है। श्रद्धा वास्तव मे वह होती है जो बिना किसी अन्य के उकसाये स्वय रुचि पूर्वक उस व्यापार विशेष के प्रति अन्तरग मे झुकाव उत्पन्न करा देती है। जिसके कारण शीघ्रातिशीघ्र वह अपने जीवन को उस श्रद्धा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करने लग जाता है। शक्ति को नही छिपाता। न ही कोई बहाने तलाश करता है-अपनी श्रद्धा को दूसरो पर सिद्ध करने के लिये। जैसे "क्या करू, करना बहुत चाहता हूँ पर कर्म करने नही देते। अजी गृहस्थी के जजाल मे फसा हूँ बुरी तरह।" इत्यादि।

उपरोक्त सर्व पर से यह भी ग्रहण न कर लेना चाहिये, कि उत्तरोत्तर वृद्धि को पाती वह तीन कोटि की श्रद्धाये सर्वथा बेकार है। नही, ऐसा नही है। यदि ऐसा होता तो आप उस मार्ग पर पग ही न रखते, इसलिये पहले पहल मार्ग पर अग्रसर कराने के लिये, तथा उस ओर का उत्तरोत्तर अधिकाधिक उल्लास उत्पन्न कराने के लिये वे श्रद्धाये अवश्य अपना महत्त्व रखती है। परन्तु उन मात्र मे सन्तोष पा लिया है जिसने, उसका निषेध करने के लिये, तथा वास्तविक सच्ची श्रद्धा का सुन्दर रूप दर्शाने के

लिये अथवा भ्रम मिटाने के लिये ही इतना कथन किया गया है। अन्ध विश्वास भी जिनको नही है। ऐसे विलासी जीवों की अपेक्षा तो वह कुछ अच्छा ही है। क्योकि भले अन्ध विश्वास के आधार पर ही सही, पर शान्ति की खोज करने तो लगा है। शान्ति का अनुभव कर लेने पर, खुल जायेगा इस अन्ध श्रद्धान का रहस्य, और प्रसन्न होगा-यह जान कर, कि उसके द्वारा किया गया वह झूठा श्रद्धान भी सच्चे के अनुरूप ही निकला।

परन्तु अन्ध श्रद्धान आख मीच कर ही न कर लेना चाहिये। बात बात मे परीक्षा करते हुये चलना है, अत केवल उन्ही की बात पर श्रद्धा करनी योग्य है, जिनका जीवन स्थूल दृष्टि से भी शान्त दिखाई दे। जिनके उपदेश का लक्षण शान्ति हो, तथा कथन पद्धति भी शान्त हो। स्वार्थी जनो का भोगो के प्रति आकर्षण कराने वाला उपदेश, इस मार्ग का बाधक व अभिलाषावर्धक होने के कारण स्वीकारनीय नही है।

८
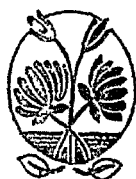
—: श्रद्धा व ज्ञान का विषय :—

दिनाक ६ जुलाई १६५६

प्रवचन न० १०

१—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये सात आवश्यक बातें, २—तत्वार्थ शब्द का अर्थ

१ सात आवश्यक बातें

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले श्रद्धा का महत्व दर्शाया जा चुका है, परन्तु श्रद्धा किस बात की, की जाये यह नही बताया गया। कोई पदार्थ तैयार करने के लिये एक कारखाना लगाने से पहले स्वाभाविक रीति से हमारे मन मे तथा एक वैज्ञानिक के मन मे सात प्रश्न उठते हैं। वे सात बाते ही किसी कार्य की सफलता के लिये यथाथित जानने व श्रद्धा करने योग्य है। क्योकि उनके जाने व श्रद्धा किये बिना वह कार्य प्रारम्भ ही नही किया जा सकेगा। यदि उन सात बातो में से किसी एक दो बातों मात्र का ज्ञान व श्रद्धान रख कर अन्य बातो की परवाह न करके कार्य प्रारम्भ कर भी दिया जाये, तो अन्धो वत ही इधर उधर हाथ पाँव मारने पड़ेगे। और फल निकलेगा निष्फल पुरुषार्थ या पूजी का विनाश। दृष्टान्त पर से यह बात स्पष्ट हो सकेगी।

वे सात बाते निम्न है .—

१ मूल पदार्थ (Raw Material) क्या है ?

२ उसके सम्पर्क मे आने वाले अन्य पदार्थ (Impurities) क्या है ?

३ मिश्रण का कारण क्या है ?

४ पदार्थ का मिश्रित स्वरूप क्या है ?

५ मिश्रण के प्रति सावधानी का उपाय।] अत: पुन: शुद्ध कैसे हो सकता है ?

६ मिश्रित अन्य पदार्थ के शोधन का उपाय।

७ शुद्ध पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

देखिये एक डेयरी फार्म लगाना अभीष्ट है। तो यह सात बाते जाननी पड़ेंगी।

१ मूल पदार्थ दूध क्या है ?

२ इसके साथ रहने वाले 'पानी' 'बैक्टेरिया' आदि क्या हैं ?

३ बैक्टेरिया की उत्पत्ति के कारण क्या है ?

४ जल व बैक्टेरिया से मिश्रित दूध का स्वरूप क्या है ?

५ बैक्टेरिया की नवीन उत्पत्ति रोकने का उपाय ।
६ पूर्व बैक्टेरिया के विनाश का तथा जल शोधन का उपाय] दूध को शुद्ध कैसे किया जा सकता है ?
७ शुद्ध दूध (Pure Milk) का स्वरूप क्या है ?

इसी प्रकार किसी रोग का प्रतीकार अभीष्ट है। तो यह सात बाते जाननी व श्रद्धा करनी पडेगी।

१ मै नीरोग हूँ, २ वर्तमान मे रोगी हू, ३ रोग के कारण अपथ्य सेवन, ४ रोग का निदान
५ अपथ्य सेवन का निषेध, ६ योग्य औषधि, ७ नीरोगी अवस्था का स्वरूप।

अब आप ही विचारिये कि क्या इन सात बातो के ज्ञान व श्रद्धान बिना वह कारखाना या डेयरी फार्म लगाना या रोग का दूर किया जाना सम्भव है ? और यदि इन सात बातो मे से किसी एक दो मात्र बातो के ज्ञान व श्रद्धान के आधार पर कार्य प्रारम्भ करने का दु साहस भी कर लिया, तो क्या फल होगा ? लाभ की बजाय हानि । बैक्टेरिया की उत्पत्ति व उसके निषेध का उपाय न जानने के कारण उसके प्रति सावधानी न रह सकेगी । फलत दूध सड़ जायेगा। रोग के कारणो अर्थात अपथ्य का या ठीक औषधि का ज्ञान न होने के कारण अपथ्य सेवन न छोड़ सकूंगा, तथा गलत औषधि ले लूंगा। फलत रोग घटने की बजाय बढ जायेगा। इत्यादि। अत श्रद्धा के विषय मे यह सात बाते जाननी आवश्यक है।

यहा जीव का शान्ति रूप कार्य अभीष्ट है। अत. यह सात बाते जाननी व श्रद्धा करनी योग्य है।

१ 'मै', जिसे शान्ति चाहिये, वह क्या है ?
२ सम्पर्क मे आने वाले यह अन्य पदार्थ क्या है ?
३ अशान्ति क्यो ?
४ अशान्ति क्या ?
५ नवीन अशान्ति को रोकने का उपाय
६ पूर्व के अशान्ति के कारणो का विनाश कैसे ?] शान्ति की प्राप्ति कैसे ?
७ शान्ति क्या ?

इन सब बातो को आगम में सात तत्व कह कर निर्देश किया गया है । इन सातो तत्वों के नाम, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा व मोक्ष कहे गये हैं। इन सब का विस्तृत स्वरूप तो आगे चलेगा, क्योकि उनके विस्तार का ज्ञान हुए बिना श्रद्धा किस पर करेंगे ? नाम मात्र जानने से तो काम नही चलता । नाम तो भले कुछ और रख लीजिये, पर शान्ति पथ मे उपयोगी इन उपरोक्त बातों का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। ज्ञानीजनों ने कहीं भी अन्ध विश्वास करने को नही कहा है ? आगम, युक्ति व अनुभव इन तीनो से परीक्षा करके ही स्वीकार करने का निर्देश किया है। इन

तीनो मे भी अनुभव प्रधान है। जैसा कि कल वाले श्रद्धान के प्रकरण मे स्पष्ट कर दिया गया है ?

२ 'तत्वार्थ' शब्द का अर्थ

और इसी लिये आचार्य देव ने तत्व श्रद्धान को सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा न बता कर तत्वार्थ श्रद्धान को सच्ची श्रद्धा बताया है। यही तत्वार्थ शब्द बडा महत्व रखता है। अत. इसका अर्थ जरा गौर से सुनना चाहिये। तत्व शब्द 'तत' 'त्व' इस प्रकार दो शब्दो से मिल कर वनता है। 'तत' शब्द का अर्थ है 'वह'। और इसलिये यह 'तत' शब्द 'यत' अर्थात 'जो' की अपेक्षा रखे विना अपने अर्थ का द्योतक नही हो सकता। जिस प्रकार मेरे ऐसा कह देने पर, कि वह व्यक्ति आज मर गया है, आप या तो असमजस मे पड़ जायेगे, और मुझसे पूछेगे कि वह व्यक्ति कौन, और या स्वय अपने अन्दर से इस बात का अनुमान करने का प्रयत्न करेगे कि इस 'वह' का सकेत किस व्यक्ति की ओर जा रहा है। जब तक मेरे बताने पर या स्वय अनुमान लगा लेने पर यह पता न चल जाये, कि 'वह' का अर्थ वह व्यक्ति है जोकि परसो मन्दिर मे आठ बजे मुझ से कुछ पूछ रहा था। आपका आश्चर्य दब न पायेगा। तात्पर्य यह है कि 'वह' का शब्द बिना 'जो' के कोई अर्थ नही रखता। इसलिये तत्व शब्द मे पडे 'तत' का अर्थ है 'वह जो कि अभिप्रेत है।' अर्थात इन जीव आदि सात तत्वो मे से जिस के सम्बन्ध मे विचारना व जानना अभिप्रेत है वह पदार्थ विशेष 'तत' शब्द का वाच्य है ?

'त्व' का अर्थ 'पना' होता है ? आप सब इस शब्द का रोज इस अर्थ मे प्रयोग करते है। जैसे शीतलत्व अर्थात ठण्डा पना, उष्णत्व अर्थात उष्णपना, स्निग्धत्व अर्थात चिकना पना, रूक्षत्व अर्थात रूखापना इत्यादि। 'पना' शब्द का अर्थ 'स्वभाव' होता है' जैसा कि उपरोक्त दृष्टान्तो से सिद्ध है। अग्नि के उष्णपना से तात्पर्य है अग्नि का उष्ण स्वभाव और इसी प्रकार अन्य मे भी। 'तत' का अर्थ वह जो अभिप्रेत है, और 'त्व' का अर्थ 'स्वभाव'। अत कितना स्पष्ट हो गया अब 'तत्व' का अर्थ। 'तत' अर्थात इन सात बातों मे जो भी बात आपको पूछनी या विचारनी अभीष्ट है उसका 'त्व' अर्थात 'स्वभाव'। अर्थात "अभीष्ट पदार्थ के स्वभाव को तत्व कहते है", यह लक्षण बन गया।

अब 'अर्थ' शब्द का अर्थ सुनिये। 'अर्थ' शब्द, 'ऋ' धातु से बना है। इसका अर्थ गमन करना होता है। किसी भी पदार्थमे जानने योग्य बाते दो होती है ? एक उसका सामान्य स्वरूप, दूसरा उसका विशेष स्वरूप। जैसे अग्नि एक सामान्य द्रव्य है। और उष्णता, प्रकाश, दाहकता आदि इसकी विशेषताये है। अर्थात गुण तथा उनकी अवस्थाये है। अत. 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य यह हुआ द्रव्य, गुण व पर्याय। अन्य प्रकार भी 'अर्थ' शब्द का अर्थ करने मे आता है। जो गमन करे, प्राप्त करे-अपने गुणो तथा पर्यायो को, ऐसा द्रव्य अर्थ कहलाता है ? इस रूप मे भी अर्थ शब्द से तात्पर्य द्रव्य, गुण व पर्याय है।

तत्व और अर्थ इन दोनो को मिलाने से तत्वार्थ बनता है अर्थात तत्व का अर्थ। अथवा अभीष्ट विषय के द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का स्वरूप या स्वभाव तत्वार्थ कहलाता है। "ऐसा तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा है, जो, जैसा कि बताया जा चुका है, बिना उस विषय का अनुभव प्रत्यक्ष किये, होना असम्भव है। इसलिए तत्वार्थ श्रद्धान का अर्थ यहा प्रकरण वश इन जीवादि सात वातो सम्बन्धी प्रत्यक्ष अनुभव करना है। दृष्टान्त मे भी दूध व पानी आदि का प्रत्यक्ष न करके केवल शब्दो मात्र से यदि इन पर श्रद्धान कर लें, तो क्या डेयरी फार्म खोलना सम्भव है ? खोलेंगे तो नौकरो के कहने पर चलना होगा। फल क्या निकलेगा, कहने की आवश्यकता नही।

सम्प्रदाय को अवकाश नही इस वैज्ञानिक मार्ग मे। इसका साया भी यहाँ पडने न पाये, ऐसी सावधानी रखने की आवश्यकता है। अत इन जीवादि सात बातो का स्वरूप कुछ इस प्रकार से सुनना या विचारना इष्ट है, कि जिस पर विचार करके, तथा अपने जीवन मे उस उस उपाय से उस उस विषय को पढ़ने का प्रयत्न करके, उसका किञ्चित अनुभव हो सके। उस अनुभव हो जाने के पश्चात ही शान्ति मार्ग प्रारम्भ होगा। परन्तु उसको अनुभव करने से पहले भी यह आवश्यक है, कि एक बार शब्दो मे उसे अवश्य ग्रहण कर लिया जावे, और तर्क व युक्ति से उसकी सत्यार्थता का निर्णय कर लिया जाये। उस अपने निर्णय को वीतराग प्रणीत आगम से भी मिलान करके देख लिया जावे। क्योकि बिना ऐसे किये अव्वल तो मै अनुभव करने का प्रयत्न ही किस विषय के प्रति करूगा? और यदि अन्धो की भाति शब्दो का स्पष्ट रहस्यार्थ समझे बिना करने लगा तो लाभ क्या होगा?

अत. अब आगे के प्रकरणो मे इन सात बातो का ही क्रमश विस्तृत विवेचन चलेगा। लम्बा कथन सुनते सुनते ऊब न जाना। सारा का सारा सुनना। बीच मे एक भी प्रकरण के छूट जाने पर आगे के तीन प्रकरणो का रहस्य भी पकड मे न आ सकेगा। बिना क्रम से और पूरा सुने अभीष्ट की सिद्धि होना असम्भव है।

IV स्व पर तत्व

६

—: जीव तत्व :—

दिनाक १० जुलाई १६५६

प्रवचन न० ११

१—'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में, २—'मैं' की खोज अन्तर में, ३—'तू' ही में 'मैं' निहित है।

अहो ! चैतन्य घन का अतुल प्रकाश, जिसने पुन पुन. प्रेरित करते हुए तथा अन्तरग मे चुटकियां मारते हुए, इस गहन भोग विलास के अन्धकार मे भी, मुझे आज यह सौभाग्य प्रदान किया कि किञ्चित मात्र भी अपनी महिमा के दर्शन पाकर मै कृतार्थ हो सकूं। धर्म की जिज्ञासा के सार स्वरूप शान्ति, तथा उसकी प्राप्ति के लिये कुछ प्राथमिक आवश्यक सामान्य बाते जान लेने के पश्चात, आज मेरे अन्दर यह जानने की जिज्ञासा जागृत हो उठी है कि मै कौन हूँ, जिसमे यह शान्ति की पुकार उठ रही है, अर्थात जीव तत्व क्या है ?

१ 'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में

बहुत प्रयत्न किया है-गुरुजनो ने, मुझे मेरी महिमा दर्शाने का, मुझे मेरा स्वरूप बताने का, पर देखिये कितने बडे आश्चर्य की बात है, कि नित्य ही 'मैं हूँ', 'मै हूँ' की पुकार करता 'मै' आज तक 'मै' को जान न सका। क्या क्या कल्पनाये बनाता रहा अपने सम्वन्ध मे। कभी विचारा करता कि, ये मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की जो आकृतिया दीख रही है, वे ही 'मै' हूँ। कभी विचारा करता कि ये पुत्र, स्त्री आदि परिवार दिखाई दे रहा है, अपने चारो ओर, वही 'मै' हूँ। कभी विचारा करता कि ये जो गृह, स्वर्णादि कुछ आकर्षक से पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वही 'मै' हूँ, अथवा इन सब मे 'मै', और मुझ मे 'यह सब' ओत प्रोत हो रहे है-मानो।

देखो कितना बडा आश्चर्य है, कि अपने को देखने की इच्छा करते हुए मैं स्वयं कहाँ कहां खोजता फिरता हूँ इस 'मै' को। इस महत्त के अर्थात इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे व्याप्त आकाश के एक एक प्रदेश पर इधर से उधर, और उधर से इधर टक्करे मार मार कर मैंने खोज की। कैसी दशा बनी हुई थी, उस समय मेरी, कि बे सुध बुध उस प्रदेश से इस पर और इससे उस पर-फिर रहा था मारा मारा-तृषातुर मृगवत् ! इस प्रदेश पर दिखाई देती है-कुछ मेरी चमक सी-भागा उधर। अरे ! यहां तो कुछ नही। नही नही ! यहा नही थी। वह देख कुछ दूरी पर-दिखाई दे रही है-कितनी तेज चमक। आँखें चुन्धिया रही है-जिसे देख कर। भागा वहां, पर यह क्या ? यहां भी कुछ नही। और इसी प्रकार, वेचैन वेहोश घूमता था-मारा मारा।

कितनी तीव्र गति थी उस समय मेरी ? अभी पाताल के उस छोर पर और अगले ही

क्षण लोक के शिखर पर, बिल्कुल अपने पिता सिद्ध प्रभु के निकट। अभी ऊर्ध्व लोक मे देवो के निकट, और अगले ही क्षण अधो लोक मे नारकियो के निकट। अभी मध्य लोक की एक पृथ्वी पर, और अभी असख्यात योजन दूर उस अन्तिम पृथ्वी पर। अभी समुद्र मे और अभी वायु मण्डल मे। अभी इन चलते फिरते दिखने वाले मनुष्य, पशु व पक्षियो के शरीरो मे, और · · अगले ही क्षण वनस्पतियो मे। कहा तक गिनाऊ ? एक प्रदेश भी तो इस आकाश का खाली नही छोडा, जहा जाकर मैने 'मै' को न खोजा हो। कितना व्यग्र था उस समय-इसकी खोज के पीछे, कि आने और जाने, जीने और मरने के सिवाय, मुझे और कुछ चिन्ता ही नही थी। एक एक क्षण मे अठारह अठारह बार बदल डाला-मैने अपना स्थान। पर मृग तृष्णा थी, कोरा बालू का ढेर। कुछ भी न था वहा। जाता-दौडता-जन्म लेता और निराश हो जाता। तुरन्त ही आगे कुछ प्रतीत होता। बस मर जाता, वहा जाकर जन्म लेता, और फिर निराश हो जाता। किसी कारण वश रोता रोता, शिशु जिस प्रकार स्वय भूल जाता है, कि क्यो रोना प्रारम्भ किया था-उसने ? केवल याद रह जाता है रोना-उसे। उसी प्रकार दौडते दौड़ते, एक क्षण मे अठारह अठाहर बार जन्मते मरते, मै स्वय भूल गया कि क्यो यह दौड़ धूप या जीना मरना प्रारम्भ किया था-मैने ? केवल याद रह गया जल्दी जल्दी जीना और मरना मात्र।

खाने की सुध थी न पीने की, न किसी से बोलने की न पूछने की, न कुछ सूंघने की न देखने की, न सुनने की न विचारने की। बेहोश हो गया था। थक कर चूर चूर। छू कर जान तो सकता था-उस समय, पर कहाँ थी होश मुझे छूने की भी ? इधर से उधर दौड़ने अथवा जीने मरने के सिवा फुर्सत ही कहा थी, कुछ और करने की ? कई बार तो पूरी तरह जन्मने भी न पाया कि मर गया। और यदि पूरा जन्मा भी तो कितना छोटा था मेरा शरीर ? जो किसी को दिखाई भी न पड़ सके। माइक्रोस्कोप के भी ती गम्य न हो। पहाड व लोह खण्ड मे से भी घुस कर आर पार हो सके। निगोद कहा करते थे ज्ञानी लोग उस समय-मुझे। सर्व साधारण जन तो मेरी सत्ता से भी अपरिचित थे। न देख सकने के कारण वे यह भी नही जान पाते थे कि मै कोई हूँ भी या नही।

वहा जब कुछ पता न चला, तो पृथ्वी बन कर, जल बन कर, अग्नि बन कर, वायु बन कर पडा रहा सदियो। लोगो की ठोकरे खाता, इधर उधर बिखरता या उबाले जाता, पवन के द्वारा ताड़ित किया जाता, पखो की मार सहता पडा रहा सदियो-कि कभी तो, कही तो स्पर्श कर ही जाऊगा मै-'मुझ' को : पर निराश। कुछ न दीखा। वहां से भी भागा, वनस्पति बन गया। कभी जल पर की काई बना, और कभी अचार पर बना फूई। कभी घास बना और कभी बना झाड़ी, कभी बेल तो कभी वृक्ष, कभी पत्ता तो कभी फल, कभी खट्टा बना तो कभी मीठा, कभी सुगन्धित तो कभी दुर्गन्धित। क्या क्या रूप धारे थे उस समय मैने ! याद कर करके कलेजा काप उठता है। चीरा जा जाकर और अग्नि मे जल जल कर अनेको कष्ट सहे, इस 'मै' को स्पर्श करने के लिये। पर निराश। कुछ न देखा वहाँ भी। स्पर्श ही न कर पाया। फिर चखने, सूंघने, देखने, सुनने व विचारने का तो प्रश्न ही क्या ? निराश लौट पडा। सर्व साधारण जन मुझे सोचते रहे जड, केवल अपने भोग की कोई वस्तु परन्तु मैं भले यह न जानता हूँ कि मैं क्या हूँ, पर उस समय भी इतना अवश्य जानता था कि मै वह नही हूँ जो वह समझते थे। चित्त मसोस कर रह जाता था-क्योकि शक्ति ही न थी बताने की।

छूने मात्र से तो पता न चला। चलो अब चख कर भी देखो सम्भवत कुछ पता चल जावे। और इस अभिप्राय को रख कर, धारण किये लट व केचुआ आदि के अनेको रूप। कभी कुछ

और कभी कुछ। सू घने, देखने, सुनने व विचारने की चिन्ता किये बिना, केवल छू कर व चख कर खोज करनी चाही मैने अपनी, पर निरर्थक।

निराश दौडा, चीटी, कनखजूरा आदि अनेको रूपो मे। जहां छूने व चखने के अतिरिक्त सूंघने की शक्ति का भी प्रयोग किया मैने। इतना ही नही, मक्खी, भवरा आदि बन कर देखने के यन्त्र को भी प्रयोग मे लाया और चिड़िया, गाय, मछली व मनुष्यादि बन बन कर सुनने यहा तक कि विचारने तक के यन्त्रों का निर्माण कर डाला, पर किसी प्रकार भी तो उस रहस्यात्मक 'मैं' का पता न चला। क्या आकाश मे, क्या पृथ्वी पर और क्या जल मे, कहा नही खोजा मैने इसे।

अत्यन्त दुखः व पीड़ा की भी परवाह न करते हुए, मै इसकी खोज के लिये नारकी तक वना, पर इसका पता न चला। तात्पर्य यह कि नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवो की चौरासी लाख यौनियों मे पृथ्वी, अप, तेज, वायु व वनस्पति भूतो मे, भ्रमण करते करते आज तक न मालूम कहा कहा तक घूमा, कितना समय वीत गया, तथा इस काल मे क्या क्या दुःख सहे, इसकी खोज के लिये, पर इस 'मै' का पता न चला। छोटे से छोटा माइक्रोस्कोप से भी न दीखने वाला, तथा बडे से बड़ा पर्वत सरीखा शरीर वनाया, पर उसका पता न चला।

२ 'मैं' की खोज अन्तर में

चलता भी कैसे ? घर मे खोई हुई सुई को सड़क पर खोजने जाऊ तो क्या मिलेगी ? 'मै' को मै मे न खोज कर, मैंने उसे आकाश मे खोजा तथा खोजा ऊपर सकेत किये विभिन्न जाति के चौरासो लाख शरीरों मे। कैसे पता चलता उसका ? 'मै' को मै मे न खोज कर मैने खोजा स्त्री व पुरुष मे, काले गोरे पने मे, या धनवान या निर्धन मे, प्राकृतिक सुन्दरताओ व विकारो मे, तूफानो मे व बाढो मे, झोपडियो मे व महलो मे। पर कैसे मिलता वह वहा ? जबकि वहा था ही नही। और आज भी इस उन्नत विज्ञान की सहायता से वड़े बडे आविष्कारों के द्वारा अनुसन्धान शालाओ मे, मै बराबर खोज रहा हू इसे, पर व्यर्थ।

आज परम सौभाग्य से इन वीतराग गुरु देव की शरण को प्राप्त हो, मानो मै कृतकृत्य हो गया हूँ। इतने काल मे इसकी खोज के पीछे व्याकुल होकर भटकता हुआ, मै आज इनकी कृपा से इस रहस्य को पाकर कितना सन्तुष्ट हुआ हूँ-कह नही सकता। मानो मेरा वह भ्रम ही मिट गया है. आज उसे जान कर मुझे स्वय अपने ऊपर हसी आ रही है। कितनी सरल सी बात थी और कितना भटका इसके पीछे। यह भ्रम की ही कोई अचिन्त्य महिमा थी। जो आज तक मुझे इसके दर्शन नही होने देती थी। आज गुरुदेव के प्रसाद से वह भ्रम दूर हो गया और मै जान पाया, कि वह मेरे अत्यन्त निकट है, जिसे मै इतनी इतनी दूर खोजने गया।

विचारिये तो सही कि कोई हीरे की अगूठी आप तिजोरी में रखने को जाते हो। मार्ग मे मै मिल जाऊ और आपको कोई आवश्यक काम बता दू। आप अगूठी को अपनी अंगुली मे पहन कर काम मे जुट जाये। साझ पडे घर आये तो अगूठी याद आवे। हैं! कहा गई ? तिजोरी मे पुन. पुनः देखें, सन्दूक खोले, रसोई घर मे एक बर्तन को उठाकर, और कभी दूसरे को, सम्भवतः उन्हे ठोक ठोक कर देखने लगे कि कही यह बर्तन निगल ही न गये हों उसे। और व्याकुलता मे न मालूम क्या क्या करने लगे। पर क्या इस प्रकार वह अगूठी मिलेगी ? यदि मै आपसे पूछूं कि क्यों जी, उस अंगूठी का ढूंढ़ना

सरल है कि कठिन, तो क्या कहोगे ? न सरल कहते बनता है न कठिन, जब तक नही पाती तब तक कठिन और उगली पर दृष्टि जाने के पश्चात, क्या सरल और क्या कठिन ? ढूढने का प्रश्न ही कहां है ? और यह गई ही कहां थी ? इसका ढूढना तो सरल था न कठिन। मेरे भ्रम का दूर होना ही कठिन सा था।

बस तो इस प्रकार भो चेतन ! तू व्यर्थ ही इधर उधर भटक रहा है। जिसे तू खोजना चाह रहा है वह तो यहां ही है। तेरे अत्यन्त निकट। निकट भी क्या ? तू स्वय ही तो है-वह। किधर देख रहा है बाहर की ओर ? उधर कुछ नही हैं। उधर तो यह चमडे हड्डी का कुछ ढेर मात्र ही पडा है। वह शरीर है, तू नही। इधर देख भाई ! इधर देख। अरे ! फिर उधर ही। उधर नही, इधर देख। मैं जिस ओर सकेत कर रहा हूँ, उधर देख। अरे ! फिर। उधर ही ? अरे भाई ! देख इस उगली की बिल्कुल सीध मे, उस निशाने पर, जहा से यह 'मै' की ध्वनि चली आ रही है। जहा से शान्ति की इच्छा प्रगट होती दिखाई दे रही है। जहां सुख दुख का वेदन हो रहा है। जहा विचारनाओ का काम किया जा रहा है। नेत्र इन्द्रिय से देखने का प्रयत्न मत कर भाई ! इन्हे बन्द करके देख कुछ अपने ही अन्दर डुबकी लगा कर। अपने से ही प्रश्न करके उत्तर ले। 'मै' की ध्वनि स्वरूप अन्तरग मे होने वाली हे विशेष बाणी तू कौन है ? दुख सुख मे हाय व वाह वाह करने वाले अन्तरग मे प्रतीति होने वाले-हे परम तत्व ? तू कौन है ? 'मुझे शान्ति चाहिये', 'मुझे शान्ति चाहिये' हर समय इस प्रकार की टेर लगाने वाले, तू कौन है ?

३ तू ही में मैं निहित है अरे ! यह क्या ? तू किसे कह रहा है मैं ? यह स्वयं मै ही तो हूँ। अन्तरंग मे प्रकाशमान, स्वानुभव गोचर, अमूर्तीक, इन्द्रियातीत, चैतन्य विलास रूप, शाश्वत, परब्रह्म, यह 'तू' मै ही तो हूँ। क्योकि यह देख प्रश्न करने वाला कौन ? 'मैं'। प्रश्न सुनने वाला कौन ? 'मै'। प्रश्न का उत्तर देने वाला कौन ? 'मै'। सर्वत्र 'मैं' ही 'मै' तो हुआ। 'तू' को कहां अवकाश रहा ? कितना बड़ा आश्चर्य, बगल मे छोरा और नगर में ढढोरा। 'दिल में है तस्वीरे यार जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली'। व्यर्थ ही इधर उधर दूर दूर भटकता रहा-ठोकरें खाता रहा, कष्ट सहता रहा। पर जिसे ढूंढता रहा, वह स्वय 'मै' ही तो था।

चार ब्राह्मण पुत्र बनारस से ढ कर आये। मार्ग मे नदी पड़ी। चारो पार हो गए। उस पार पहुंचने पर गिनने लगे। चारो ने गिना पर संख्या तीन ही थी। एक कौन सा डूबा। क्या मै डूबा ? नही में तो हूँ। क्या यह डूबे ? नही ये तो हैं। पर एक, दो, तीन-चौथा कहा गया ? बस वही हालत थी मेरी अब तक। निगोद से लेकर मनुष्य तक सारे शरीरो को गिन डाला, पर अपने को गिनना सदा ही भूलता रहा। आश्चर्य की बात। अपनी मूर्खता न कहूँगा तो क्या कहूँगा ? चला हूँ शान्ति लेने, पर यह पता नही कि शान्ति भोगेगा कौन ? चला हूँ लड्डू खाने, पर यह पता नही कि इसे उठा कर मुंह में देने वाला कौन ?

समझ चेतन समझ। तुझे इस 'मैं' का लक्षण दर्शाता हूँ। जिसमे जानने का कार्य हो रहा है, जिसमें कुछ चिन्तायें उत्पन्न हो रही है, जिसमे सुख, दुख महसूस किया जा रहा है, जिसमे विचारने का काम चल रहा है, वह एक चैतन्य तत्व है ज्ञानात्मक तत्व। इन्द्रियातीत अमूर्तीक तत्व है। निगोदादि रूपो मे एक वही तो प्रकाशमान हो रहा है। वही तो ओत प्रोत हो रहा है। वे सर्व इसी की तो कोई

अवस्थाये है। जिनका निर्माण अपनी कल्पनाओ के आधार पर, स्वय इसने किया है ? जिसके होने से ही ये सब चैतन्य है, जिसके न होने से ही जड। [देखो आगे अधिकार न० २६ प्रकरण न० २४] और इसलिये ईश्वर, परब्रह्म व जगत का सृष्टा यही तो है। परमात्मा व प्रभु इसी का तो नाम है। अचिन्त्य है इसकी महिमा। उसी परम तत्व का नाम 'मै' है। इसी को आगमकार जीव व आत्मा कहते है। कोई इसे 'सोल' कहते है। कोई इसे 'रूह' कहते है। पर इन सब नामो की अपेक्षा इसका नाम 'मै' लिया जाना अधिक उपयुक्त है। क्योकि 'मै' शब्द को सुन कर साक्षात रूप से मेरा विकल्प उस परम चैतन्य तत्व की ओर आता है, और जीव या आत्मा सुन कर मै इसे कही अन्यत्र खोजने लगता हूँ। देखिये क्या अनेको बार मेरे मे यह विकल्प उत्पन्न होता नही देखा जाता, कि एक दिन मै भी मरूंगा, लोग मुझे अर्थी पर लाद के ले जायेगे, और जला देगे, और यह आत्मा इसमे से निकल कर कही अन्यत्र जाकर जन्म धारण कर लेगी। मानो कि वह आत्मा मुझसे पृथक कोई दूसरा पदार्थ ही हो। इसलिये इस सब लम्बे वक्तव्य में मै जीव शब्द के स्थान पर 'मै' शब्द का प्रयोग करूंगा। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि क्राइस्ट ने बाइबल मे, और वेद व्यास ने गीता मे किया है ?

'मै' शब्द को सुन कर भ्रम मे न पड जाना। कही सोचने लगो कि बडा अहकारी है-यह तो। सदा अपनी ही अपनी पुकार करता है। नही ऐसा तात्पर्य मेरा नही है। 'मै' का अर्थ व्यक्तिगत मै नही, बल्कि वह परम तत्व है जो सर्व मे वास करता है। अर्थात सर्व के अन्दर से उठने वाले 'मै' शब्द का सकेत उनकी दृष्टि मे जिस ओर जाता है वही 'मै' शब्द का वाच्य आत्मा है। उस सूक्ष्म तत्व की ओर लक्ष्य खीचने के लिये यह 'मै' शब्द ही एक मात्र पर्याप्त है, और कोई नही।

१०

—: शान्ति कहाँ है :—

दिनाङ्क ११ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १२

१—शान्ति मेरा स्वभाव, २—शान्ति की खोज अनेकों रूपों व विषयों में, ३—जल में मीन प्यासी,
४—शान्ति आवाज में।

१ शान्ति मेरा स्वभाव

गुरुओ के प्रसाद से निज परम चैतन्य तत्व के दर्शन कर लेने के पश्चात, इससे पहले कि मैं शान्ति में बाधक अन्य पदार्थो के स्वरूप का वर्णन करूं, यह जानना आवश्यक समझता हूँ, कि यह शान्ति क्या है ? और कहां रहती है ? क्योंकि शान्ति का निवास जाने बिना, "मैं इसकी रक्षा कहाँ जाकर करू" यह शंका बनी रहेगी। पूर्व कथित सात बातो मे, इस प्रश्न का अन्तरभाव पहली बात मे अर्थात 'मैं क्या हूँ' वाले प्रश्न में हो जाता है। क्योंकि मैं का लक्षण करते हुये उस लक्षण के अग स्वरूप एक बात यह भी कही गई है कि जिसमें से शान्ति की इच्छा उत्पन्न हो रही है, वही 'मैं' हूँ। शान्ति की यह इच्छा ही शांति की ओर मेरे झुकाव को सिद्ध करती है। स्वतन्त्र रूपमें जिस ओर वस्तु का झुकाव होता है, उसे स्वभाव कहते हैं, जैसेकि अग्नि के द्वारा गरम किया गया जल, अग्नि के सम्पर्क से जुदा होकर स्वतन्त्र रूप से शीतलता की ओर ही झुकता है, और यदि देर तक पुनः अग्नि का सयोग प्राप्त न होने पावे, तो वह स्वय शीतल हो जाता है। इसलिये जल का स्वभाव उष्ण न होकर शीतल है। इसी प्रकार अगले प्रकरणो मे बताये जाने वाले, अन्य पदार्थों से सम्पर्क दूर होकर, मैं स्वतन्त्र रूप से शान्ति की ओर ही झुकता हूँ। जैसे कि विरोधी के दूर हो जाने पर, मेरा झुकाव, शान्त होने के प्रति ही होता है। अत मेरा स्वभाव शान्ति है ? भले अन्य के सम्पर्क में आकर अशान्त हो रहा हूँ। इसलिये 'शान्ति क्या है' और 'शान्ति कहा है' इन दोनो प्रश्नों का अन्तरभाव, 'मैं क्या हूँ' इस पहले प्रश्न मे ही आ जाता है। अत. इस स्थान पर इसकी व्याख्या कर देना योग्य है। 'शान्ति क्या है ?' इसके सम्बन्ध में (अधिकार नं० २) के पाँचवें प्रवचन मे साधारणत. चार प्रकार की शान्ति का प्रदर्शन करते हुए काफी प्रकाश डाला जा चुका है। अब 'शान्ति कहाँ है ? यह बात चलती है।

'मुझे सुख चाहिये' 'मुझे सुख चाहिये' हर दम अन्तर मे उठने वाली इस प्रकार की पुकार से प्रेरित हुआ मैं आज तक, क्या खाली बैठा रहा ? क्या मैंने आज तक उसे नहीं खोजा ? नहीं ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार आज तक मैं अपने को खोजता फिरा, इसी प्रकार इस शान्ति की खोज भी, कुछ कम न की, और आज भी बराबर कर रहा हूँ।

२ शान्ति की खोज अनेक रूपों व विषयों में

अनादि काल के इस भव संताप से संतप्त होकर मैंने एक बार विचारा, कि मेरा ज्ञान ही सम्भवत अशान्ति का कारण है। यदि इसका विनाश हो जाये, तो अशान्ति का वेदन कौन करेगा ? यह विचार कर अपने ज्ञान को मूर्छित कर सदियो पड़ा रहा, मैं अचेत, निगोद अवस्था में, इस बात का अनुभव करने के लिये कि सम्भवतः मुझे शान्ति मिल जाये। परन्तु यद्यपि

अचेत हो जाने के कारण मुझे कुछ बाह्य बाधाओं सम्बन्धी कष्ट प्रतीत न हो सका, और कुछ अशान्ति व व्याकुलता का भी भान न हो सका। तदपि मै शान्ति का भी अनुभव न कर सका। जैसेकि क्लोरोफार्म सुंघा कर अचेत किये गये रोगी को भले उस समय आपरेशन का कष्ट प्रतीत न हो, पर इस पर से यह नही कहा जा सकता कि वह सुखी है। बल्कि बेहोशी दूर हो जाने पर अवश्यमेव ही उसे बड़े कष्ट का वेदन हो जाने वाला है। इस अपेक्षा से उसे दुखी कहा जा सकता है? इस प्रकार निगोद अवस्था से कभी भी सचेत होने पर मुझे अशान्ति का वेदन ही होगा-इस अपेक्षा, तथा अज्ञान स्वयं दुख है-इस अपेक्षा, मै वहां इस ज्ञान हीन दशा मे भी शान्त की बजाय अशान्त ही बना रहा।

'मै' की खोज के अन्तर्गत बताये गये क्रम से, मैने पृथ्वी से मनुष्य व देव पर्यन्त अनेकों विचित्र रूप धर कर इसे खोजा, पर सदा अशान्त बना रहा। शान्ति की खोज में जहा भी मैं गया, मेरे विश्वास के विरुद्ध वहा ही अनेकों बाधाये सहनी पड़ी। पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु व वनस्पति के रूपों में रह रह कर खुदालियो की चोट, ऊपर से नीचे गिराये जाने का कष्ट, पंखे से भड़काने की पीड़ा, तथा ताड़ित करना व कुल्हाड़ियों से काटे जाना आदि अनेको कष्ट सहे। दो इन्द्रियो से पंचेन्द्रिय तक के छोटे रूपो में रहते हुये, कुचले जाना, व अग्नि मे जलाये जाना आदि अनेको कष्ट सहे। पंचेन्द्रिय पशु पक्षियो के रूप मे रहते हुये गाडीवान के हटरो तथा डडो के द्वारा, भूखा रखा जाने के द्वारा, तथा गर्मी सर्दी के द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखने मे आने वाले कष्ट सहे, जिनको सहस्र जिह्वाओ के द्वारा कहा जाना भी शक्य नही है। मनुष्या मे आया तो परस्पर को लड़ाई, मार पीट, द्वेष आदि के अतिरिक्त धनोपार्जन सम्बधी वचनातीत चिन्ताओं के द्वारा, आज प्रत्यक्ष दु:ख सह रहा हूं। नारकियो के दुखो का तो ठिकाना ही क्या? देवों मे जा॥र भी मुझे चैन न मिला, अन्य देवों की सम्पत्ति को देखकर उठी हुई अन्तरदाह में जलता रहा। गया शान्ति खोजने, मिली अशान्ति।

मैंने इसे ठण्डे, गर्म व चिकने रूखे पदार्थों में खोजा। खट्टे, मीठे व चर्परे पदार्थों मे खोजा, सुगन्धि मे खोजा, नृत्यों मे खोजा, सिनेमा थियेटरों मे खोजा, मधुर गीत वादित्र मे खोजा, सुन्दर वस्त्रों मे खोजा, बड़े बड़े महलो मे खोजा, हीरे पन्ने माणिक मे खोजा, स्वर्ण रजत मे खोजा, बर्तनों व फर्नीचर में खोजा, स्वादिष्ट पदार्थो मे खोजा, क्रीम पाउडर मे खोजा, पर फिर भी अशान्त बना हुआ हूँ। राजा व चक्रवर्ती बन कर खोजा, दूसरो को दास बनाकर खोजा, एटम बम बनाकर खोजा, चन्द्र, सूर्य तक जा जाकर खोजा और कहां कहा नही खोजा? सर्वत्र खोजा पर आज तक अशान्त बना हुआ हूँ। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नही। मेरा अपना इतिहास है कौन नही जानता?

३ जल में मीन प्यासी

बडी विचित्र बात है कि पुरुषार्थ करूं शान्ति का, और मिले अशान्ति? भोजन खाऊं और पेट न भरे? परन्तु ऐसा वास्तव में नही है। भोजन किया तो सही पर मुंह मे डालकर नही, शरीर पर पोत कर। कैसे पेट भरे? पुरुषार्थ किया तो सही, पर जिस दिशा में करना चाहिये था उस दिशा मे नही। आश्चर्य है इस बात का कि असतुष्ट रहता हुआ भी आज तक मेरे हृदय मे यह बात उत्पन्न न हुई, कि सम्भवत कही न कही मेरी भूल रह रही हो-पुरुषार्थ करने मे। क्योकि पुरुषार्थ का फल भले अल्प हो, पर उल्टा नही हुआ करता। रोग शमन न होते हुये भी औषधि को बदल के आज तक न देखा। एक द्वार से मार्ग का पता न चलने पर भी दूसरे द्वार की ओर जाकर न देखा। पूर्व कथित (Trial & Error Theory) सिद्धान्त पर न चला। फिर क्यों न होती असफलता? सिद्धान्त के

निरादर से और निकलता ही क्या है ? खोज की, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि को छोडकर, केवल पूर्व अभ्यास से प्रेरित होकर एक ही दिशा मे।

आज महान सौभाग्यवश शान्ति भण्डार वीतरागी गुरु की शरण मे आकर भी, क्या इसे न खोज सकू गा ? नही, नहीं, अब इसे अवश्य खोज निकालू गा। गुरुवर ने वास्तविक वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा उसे खोज निकाला है अपनी जीवन की प्रयोगशाला मे बैठ कर। यही मार्ग मुझको बता रहे हैं, कि प्रभु ! इस नई प्रयोगशाला मे अर्थात अपने चैतन्य घन स्वरूप मे आकर इसे खोज। इन्द्रिय विषय सम्बन्धी भोगो मे नही। वहाँ इसका साया भी नही है। न मालूम क्यो तुझे वहाँ ही अपनी शान्ति के होने का भ्रम हो गया है ? सम्भवत. इस कारण से ही हो कि उनके भोग के समय किंचत शान्ति सी प्रतीत होती है। परन्तु भाई वह सच्ची शान्ति नही है। अशान्ति को और भी भड़का देने के लिये दावानल है। चार प्रकार की शान्ति का स्व प दर्शाते हुये पहले ही इस बात को सिद्ध किया जा चुका है।

"जल मे मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हासी"। एक बार कोई जिज्ञासु गुरु से जाकर पूछने लगा कि प्रभु। शान्ति दे दीजिये। कहने लगे कि इतनी छोटी सी वस्तु देते हुये क्या मै अच्छा लगू गा। जाओ, सामने नदी मे एक मगर मच्छ रहता है उससे जाकर कहना, वह देगा तुम्हे-शान्ति। नदी पर गया। मगर को आवाज लगाई, और गुरु का आदेश कह सुनाया। मगर बोला, शान्ति अवश्य दे दू गा, परन्तु कुछ प्यास लगी है। पहले पानी पिला दो पीछे दू गा। पथिक यह बात सुनकर हस पडा, और एकाएक निकल पड़ा उसके मुख से वही उपरोक्त वाक्य "जल मे मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हांसी"। मच्छ बोला, जा यही उपदेश है शान्ति की खोज का। शान्ति में वास करने वाले भो जिज्ञासु ! शान्ति सागर मे रहते हुये भी शान्ति की खोज करता फिरता है ! बड़े आश्चर्य की बात है।

४ शान्ति आवास में तू तो स्वय शान्ति का मन्दिर है। शान्ति तेरा स्वभाव है। जो पुरुषार्थ तू कर रहा है, वह भले ही तू शान्ति का समझकर कर रहा है वास्तव मे शान्ति का नही है, अशान्ति का है। भोगो की प्राप्ति के प्रति प्रयत्न करना, इच्छाओ की अग्नि मे घी डालना है। क्योकि भोगो की अधिकाधिक उपलब्धि के द्वारा इच्छाओ मे गुणाकार होता देखा जाता है। (देखो प्रवचन नं० ४ दिनाक ३ जुलाई १९५९) अत इस दिशा से, अर्थात भोग सामग्री या किसी अन्य पदार्थ से अपने उपयोग को हटा करके वहां लगाने से शान्ति की प्राप्ति हो सकती है जहां कि उसका वास है ; अर्थात निज स्वभाव मे एकाग्र होना ही शान्ति प्राप्ति के प्रति स्वाभाविक पुरुषार्थ है। उसी का कारण व उपाय आगे के प्रकरणो मे दर्शाया जायेगा।

११

—: अजीव तत्व :—

दिनाक १२ जुलाई १९५९

प्रवचन न० १३

१—मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास, २—जन्म व मृत्यु का रहस्य, ३—पुनर्जन्म की सिद्धि, ४—उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ५—तीन कोटि के पर पदार्थ।

१ मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास

अहो ! वीतरागी गुरुओ की शरण व उनकी महान करुणा, तथा यह महान अवसर कि जिसके प्रसाद से आज मै अपनी महिमा जान पाया। स्वयं अपने दर्शन करने को समर्थ हो सका। जिनकी कृपा से आज मेरी भव की इच्छा पूर्ण हुई, संताप मिटा, शान्ति के प्रति सच्चा पुरुषार्थ जागृत हुआ। अतुल प्रकाश मिला, और वह बड़ी भूल भासी, जो अनादि काल से बिना किसी से सीखे बराबर पुष्ट होती चली आ रही थी। अर्थात 'मैं' को 'मैं' मे न खोज कर अन्य मे खोजना। जो स्वय विचार करने से 'मैं' रूप भासते भी नहीं हैं। जिनमे 'मैं'-कार अर्थात अहं प्रत्यय का नाम भी नही है। जो सुख दुख का स्वय अनुभव भी नही कर रहे हैं। जिनमें स्वय विचार करने की शक्ति भी नही है। जो चैतन्य वत दीखते हैं अवश्य पर वास्तव में अचेतन हैं। जिनके पीछे भ्रमता हुआ आज तक अपनी शान्ति को खोजता हुआ मै अशान्त ही बना रहा। संतप्त व व्याकुल बना रहा।

देख तो चेतन ! जरा अपनी मूर्खता। स्वय हसी आ जायेगी अपने ऊपर। 'मैं' शब्द निकलते ही किस ओर जाना चाहिये था तेरा लक्ष्य, और किस ओर जा रहा है-वह ? उस विचारशील, अन्तरग मे प्रकाशमान सुख व शान्ति के भण्डार परब्रह्म परमेश्वर स्वरूप, 'अह प्रत्यय' के तथा चैतन्य तत्व के प्रति न जाकर, तू उलझा जाता है शरीर मे, इसके पृथ्वी से मनुष्य पर्यन्त तक के अनेक आकारो मे, इसकी इन्द्रियो मे, इसके स्त्री पुरुष नपुंसक चिन्हों मे ? तू खोजने लगता है-अपनी महिमा इसमें ? अपनी शान्ति इसमे ? मान बैठता है इसके जन्म मे अपना जन्म, इसकी मृत्यु में अपनी मृत्यु, इसके नाम मे अपना नाम, इसके विनाश मे अपना विनाश, इसकी बाधा मे अपनी बाधा, इसकी रक्षा में अपनी रक्षा, इसकी भूल मे अपनी भूल, इसकी नग्नता मे अपनी नग्नता, इसके इष्ट मे अपना इष्ट, इसके अनिष्ट में अपना अनिष्ट, इसके नातेदारो को अपना नातेदर, इसके सेवक को अपना सेवक, इसके घातक को अपना घातक, इसके माता पिता को अपना माता पिता, इसके निर्मित धनादि पदार्थो को अपने पदार्थ, इसके कार्य को अपना कार्य, और न मालूम क्या क्या ?

२ जन्म व मृत्यु का रहस्य

मूर्खता की भी कोई हद होती है ? भाई ! इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है। युगो बीत गये, परन्तु आज तक न सम्भला। घर में पुत्र उत्पन्न हुआ, अहा हा ? कितनी अनौखी बात हुई। कितने हर्ष का स्थान हुआ ? एक नवीन वस्तु जो बना डाली है- मैने ? मानो कि उसकी सत्ता ही बना डाली हो। इससे पहले वह लोक में ही न हो, एक महान काम जो किया मैने, अपने ही जैसे

एक नवीन व्यक्ति को सृजन कर। परन्तु अपनी भांति ही मूर्ख। मूर्खों की टोली में एक की वृद्धि जो कर दी है मैने ? और यह क्या ? अरे काल ! हाय हाय ! नही तू तो चला जा यहा से। देख देख ! जरा दूर रह। यहाँ मत आ। यह तो मेरा पुत्र है। मेरी सृष्टि है। इस पर तो मेरा अधिकार है। तू कहां ले जाना चाहता है इसे, मेरे बिना पूछे ? व्यापार मे कुछ लाभ हुआ। अहा हा ! कितना बडा काम किया है मैंने, कितना चतुर हूँ मैं ? इतना धन ले आया हूँ ? मानो कोई नई वस्तु ही बना कर लाया है। इससे पहले यह इस जगत मे थी ही नही। अरे हैं ! यह क्या ? हानि ? अरे रे ! तुझे किसने बुलाया ? जा जा। जब बुलावे तब आना। बिना बुलाये आना सेवक की मूर्खता है। मानो मेरी ही तो आज्ञा पल रही है विश्व पर। मेरे ही आधीन रहना चाहिये सबको। मै स्वामी जो हूँ सबका। मूर्खों को सब ही मूर्ख न दिखाई दे तो क्या दिखाई दे ? और इसी प्रकार कभी हसता और रोता चला आ रहा हूँ न मालूम कब से ?

मेरे अन्दर यह आत्मा बोल रही है। मेरी मृत्यु एक दिन आ जायेगी। मुझे चिता पर रख कर फूंक दिया जायेगा। और यह आत्मा उड़ जायेगी-इसमे से, एक फूंक सी निकल कर। और उसके पश्चात मै, मै तो जला जो दिया गया ? एक अन्धकार सा, जिसमे कुछ नही भासता, कि मै रहा या विनश गया। नही नही, मै तो विनश ही गया। मृत्यु तो आ गई ? अब कहा दीखूंगा मै ? किसे दीखूंगा मैं ? किसे पुकारेंगे लोग अमुक नाम लेकर ? जन्म से पहले कब था मै ? किसे दीखता था मैं ? कौन पुकारता था मुझे अमुक नाम लेकर ? हाँ हाँ, ठीक है, जन्म से पहले मै था ही नही और मृत्यु के पश्चात मै रहूँगा नही। जन्म से मृत्यु तक के लिये, बस इतना ही तो हूं मैं, इतना ही तो है मेरा जीवन ? जितनी मौज उड़ाई जाये उड़ाले, जितनी सम्पत्ति खाई जाये खाले। फिर कौन जानता है कि रहे न रहे। सदा से जी जी कर मरता आ रहा है आज तक इसी प्रकार। सदा से बराबर विनश रहा है तू। सदा से चिता मे जलाया जा रहा है तू। पर मजे की बात यह कि 'मै हूँ' यह कहने वाला आज भी तू अपने होने का पोषण कर रहा है। सदा से भोग रहा है तथा खा रहा है इस लोक की सम्पत्ति को। पर आज भी ज्यो की त्यों बनी हुई है-इस धरातल पर।

अरे भाई ! यह विचारा है कभी कि वह जिसे तू फूंक सी उड़ जाने वाली आत्मा कह रहा है, जिसे तू अपने अन्दर बोलता हुआ देख रहा है, वही तो तू है चैतन्य ज्योति परम तत्व ? अबाध्य व अकाट्य। जिसे तू जलता हुआ देख रहा है, वही तो है 'अजीव तत्व' चैतन्य शून्य, जड। यदि विश्वास नही आता तो अपने को, उस फूक सी को निकाल कर देख ले-इस ढ़ोल की पोल को। कहाँ चली जाती है इसकी ज्योति व तेज ? आख होते हुये भी क्यो नही देख सकता यह ? मुंह होते हुये भी क्यों नही बोल सकता यह ? कान होते हुए भी क्यों नही सुन सकता यह ? नाक होते हुए भी क्यो नही सूंघ सकता यह ? अग्नि पर रख देने पर क्यों पीड़ा नही होती इसे ? क्यो चीख पुकार नही करता आज यह ? यह तू ही तो था कि जिसके कारण इसमें ज्योति थी, तेज था। यह तू ही तो था कि जिसके कारण यह देखता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह बोलता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह सुनता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह सूंघता था, और यह तू ही तो था कि जिसके कारण अग्नि लगने से यह चीखता था। परन्तु विचार तो कर, अपनी बुद्धि के फेर पर। अपने को तो फूंक वत फोकट की वस्तु मान बैठा है,और इसे "मैं" मान बैठा है। अपनी महत्ता भूल कर इसकी महत्ता गिनता है। अपने को जड़ व इसे चैतन्य मानता है।

३ पुनर्जन्म की सिद्धि भाई ! तू आज तक कभी मरा ही नही। मरता तो आज बैठा 'मै' कहने वाला तू कहाँ से आता ? यदि विश्वास नही आता तो पुनर्जन्म के उन प्रत्यक्ष दृष्टान्तों को देख जो आज के समाचार पत्रों के युग मे प्रत्यक्ष पढने, सुनने, देखने व अनुभव करने मे आ रहे है। अपने को मै कहने वाला कोई भी व्यक्ति विशेष, पुनर्जन्म के विश्वास न करने वाले वातावरण में उत्पन्न होकर भी, अर्थात मुसलमानो व ईसाइयो मे जन्म धारण करके भी क्या आज यह कहता सुना नही जाता, कि मैं इससे पहले अमुक देश मे, अमुक ग्राम मे अमुक माता पिता का पुत्र या पत्नि, अमुक का पिता या माता, अमुक का पति या स्त्री था। अमुक व्यापार करता था। अमुक यह मेरा ही मकान था। यह मेरी ही दुकान थी। अमुक व्यक्ति को इतना पैसा देना था मुझे। अमुक स्थान पर अमुक वस्तु रखी हुई थी मैने। तथा अन्य भी अनेको ऐसी बाते जिनकी खोजबीन व परीक्षा कर लेने के पश्चात, उन सर्व बातों की सत्यता प्रकाशित हो जाने के पश्चात, यह कहे बिना न बनेगा कि नि.सन्देह अपने को आज 'मै' कहने वाला यह व्यक्ति वही है जो इस बार जन्मने से पहले इस से पूर्व की अवस्था में भी अपने को 'मै' ही कहता विद्यमान था। भले ही पहले अन्य विश्वास पर आधारित रही हो यह, पर आज के युग मे तो सौभाग्यवश अन्धविश्वास का विषय नही रह गया है। हस्तामलक वत आज प्रत्यक्ष हो रहा है-इस परम सत्य का।

दिनाक १२ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० १४

४ उत्पाद व्यय ध्रौव्य

अजीव तत्व की बात चलती है। उसके अन्तर्गत दृष्टान्तों के आधार पर पुनर्जन्म की सिद्धि कर दी गई। अर्थात यह बात दर्शा दी गई कि आज जो जन्मा है वह वही है जो पहले कहीं से मरा है। कोई नया नही। और यदि ऐसा ही है तो जन्म लेते समय कौन नई वस्तु जन्मी ? और मरण पाते समय कौन पहली वस्तु विनशी ? बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार कि विचार करने पर यह बात ध्यान मे आ जाती है कि धन लाभ होते कौन नई वस्तु आ गई, और धन हानि होते कौन पूर्व वस्तु विनश' गई, यहां ही थी, यहा ही रही। न कुछ आई न कुछ गई। इसी प्रकार तू भी यही था यही रहा, न कुछ जन्मा न कुछ मरा। तेरे इस जन्म से या धन लाभ से लोक मे न कुछ लाभ हुआ न वृद्धि हुई, और तेरी इस मृत्यु से या धन हानि से लोक मे न कुछ हानि आई। 'मैं' कहने वाले जितने व्यक्ति थे अब भी उतने ही रहे। जितनी सम्पत्ति थी अब भी उतनी ही रही। केवल 'मैं' के शरीरों की कुछ आकृति या स्थान मात्र बदले गये। और इसी प्रकार सम्पत्ति के भी रूप व स्थान मात्र बदले।

पहले कलकत्ते के एक ब्राह्मण कुल में था और आज इस मुजफ्फरनगर के एक वैश्य कुल मे। पहले कभी पशु के शरीर में था अब मनुष्य के शरीर में। पहले कभी चीटी के रूप में अब मनुष्य के रूप मे और इसी प्रकार सर्व रूपो मे सर्व शरीरो मे, बराबर क्रम से परिवर्तन करता, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता रहता, आज भी अपने अस्तित्व को तेरा यह 'मैं' प्रत्यक्ष प्रकाशित कर रहा है। और इसी प्रकार यह सम्पत्ति भी, पहले विष्टा रूप थी और आज अन्न रूप पहले पृथ्वी रूप थी और आज स्वर्ण रूप, पहले पत्थर रूप थी और आज आपकी सुन्दर अगूठी रूप, पहले किसी के पास थी और अब आपके पास, पहले पशुओ की भोज्य थी और आज आपकी, और इसी प्रकार अनेको रूपो मे परिवर्तन करती एक स्थान से अन्य अन्य स्थान पर जा जा कर परिभ्रमण करती आज भी यह किसी भी रूप मे अपने अस्तित्व को सिद्ध कर रही है

और इसी प्रकार यह शरीर भी तो ? पहले विष्टा रूप था, फिर मिट्टी हो गया, अन्न बन बैठा किसी के द्वारा भक्षण किया जाने पर उस ही के शरीर के अगोपांग रूप से परिवर्तित हो चमड़ा हड्डी बन गया, जल कर राख हो गया, और राख फिर पृथवी बन गई। या उस भोज्य का ही कुछ भाग विष्टा बनकर फिर पीछे मिट्टी बन गया। अथवा तो माता पिता के द्वारा ग्रहण किया गया वह भोजन किसी अन्य बालक के शरीर रूप बन गया। और एक दिन अकस्मात प्रगट होकर आश्चर्य मे डाल दिया उसने। बताइये तो क्या जन्मा क्या मरा ? शरीर का पदार्थ भी वो कोई नया उत्पन्न हुआ नही और न ही विनशा ? रूप से रूपान्तर मे परिवर्तित होता तथा स्थान से स्थानान्तर होता यह वही तो है जो पहले था ? न कुछ विनशा न कुछ उपजा।

यदि कही इतनी योग्यता हुई होती कि इस चैतन्य के तथा इस शरीर के अंग स्वरूप इन पृथ्वी जल आदि तत्वो के, प्रत्येक क्षण मे होने वाले परिवर्तन का बराबर निरीक्षण कर सकता, तो यह स्पष्ट प्रतिभास हो जाता कि इस पृथ्वी का एक कण कोपल मे आ गया, और अब देखो वही अब अन्न मे बैठा हुआ है, और देखो इस शरीर मे बैठा हुआ अपने अस्तित्व को बराबर दर्शा रहा है। अथवा यह "मैं" कहने वाला व्यक्ति जो आज कुत्ते के शरीर मे बोलता दीख रहा है, देखो यह उड़ा जा रहा है आकाश मे पूर्व की दिशा को, यह देखो इस कोपल मे आ बैठा. और ओह ! कितना बड़ा रूप धर कर यह देखो इस वृक्ष मे बैठा है। अथवा तो इस माता के गर्भ मे प्रवेश पा गया, और यह देखो आज यह इस तेरे शरीर मे बैठा अपने को उसी 'मै शब्द के द्वारा पुकारता हुआ अपने लम्बे अस्तित्व का परिचय दे रहा है। तब यह भ्रम न रह पाता मुझे, जो आज है।

भले प्रत्यक्ष रूप से न सही पर सौभाग्यवश आज भी परोक्ष रूप से, तर्क व अनुमान के आधार पर ये सब उपरोक्त बाते प्रत्यक्ष वत ही हो रही हैं। और अपनी सत्यता को सिद्ध कर रही हैं। प्रभो ! तुझे बुद्धि मिली है। विचार व अनुभव के आधार पर किसी छिपे हुये रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न कर। यह सर्व तथ्य परोक्ष है। ऐसा भी नही है। मेरे गुरुवर तथा योगी जनो को इसका प्रत्यक्ष भी हुआ है। जिसके आधार पर कि मुझे सम्बोधने के लिये तथा मेरी भूल दूर हो जाये इस अभिप्राय से परम करुणा बुद्धि पूर्वक. लिख गये है वे-इन शास्त्रो मे। और इसी लिये मेरे अनुमान व तर्क की साक्षी देने वाला यह आगम भी उस तथ्य की सत्यता को सिद्ध कर रहा है।

उपरोक्त सर्व कथन पर से सिद्धान्त निकला कि :—

१ लोक मे दो जाति के पदार्थ है। एक चैतन्य दूसरा अचैतन्य (जड़)। एक विचारने व सुख दु.ख वेदन करने की शक्ति रखने वाला, और दूसरा इन शक्तियो से रहित। एक अमूर्तीक तथा दूसरा मूर्तीक। एक इन्द्रियो से देखा जाने व जाना जाने योग्य तथा दूसरा इन्द्रियो से अगोचर। चेतन व अमूर्तीक तत्व का नाम जीव या Soul है और दूसरा जड़ व मूर्तीक तत्व का नाम पुद्गल या Matter।

२ दोनो ही सदा से हैं और सदा ही रहेगे। न नये पैदा होते हैं और न कभी विनशते या अपनी सत्ता खोते हैं।

३ दोनों ही अपनी अपनी अवस्था मे अपने अपने में बराबर बदल रहे हैं। अर्थात उनमें सदा नई नई

अवस्था मे उत्पन्न होती रहती हैं, तथा पुरानी अवस्थाये विनशती रहती है, अर्थात वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनो अशो का पिण्ड है। वे दोनो ही एक स्थान से अन्य स्थान को प्राप्त होते रहते है।

४ अवस्था बदलते रहते भी जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही।

५ जीव तत्व रूप 'अहं प्रत्यय' के द्वारा सदा सुख दु.ख का वेदन होता रहता है, और पुद्गल के द्वारा शरीर का निर्माण।

६ शरीर और शरीरधारी के सम्बन्ध मे जकडे हुये यह दोनो दूध और पानी वत एकमेक होकर रहते है।

७ एकमेक होकर रहते हुए भी जीव कभी पुद्गल और पुद्गल कभी जीव नही बन सकता।

यह उपरोक्त सिद्धान्त शान्ति पथ का प्राण है। बिना इसके समझे शान्ति पा लेना असम्भव है, जैसाकि अगले प्रकरण मे सिद्ध किया जायेगा। अत' भो चैतन्य! अपनी भूल सुधारने के लिये इस रहस्य को सुन। तर्क, अनुमान, अनुभव व आगम के आधार पर उसका निर्णय कर। और अपनी क्षण क्षण की विचारनाओ मे उसे अवकाश दे।

दो प्रकरणो मे बताये गये जीव अजीव तत्व को जानने का क्या प्रयोजन है? एक बात यह भी इस स्थान पर स्पष्ट कर देनी योग्य है। इस बात का प्रयोजन मेरी उस भूल को दर्शाना है कि जिसके कारण मै बराबर शान्ति का पुरुषार्थ समझते हुए अशान्ति का पुरुषार्थ कर रहा हूँ, क्योकि जैसा कि पहले दर्शा दिया गया है, मै शान्ति को स्वय मे न खोज कर अपने से पृथक किसी पदार्थ मे खोज रहा हूँ। इसलिये यहा स्वपदार्थ व परपदार्थ का निर्णय कर लेना आवश्यक है।

१ तीन कोटि के पर पदार्थ

अब दो तत्व बताये गये, जीव व अजीव। इन मे से ही कौन स्व तत्व है और कौन पर, यह बात खोजनी है। यह स्पष्ट है स्व का अर्थ 'मै' है, और मै चेतन हूँ, इस लिये स्व तत्व जीव ही हो सकता है, अजीव कदापि नही। इसलिये समस्त अजीव तत्व पर की कोटि मे चला गया। परन्तु कुछ और विशेषता भी जान ली जाये तो अच्छा है। यह अजीव तत्व दो कोटियो मे विभाजित किया जा सकता है। एक वह अजीव जो दूध पानी वत मेरे साथ साथ इस प्रकार मिला हुआ पड़ा है कि, उस मिश्रण मे जीव कौन और अजीव कौन यह विवेक भी स्थूल दृष्टि से होना असम्भव है, और वह है यह स्थूल शरीर, तथा एक अन्य सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर- जिसे कार्माण शरीर भी कहते है। जिसका कथन आस्रव बन्ध कथन मे आ जायेगा। तथा दूसरा वह अजीव जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा मुझसे व मेरे शरीर से पृथक पड़ा हुआ दीख रहा है जैसे वस्त्र, पैसा, घर आदि।

अब लीजिये जीव तत्व। जीव तत्व यद्यपि स्व पदार्थ कहा जा सकता है, क्योकि मै जीव ही हूँ। परन्तु सर्व जीव स्व पदार्थ कहे जा सकें ऐसा नही है। अत जिस जीव विशेष मे चैतन्य के अतिरिक्त इस 'मै' पने का लक्षण भी घटित हो वह एक जीव स्व पदार्थ है। और शेष सर्व जीव पर पदार्थ। इसमे तो कोई सशय को अवकाश नही। परन्तु इसमे से भी एक विशेष अंश पर पदार्थ रूप से यहां दिखाना अभीष्ट है जो अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि करने से दिखाई दे सकता है। स्थूलतः देखने से तो वह अश स्व पदार्थ रूप ही दिखाई देता है, क्योकि वह स्वय मेरी ही अवस्था विशेष है, जो भले ही पर पदार्थ का आश्रय

लेकर उत्पन्न हुई हो। पर है चैतन्य रूप, जड़ रूप नही। मेरा सकेत अपनी राग द्वेषादि अन्तरग प्रवृति की ओर है। जैसाकि पहले से बताया जा रहा है कि मेरा स्वभाव शान्ति है। और स्वभाव उसे कहते हैं जिस ओर कि, पर सम्पर्क से हट जाने पर स्वतत्रता रूप मे स्वयमेव पदार्थ का झुकाव हो जाये। अशान्ति मेरा स्वभाव नही। और रागद्वेषादि अशान्ति रूप व अशान्ति जनक है, अतः वह मेरे स्वभाव नहीं हो सकते। भले ही कुछ देर के लिये मेरे मे उत्पन्न हो गये हो जल की उष्णता वत। जैसे वर्तमान मे दिखाई देने वाली जल की उष्णता स्वभाव दृष्टि से जल की नही कही जा सकती। उसी प्रकार रागद्वेष रूप क्रोधादि भाव भी स्वभाव दृष्टि से मेरे नही कहे जा सकते। जिस प्रकार यद्यपि जल की उष्णता अग्नि रूप नही है, पर अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुई होने के कारण अग्नि से आई कही जाती है। इसी प्रकार यह रागादिक भाव भी यद्यपि जड़ शरीर के या कर्मादिक पर पदार्थ के नही है, पर उनके संयोग से उत्पन्न हुये होने के कारण उनमे से आये कहे जाते है ? और इसलिये मेरे होते हुये भी वह भाव धनादिक के आश्रित होने के कारण, धनादिक के न होते हुए भी धनादिक के कहे जायेंगे। स्वभाव रूप से मेरे नही। अतः यह भी पर पदार्थ की कोटि मे चले जाते हैं। क्योकि जब तक अपने अन्तर मे इन पर दृष्टि रहेगी तब तक शान्ति प्राप्ति असम्भव है।

इस प्रकार स्थूल दृष्टि से दीखने वाले भिन्न क्षेत्र मे स्थित जड़ पदार्थ धनादिक व चेतन पदार्थ पुत्रादिक, कुछ सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले एक क्षेत्र मे स्थित जड़ पदार्थ शरीर व कर्मादिक और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले अत्यन्त निकट व तन्मय रूप से प्रकाशमान रागादिक विकारी चैतन्य भाव-ये तीनो पर पदार्थ रूप से ग्रहण करने चाहियें।

१२

-: स्व पर भेद विज्ञान :-

दिनाक १४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १५

१—अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम, २—षट कारकी पृथकत्व, ३—साझे की खेती का दृष्टान्त, ४—निमित्त की कथञ्चित सत्यता, ५—निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता, ६—संकुचित दृष्टि से निमित के ग्रहण का निषेध, ७—भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टापना।

१ अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम

शान्ति पथ की सिद्धि के अर्थ जीव अजीव तत्वों का वर्णन करके, अगले तत्वों का विवेचन करने से भी पहले, यहा स्व व पर मे विवेक कराया जा रहा है। क्योकि स्व व पर का निर्णय किये बिना शान्ति की प्राप्ति मात्र स्वप्न है। क्योकि मेरी शान्ति स्व में अर्थात मेरे मे ही है पर मे नही। ऊपर तीन कोटि के पर पदार्थ बताये गये जिनमे दो कोटि के पर पदार्थ तो कारण रूप द्रव्य है और तीसरी कोटि का पर पदार्थ उनके किसी संयोग का कार्य। उनके सयोग से मुझ मे यह राग द्वेषादि रूप कार्य कैसे होता है, यह प्रश्न उपस्थित है ? इसी का उत्तर आज चलेगा।

अपने आज के विकल्पात्मक ससार पर दृष्टिपात करके यदि मै इसका विश्लेषण करू तो, स्पष्टतय यह बात ध्यान मे आ जाती है कि, क्यों और किस प्रकार मै आज प्रति क्षण नये नये विचार व विकल्प उठा उठा कर, उनमें स्वय फसा हुआ व्याकुल वना रहता हूँ। इन विकल्पो का मूल वास्तव मे शरीर है। क्योकि जितने भी विकल्प हो रहे है वे सव इसकी इष्टता के लिये हो रहे है। मेरे आज के विकल्पो मे मुख्य धनोपार्जन का विकल्प है। धनोपार्जन की इच्छा केवल पंचेन्द्रिय की पूर्ति के लिये है। पचेन्द्रियो का आधार शरीर है। इसी प्रकार धनोपार्जन कुटुम्ब पालने के अर्थ भी है, और कुटुम्ब पालन भी इसी लिये है कि उनको मै इस शरीर का रक्षक व वृद्धावस्था मे इसका सहायक मानता हूँ। इन विषयों मे, कुटुम्ब मे, या धनोपार्जन मे बाधा पड़ जाने पर मुझे चिन्ता होती है। उस चिन्ता की निवृति के लिये मै और और विकल्प करता हूँ, और इस प्रकार एक जाल मे उलझ जाता हूं। ज्यों ज्यों इस जाल से निकलने का प्रयत्न करता हूँ, त्यो त्यो मकड़ी के जाले मे उलझी मक्खी वत अधिक अधिक उलझता जाता हूँ। इन विकल्पो से निवृति पाने की इच्छा रखते हुये भी मै इससे क्यो नही निकल पा रहा हूँ। इसका कारण ही नीचे वताया जाता है।

इसका कारण है स्व पर पदार्थों का मिश्रण। मिश्रण भी एक प्रकार से नही, दो प्रकार से। एक तो **Physical** अर्थात प्रादेशिक रूप से-क्षेत्र रूप से, और दूसरा **Mental** अर्थात मानसिक रूप से। यहा पर प्रादेशिक मिश्रण की तो वात छोड़ दीजिये क्योकि वह प्रत्यक्ष है। **Mental** या मानसिक

मिश्रण की बात विचारणीय है ? क्योकि प्रादेशिक मिश्रण मेरे लिये विशेष बाधाकारक नही है। मानसिक-मिश्रण ही मुख्य बाधक है। जोकि मेरी शान्ति को घात रहा है।

इस मानसिक मिश्रण का आधार मेरे अन्दर मे पडा एक विश्वास है जिसके आधार पर कि मै सर्व पदार्थो की स्वतन्त्रता स्वीकार न करके उन्हे परतन्त्र बनाने का प्रयत्न किया करता हू। उन उन की परतन्त्रता को ही मै भ्रमवश अपनी स्वतन्त्रता समझता हूँ! इतने ही पर बस हो जाती तो भी खैर थी, पर अपनी स्वतन्त्रता को भी तो स्वोकार, नहीं करता। इसको परतन्त्र मान बैठता हूँ। मै व्यक्तिगत रूप मे अकेला ही ऐसा कर रहा हूँ ऐसा नही है। आप सब तथा सर्व लोक के अनन्तानन्त प्राणी भी उसी विश्वास के आधीन प्रवृति कर रहे है। और इस प्रकार मै कल बताई गई तीन कोटियो मे से प्रथम दो कोटि के पर पदार्थो को अपने आधीन तथा अपने को उनके आधीन मान बैठा हूँ। इसी प्रकार से वे पर पदार्थ भी मुझे अपने आधीन तथा अपने को मेरे आधीन मान बैठे है अर्थात मेरे किये बिना उन पर पदार्थो का कोई भी कार्य नही चल सकता, और उनकी सहायता के बिना मै कुछ नही कर सकता। मेरी प्रेरणा पाकर ही वह चित्र विचित्र कार्य कर रहे है और उनकी प्रेरणा पाकर ही मै यह विकल्पात्मक रागद्वेषादि कार्य कर रहा हूँ। मेरे पाले बिना कुटुम्ब का पोषण नही हो सकता और कुटुम्ब की सहायता के बिना मै जीवित नही रह सकता। मेरे हिलाये बिना शरीर हिल नही सकता, और शरीर की सहायता के बिना मै जान नहो सकता। और इसी प्रकार अनेको चिन्तायें विकल्पात्मक पराश्रित धारणाये। स्वतन्त्रता मिले तो कैसे मिले ? और परतन्त्रता मे शान्ति कैसे जीवित रहे ? मजे की बात यह कि इस प्रकार अधिकाधिक परतन्त्रता के पुरुषार्थ को ही शान्ति का पुरुषार्थ समझता हूँ। अधिकाधिक भोगो की प्राप्ति से शान्ति मिलेगी, भोगो की प्राप्ति इस शरीर की क्रिया से होगी, शरीर की क्रिया को मै करूगा। और इस प्रकार मै अपनी शान्ति का वेदन कर लूगा। अत मेरा सर्व पुरुषार्थ शान्ति के लिये ही तो है।

२ षट्कारकी पृथकत्व

हे शान्ति भण्डार चिदानन्द भगवन ! शान्ति तो स्वतन्त्रता मे बसती है परतन्त्रता में नही। अब इस परतन्त्रता को छोड़। स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न कर। जिसमे प्रत्येक पदार्थ, जड हो कि चेतन, स्व हो कि पर, स्वतन्त्र दिखाई देने लगे। सुन सुनाकर या पढ पढाकर, यह कह देना मात्र पर्याप्त नही कि हा हा ! सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का नही। मै पृथक हूँ शरीर पृथक है इत्यादि। इस प्रकार तो सभी कहा करते है। दो द्रव्यो की पृथकता का अर्थ इतने पर ही समाप्त नही हो जाता कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लें। सत्ता त्रयात्मक होती है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थात बराबर बनी रहते हुये भी बराबर बदलते रहना उसका काम है। यह बात कल के प्रवचन मे बता दी गई थी। स्वभाव किसी दूसरे की सहायता नही मागता। जिस प्रकार जल को शीतल बनाने के लिये किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नही। सत्ता को स्वतन्त्र माना उसी समय कहा जा सकता है जबकि इसके तीनो अशो को स्वतन्त्र मान लिया जावे। अर्थात उसका बदलते रहना भी स्वतन्त्र माना जावे। विचारिये तो कि किसी भी पदार्थ को बदलने के लिये किसी सहायक की प्रतीक्षा करनी पडती है क्या ? कि अमुक सहायक आये तो मै बदलू, नहीं तो बदलना चाहते हुये भी कैसे बदलू ? और जब तक योग्य सहायक न मिले तो बदले बिना ही पडी रहे। नही नही, ऐसा नही है। न ही सिद्धान्तिक रूप से आप ऐसा स्वीकार करते हो। करे भी कैसे ? सब घोटमटाला हो जायेगा। विश्व कूटस्थ हो जायेगा अर्थात सत्ता का ही विनाश हो जायेगा। सब शून्य हो जायेगा।

और यदि सत्ता को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वीकार करते हो तो, अर्थात टिके रहते हुये भी स्वाभाविक रूप से स्वय बदलती हुई स्वीकार करते हो तो, 'इसे मैने बदला' इस प्रकार के अहकार को कहाँ अवकाश है ? चलती गाडी के नीचे चलता कुत्ता भले यह विचारे कि गाडी को वह चला रहा है, परन्तु उसके भ्रमात्मक विचार के कारण गाड़ी उसके आधीन न हो जायेगी। इसी प्रकार तू भले यह कल्पना करे कि मै ही इस विश्व का काम कर रहा हूँ, मेरे किये बिना बेचारा यह जड़ क्या करेगा ? परन्तु तेरे भ्रमात्मक विकल्प के कारण विश्व तेरे आधीन नही हो जायेगा ? सारा लोक भी यही भ्रम बनाये क्यो न बैठा रहे, पर विश्व अर्थात सर्व पदार्थ समूह तो स्वतन्त्र ही रहेगा अपनी सर्व पलटने की क्रियाओ मे। अपने स्वभाव के अतिरिक्त उसे अन्य किसी का आश्रय नही।

ऊपर के वक्तव्य मे, मेरी शैली के विरुद्ध आज कुछ सिद्धान्तिक शब्दो का प्रयोग हो गया है। सम्भवत. आपको कुछ कठिन पडा हो। पर क्या करूं, बिना उनका प्रयोग किये, जब न बना तब ही मुझे उनका आश्रय लेना पडा। वास्तव मे विषय.ही कुछ कठिन है। तथा अपने आज तक के अनुभव से विपरीत। इसलिये उसके वाच्य शब्द ही मुझको मिल न पाये। फिर भी कुछ सरल भाषा मे दृष्टान्त द्वारा उपर का तात्पर्य प्रगट करने का प्रयत्न करता हूँ। जरा ध्यान देकर सुनना। कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा, अपनी पूर्व की धारणाओ को कुछ देर के लिये दबा कर।

उपरोक्त सर्व वक्तव्य पर से मेरा प्रयोजन केवल यह सिद्ध करना है कि किसी दृष्टि विशेष से देखने पर प्रत्येक पदार्थ जड़ हो कि चेतन,अपना अपना कार्य करने को पूर्ण स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ बिना दूसरे की सहायता के परिवर्तन करने मे समर्थ है और कर रहा है। षट कारक रूप से स्वतन्त्र है। क्योकि प्रत्येक पदार्थ स्वय बदलने की शक्ति रखता है, जैसाकि,पहले सिद्धान्त घटित कर दिया गया है। इसलिये वह स्वतन्त्र रूप से बदलता हुआ ही अपनी किसी विशेष अवस्था को स्वय उत्पन्न करता है। स्वयं अपने द्वारा उत्पन्न करता है, स्वय अपने लिये उत्पन्न करता है, अर्थात उस अवस्था को उत्पन्न करके स्वय ही उसके साथ तन्मय हो जाता है, अपने मे से ही उत्पन्न करता है, अपने स्वभाव मे रहते हुये ही उत्पन्न करता है और इसलिये वह अवस्था विशेष उस ही की है। किसी अन्य की नही। इसी को षटकारकी स्वतन्त्रता कहते है। अवस्था उत्पन्न करना ही पदार्थ का काम है। इसलिये कह सकते है, कि उपरोक्त षटकारको रूप से प्रत्येक द्रव्य स्वय अपना कार्य करता है। किसी दूसरे की सहायता की उसे आवश्यकता नही।

३ साझे की खेती दृष्टान्त पर से समझिये-मेरे अभिप्राय को। अन्न बोना अर्थात खेती करना एक काम है। मेरे अभिप्राय के अनुसार बीज ने स्वय बदल कर अन्न बोने का काम किया। अपने द्वारा बदल कर किया। अपने लिये किया, अर्थात उस नव जात अन्न के साथ तन्मय होकर किया। अपने से किया अर्थात स्वभाव मे रहते हुये किया। अर्थात किसान बन कर नही किया। कुछ हसी सी आयेगी यह बात सुन कर। आज तक ऐसी बात सुनी नही। परन्तु नही भाई! विचार करके देख, इसकी सत्यता प्रकाशित हो जायेगी। यद्यपि लोक मे साधारणत. तू किसी भी काम को न इस प्रकार करता हुआ देखता है, न इस भाषा मे कहा जाते हुये सुनता है, और न इस प्रकार स्वय कभी कहता है, परन्तु स्वभावत. है इसी प्रकार। देखो एक दृष्टान्त देता हूँ।

उपरोक्त खेती का ही दृष्टान्त लीजिये। यद्यपि लोक मे यह प्रसिद्ध है और किसान भी

यही कहता है कि "मैने खेती बोई"। परन्तु विचार कीजिये कि यदि बैल इस बात को सुन पावे बेचारे के हृदय पर क्या बीते ? खून पसीना एक कर डाला पर तनिक भी तो श्रेय न दिया। अहंक में अन्धा हो गया है यह किसान, किसी दूसरे की मेहनत को मेहनत ही नही समझता। और इस प्रक विचारता हुआ वह बैल रूस जाये तो क्या हो ? विचारिये, किसान का सारा अहकार पानी बन कर ब जाये, और सुलह करनी पड़े आखिर उस बैल से। अच्छा भाई ! बिगड़ मत ! क्षमा कर ! गल्ती हु मारे काम मे आधा साझा तेरा स्वीकार किया। चल उठ अब। और इसी प्रकार हल से, कुंए से, रह से, पानी से, मिट्टी से और बीज से अब सुलह करते करते उसे पता चल जाये कि खेती बोने में तूने कित काम किया है ? केवल सातवां हिस्सा। परन्तु किसान तो चेतन पदार्थ है। शरीर और वह पृथक पृथक है अत शरीर की माग रुक न सकी। किसान को स्वीकार ही करना पड़ा कि हां भाई ! तेरा भी हिस्स सही। हम सब आठो ने मिलकर ही की है खेती। इसलिये सबने आठवाँ आठवां हिस्सा का किया है। मुझे स्वीकार है। परन्तु बीज बेचारा कैसे सतुष्ट हो। उसके काम में और शेष सात के का में तो महान अतर है। शेष सबने तो कुछ कुछ काम ही किया है, परन्तु रहे अपने रूप में ही। उ स्वयं अपना रूप तो न बदलना पड़ा। पर उस बेचारे ने तो अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया-अन्न उगा के लिये, यहा तक कि आज उसका पता भी नही कि कहां है वह ? इस प्रकार स्वयं सारे अन्न के सा घुल मिल ही गया है। अथवा स्वय ही वह रूप धारण कर लिया है। आठवे हिस्से मे कैसे सन्तो पावे ? स्वीकार करना पडेगा कि तेरे काम की जाति ही भिन्न प्रकार की है। घोड़े और गधों व क्या मेल ? तेरे काम का मुकाबला हम सातों मिलकर भी नही कर सकते। अर्थात कुछ बाह्य मा सहायता रूप सम्बन्धी कार्य का सातवा सातवाँ हिस्सा हम सब ने किया, परन्तु अन्न उगाने का का तो वास्तव मे तेरा ही है।

साझे की खेती का यह मिला जुला काम किसी एक का नही है, सर्व का ही है। इसलि इस एक मिले जुले काम का विश्लेषण करके इसे खण्डित करना चाहिये। तभी पता चल सकता कि आठो मे से प्रत्येक ने कौन कौन काम किया है। विचारने से पता चल सकता है कि अन्त. प्रका रूप चैतन्य किसान का काम केवल "मैं अन्न उत्पन्न करूं।" इस विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नही वह बेचारा अमूर्तीक और कर भी क्या सकता है ? जानने देखने व विकल्प उत्पन्न करने के अतिरिक्त शरीर का काम है कुछ विशेष प्रकार से हिलना जुलना, और इसी प्रकार बैल आदि सर्व पदार्थों के पृथ पृथक कार्य की कोई सीमा है। जिसको उनने ही किया है और वह ही कर सकता है। न अन्य ने किय है न अन्य कर सकता है।

४ निमित्त की कथञ्चित सत्यता — यद्यपि यह बात सर्वथा मिथ्या भी नही है कि आठो के ही कार्यों मे परस्पर कोई निमि नैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात किसान के निमित्त से शरीर, और शरीर की प्रेरणा बैल, बैल के निमित्त से हल व रहट और इस प्रकार अन्य भी अपना अपना कार्य कर सके। यदि ये होते तो कर न सकते। परन्तु यह दृष्टि तो लौकिक है। विकल्पोत्पादक है। इसके त्यागने के लिये ह तो सब पुरुषार्थ है। अत हे भव्य ! इस दृष्टि के द्वारा परम कल्याणकारी उस अलोकिक दृष्टि का धा करने का प्रयत्न मत कर। इस दृष्टि को ही ऊपर परतन्त्र शब्द से कहा गया है और उस अलौकि दृष्टि को स्वतन्त्र शब्द से।

५ निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता

दोनों ही दृष्टिये अपने अपने स्थान पर सत्य है। पर मुझे तो जिस किस प्रकार भी शान्ति का प्रयोजन सिद्ध करना है। जौन सी भी दृष्टि से सिद्ध होता मानू उसे ही अपना कर्तव्य समझूं दूसरी को नही। जानना और बात है अपनाना और। यद्यपि एक वीतरागी को भी जानता हूँ और एक चाण्डाल को भी। पर इसका यह अर्थ नही कि दोनो मेरे उपास्य है। उपास्य तो वीतरागी ही है चाण्डाल नही। उपास्य न कहने से चाण्डाल का अभाव नही हो जायेगा। इसी प्रकार परतन्त्र दृटि को तो पहले से ही जानता था, अब स्वतन्त्र दृष्टि भी जान गया। जानता दोनो को हूँ। पर इसका यह अर्थ नही कि दोनों दृष्टि ही लक्ष्य मे रखनी या आश्रय करनी योग्य है। शान्ति पथ मे केवल एक स्वतन्त्र दृष्टि ही लक्ष्य मे रहती है, परतन्त्र दृष्टि नही। लक्ष्य मे न रहने मात्र से दूसरी दृष्टि के आधार निमित्त की निमित्तता का लोप नही हो जाता।

६ संकुचित दृष्टि से निमित्त के विचार का निषेध

यदि दूसरी दृष्टि पर ही लक्ष्य करना है तो निम्न प्रकार क्यो नही करता, कि जिससे तेरी दृष्टि में भी वाधा न पडे और विकल्प भी हट जावे। विशाल दृष्टि करके सम्पूर्ण विश्व को युगपत अनुमान मे ले, तो एक वहुत बड़े कारखाने के रूप मे दिखाई देता है जिसमे स्व पर सर्व पदार्थ वड़ी व छोटी गरारियों वत परस्पर सम्पर्क मे रहते बराबर वदल रहे हैं। और कारखाना काम कर रहा है। यदि कोई एक छोटी सी गरारी भी निकाल ली जाये तो सारी की सारी मशीन वन्द हो जाये या जवरदस्ती कोई नई गरारो ठोक दी जाये तो भी सारी मशीन वन्द हो जाये, क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या ऐसा आज तक कभी हुआ है? सव द्रव्य परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप से बरावर काम कर ही रहे हैं। निमित्त को हटाने वाला या मिलाने वाला तू कौन है? तुझे यह अधिकार किसने दिया? तुझमे इतनी शक्ति है भी या नही? समस्त विश्व की अद्वैत क्रिया को दृष्टि मे रखकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजे तो इस दिशा मे अपनी असमर्थता का भान हुये बिना न रहे। निमित्त मिलाने व हटाने के सर्व विकल्प दूर हो जायें। विशाल दृष्टि, ज्ञाता दृष्टा मात्र रह जाये। यही तो अभीष्ट है।

आज के तेरे विकल्पो का मूल कूप मण्डूक बने हुये परतन्त्र दृष्टि का रखना है। और इसी कारण अन्य के कर्तापने का अहकार होता है। अत. परतन्त्र दृष्टि को संकुचित करने का निषेध किया जा रहा है, सर्वथा निषेध नही। यदि विशाल दृष्टि से नही देख सकता, तो इस परतन्त्र दृष्टि पर के लक्ष्य को सर्वथा मिटाने का प्रयत्न कर। भ्रम न कर, शका न कर, दृष्टि मिटाने से पदार्थ न मिटेगा। तुझे अपना कल्याण करना है। निमित्त की रक्षा नही। आम खाने हैं पेड नही गिनने हैं। दोनो दृष्टियो मे से स्वतन्त्र दृष्टि इस मार्ग मे अत्यन्त उपादेय व हितकर है। और साधारण रूप से परतन्त्र दृष्टि महान अनिष्ट। जैसाकि आगे आगे के प्रकरणो मे सिद्ध हो जायेगा।

७ भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टा पना

इसी का नाम है स्व पर पदार्थो की पृथकता। ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म है। मिले जुले रहते हुये भी, मिश्रित पदार्थो मे ज्ञान से भेद देखा जा सकता है। पृथकता देखी जा सकती है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पडे रहते हुये भी षट कारकी स्वतन्त्रता देखी जाती है। यदि मिले जुले मे भेद न देखे तो ज्ञानी काहे का? पृथक पदार्थों को पृथक तो अन्धा भी कह देगा। उसमे कौन चतुराई है? जौहरी तो तभी कहला सकता है कि जब खोटे जेवर मे स्वर्ण व खो का सही सही अनुमान करके, उसी अवस्था मे उन दोनो को पृथक देखे, और खोट को जानते हु भी केवल स्वर्ण का मूल्य ही आके खोट का नही। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ मूल्य तो खोट का भी है ही। इसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक रूप से षटकारकी सम्बन्ध रहते हुये भी षटकारकी भेद

देखना ही ज्ञान का माहात्म्य है। इन दोनों का प्रत्यक्ष भेद हो जाने पर तो अन्धा भी इनमे कर्ता कर्म आदि भाव न घटायेगा। उनमे स्वतन्त्रता देखना कहां की चतुराई है? ज्ञानी तो तभी कहला सकता है कि जब सम्बन्धित अवस्था में दोनो के कार्य की सीमाओं का पृथक पृथक निर्णय करके, केवल उपादान अर्थात स्व पदार्थ का मूल्य ही आंके, निमित्त या पर पदार्थ का नही। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ काम तो निमित्त का है ही।

तू ज्ञानियो की सन्तान है। अन्धों की नही। अत. यही योग्य है कि परतंत्र दृष्टि को छोड कर स्वतंत्र दृष्टि को अपना। निमित्त को जानते हुये भी उसका मूल्य न गिन। स्व व पर दोनो को पूर्ण स्वतंत्र देख। षट कारकी रूप मे स्वतंत्र। अर्थात स्वयं अपने द्वारा, अपने लिये. अपने मे ही रहते हुये, अपना काम करते हुये देख। 'सुनार ने जेवर बनाया' ऐसा न विचार कर, 'स्वर्ण ने जेवर बनाया' ऐसा विचार। 'मैंने कुटुम्ब पाला या शरीर के अर्थ धन कमाया' ऐसा न विचार कर "मैंने केवल विकल्प उत्पन्न करके अपना अहित किया", ऐसा विचार। इसका नाम है दो द्रव्यों की पृथकता, शरीर आदि का मुझसे जुदापना। या स्व पर भेद विज्ञान। केवल 'शरीर जुदा और मै जुदा,'या 'शरीर मेरा नही, कुटुम्ब से मेरा कोई नाता नहीं' इतना कहने से काम न चलेगा। मेरा नही का अर्थ. षट कारकी रूप से मेरा नहीं, ऐसा है। अर्थात न मै इसका कोई काम कर सकता हूं और न यह मेरा। न मैं इसके द्वारा कोई काम कर सकता हूँ, न यह मेरे द्वारा। न मैं इसके लिये कोई भी काम करता हूँ न यह मेरे लिये, न मै इसके स्वभाव मे जाकर कोई काम करता हूँ न यह मेरे स्वभाव में आकर: अपने अपने स्वभाव तथा अपनी अपनी सत्ता से भी दोनो पृथक पृथक हैं। अपने अपने प्रदेशों से भी दोनो पृथक पृथक हैं। अपने अपने काल या अवस्थाओ से भी दोनो पृथक पृथक हैं। अर्थात अपनी अपनी अवस्थाये पृथक पृथक रह कर स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न कर रहे हैं। अपने भाव के भी स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार है स्व पर पदार्थों की पृथकता।

इस प्रकार की स्व पर पृथकता की दृष्टि कितनी कार्यकारी है इस मार्ग में। देखिये, आप अजायब घर मे जाकर अनेकों हीरे जवाहरात आदि व मूल्यवान व आकर्षक वस्तुओं को खूब रुचि-पूर्वक देखते हो और प्रसन्न चित्त बाहर चले आते हो. परन्तु वैसी ही वस्तुओं को बाजार में रखी देखते हो तो कुछ चिंतित से हो जाते हो। क्या कारण है? केवल यही कि अजायब घर की वस्तुओ मे आपको यह विश्वास है कि यह मेरे द्वारा ग्रहण नही की जा सकती, इनके ग्रहण करने का मुझको अधिकार नहीं है। और इसी कारण उनको ग्रहण करने का विकल्प नही आता। भले उनको गौर से देखो। परन्तु बाजार की वस्तुओ के प्रति आपको विश्वास है कि इनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने का आपको अधिकार है। इसलिये विकल्प उठ जाते हैं. उनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने के। उपरोक्त स्वतन्त्र दृष्टि से इस बनाने बिगाडने सम्बन्धी कर्तापने के विश्वास को ही तोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जिसके दूर हो जाने पर अजायब घर की वस्तुओ वत आप इस विश्व के समस्त पदार्थों को देखोगे ही, बनाने बिगाड़ने आदि के भाव न करोगे। इसी का नाम है ज्ञाता दृष्टा भाव। बस यही प्रयोजन है स्व पर भेद विज्ञान का, या षट कारकी भेद का। क्योंकि ज्ञाता दृष्टा पना ही वह साम्यता व शान्ति है, जिसकी खोज मे कि मैं निकला हूँ।

१२

—: कर्ता कर्म व्यवस्था :—

दिनाक २८ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन न० १६

१—कार्य शब्द का अर्थ, २—कर्ता कर्म सम्बन्धी पांच समवायों का निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता, ३—स्वभाव, ४—सयोग या निमित्त, ५—एक कार्य में अनेकों निमित्त, ६—निमित्त की दो जातिया, ७—पुरुषार्थ, ८—नियति या काल लब्धि, ९—भवितव्य।

अहो दृष्टि की व्यापकता ! जिसके प्रगट हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था का स्वातन्त्रय हस्तामलक वत स्पष्ट दीखने लगता है। जिसके प्रगट हो जाने पर कर्ता बुद्धि स्वत. किनारा कर जाती है और एक ज्ञायक मात्र भाव, साक्षी रहने मात्र का भाव जागृत हो जाता है। साम्यता अवतार लेती है और जीवन शान्त हो जाता है। सुन प्रभो सुन ! आज स्वातन्त्रय की जय घोषणा हो रही है। विश्व का कण कण आज हर्ष के हिंडोले मे झूल रहा है। क्यो न खुशी मनाये आज मानव की वन्दी से छुटकारा जो मिला है-उसे।

१ कार्य शब्द का अर्थ

अपने जीवन की अशान्ति का मूल खोजने जाऊं तो प्रत्यक्ष ही है। २४ घन्टे की यह करने धरने की, बनाने बिगाडने की, मिलाने व हटाने की दौड धूप ही तो जीवन की वह अशान्ति है जिसे दूर करना अभीष्ट है। अर्थात मै हर समय कुछ न कुछ काम करना चाहता हूँ, और कर रहा हूँ, इस बात से बिल्कुल बे खबर कि मै क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहता हूँ। इस तथ्य की खोज निकालने के लिये पहले मुझे यह निर्णय करना है कि कार्य या काम जिसके पीछे मै हर समय लगा रहता हूँ वह वास्तव मे है क्या बला।

आइये विचार करें। देखो मै कह रहा हूँ "मुझे आज देहली जाना है"। विचारिये कि क्या करना है। सहारनपुर से उठ कर देहली जाने का या अपना स्थान परिवर्तन कर देने का नाम ही तो देहली जाना है या और कुछ ? अर्थात देहली जाने का काम अपना स्थान परिवर्तन कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नही। "पुस्तक उठाकर लाओ"। यह दूसरा वाक्य है। इसमे भी छिपा है एक काम। विचारिये, पुस्तक उठाकर लाना, उसके स्थान परिवर्तन के अतिरिक्त और क्या है ? एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पहुँचा देना ही तो पुस्तक उठा कर लाना है या कुछ और ? "मेरे लिये एक मेज़ बना दो" यह तीसरा वाक्य है। विचार करे तो लकड़ी की हालत बदल कर अन्य हालत विशेष मे लाना ही तो मेज बनाना है या कुछ और ? अर्थात लकड़ी का रूप परिवर्तन करना ही वास्तव मे मेज़ बनाने का काम है। और इसी प्रकार कोई भी लोक का काम करने का विचार कीजिये वह इन दोनो कोटियों मे से कोई न कोई प्रकार का होगा। या तो होगा अपना व किसी का स्थान परिवर्तन करने रूप और या होगा अपना या किसी अन्य का रूप परिवर्तन करने रूप।

वस सिद्धान्त निकल आया। इसे याद रखना। आगे आगे के प्रकरणों में इसे लागू करना होगा। "काम कहते हैं स्व तथा पर किसी भी पदार्थ के स्थान परिवर्तन को या रूप परिवर्तन को।

२ कर्ता कर्म सम्बन्धी पांच समवायों का निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता

अब देखना है कि वस्तु में यह कार्य करने या किये जाने की व्यवस्था किस प्रकार हो रही है। अर्थात काम कौन करता है, किसके द्वारा करता है, किसके लिये करता है, किस मे से करता है, किसके सहारे करता है। क्योकि जब तक स्पष्टरीतय. यह वात जान न लूंगा, मेरी पूर्व की धारणाओ मे अन्तर आना असम्भव है। जिसके विना इस करने धरने की व्यग्रता से छुटकारा मिलना असम्भव है। अत: शान्ति के उपासक के लिये वस्तु की कर्ता कर्म या कार्य कारण रूप व्यवस्था का परिचय पाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि विपय कुछ सिद्धान्तिक रूप धारण करके अवतरित हुआ है, जो मेरी शैली के विरुद्ध है पर क्या करू इसके विना काम चलेगा नही। अपनी पुरानी धारणाओ को तोड़ने के लिये मुझे वस्तु व्यवस्था पढनी ही होगी। विपय सम्भवत. कुछ कठिन लगे परन्तु ध्यान दोगे तो कुछ कठिन न पड़ेगा क्योकि हर वात अनुभव मे आ रही है।

आवश्यकता केवल इस वात की है कि यदि धारणाओं मे पहले का कोई पक्ष पड़ा है तो थोडी देर के लिये उसे छोड दीजिये। अभिप्राय मे खेचातानी न रखिये। क्योकि वस्तु व्यवस्था वड़ी जटिल व उलझी हुई है। यद्यपि एक ही वार सव कुछ देखने में तो खेचातानी का काम नही है परन्तु शव्दो मे वह एक ही वार दर्शाने की शक्ति न होने के कारण क्रम से ही व्याख्या की जानी सम्भव है। अत. कथन क्रम मे कभी तो ऐसी वात आयेगी जो कि आप मे से कुछ व्यक्ति पहले से ही स्वीकार करते है और शेप नही। और कुछ वात ऐसी आयेगी जो कि वह शेष व्यक्ति स्वीकार करते हैं पर पहले वाले कुछ नही। इसका कारण यही है कि हमने कुछ व्यक्ति विशेपों से सुनकर या किन्ही शास्त्र विशेषो से पढ़कर वह वह वातें अवधारित करली है, परन्तु उनके अतिरिक्त शेप वातो का या तो निषेध सुनने मे आया है या वह सुनने व पढने को ही मिली नही। इसलिये उन उन वातों का कुछ पक्ष पड़ा हुआ है। सो सम्भवत. अव भी आपको वस्तु व्यवस्था समझने में कुछ वाधक पडे। अपने अनुकूल वात सुनकर स्वभावत ही कुछ प्रसन्नता व प्रतिकूल वात सुनकर कुछ खिचाव सा चित्त मे उत्पन्न हुआ करता है जिसमे से अनेकों शंकाये व प्रश्न खेचातानी का रूप धारण करके निकल पड़ते हैं।

क्योकि व्यवस्था जटिल है और एक दिन मे ही वताई नही जा सकती, इसलिये आवश्यकता इस वात की है कि ऐसी शंकाओं को तव तक के लिये दवा रखें जवतक कि प्रकरण पूरा न हो जाये, विश्वास दिलाता हूँ कि प्रकरण पूरा हो जाने के पश्चात आपके हृदय मे कोई शका न रह पायेगी। फिर भी यदि रह गई तो अन्त में प्रश्न कर लेना, अभी नही। धीरे धीरे आपकी सर्व शंकाओ का समाधान हो जायेगा। दूसरी आवश्यकता इस वात की है कि शव्दो की या व्यक्ति की या आगम की पकड़ को छोड़ कर वस्तु मे कुछ पढ़ने का प्रयत्न करे। जो वातें उसमें नित्य अनुभव में आयें, दिखाई दें उन उन सवको सरलता पूर्वक स्वीकार करें।। एक का भी निपेध करने का प्रयत्न न करें। क्योकि इस प्रकार आपके ज्ञान में वस्तु का तदनरूप प्रतिविम्व न पड़ने पायेगा। वह लगड़ा हो जायेगा। और इसलिये वह ज्ञान वजाय साधक होने के आपके मार्ग

का बाधक बन बैठेगा। हानि आपको होगी। मुझे नही। क्योंकि मेरी धारणा तो जैसी है वैसी ही रहेगी। अपने हित अहित को सोच कर अब ज्ञान को ढीला करके सुनिये।

वस्तु की कार्य व्यवस्था मे हम पाच बातें देखते है। १. वस्तु का स्वभाव, २. किसी न किसी अन्य बात का सयोग या निमित्त, ३. वस्तु का पुरुषार्थ, ४. काल या समय को नियतता या काल लब्धि, ५. भवितव्य,। इन पाँचो का क्रम से विश्लेषण किया जाना है। ध्यान से सुनना और ज्ञान कोष मे सबको एकत्रित करते रहना। क्योकि कार्य व्यवस्था मे पाँचो ही बाते समान रूप से आवश्यक है। *या यह कहिये कि यह पाँचो ही वस्तु व्यवस्था के आवश्यक अग है। एक अग के होने पर पांचो अग* होते है और एक के ही न होने पर पांचों ही नही होते। इन पाचो मे आगे पीछे होने का भी भेद नही है। परन्तु कथन क्रम मे अवश्य आगे पीछे कहे जाने का भेद है। वस्तु व्यवस्था व कथन क्रम मे इतना अन्तर है। किसी एक समय मे जो कथन किया जाता है उसे वस्तु व्यवस्था का पूर्ण रूप न समझ बैठना। केवल एक अग मात्र ही समझना। हा ज्ञान में सर्व अगो को घुट मिट करके जो दिखाई दे वह वस्तु की पूर्ण व्यवस्था अवश्य है। ज्ञान मे पूर्ण व्यवस्था देखने की शक्ति है पर वचन में कहने की नही। इसीलिये अनेकान्तवाद या स्याद्वाद ने जन्म धारा है। अब सुनिये पाँचो अगो का क्रम से विवेचन।

३ स्वभाव पहले सिद्ध कर आये है कि वस्तु परिवर्तन शील है (देखो विषय नं० ११ प्रकरण नं० ४) अर्थात प्रति क्षण वह एक रूप को छोड़कर अन्य रूप को तथा एक स्थान को छोड़कर अन्य स्थानो को प्राप्त कर रही है। रूपो व स्थानो में नित्य परिवर्तन करते रहना वस्तु का स्वभाव है। और स्वभाव अहेतुक होता है। उसमे तर्क नही चलता। ऐसा परिवर्तन वस्तु मे नित्य दिखाई दे रहा है। यदि किसी भी एक पदार्थ मे किसी भी एक क्षण मे यह परिवर्तन रुका हुआ दिखाई दिया होता तो उसे हम स्वभाव कभी नही कहते क्योकि स्वभाव मे कभी बाधा नही पडा करती कि कभी तो दिखाई दे जाये और कभी नही। यदि वस्तु मे स्वय ऐसा परिवर्तन करने का स्वभाव न हुआ होता तो लोक की कोई भी शक्ति उसे परिवर्तन करने मे समर्थ न हुई होती। जलने योग्य पदार्थ को ही जलाया जा सकता है अबरक को नही। यदि परिवर्तन करना वस्तु का स्वभाव न हुआ होता तो लोक मे कोई भी कार्य देखने में न आता, लोक कूटस्थ हो जाता। विश्व मे दीखने वाली यह भाग दौड़ कैसे दृष्टि मे आती? और यह तो स्पष्ट देखने मे आ रही है इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्यक्ष दीखने वाले का अस्वीकार करना पक्षपात है। अत. निश्चित हुआ कि वस्तु मे कार्य अर्थात परिवर्तन उस वस्तु के अपने परिवर्तन-शील स्वभाव के कारण हो रहा है। यह कार्य व्यवस्था का एक अग हुआ।

४ संयोग या निमित्त इसके अतिरिक्त हम यह भी देख रहे है कि यह परिवर्तन किसी भी योग्य अन्य वस्तु का संयोग प्राप्त करके हो रहा है। संयोग विहीन कोई भी परिवर्तन आज विश्व मे दिखाई ही नही देता। खेती वाले दृष्टान्त मे (देखो विषय नं० १२ प्रकरण नं० ३) यह स्पष्ट दर्शा दिया गया है। यह पुस्तक भी मेरे हाथ के बिना उठ नही रही है। इस लकड़ी का यह चौकीवाला रूप भी बिना खाती के बन नही पाया है। एक अणु भी दूसरे अणुओ से टकराये बिना गतिमान होता दिखाई नही देता। यह खम्बा भी बिना हवा पानी या गर्मी सर्दी के सयोग के जीर्ण नही हो रहा है। यदि यथायोग्य संयोग न हो तो परिवर्तन होना असम्भव है। क्योकि यह भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अत. सरलता पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। दीखते हुये भी मात्र भ्रम कह कर इसे टाल देना और स्वीकार न करना पक्षपात है। ज्ञान की खेंच है।

ज्ञान को ढीला करके देखे तो स्वीकार न करने का कोई कारण नही है। यहां भले किसी भी पक्षवश स्वीकार न करे पर जीवन प्रवाह के २४ घन्टों में भी इनकी स्वीकृति न हो तब मानें।

अरे अरे! मुख पर यह उदासी सी क्यों दीखने लगी? निराशा की रेखायें क्यो खिंचने लगी? सम्भल प्रभु सम्भल! पहले ही सावधान कर दिया था। अब फिर कर रहा हूँ। अन्तरंग की इस खींचातानी को छोड़, तेरे हृदय मे उठने वाली इस शंका का मुझे भान है। 'वस्तु स्वतन्त्रता के प्रकरण में यह परतन्त्रता कैसी?' यही है तेरा प्रश्न या कुछ और? घबरा नही। कथन क्रम में यथा स्थान उत्तर आ जायेगा और विषय स्पष्ट कर दिया जायेगा। यहाँ वस्तु को परतन्त्र बनाने का अभिप्राय नही है। सयोग होते दिखाई देते हैं या नही? बस इतनी बात है। संयोग हुए बिना क्या कोई कार्य होता दिखाई देता है? यदि नहीं तो क्यों स्वीकार कर नही लेता? बस इतनी ही बात स्वीकार करने को कह रहा हूं कि संयोग होता है। सयोग जबरदस्ती करता या कराता है यह सिद्ध नही किया जा रहा है और न ही ऐसा अभिप्राय है। जितनी बात कही जाये उतनी ही बात ग्रहण करें, बिना कहे अपनी ओर से उसमे कुछ अन्य बात मिलाने का प्रयत्न न कर। संयोग प्राप्त होने पर कार्य कैसे होता है और कौन करता है यह बात आगे। अतः कार्य व्यवस्था मे संयोग या निमित्त का होना भी एक अंग अवश्य है जिसके बिना कार्य होना असम्भव है।

यहां निमित्त के सम्बन्ध मे और भी बात जान लेनी योग्य है। निमित शब्द ही यह बता रहा है कि कार्य व्यवस्था मे कोई न कोई संयोग को अवश्य प्राप्त होता है। निमित्त शब्द 'मिथ' धातु से 'नि' उपसर्ग पूर्वक बना है। मिथ का अर्थ है मैथुन अर्थात संयोग। निश्चित रीति से संयोग को प्राप्त हुई वस्तु को निमित्त कहते हैं। इसको अन्य भी इसी प्रकार के नामों से पुकारा जाता है। जैसे संयोग, सहकारी, सहचारी, सहयोगी सहायक इत्यादि। वास्तव मे इन सब शब्दो का भी वही अर्थ है जो कि निमित्त का। संयोग शब्द 'युज' धातु से बना है सं+योग अर्थात योग्य रीति से दो पदार्थो के मिलने को सयोग कहते हैं। सहकारी अर्थात सह+कारी। 'सह' अर्थात साथ साथ 'कारी' कार्य करने वाला। साथ साथ रहकर कुछ कार्य विशेष या परिवर्तन करने वाले को सहकारी कहते हैं। सहचारी अर्थात सह+चारी। 'सह' अर्थात साथ साथ 'चारी' अर्थात प्रवाह क्रम मे आगे चलने वाला। साथ साथ आगे चलने वाले अथवा परिवर्तन करने वाले को सहचारी कहते हैं। सहायक अर्थात सह+अयक। 'सह' अर्थात साथ साथ 'अयक' अर्थात गमन करने वाला। साथ साथ गमन करने वाले या परिवर्तन करने वाले को सहायक कहते हैं।

विचारिये तो सही कि यदि यह संयोग, सहायक न होता या भ्रम मात्र होता तो इन संज्ञाओं की क्या आवश्यकता थी। अभावात्मक पदार्थों की कोई संज्ञा सुनने मे नही आती। दूसरे यह निमित्त केवल उपस्थित मात्र हो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि वस्तु मे कार्य या परिवर्तन होने के समय उपस्थित तो अनेक पदार्थ हुआ करते हैं पर वह सब निमित्त नही हुआ करते। निमित्त तो उन सब उपस्थित पदार्थों में से हम उसी पदार्थ विशेष को कह सकते हैं जो स्वयं भी उस वस्तु के अनुरूप ही कुछ कार्य कर रहा हो या उसके अनुरूप या उसके साथ साथ कार्य व परिवर्तन करने की शक्ती विशेष को जागृत करके वहां आया हो। देखो इस पुस्तक के उठते समय यहाँ मेरे हाथ के अतिरिक्त यह चौकी व वेष्टन भी उपस्थित अवश्य है पर इन तीनो मे से इस समय इस पुस्तक के उठने में निमित्त मेरा हाथ ही है, यह दोनों नही। इसलिये केवल उपस्थित मात्र कह कर स्वीकार करना न करने के बराबर ही है।

जिस किसी भी व्यक्ति विशेष या उल्लेख विशेष से भी आपने यह "उपस्थित मात्र" का शब्द सुना या पढ़ा है उसका भी अभिप्राय वह नही है, जो कि आपने पकडा है बल्कि वही है जो कि मैने बताया है। भूल कहने वाले मे नही है बल्कि ग्रहण करने वाले मे है।

इसलिए शब्दो की खेंचातानी को छोड कर व्यवहार मे नित्य कहे जाने वाले निमित्त के कर्ता पने के वाक्यों पर हसने की बजाय, उनको यथा योग्य स्वीकार कर लेना ही तेरे ज्ञान की सरलता का द्योतक होगा। यहां पुनः यह देना आवश्यक है कि ऐसी स्वीकृति से वस्तु परतन्त्र न बनेगी, ऐसा विश्वास रख। जैसाकि अगले प्रकरणो मे सिद्ध कर दिया जायेगा। यह ध्यान रख कि यहा सयोग की दृष्टि से बात हो रही है, स्वभाव या अन्य अगो की दृष्टि से नही। जब उनका नम्बर आयेगा तब वैसी ही बात होगी। किसी एक बात की सिद्धि के लिये उसमे दूसरी बात को बीच मे लाने से एक भी बात समझ मे न आ सकेगी।

दिनांक २६ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १७

५ एक कार्य मे अनेको निमित्त

यहाँ यह प्रश्न करना भी योग्य नही कि किसान, बैल, हल, पानी आदि सब कुछ उसी प्रकार होते हुये भी एक खेत मे बीज उगता देखा जाता है और एक खेत मे नही। 'क्योंकि एक कार्य मे अनेक कारण होते है।' एक दो मात्र नही। भले ही सारे के सारे कहे न गये हो। जैसे कि खेती के दृष्टान्त मे कथित सात आठ कारणो के अतिरिक्त, जल, वायु, बरसात, अथवा मिट्टी मे पड़ी खाद या मिट्टी में पाये जाने वाले विशेष प्रकार के साल्ट या खाद आदि अनेको निमित्त और भी है जो बीज के अकुरित होने मे कारण पड रहे है। यह सब के सब निमित्त समान रूप से जुड जाने पर कार्य भी अवश्य ही समान ही होता है।

६ निमित्त की दो जातियां

यह निमित्त या सयोग भी एक ही प्रकार के दृष्टि गत होते हो ऐसा नही है। पुनः यही प्रेरणा है कि वस्तु को पढने का प्रयत्न करना, शब्दो को नही। कुछ सयोग तो हम ऐसे देख रहे है कि जिनमे अनुकूल कार्य होते रहते भी उसके सम्पर्क मे आने वाले उस दूसरे पदार्थ मे तदनुरूप कार्य कदाचित होता देखा जाता है और कदाचित नही भी। जैसे गुरु शिष्य सयोग। गुरु का शिक्षा देने की अवस्था में रहते हुये भी शिष्य उसे कदाचित ग्रहण कर भी लेता है और कदाचित नही भी। अथवा मछली के चलने को जल। जल मे रहते हुये भी वह चाहे चले या न चले। इस प्रकार के सयोगो से कार्य की निश्चितता न होने के कारण इन्हे उदासीन निमित्त कहा जाता है।

परन्तु कुछ सयोग ऐसे भी देखने मे आते है कि उनके यथा योग्य रूप मे उपस्थित होने पर उस दूसरे पदार्थ मे कार्य अवश्य होता ही है। इस नियम मे कभी बाधा नही पडती। जैसे कि स्वस्थ दशा मे व पुस्तक उठाने के प्रति उद्यत इस हाथ के होते हुये इस हाथ के द्वारा उठ जाने योग्य (अर्थात अधिक भारी नही है जो, या इस चौकी मे नही गडी हुई है जो) यह पुस्तक न उठे ऐसा होना तीन काल मे असम्भव नही है। या स्वच्छ दशा मे दर्पण सामने होने पर, मेरा या किसी अन्य पदार्थ का, जो उस

समय उसके सामने हो, प्रतिबिम्ब न पड़े यह बात असम्भव है। स्वस्थ दशा मे और घड़ा बनाने के प्रति उद्यत, कुम्भकार के होने पर घडा बनने योग्य उस मिट्टी के पिण्ड मे से घड़ा न बने यह बात असम्भव है। और इसी प्रकार अन्य भी अनेको दृष्टान्तो पर से हम ऐसे अबाधित निमित्तों की सिद्धि सरलता पूर्वक कर सकते हैं। ऐसे निमित्तों को ही आगमकारो ने प्रेरक निमित्त कहा है।

निमित्तो की यह दो जातिया हमारे व्यवहार मे नित्य आ रही है। फिर भी यदि एक उदासीन मात्र को ही हम स्वीकार करे और प्रेरक को भ्रम मात्र कह दें, तो पक्षपात होगा। जो बात नित्य प्रयोग मे आ रही है उसे स्वीकार न करना ज्ञान का कड़ापना है। इसे ढीला छोड़ कर सरल वृत्ति से देखने का प्रयत्न कीजिये तो इन दो जातियो के निमित्तो की सत्ता प्रत्यक्ष हो जायेगी। आपके मन में उत्पन्न हुये संशय को पुन. निवारण करता हूँ। इससे वस्तु परतन्त्र नही होगी। क्योकि अभी तक भी कही यह नही कहा गया है कि निमित्त उदासीन हो कि प्रेरक, जबरदस्ती कोई काम या परिवर्तन बिना वस्तु की योग्यता या मर्जी के कराता है। परन्तु अगले तीन अगो की व्याख्या हो जाने के पश्चात ही यह विषय स्पष्ट हो सकेगा, यहाँ नही। यहा तो केवल निमित्तो व उनकी दो जातियों की सत्ता मात्र की स्वीकृति कराना अभीष्ट है। क्योकि निमित्त या संयोग के बिना कोई कार्य नही होता। इसलिये यह भी कार्य व्यवस्था का एक अत्यन्त आवश्यक अग है।

७ पुरुषार्थ पुरुषार्थ के बिना भी लोक का कोई कार्य होना देखा नही जाता। यहाँ 'पुरुषार्थ' शब्द का वह अर्थ न समझना जो कि लोक मे प्रयोग किया जाता है। लोक मे तो केवल मनुष्य के या अधिक से तो चेतन पदार्थ के पुरुषार्थ को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जड़ तत्व में साधारण जनो को कोई पुरुषार्थ होता दिखाई नही देता। और यही कारण है कि वह जड पदार्थों को बिल्कुल नि.शक्त व अपने आधीन मान बैठा है। वास्तव मे ऐसा नही है पुरुषार्थ का अर्थ है किसी पदार्थ का एक अवस्था को तज कर दूसरी अवस्था को धारण करने के प्रति झुकना। वस्तु के अपने इस झुकाव विशेष का नाम ही उस उस वस्तु का अपना अपना पुरुषार्थ है? वह वस्तु जड़ हो कि चेतन सब मे ऐसा भाव पाया जाता है। जैसे कि अग्नि पर रख देने से जल का धीरे धीरे उष्णता की ओर झुकते हुये देखे जाना। भाप को किसी बर्तन मे रोक देने पर उसका वहा से निकलने के प्रति का झुकाव भी अदृश्य नही है। जो काम हजार लाखो व्यक्ति मिल कर नही कर सकते वह काम एक अणु कर सकता है। यह बात अवश्य है कि आपके पुरुषार्थ की जाति किसी अन्य प्रकार की है, उसकी अन्य प्रकार की। आप चेतन पदार्थ है, विचार शील हैं, अत आपके पुरुषार्थ की जाति भी विचारणाओ रूप है। वह जड़ है, उसके पुरुषार्थ की जाति भी जड़ात्मक है। आपका विकल्प करने रूप पुरुषार्थ या झुकाव इन्द्रिय गोचर नही, पर उसका गमनागमन रूप, अग्नि आदि लगाने रूप या अन्य रूप पुरुषार्थ या झुकाव इन्द्रिय गोचर है।

अत सिद्धान्त निकला यह, कि प्रत्येक पदार्थ मे पुरुषार्थ होता है। वह जड हो या चेतन। अन्तर केवल इतना ही है कि जड़ का पुरुषार्थ जड़ात्मक है इसलिये उसका कार्य या परिवर्तन भी जड़ात्मक है। और चेतन का पुरुषार्थ चेतनात्मक है। जड़ात्मक हो जाने से उस जड़ पदार्थ मे पुरुषार्थ का अभाव नही कह सकते। यदि कोई पदार्थ स्वयं अपने अन्दर नवीन अवस्था के प्रति न झुके तो पुरानी अवस्था नष्ट जाने पर वह अवस्था शून्य हो जाये। और ऐसा हो जाये तो इस विश्व मे कुछ भी दिखाई न दे। सर्व शून्य हो जाये।

इसलिये यह बात अवश्य स्वीकार करने योग्य है, कि वस्तु के अपने अपने पुरुषार्थ या झुकाव विशेष के अभाव मे, वस्तु की अवस्थाओ मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना असम्भव होने के कारण, पुरुषार्थ भी कार्य या परिवर्तन का एक प्रमुख अग है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि पुरुषार्थ ही पर्याप्त है। स्वभाव निमित्त तथा अन्य अग यदि न हो तो पुरुषार्थ अकेला कुछ नही कर सकता। वास्तव मे वह न हो तो पुरुषार्थ भी न हो या पुरुषार्थ न हो तो वह भी न हो ऐसा कहना उपयुक्त है। परन्तु यहा तो केवल पुरुषार्थ की सिद्धि की जा रही है। इसलिये इस स्थान पर अन्य बातो को बीच मे लाना योग्य नही। एक एक बात की पृथक पृथक सिद्धि हो जाने के पश्चात इन सब को परस्पर मे भिडा दिया जाएगा, तभी यथार्थ व्यवस्था समझी जानी शक्य है। अत अभी उस प्रकार के प्रश्नों को दबा लीजिए।

८ नियति या काल लब्धि

वस्तु की कार्य व्यवस्था मे चौथी बात जो विचारने पर वस्तु मे दिखाई देती है वह है नियति या काल लब्धि। यद्यपि यह विषय कुछ विवादग्रस्त है, क्योकि कुछ व्यक्ति या विद्वान इस अग को आज स्वीकार करते है और कुछ नही, और इसी प्रकार आप सभो मे भी सम्भवत: इन दोनो दृष्टियो वाले व्यक्ति उपस्थित हों। फिर भी यहा मै जो कुछ कहूँगा वह वही तो कहूँगा जों कि मुझे दिखाई देता है अर्थात अपनी दृष्टि की बात। और वस्तु व्यवस्था को स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए इस अग को यहां कहना आवश्यक प्रतीत भी होता है। परन्तु कहने से पहले आप सब से ही यह विनीत प्रार्थना अवश्य करू गा कि यदि किन्ही मुमुक्ष जनो की दृष्टि इस अग को स्वीकार नही करती है तो वह इसे सुन कर अपने चित्त मे किसी प्रकार का क्षोभ या वितडा उठाने का प्रयत्न न करे। क्योकि इसमे स्वय उन ही का अहित है। उनका क्षोभ उन ही की शान्ति को तो घातेगा मेरी को तो नही। मेरी दृष्टि तो जैसी की तैसी ही बनी रहेगी। इस अग को भी ध्यान से सुन कर समझने का प्रयत्न करे। वस्तु मे जाकर इसे खोजने का प्रयत्न करे। वहा यह अग दिखाई दे तो स्वीकार कर लेना नही तो नही। यदि स्वीकार न भी हो तो भी समझ लेना कि लोक मे भिन्न भिन्न दृष्टियो के लोग है। विचार विषमता होती रहे, पर इस का अर्थ यह नही कि मनो-विषमता भी हो जाये। प्रेम मे बाधा न पड़ने दीजिये। क्योंकि मेरी दृष्टि मेरे पास है और आपकी आपके पास। मेरो दृष्टि से हानि लाभ मेरा है और आपकी दृष्टि से आपका।

आइये अब वस्तु में कुछ और भी पढने का प्रयत्न करे जिससे कि वस्तु मे अब तक दीखने वाली कुछ परतन्त्रता स्वतन्त्रता मे बदल जाये, जिससे कि अब तक के उठने वाले अनेको प्रश्नो का समाधान हो जाये। स्वभाव, निमित्त व पुरुषार्थ के अतिरिक्त वस्तु की कार्य व्यवस्था मे कुछ और भी देखने मे आता है। अर्थात वस्तु मे होने वाला वह वह कार्य या परिवर्तन किसी निश्चित समय पर ही हो रहा है। आगे पीछे नही। ऐसा सब स्वय अर्थात स्वभाव से ही हो रहा है। किसी ने वह समय निश्चित किया हो या बैठा हुआ कर रहा हो ऐसा नही है। वस्तु मे जो बात सहज अर्थात बिना किसी कारण के होती हुई दिखाई दे वह उसका स्वभाव ही होता है। वस्तु का स्वभाव पढने का एक बहुत सरल उपाय यह है कि अपने से प्रश्न करने प्रारम्भ कर दीजिये। उत्तर आने पर पुन. पुन. प्रश्न करिये। आखिर एक स्थिति आ जायेगी जहा प्रश्न होने स्वत: बन्द हो जायेगे, समझिये कि वह वस्तु का स्वभाव है। क्योकि स्वभाव मे तर्क नही चला करता।

दृष्टान्त के रूप मे वही पुराना खेती का दृष्टान्त ले लीजिए। और किसान से पूछिये —

प्रश्न—बीज आज ही क्यो फूटा आगे पीछे क्यो न फूट गया ?
उत्तर—क्योकि आज से दो दिन पहले ही पृथ्वी मे डाला गया था। और पृथ्वी मे पड़ने के दो दिन पश्चात अकुरित होना इसका स्वभाव है।

प्रश्न—दो दिन पहले ही पृथ्वी मे क्यो डाला गया था, तीन दिन पहले क्यो नही ?
उत्तर—दो दिन पहले ही पृथ्वी वाही जाकर तैयार हुई थी। तीसरे दिन तक यह ठीक ठाक नही हुई थी।

प्रश्न—दो दिन पहले ही यह ठीक ठाक क्यो हुई थी, इससे पहले क्यो नही।
उत्तर—छ: दिन पहले ही हल जोतना प्रारम्भ किया था। इतनी पृथ्वी छ. दिन मे ही जोती जा सकती थी। इससे कम समय मे नही।

प्रश्न—छ दिन पहले ही हल क्यो जोता। इससे पहले क्यो नही ?
उत्तर—उसी दिन चित्त मे जोतने का विकल्प या इच्छा उत्पन्न हुई थी। इससे पहले नही।

प्रश्न—इससे पहले विकल्प चित्त मे उत्पन्न क्यों नही हुआ ?
उत्तर—अब तो उत्तर ने हार मान ली। इससे पहले विकल्प क्यों उत्पन्न न हुआ, इसका मेरे पास कोई उत्तर नही। उसी समय हुआ इतना जानता अवश्य हूँ। उस समय वह स्वत. ही जागृत हो गया और उसके आगे क्रमश तदनुरूप कार्य चलने लगा। क्यो हुआ का उत्तर कुछ नही पर हुआ अवश्य।

यद्यपि अन्य अनेको बात बीच मे लाई जा सकती हैं। जैसे मौसम तब ठीक न था। या कर्म का उदय इसी जाति का तब ही आया था। उस कर्म मे अपकर्षण भी किसी विशेष समय मे ही किया था इत्यादि। परन्तु बात को निर्णय करना है इसलिये अधिक खेचने से लाभ नही। कितनी भी बात बीच मे अपने उत्तर मे लाइये, आखिर एक स्थिति ऐसी अवश्य आ जायेगी जहां जाकर उत्तर हार मान जायेगा या उत्तरो की पूर्व कथित शृंखला पुन चला देगा और अनवस्था मे उलझ बैठेगा। ऐसी स्थिति आ जाने पर सरलता से विचार करे तो आपका हृदय स्वय पुकार उठेगा कि उसी समय वैसा होना था और उसी समय वैसा हुआ। आगे पीछे न होना था और न आगे पीछे हुआ। बस समझ लीजिये कि वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है, क्योकि यहां तर्क शान्त हो चुका है।

किसान को वह विकल्प विशेष उस निश्चित समय पर ही आना था और तभी वह आया भी, इस बात की परीक्षा भी की जा सकती है। आपसे ही यदि मैं कहूं कि इस समय जो इस बात को सुनकर आपके हृदय मे अनेको प्रश्नात्मक विकल्पो की बाढ आ गई है। उसे इस समय दबाकर कोई अन्य विकल्प उत्पन्न करले और इन विकल्पो को शाम के ६ बजे उत्पन्न करना या करके दिखाना। विचारिये तो सही कि क्या इतनी शक्ति है आप मे, कि जो विकल्प जिस समय आप चाहे वह ही आये अन्य नही ? ऐसा नही है। विकल्प स्वतन्त्र रीति से अपने अपने समय पर उठ रहे हैं। उनमे हेर फेर करने की सामर्थ्य आप मे नही। सामर्थ्य होती तो मेरे ऊपर वाले प्रश्न को कार्यान्वित रूप देकर दिखा देते। अत निश्चित हुआ कि वह विकल्प उसी समय आना निश्चित था। इसी का नाम है नियति या

काल लब्धि। इसी के लिये एक नवीन शब्द का आविष्कार भी इस युग मे हुआ है और वह है क्रमबद्धता। नियति, काल लब्धि, व क्रमबद्धता-इन तीनों का एक ही अर्थ है।

खेती बोने के कार्य के सर्व संयोगो की शृ खला मे यदि एक प्रारम्भिक कडी भी नियत सिद्ध हो गई तो यह कहने की आवश्यकता नही कि अगली अगली सर्व ही कड़िया नियत हो जायेगी। क्योकि जैसेकि उस जाति का विकल्प उठने पर किसान ने उस उस समय वह वह निमित्त ही जुटाये अन्य नही। इसी प्रकार किसी भी पदार्थ मे, कोई एक कार्य या परिवर्तन विशेष होने पर, उस समय उसके निमित्त से उसके सम्पर्क मे आने वाले दूसरे पदार्थ मे भी, तदनुरूप ही कोई कार्य होना निश्चित है, कोई अन्य नही। इस प्रकार खेती के कार्य मे जितने भी साझीदार थे उन उन सबका वह वह कार्य उस उस समय ही होना निश्चित हो जाता है। अन्य प्रकार से भी यदि किसान की भाँति अन्य सर्व साझीदारो से बारी बारी वही ऊपर जैसे प्रश्न करे तो एक स्थान पर पहुँच कर वह सब ही यह कह देगे कि उस समय मे वैसा ही होना निश्चित था।

अत. यह सिद्धान्त निकला कि कार्य व्यवस्था मे नियति का भी कुछ हाथ है। यद्यपि इस विषय के सम्बन्ध मे अनेको प्रश्न इस समय अन्तर मे खलबली मचा रहे है, परन्तु कुछ धैर्य पूर्वक ही काम करना है। आगे जाकर उन सबका समाधान हो जायेगा।

९ भवितव्य इन प्रश्नो का समाधान करने से पहले यहा इस स्थान पर प्रकृत विषय की पूर्ति के अर्थ पांचवी बात पर भी विचार कर लेना अभीष्ट है। इस पांचवे अग का नाम बताया था भवितव्य अर्थात होने योग्य। होने योग्य बाते तीन है। एक तो वस्तु मे उस जाति विशेष का कार्य जोकि उस समय मे हुआ है, दूसरा उस निमित्त विशेष की उपलब्धि जोकि उस समय मे हुई है और तीसरा वह ही पुरुषार्थ विशेष जोकि उस समय में हुआ है।

यद्यपि नियति या भवितव्य, यह दोनो अंग कुछ समान वाची से प्रतीत होते है पर वास्तव में ऐसा नही है। क्योकि नियति तो उपरोक्त तीनो बातो के समय या काल मात्र को बताता है। भवितव्य और नियति यह दोनों परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते है नियति के विना भवितव्य का और भवितव्य के बिना नियति का कोई प्रयोजन नही रह जाता।

नियति ने तो इतना बताया कि अमुक समय मे वस्तु मे कार्य होना निश्चित है पर कौन कार्य होना निश्चित है यह नही बताया। इसी प्रकार यह बताया कि अमुक समय में निमित्त का सयोग होना निश्चित है, पर कौन निमित्त का सयोग होना निश्चित है यह नही बताया। इसी प्रकार यह बातया कि अमुक समय मे वस्तु के द्वारा पुरुषार्थ किया जाना निश्चित है पर कौन पुरुषार्थ किया जाना निश्चित है यह नही बताया।

इन तीनो बातो की जाति का निश्चय हुये बिना तो अमुक समय मे जो कोई भी कार्य, जो कोई भी निमित्त व जो कोई भी पुरुषार्थ हो जायेगा। और यदि ऐसा ही है तो नियति की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी, क्योकि यह तो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि वस्तु मे कोई न कोई कार्य या परिवर्तन, कोई न कोई सयोग या निमित्त अथवा कोई न कोई पुरुषार्थ तो प्रतिक्षण होता ही है। वहां

भी यह तीनों निश्चित या व्यवस्थित नही थे और यहा भी अर्थात नियति की स्वीकृति के पश्चात भी यह निश्चित न होने पाये। वहा और यहाँ दोनो ओर ही यह बात पड़ी है कि किसी भी समय तीनो होते तो अवश्य हैं, पर चाहे जो भी हो सकते है, अर्थात मैं जैसा चाहूँ निमित्त मिलाऊ, और जैसे चाहूँ वस्तु को परिणमा दूं। अथवा जिस समय जैसा जैसा भी निमित्त मिलेगा उस समय वस्तु मे कार्य भी वैसा वैसा ही हो जायेगा। और यदि यह ठीक है तो वही पुरानी बात कि 'विश्व मेरे आधीन है,' ज्यो की त्यों बनी रही, जिस प्रकार अन्य को निमित्त के रूप मे मिलाना या उसमे परिणमन कराना मेरे आधीन है उसी प्रकार मुझको निमित्त के रूप मे मिलाना भी अन्य के आधीन हो जायेगा। अर्थात दूसरा मेरे आधीन और मैं दूसरे के आधीन बन बैठूंगा। दोनो मे सघर्ष उत्पन्न हो जायेगा और वस्तु व्यवस्था बिगड़ जायेगी। क्योंकि ऐसा असम्भव है कि जो मेरे आधीन हो उसी के आधीन मै हूँ।

इसलिये भवितव्य की सिद्धि की आवश्यकता है। भवितव्य कहता है कि ऐसा नही है कि किसी नियत समय पर तू जो चाहे निमित्त मिलाले, जो व जैसा कैसा भी पुरुषार्थ करले और जैसा कैसा भी कार्य बना ले। बल्कि ऐसा है कि किसी भी नियुक्त समय मे तुझ मे अमुक ही प्रकार का पुरुषार्थ होने योग्य है अर्थात तुझ मे वैसा ही करने की इच्छा जागृत होती है, तदनुरूप ही सामग्री तू जुटाता है और इसलिये तदनुरूप ही कार्य हो पाता है। अतः किसी भी समय विशेष मे इन तीनो का व्यवस्थित रूप में ही होना निश्चित है।

इस प्रकार नियति के बिना भवितव्य भी कल्पना मात्र ही रह जायेगा। क्योकि भवितव्य केवल इतना ही बता पायेगा कि अमुक प्रकार का पुरुषार्थ निमित्त व कार्य होने योग्य है। परन्तु कब, यह न बताने पायेगा। तब यह बात समझी जायेगी कि मैं अमुक प्रकार का पुरुषार्थ कर सकता हूँ पर जब चाहे कर लूं। अथवा अमुक प्रकार से काम या परिवर्तन कर सकता हूँ पर जब चाहे कर लूं। और यदि ऐसा ही है तो भवितव्य की आवश्यकता ही क्या रही। अत. नियति भवितव्य को बल देती है और भवितव्य नियति को। नियति भवितव्य को व्यवस्थित करता है और भवितव्य नियति को।

इस प्रकार वस्तु की कार्य व्यवस्था मे वस्तु का स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, नियति, व भवितव्य यह पांचों अग सम्मिलित हैं। इन पांचो को पांच समवाय कहा जाता है क्योकि कार्य व्यवस्था मे यह पाचों ही सहकारी हैं अर्थात एक ही समय मे एक कार्य में यह पांचों ही अविरोधी रूप से रहते हैं।

१४

—: पाँच समवाय समन्वय :—

दिनाक ३० मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन न० १७

१—समवायों सम्बन्धी अनेकों प्रश्न, २—नियति या पुरुषार्थ का समन्वय, ३—नियति व उपदेश का समन्वय, ४—नियति व विकल्प परिवर्तन का समन्वय, ५—नियति व स्वभाव का समन्वय, ६—नियति व स्वच्छन्द का समन्वय. ७—नियति व आगम का समन्वय, ८—नियति व निमित्त का समन्वय, ९—निमित्त व वस्तु स्वतन्त्रता का समन्वय, १०—निमित्तों के संयोग की स्वतन्त्रता, ११—नियति, निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय, १२—नियति व अनियति का समन्वय, १३—वस्तु स्वरूप की जटिलता।

अहो वस्तु स्वातन्त्र्य की घोषणा करके, मेरे अन्दर मे पडी कुछ करने धरने की बुद्धि हर कर, मुझे व्यग्रताओ से मुक्ति दिलाने वाले गूरुदेव आपकी महिमा! अलौकिक जनो की अलौकिक बाते। सर्व साधारण जन कैसे स्पर्श कर सकेगे उनकी गहनता को। करने धरने की बुद्धि हटानी अभीष्ट है। खोजते खोजते उसका मूल मिला कहाँ जाकर? वस्तु की व्यवस्था मे। अर्थात वस्तु की कार्य व्यवस्था का या उसकी स्वतन्त्रता का ठीक ठीक निर्णय न होने के कारण ही मै जगत मे फेर फार करने के पीछे दौड़ रहा हूँ। यदि कदाचित वस्तु का व्यवस्थित रूप पढ कर अपनी धारणाओ को बदल पाता तो यह व्यग्रता सहज ही टल जाती। इसी कारण से है गुरुओ का प्रयास-मुझे वस्तु व्यवस्था दर्शाने का।

१ समवायों सम्बन्धी अनेकों प्रश्न

समवाय सम्बन्धी अनेको प्रश्न—

नियति या भवितव्य की बात सुनकर अनेको प्रश्न चित्त मे खलबली मचा रहे है। उनको कल दबा दिया गया था। आज उनका उत्तर देने का नम्बर आया है। लाइये कौन से प्रश्न है।

१ पहला प्रश्न तो यह कि नियति की स्वीकृति के पश्चात पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है। या अकर्मण्यता आ जाती है?

२ दूसरा प्रश्न यह है कि नियति की स्वीकृति के पश्चात उपदेश का कोई प्रयोजन नही रह जाता?

३ तीसरा प्रश्न यह है कि यदि विकल्प का परिवर्तन करने मे भी मै स्वतन्त्र नही हूं, तब तो मै कदापि भी अपना हित करने मे सफल नही हो सकूंगा?

४ चौथा प्रश्न यह कि ऐसी नियति व्यवस्था विना किसी के किये होनी कैसे सम्भव है?

५ पाचवा प्रश्न यह है कि नियति की स्वीकृति से स्वच्छन्द का पोपण हो जायेगा ?

६ छटा प्रश्न यह है कि नियति का आगम मे निपेध किया गया है इसलिये इसको स्वीकार करने से आगम के साथ विरोध आता है ?

७ सातवा प्रश्न है कि यदि कार्य नियत है तो निमित्तो की क्या आवश्यकता ?

८ आठवा प्रश्न है कि निमित्तो को स्वीकार कर लेने पर वस्तु परतन्त्र हो जायेगी ?

९ नवा प्रश्न है कि निमित्तो को यथायोग्य सयोग कराने वाला कौन है ? मेरे विना स्वय निमित्त आकर कैसे प्राप्त होते है ?

१० दसवा प्रश्न है कि यदि निमित्त स्वत प्राप्त हो जाते है तो पुरुपार्थ की क्या आवश्यकता ?

११ ग्यारहवा प्रश्न है कि अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार नियति के साथ अनियति कैसे घटित होती है ?

और इसी प्रकार अन्य भी अनेको प्रश्न हो सकते हैं। परन्तु यहा इन ग्यारह प्रश्नो का समाधान कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।

लीजिये इन प्रश्नो का क्रम से समाधान करने का प्रयत्न करता हूं। वात कुछ जटिल अवश्य है पर फिर भी उसे सरल वनाने का प्रयत्न करूगा। आप भी थोड़ा ज्ञान को ढीला करके सरल वृति से समझने का प्रयत्न करे वस्तु मे जो दिखाई दे रहा है उसे अस्वीकार न करे। आप यदि मेरा साथ देगे तब तो मै समझा भी सकूंगा और आप समझ भी सकेगे अन्यथा मेरा प्रयास विफल जायेगा।

२ नियति या पुरुषार्थ का समन्वय

यदि सर्व ही कार्य अपने अपने समय पर स्वत हो रहे है तो मेरा कल्याण भी अपने समय पर स्वत हो जायेगा। मै शान्ति मार्ग की ओर का पुरुपार्थ भी क्यो करू ? ठीक है प्रश्न स्वाभाविक है। हरेक व्यक्ति के हृदय मे उत्पन्न होता है। पर भाई ! क्या विचारा है कभी, कि शान्ति की ओर का पुरुषार्थ न करके भी क्या तू खाली बैठा रह सकेगा ? कुछ न कुछ करना अर्थात अपने रूप मे या स्थान मे परिवर्तन करना तो तेरा स्वभाव है। वही तेरा पुरुपार्थ है। वह किये विना तू क्या, जगत का कोई भी पदार्थ रह नही सकता। करना तो अवश्य तुझे कुछ न कुछ पडेगा ही क्योकि स्वभाव को घाता नही जा सकता। अब यह बता कि शान्ति की दिशा का नही तो किस दिशा का पुरुपार्थ करने की इच्छा तेरे अन्दर उत्पन्न हो रही है। कोई न कोई इच्छा तो अवश्य है वहा। ऐसा तो हो नही सकता कि इच्छा या विकल्प न हो।

वस खाऊ, पीऊ, मौज उडाऊ, शान्ति जव होनी होगी हो जायेगी। ठीक है, तो तात्पर्य यह हुआ कि तेरे अन्दर मे उन लौकिक सुखो के प्रति, जिनको कि पहले अशान्ति रूप बता दिया गया है, अभी तक आकर्षण पड़ा है। क्योकि यदि ऐसा न हुआ होता तो तेरी इच्छा का प्रवाह उस ओर कदापि जाने न पाता। और इसलिये तू भले ही शान्ति पथ की बात करता हो, पर वास्तव मे शान्ति का उपासक है ही नही। यदि हुआ होता तो तेरे अन्तर मे बजाए भोगो के शान्ति का आकर्षण पडा होता और तव तेरा ऊपर वाला प्रश्न बदल कर यह रूप धर लेता कि इन बाह्य पदार्थो मे करने धरने की क्या आवश्यकता, जैसा कैसा भी जब होना होगा हो जायेगा। मैं शान्ति मे ही निवास क्यो न करू ? क्यो विकल्पों की दाह मे जलू ?

दोनों ही दशाओं मे तू पुरुषार्थ हीन नही बन पाया है। पुरुषार्थ अवश्य कर रहा है। अन्तर इतना ही है कि पहली दशा मे तेरा पुरुषार्थ लौकिक सुखो की ओर ढलक रहा था और दूसरी दशा मे शान्ति की ओर। जैसा जैसा तू उस समय करेगा वैसा वैसा फल तो अवश्य मिलेगा ही, अर्थात पहली दशा मे अशान्ति और दूसरी दशा मे शान्ति। बता पुरुषार्थ निष्फल कहा गया? पुरुषार्थ हीनता या अकर्मण्यता कहाँ आई?

वास्तव मे तेरे अन्दर यह प्रश्न इसलिये उत्पन्न हो रहा है कि तेरी रुचि मे तो पड़ा है लौकिक पुरुषार्थ और बाहर से कह रहा है तू अपने को शान्ति का उपासक, जो सर्वथा मिथ्या है। तू भले समझ न पाये पर ज्ञानी जन समझ जाते हैं कि इस प्राणी की काल लब्धि अभी खोटी पड़ी हुई है, अत: अभी कुछ और दिन इसे अशान्ति मे निवास करना है। अत' तुझे समझाने के प्रति मध्यस्थता धारकर वह इस विकल्प को छोड देते है और पुन. शान्ति मे स्नान करने लगते है।

अरे भाई! पुरुषार्थ अन्धा हुआ करता है। वह यह नही विचारा करता कि कब समय आये कि मैं अमुक जाति का पुरुषार्थ करू। तेरा पुरुषार्थ तेरे विकल्प के आधीन है, नियति के नही। जब तेरे अन्दर उस उस समय उस उस प्रकार का विकल्प आ ही जायेगा तो उस उस जाति का पुरुषार्थ कैसे न करेगा। उस उस जाति का पुरुषार्थ होने पर फिर उस उस जाति का कार्य या परिवर्तन तेरे अन्दर कैसे न होगा।

क्या लौकिक व्यापार आदि करते हुये भी यह विचार आया करता है कि पहले यह मालूम करूं कि कब व्यापार का समय आयेगा ताकि उस समय मैं कार्य प्रारम्भ कर सकू? वहा तो कार्य करने का विकल्प आया और कार्य कर बैठा। कुए मे कोई व्यक्ति गिर पडे तो उसको निकालने के समय या तेरे घर मे आग लग जाये तो उसको बुझाने के समय भी क्या कभी यह विचार किया करता है कि जब समय आयेगा तब ही उसको निकालने का या आग बुझाने का पुरुषार्थ करूगा, उससे पहले कसे करूं, क्योकि कर ही नही सकता। प्रभो! कुछ करने का विकल्प अन्तर मे जागृत हो जाने पर यह विचारा नही जाया करता कि कब समय आयेगा। विकल्प आते ही तदनुकूल पुरुषार्थ चालू हो ही जाता है। ऐसा स्वभाव है।

मै हीन ज्ञानी हू पहले से यह बात भले न जान पाऊ कि कौन समय कौन कार्य के लिये नियत है। परन्तु उपरोक्त प्रकार कार्य हो जाने पर मेरा अनुमान यही कहता हुआ प्रतीत होता है कि क्योकि इस समय स्वत यह कार्य करने का विकल्प जागृत हुआ था इसलिये अवश्य ही यह कार्य उस ही समय होना निश्चित था। तथा कुछ प्रत्यक्ष ज्ञानी अवधि व मन.पर्यय ज्ञान के आधार पर अथवा निमित्त ज्ञानी स्वपनो व चिन्ह विशेषो के आधार पर कार्य होने से पहले भी यह जान जाते है कि अमुक समय अमुक काम होना निश्चित है। वह भी जान भले जाओ या आप उनसे अपने किसी कार्य का निश्चित समय पूछ भले लो परन्तु कार्य होने के समय मे तो आपको केवल कार्य करने का ही विकल्प आता है। "समय आया या नही" ऐसा विकल्प नही आता और इसलिये उस समय कार्य होता ही है। पीछे भले यह जानने का विकल्प आ जाये कि क्या कार्य उसी समय हुआ है या आगे पीछे और आपको यह जानकर सन्तोष होता है "कि उसी समय हुआ है आगे पीछे नहीं"।

यहाँ इतना अवश्य जान लेना योग्य है कि वर्तमान के ज्योतिषियो को इस तत्व की परीक्षा का आधार नही बनाया जा सकता, क्योकि अपने को ज्योतिषी कहने वाले वह वास्तविक ज्योतिषी या निमित्त ज्ञानी नही है। यदि हुये होते तो एक कोई कार्य होना बताकर स्वय ही उसको टालने का उपाय न बताते होते। उन वेचारो को स्वय यह विश्वास नही कि जो कुछ वह बता रहे हैं वह होना निश्चित ही है। नियति को किसी प्रकार टाला नही जा सकता। वास्तव मे जो कोई टालने का उपाय करता है वह भी नियत ही है जैसे कि द्वारका के दहन मे द्वीपायन का प्रयास।

यहा एक प्रश्न और आ खड़ा होता है कि क्या नियति पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देती है। यदि नही तो इसकी क्या आवश्यकता ? प्रभो ! वस्तु व्यवस्था तेरी आवश्यकता की मोहताज नही। तेरा निर्णय ही वस्तु व्यवस्था के मोहताज है। ज्ञान ने जाना इसलिये वस्तु व्यवस्था नही होती बल्कि वस्तु व्यवस्था जैसी होती है वैसा ज्ञान जानता है। ज्ञान का काम जानना मात्र है कुछ बाहर मे करना धरना नही है। ज्ञान तो एक दर्पण है जैसी बात वस्तु मे होती है वैसी दिखाई दे जाती है।

इसी प्रकार नियति तो कोई वस्तु नही। वह कोई पदार्थ नही। उसका कोई गुण भी नही, उसकी कोई अवस्था नही। इसलिये यह करने की प्रेरणा देता है इस बात को अवकाश ही कहां है ? नियति तो वास्तव मे कार्य व्यवस्था मे पडा वह अंग है जिसके आधार पर कि ज्ञान यह जान पाता है कि अमुक समय में कार्य होना निश्चित है, या जिस समय मे होना था उसी समय मे हुआ है। नियति तो उस समय का नाम है जिसमे कि कोई कार्य होता है या होना होता है।

जैसा कि पहले बता दिया गया है। करने की बात नियति नही है पुरुषार्थ है। नियति केवल जानने की बात है। नियति बनाई नही जाया करती बल्कि ज्ञान से निर्णय की जाया करती है। जिस समय पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम किया बस ज्ञान ने जान लिया कि यही इस कार्य की नियति है। अर्थात पुरुषार्थ करे तो वहाँ नियति है ही है, पुरुषार्थ न करे तो नियति भी नही है।

इसका यह अर्थ नही, कि तब तो जब चाहू मै पुरुषार्थ करके अपनी नियति को बुला लूं। क्योकि पहले ही बता दिया गया है कि नियति कोई ऐसी वस्तु नही जिसे बुलाई जाये और जिसकी सहायता पाकर कि तेरा पुरुषार्थ चालू हो। वह तो केवल जानने व निर्णय करने की बात है। करने की बात तो केवल एक पुरुषार्थ है। और वह तू अब भी जीवन मे बिना नियति की प्रतीक्षा किये प्रति क्षण कर ही रहा है। बस तेरे इस वर्तमान के पुरुषार्थ पर से यह बात जानी जा सकती है कि तेरी नियति शान्ति की ओर जाने की है या अशान्ति मे निवास करने की।

३ नियति व उपदेश का समन्वय

दूसरा प्रश्न था कि नियति की स्वीकृति के पश्चात उपदेश का कोई प्रयोजन रह नही जाता। ठीक है साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। क्योकि उपदेश किसी विकल्प पूर्वक होता है। विकल्प निश्चित समय पर आता ही है जैसा कि पहले सिद्ध कर दिया गया। उपदेश दाता नियति से अनभिज्ञ नही है, जानता है कि होना वही है जो होना है, पर यह जो विकल्प आया है इसका क्या करे ? कभी कभी तो जब कि विकल्प मन्द शक्ति को लेकर प्रगट होता है वह उसको नियति सम्बन्धी अन्य विकल्प व विचारणाओ के आधार पर दबा भी लेता है। पर जब वह कुछ तीव्र शक्ति को लेकर प्रगट होता है तो उसकी प्रवृति तदनुरूप हो ही जाती

है। भले ही अन्तर मे यह जानता रहे कि श्रोता का हिताहित तेरे उपदेश के आधीन नही है तथा समय से पहले नही हो सकता। विकल्प होने पर तदनुकूल कार्य न करे तो क्या करे ? क्या उसके विपरीत कोई अन्य कार्य करे ? क्या ऐसा किया जाना सम्भव है ? तनिक विचार लीजिये। यदि नही तो नियति को जानते हुये भी उपदेश देने मे बाधा ही क्या है ?

उपदेश अन्तरग की किसी प्रेरणा से निकला करता है। जिसका आधार सामने वाले प्राणी को किसी एक विशेष दशा मे देखने की इच्छा होती है। अर्थात ऐसी करुणा जागृत हो जाने पर कि "अरे रे! यह प्राणी भी इस शान्ति सुधा का पान क्यो नही कर पाते। किसी प्रकार यह भी इसका एक बिन्दु चख पाये तो इनका जीवन बदल जाये," उपदेश प्रगट हुआ करता है। इसलिये इसमे प्रयुक्त भाषा भी प्रेरक रूप धारण करके ही प्रगट होती है। वस्तु स्वरूप को समझना और बात है और उपदेश देना और। वस्तु स्वरूप को समझाना शिक्षण मे गर्भित है और उपदेश प्रेरणा मे। शिक्षण मे मध्यस्थता होती है पर उपदेश मे श्रोता का जीवन परिवर्तन देखने की इच्छा। इसी से शिक्षण की शैली होती है 'होना' शब्द का आधार लेकर और उपदेश की शैली होती है 'करना' शब्द का आधार लेकर। अर्थात शिक्षण मे कहा जाता है कि "ऐसा होता है" और उपदेश मे कहा जाता है कि "तू ऐसा कर"। दोनो की शैलियों मे अन्तर होने का कारण आन्तरिक विकल्प की जाति मे पडा हुआ अन्तर ही है। उपदेश देते समय वह नियति को भूल गया हो ऐसा नही है। विकल्प आने पर तदनुरूप ही कार्य हुआ करता है उससे विपरीत नही। इसलिये प्रेरणा का विकल्प जागृत होने पर प्रेरणा रूप ही भाषा निकलेगी शिक्षण रूप नही। अत. नियति व उपदेश मे भी कोई विरोध नही है। विरोध हो जाता यदि यह विकल्प बीच मे न होता।

ज्ञान व विकल्प मे कुछ अन्तर है। ज्ञान केवल जानने व निर्णय करने का काम करता है और विकल्प जीवन मे मानसिक, वाचसिक व शारीरिक क्रियाये करने की प्रेरणा देता है। निर्णय ज्ञान की अवस्था विशेष है और विकल्प चारित्र की। इसलिये इन दोनो मे भेद होना स्वाभाविक है। यदि ज्ञान के अनुरूप ही चारित्र हो जाये तो जीव की दशा निर्विकल्प हो जाती है। और इसलिये उस समय उसके जीवन मे न स्वय कुछ क्रिया हो पाती है और न ही इस अवस्था मे किसी को उपदेश दिया जाता है। ज्ञान केवल जानने रूप है और विकल्प करने धरने के राग रूप। इन दोनो मे यह अन्तर आप लोगो मे अपरिचित नही है। अत ज्ञान मे नियति का निर्णय हो जाने पर भी जब तक उसकी दशा विकल्पात्मक रहती है वह तदनुकूल प्रवृत्ति किया ही करता है। इससे नियति व पुरुषार्थ या उपदेश मे कोई विरोध नही आता। यह दोनो एक समय मे ही एक प्राणी में पडे रहने सम्भव है।

दिनाक ३१ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० १६

४ नियति व विकल्प परिवर्तन का समन्वय

वस्तु की कार्य व्यवस्था मे वस्तु की स्वतन्त्रता की बात चलती है। इन प्रश्नो में से दो प्रश्नो का उत्तर दिया गया। अब तीसरा प्रश्न आता है कि यदि विकल्प परिवर्तन करने को भी मै समर्थ नही तो अपना हित कैसे कर सकूगा ? यह प्रश्न तो कुछ हित की जिज्ञासा को लेकर निकला प्रतीत होता है, तब तो मुझे विकल्प परिवर्तन करने का प्रयास करने की

आवश्यकता ही क्या है ? "मै अपना हित कैसे कर सकू गा।" यह भी तो एक विकल्प है। ज़रा विचार तो सही कि इस विकल्प का झुकाव किस ओर है, अशान्ति की ओर कि शान्ति की ओर। "वर्तमान के लौकिक विकल्प अशान्ति रूप होने के कारण त्याज्य हैं। शान्ति की प्राप्ति के लिये मुझे विकल्प दबा कर निर्विकल्पता की ओर जाना चाहिये।" अन्तरग की इस प्रेरणा मे से ही तो यह आशंका उत्पन्न हो गई है। बस तो हो लिया। यदि यह प्रेरणा सच्ची है तो समझ ले कि तेरी शान्ति प्राप्ति के प्रति पुरुषार्थ करने का नियत समय भी आ गया। और क्या चाहिये ? विकल्प तो अपने समय पर स्वय परिवर्तित हो गया। इस को भी बदलने का प्रयास तू करेगा ही नही, यदि वास्तव में निर्विकल्प होने की इच्छा है तो, निर्विकल्पता के पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाला यह विकल्प स्वय ही अपने समय पर आ धमका है। और चाहिये ही क्या ?

वास्तव मे तेरा यह प्रश्न भी न० १ वाले प्रश्न मे समावेश पा जाता है। अन्तर केवल इतना हा है कि वहा भोगो का विकल्प रख कर अपने को शान्ति पथ गामी सिद्ध करने का बहाना किया जा रहा है, और यहा भोगो का विकल्प हट जाने पर अपने को शान्ति पथ गामी बनाने का वास्तविक प्रयास किया जा रहा है। पुरुषार्थ वहां भी है और वहां भी। वहा उल्टा है यहा सीधा।

जरा बता तो सही कि "मै किस प्रकार से विकल्पो से मुक्ति पा जाऊ ऐसा विकल्प अन्तरग मे उत्पन्न हो जाने पर तू पुरुषार्थ किस दिशा का करेगा ? पुरुषार्थ बिना किये तो रह न सकेगा। पुरुषार्थ करने को नियति की प्रतीक्षा करेगा क्या ? यह तो पहले ही बता दिया गया है। यदि विकल्पो से क्रम पूर्वक निवृति पाने का विकल्प है तो समझ ले कि तेरे हित का समय आ गया है। इसलिये "मैं हित कैसे कर सकू गा ?" इस प्रश्न को अवकाश नही रहता। यदि भोगो सम्बन्धी विकल्पो मे वृद्धि करने का विकल्प है तो समझ ले कि तेरे हित का समय आया ही नही। इसलिये "मैं हित कैसे कर सकू गा।" यह प्रश्न केवल कहने मात्र का रह जाता है। अन्तरग प्रेरणा से शून्य इन शब्दों का कोई मूल्य नही, अत तब भी इस प्रश्न को अवकाश नही। क्योकि हित करते हुये हित की आशका करना या अहित करते हुये हित की बातें करना निरर्थक है। नियति का निर्णय विकल्प पर से किया जाता है, विकल्प का निर्णय अज्ञात नियति पर से नही।

५ नियति व स्वभाव का समन्वय

अब चौथा प्रश्न लीजिये। वह है कि "ऐसी नियत व्यवस्था बिना किसी के किये होनी कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया जा चुका है। तनिक गौर करने पर पहले वक्तव्यो मे से खोज कर उसे निकाला जा सकता है। याद होगा कि खेती के दृष्टान्त मे प्रश्न पर प्रश्न करते हुए अन्त मे यहाँ पहुँच गये थे कि किसान के हृदय मे उसी समय वह कार्य करने का विकल्प उठा था (देखो विषय नं० १३ प्रकरण नं० ८) और इस उत्तर पर पुन: प्रश्न करने पर तर्क शान्त हो गया था। तर्क का शान्त होना स्वभाव की सिद्धि है। अर्थात उस निश्चित समय पर ही वह विकल्प उसमे उत्पन्न होना था ऐसा उसके स्वाभाविक प्रवाह मे पड़ा था। इसका किसी उपाय से बदला जाना भी सिद्ध नही हो सका था अत: यही कहेगे कि उस उस समय वैसा विकल्प होना स्वाभाविक रीति से नियत है। इस प्रकार नियति व उसके साथ साथ भवितव्य भी (क्योकि दोनों का जोड़ा है) स्वभाव ही सिद्ध होते हैं।

यद्यपि विकल्प पर प्रश्न करने से तो स्पष्टतया 'स्वभाव था' ऐसा उत्तर आता प्रतीत हो गया था, पर हल आदि अन्य पदार्थ उस उस समय ही क्यो काम करने लगे इन प्रश्नो के उत्तर मे निमित्तों की प्रेरणा आई थी। इसलिये यहा प्रश्न हो सकता है कि जीव के विकल्प भले नियत हो पर अन्य द्रव्यों के कार्य तो नही। परन्तु ऐसा नही है, क्योकि निमित्तो की परस्पर जुडी इस लम्बी शृंखला मे यदि एक कडी भी नियत सिद्ध हो जाती है तो अन्य सर्व कडिया स्वतः ही नियत हो जाती है। इस रीति से वहाँ भी-नियत स्वभाव सिद्ध किया जा चुका है। अन्य प्रकार भी इस प्रश्न का उत्तर नवे प्रश्न के अन्तर्गत आ जायेगा। अत नियत व्यवस्था करने वाला वस्तु का स्वभाव है अन्य कोई शक्ति नही। स्वभाव अनुभव किया जा सकता है पर उस पर तर्क नही किया जा सकता। और ऐसा स्वभाव अनुभव व दृष्टि मे आ रहा है। तथा आगे आगे और विशद रीति से आ जायेगा।

६ नियति व स्वच्छन्द का समन्वय

पाचवां प्रश्न है कि नियति की स्वीकृति से स्वच्छन्द का पोषण होता है। बात तो ठीक है कि ऐसा देखा तो अवश्य जा रहा है। अर्थात नियति की ऐसी निर्भीक घोषणा सुन कर उसका हर प्रकार से यथार्थ निर्णय न होने के कारण, कुछ व्यक्ति उन धार्मिक क्रियाओ से, जो उनके जीवन मे झूठे या सच्चे किसी भी रूप मे पहले हुआ करती थी, विमुख से हो गये है। बहाना वही है जो प्रश्न न० १ मे कहा जा चुका है। यद्यपि इसमे उस श्रोता का ही दोष है वक्ता का नहो, परन्तु फिर भी वक्ता इस दोष से सर्वतः पृथक नही किया जा सकता। और इसलिये पूर्व के वक्ताओं व आचार्यों ने अन्य सर्व अंगो को चर्चा का विषय बनाया पर इसे अधिक छेडने का प्रयास न किया। यही कारण है कि वस्तु व्यवस्था के इस अग का स्पष्ट रीति से उल्लेख बहुत कम स्थलो पर आ पाया है ? "काल लब्धि" इस शब्द का सकेत मात्र ही देना उन्होने पर्याप्त समझा था। इसलिये आज के वक्ता का भी कर्तव्य है कि या तो इस विषय को न छेडे और छेडे तो हर दृष्टि से पांच अगो का सम्मेल बैठा कर श्रोता को समझाने का प्रयत्न करे। इसी लिये यह विषय यहा इतना लम्बा खेंचा जा रहा है।

फिर भी यदि कोई स्वच्छन्द का पोषण करे तो न वक्ता का दोष है न सिद्धान्त का। क्योकि जिसे स्वच्छन्द पोषण का ही अभिप्राय पडा है वह तो जिस किस प्रकार भी अपना मार्ग निकाल ही लेगा। अनादि काल से कुछ टेव ही ऐसी पडी है कि अपराध करते हुए भी मै अपने को अपराधी कहलाना नही चाहता। इसलिये जिस किस प्रकार भी अपने को निरपराधी सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता हूँ। किस प्रकार सो देखिये।

लोक मे तीन मुख्य सिद्धान्त है। ईश्वर कर्ता वाद, कर्म वाद, नियति वाद। ईश्वर कर्ता वादी कहता है कि जो ईश्वर ने कराया वह मैने कर लिया इसमे मेरा क्या दोष। जो वह करायेगा वह मैं कर लूंगा। मै अपनी ओर से उसे बदलने का प्रयास क्यो करू ? क्योकि ऐसा करना ईश्वर के साथ विरोध पैदा करना है। इतनी सामर्थ्य मुझ मे नही है। अतः मैं निर्दोष हूँ। कर्म कर्ता वादी कह रहा है कि जैसा कर्म का उदय आया वैसा मैने कर लिया। मै तो ऐसा करना नही चाहता था पर क्या करू लाचार हूँ। यदि यह कर्म मुझे छोड दे तो मै कुछ न करू। अत मै तो निर्दोष ही हूँ। इनके उदय के अनुसार मुझे करना पडेगा ही। अत मैं उसके फेर फार करने का प्रयत्न क्यो करू ? और इसी प्रकार नियति वादी भी कह रहा है कि जो होना होगा सो हो जायेगा, मेरे मे जब फेर फार करने की

सामर्थ्य ही नही है तो जैसा चलता है वैसा चलने दूं। फेर फार करने के प्रति उद्यम क्यो करू ?

तीनो ही दशाओ मे उसका आन्तरिक झुकाव पड़ा है भोगो के प्रति और वह सिद्ध करना चाहता है यह कि उसे विश्वास है सिद्धान्त पर। अरे भाई ! ऐसा विश्वास, विश्वास नही कहलाता, स्वच्छन्दाचार कहलाता है। अब बताइये यदि स्वच्छन्द का ही पोषण करना है तो सिद्धान्त की कोई भी वात प्रकाश मे न लाई जा सकेगी। केवल उपदेश ही दिया जा सकेगा। परन्तु क्या ऐसा होना सम्भव है ? स्वच्छन्द वालो की ओर मत देख भाई ! अपनी ओर देख। तेरे अन्तर में क्या अभिप्राय पड़ा है उसे पढ। तेरा हित अहित तेरे अभिप्राय मे पड़ा है लोक के अभिप्राय मे नही। दूसरे न समझ पाये तो तू भी न समझे यह कहां का न्याय है। कुंआ नही छनता लोटा छना करता है। स्वच्छन्द पोषण करने वाले स्वच्छन्द पोषण से कभी न रुकेंगे। पर तुझे उनसे क्या ? तू तत्व को ठीक प्रकार से समझ कर अपने अभिप्राय को शुद्ध करने का प्रयत्न कर।

७ नियति व आगम का समन्वय

अब छटा प्रश्न है कि नियति का आगम में निषेध किया है। इसलिये इसको स्वीकार करने से आगम के साथ विरोध आता है। सो भाई ! पहली वात तो यह है कि प्रारम्भ से ही तू वैज्ञानिक वन कर चला है। तेरे निर्णय का आधार वस्तु है आगम नही। इसलिये वस्तु में तुझे यह वात दिखाई देती हो तो उसे निर्भीक रूप से स्वीकार कर लेनी योग्य है। भले कोई उसका निषेध करता रहे।

पर फिर भी मै अर्थात आप सव सर्वथा एसी वात कह नही सकते, क्योकि हमे आगम पर दृढ विश्वास है। और तर्क, आमनाये व अनुभव के अतिरिक्त आगम को भी प्रमाण माना गया है। इसलिये अपने निर्णय का आगम से मिलान कर लेना आवश्यक है। कही ऐसा न हो कि अल्प व परोक्ष ज्ञान होने के कारण वस्तु स्वरूप के समझने मे हम भूल खा जायें।

आओ आगम मे देखे कि कहाँ विरोध है। यद्यपि सरल दृष्टि से देखने पर विरोध विल्कुल भासता नही फिर भी नियति को स्पष्ट रीति से आगम वहुत कम स्थलो पर स्वीकार किये जाने के कारण तथा अन्य अनेको स्थलो पर इसका निषेध देखा जाने के कारण अवश्य कुछ विरोध सा भासने लगता है। यदि कुछ विचार पूर्वक देख तो वह निषेध भी वास्तव मे इस तत्व का समर्थन ही करने लगेगा। सो कैसे वही वताता हूँ।

इस तत्व का कड़े शब्दों मे निषेध गोमटसार, पंच संग्रह व धवला में आया है। उस निषेध का यथार्थ तात्पर्य समझने के लिये हमें यह देखना होगा कि वहां वह उल्लेख किस प्रकरण के अन्तर्गत आया है। तीनो ही स्थलों पर लगभग समान रीति से निषेध किया है। शब्द भी लगभग समान हैं। प्रकरण तीनों ही स्थलों पर एक ही है। वहाँ मिथ्यात्व का प्रकरण चल रहा है। उसके अन्तर्गत मिथ्यात्व के पांच भेदों को दर्शा कर अब एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप दर्शा रहे हैं ? एकान्त मिथ्यात्व के ३६३ भेद किये गये। जिसमे अस्ति, नास्ति आदि सप्त भंग, जीवादि सप्त तत्व या नव पदार्थ, तथा लोक में प्रचलित आठ मुख्य धारणायें व मान्यतायें या वाद इन सव को यथा योग्य रूप मे परस्पर गुणा करके क्रिया वादी, अक्रिया वादी, अज्ञान वादी, इत्यादि से अनेको अंग वनाये गये। जिन सवं का जोड़ ३६३ होता है वे आठ वाद भी निम्न प्रकार है :—

१. स्वभाववाद, २. आत्मवाद, ३. ईश्वरवाद, ४. कालवाद, ५. सयोगवाद, ६ पुरुषार्थ-वाद, ७. नियतिवाद, ८. दैववाद।

यदि गौर से देखे तो इन ३६३ भेदों में एक नियतिवाद को ही मिथ्यात बताया हो ऐसा नही है बल्कि सप्त भग मे से एक दो आदि भगों की अथवा जब पदार्थो मे से जीव अजीवादि एक दो पदार्थों या तत्वो की और इन आठ वादों मे से स्वभाव आदि एक दो वादो की स्वीकृति को भी मिथ्यात्व बताया है। बताइये जैनागम का कौन सा तत्व ऐसा रह गया जिसकी स्वीकृति को यहाँ मिथ्यात्व नही बता दिया गया। यहां तो वस्तु के उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वभाव की स्वीकृति को भी मिथ्यात्व कहा है। तू यदि पुरुषार्थ के गान अलापता है तो उस पुरुषार्थ की स्वीकृति को भी वहाँ मिथ्यात्व कहा गया है। यदि निमित्तों को सिद्ध करना चाहता है तो उसकी स्वीकृति को भी वहा मिथ्यात्व कहा गया है। यहा तक कि आत्मा की स्वीकृति तक को मिथ्यात्व कहा है यदि वहां के उल्लेख के आधार पर ही नियति का निषेध कर रहा है तो अन्य सर्व बातो का भी निषेध क्यों नही कर देता। और यदि ऐसा करदे तो रह ही क्या जाये? क्या सर्व शून्य की स्वीकृति को सम्यकत्व कहेगा ?

नही भाई ऐसा नही है। वहा वास्तव मे नियति का निषेध नहो किया गया है, बल्कि सप्त तत्व, सप्त भग, स्वभाव, आत्मा, पुरुषार्थ, सयोग आदि की भान्ति ही नियति को भी स्वीकार करने के लिये कहा गया है। क्योकि सर्व कथन समाप्त कर लेने के पश्चात आचार्य भगवान एक गाथा कह रहे है जिसका तात्पर्य निम्न प्रकार है।

एकान्त मिथ्यात्व के यह ३६३ भेद कह दिये गये पर यह इतने ही नही है। एकान्त असंख्यात प्रकार का हो सकता है। वास्तव मे जितने वचन विकल्प है उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद है उतने ही एकान्त है। अन्य मत वादियो के वही वचन मिथ्या है क्योकि वह सर्वथा शब्द के साथ वर्तते है परन्तु जैन या अनेकान्त वादियो के वही वचन सम्यक् है क्योकि वह कथन्चित शब्द से चिन्हित है।

इस गाथा पर से स्पष्ट हो जाता है कि आपको यदि ३६३ मे से किसी एक भी बात का सर्वथा निषेध वर्त रहा है तो शेष ३६२ की स्वीकृति एकान्त कहलायेगी। किसी न किसी रूप से इन सर्व ही ३६३ बातो को तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेको बातो को जो वस्तु मे पड़ी दिखाई दे, स्वीकार करना ही वास्तव मे अनेकान्त रूप होने के कारण सम्यक्त्व है। बताइये नियति का निषेध कहां आया ? यहाँ तो कहा गया है कि यदि नियति का निषेध करोगे तो पुरुषार्थ के निषेध वत ही वह आपकी मान्यता मिथ्यात्व की कोटि मे चली जायेगी। पुरुषार्थ और संयोग के साथ नियति व दैव व काल को अवश्य स्वीकार करना पडेगा। तब ही आपकी मान्यता अनेकान्तात्मक कही जा सकती है।

तथा अन्य प्रकार से भी इस तत्व का समर्थन आगम से हो रहा है। आगम में इसकी स्वीकृति सर्वथा न आई हो ऐसा नही है। अल्प स्थलो पर आई है ऐसा अवश्य है। आगम में एक ही विषय की विधि व निषेध दोनो मिलते है। जो प्रकरण वश कहने मे आये हैं। विधि और निषेध सूचक गाथाओं का मिलान करे तो आश्चर्य होगा कि दोनो में अत्यन्त निकट शब्द साम्य है।

जैसे कि नियति का उपरोक्त एकान्त के प्रकरण मे लक्षण करते हुये जिन शब्दों में गाथा

गून्थी है, लगभग उन्ही शब्दो में उसकी स्वीकृति को सम्यक्त्व वताते हुये गून्थी है। एकान्त प्रकरण मे कहा है कि "जो, जहा, जव, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना होता है. वह वहाँ, तव, उसके द्वारा, उसी प्रकार से होती है। ऐसी मान्यता को नियतिवाद कहते है।" जो ऐसा माने सो मिथ्या दृष्टि ऐसे शब्द यहाँ नही है। सम्यक्त्व के प्रकरण में कहा है कि, "जो जहा, जव, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना होता है, वह वहा, तव, उसके द्वारा, उसी प्रकार से होता है। इसको वदलने को इन्द्र, नरेन्द्र व जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नही है ऐसा जो मानता है सो सम्यग्दृष्टि है और ऐसा जो नही मानता सो मिथ्या दृष्टि है।"

दोनो गाथाओ के शब्दो मे अत्यन्त निकट साम्य पड़ा है। इसके अतिरिक्त भी उसे मिथ्यात्व मे कहते समय यह नही कहा गया कि जो ऐसा माने सो मिथ्यादृष्टि जब कि सम्यक्त्व के प्रकरण मे इतने स्पष्ट शब्दो मे यह कह दिया गया कि जो ऐसा माने सो सम्यग्दृष्टि तथा जो ऐसा न माने सो मिथ्यादृष्टि।

इसी प्रकार दैववाद की व्याख्या करते हुये भी एकान्त के प्रकरण मे यह शब्द है कि "देखो दैव की महिमा कि अत्यन्त पराक्रमी राजा करण भी सग्राम मे मारा गया। इसलिये पुरुषार्थ को धिक्कार हो"। तथा उसी को सम्यक्त्व के प्रकरण में कहते हुये यह शब्द है कि "देखो दैव का माहात्म्य कि बृहस्पति जिसका मन्त्री था और देव जिसके सैनिक थे ऐसा महा पराक्रमी रावण भी युद्ध मे मारा गया। इसलिये पुरुषार्थ को धिक्कार हो"। दोनो गाथाओ का शब्द साम्य देखिये। परन्तु एक गाथा का प्रयोग हुआ है उसको मिथ्यात्व वताते हुये अर्थात निषेध करते हुए और दूसरी का प्रयोग हुआ है उसी को सम्यक्त्व बताते हुए।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना। अब बताइये आगम मे नियति का निषेध है या समर्थन। वास्तव मे जैनागम में सब ही विषयो का समर्थन है किसी का भी निषेध नही है स्याद्वाद किसी का निषेध करना जानता ही नही। वह सबका समर्थन करता है। इसलिये एक स्थल पर तो यह लिख दिया गया है कि लोक के सर्व दर्शनो को परस्पर मिला दे तो एक जैन दर्शन बन जायेगा। अनेकान्त की महिमा अपार है। अत भाई! अब हट छोड और अन्य समवायो के साथ साथ इस नियति को भी वस्तु व्यवस्था का एक प्रमुख अग स्वीकार कर।

दिनाक १ अप्रेल १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं० २०

८ नियति व निमित्त का समन्वय

वस्तु स्वतन्त्रता की वात चलती है। प्रत्येक वस्तु की कार्य व्यवस्था नियत है, इस विषय के अन्तर्गत छ. प्रश्नो के उत्तर दिये जा चुके। अब सातवा प्रश्न है कि यदि कार्य नियत है तो निमित्तों की क्या आवश्यकता। परन्तु भगवन! क्या वस्तु तुझ से पूछ कर अपनी कार्य व्यवस्था की स्थापना करेगी? निमित्तो की क्या आवश्यकता है ऐसा प्रश्न हो ही कैसे सकता है जब कार्य व्यवस्था मे निमित्त एक प्रमुख अग के रूप में देखने मे आते हैं। जहाँ कार्य होना नियत है वहां निमित्त भी तो होना नियत है।

लोक के पदार्थो मे कोई ऐसा तो विभाजन है नही, कि वहा कुछ पदार्थ तो निमित्त रूप पडे हो। और कुछ पदार्थ उपादान रूप पडे हो। प्रत्येक पदार्थ मे दो बाते देखी जाती है। अर्थात प्रत्येक पदार्थ उपादान भी है और निमित्त भी। एक एक आकाश के प्रदेश पर अनन्तानन्त द्रव्य ठसाठस भरे पडे हैं। एक रूप से अन्य रूप को धारण करते हुये तथा एक स्थान से अन्य स्थान को गमन करते हुये, अपने निकट मे पडे या स्थान परिवर्तन क्रम मे जा जाकर प्राप्त किये गये अन्य पदार्थो के साथ क्या इसका टकराव होना कोई रोक सकता है ? जहा दो बरतन होगे तो खडकेगे अवश्य ही। इसमे आवश्यकता व अनावश्यकता का क्या प्रश्न ?

जब जब अपने नियत समय पर पदार्थ कोई नियत काम या परिवर्तन अपने अन्दर अर्थात उपादान रूप से करता है तब तब उस उस कार्य से तन्मय हो जाने के कारण वह पदार्थ अपने निकटवर्ती अन्य पदार्थ की कार्य व्यवस्था मे या तो अनुकूल और या प्रतिकूल पडेगा ही। इसी को निमित्त बनना कहते हैं। यदि आप किसी भी पदार्थ को किसी ऐसे स्थान पर ले जा सके जहा उसके पास अन्य पदार्थ न हो, तब तो सम्भवत यह कहा जा सके कि निमित्त की क्या आवश्यकता। परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है। उपादान रूप से कार्य करते हुये अनेको अन्य पदार्थो का स्वाभाविक रूप से उसके पास किसी भी रूप मे पडे रहना होगा ही . अत वह यथा योग्य रूप मे उस मे से किसी को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल पडता हुआ निमित्त बनेगा ही। इस प्रकार जो द्रव्य अपने कार्य के लिये उपादान है वही उसी समय निकट वर्ती अन्य द्रव्य के कार्य के लिये निमित्त है। क्योकि उपादान रूप कार्य नियत सिद्ध कर दिया गया। इसलिये उसका उस ही निश्चित द्रव्य के साथ उसी कार्य के सम्बन्ध मे उसी समय निमित्त बनना भी स्वत निश्चित हो गया। इसलिये नियति के कारण निमित्त का अभाव नही किया जा सकता और न हो सकता है।

९ निमित्त व वस्तु स्वतन्त्रता में समन्वय

आठवा प्रश्न है कि निमित्त की स्वीकृति कर लेने पर वस्तु परतन्त्र हो जायेगी। सो भी नही है। क्योकि कही भी यह नही बताया गया है कि निमित्त जब चाहे जो कुछ भी कार्य किसी वस्तु मे जबरदस्ती कराने को समर्थ है। निमित्त होना अवश्य है पर जबरदस्ती वस्तु मे कुछ कर दे या करा दे ऐसी सामर्थ्य उसमे नही है। उदासीन निमित्त मे तो स्पष्टतया ही दीखती नही, परन्तु प्रेरक निमित्त मे भी वह शक्ति नही है। इस का विचार दो प्रकार से किया जा सकता है ?

स्वभाव की ओर से देखने पर तो उपादान रूप से अपने अन्दर कुछ परिवर्तन करता हुआ वह पदार्थ क्या अपना कोई अश उस दूसरी वस्तु को दे देता है ? अपनी अवस्था का कोई भाग क्या उसकी अवस्था को दे देता है ? अपनी शक्ति क्या उसमे डाल देता है ? यदि नही तो कैसे जबरदस्ती उसे कुछ करा सकता है ? वह अपने अन्दर ही ठहरा हुआ कुछ कार्य करता रहता है और दूसरा पदार्थ अपने अन्दर ही ठहरा हुआ कुछ कार्य या परिवर्तन करता रहता है। वह अपनी जाति का कार्य करता रहता है और वह दूसरा द्रव्य अपनी जाति का। इसी लिये दोनो के कार्य की व्यवस्था स्वतन्त्र ही रहती है।

यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी दृष्टान्त पर से। वास्तव मे भूल पडती है कार्य का निर्णय करने में। हम जब कार्य का ही निर्णय कर न पाये तो उसके पाँचो समवायों का निर्णय कैसे

कर पायेगे। हम जिस को लोक मे कार्य कहते है, सम्भवत वैसे कार्य की लोक मे कोई सत्ता ही न हो। यह तो वडी अनौखी वात कह दी गई। रात दिन काम करते है तथा होते हुये देखते है पर उसकी सत्ता न हो यह कैसे सम्भव है ? विना सत्ता के क्या हम आकाश पुष्प चुनने का ही कार्य नित्य किया करते है ?

हा भाई हा ! वात ऐसी ही है। याद कर कि कार्य का लक्षण क्या किया था। वस्तु के अन्दर होने वाला उसके रूप का अथवा स्थान का परिवर्तन। बस अब देख कि जिस जिस काम की कल्पना मै लोक मे किया करता हूँ वह वह काम किस किस द्रव्य के परिवर्तन स्वरूप है। उदाहरण के रूप में खेती का काम लीजिये। खेती वोना किस द्रव्य विशेष का परिवर्तन है। किसान मे होने वाले परिवर्तन को खेती वोना कहे या हल मे होने वाले परिवर्तन को। वास्तव मे खेती बोना एक द्रव्य का परिवर्तन ही नही है। अनेक द्रव्यो के परिवर्तनो के परस्पर अनुकूल पने की शृ खला को हमने खेती वोना कहा है। इसी लिये इसे साझे का काम कहा गया था। इसी प्रकार प्रत्येक काम जो भी हमारी कल्पना मे आता है वह किसी एक द्रव्य का काम न होकर अनेक द्रव्यो के कार्यो का एक सामूहिक रूप होता है। अर्थात निमित्त नैमितिक रूप से परस्पर मे गुन्थी अनेक कडियो की एक बडी शृ खला रूप ही वह कार्य होता है। जैसे किसान से लेकर वीज फूटने की कडी तक की एक शृ खला को ही हम खेती वोने का काम कहते है।

वह शृ खला किसी एक पदार्थ का कार्य नही कही जा सकती। ऐसे एक कार्य की सत्ता लोक मे है, यह कैसे कह सकते है ? एक पदार्थ के एक समय के परिवर्तन को ही एक कार्य कह सकते है। अनेक पदार्थो के अनेक समय के परिवर्तनो को मिला जुला कर एक काम का नाम देना भूल है। और इसी कारण हम यह निर्णय कर नही पाते कि वस्तु व्यवस्था स्वतन्त्र है कि परतन्त्र।

कार्य व्यवस्था का निर्णय हमे शृ खला पर से नही करना चाहिये, क्योकि शृ खला रूप कोई कार्य है ही नही। पृथक पृथक कड़ी पर से ही कार्य व्यवस्था का निर्णय होना सम्भव है। अव वह तो पहले खेती के दृष्टान्त मे कर दिया गया है (देखो विषय १२ प्रकरण न० ३) अर्थात प्रत्येक कडी अपनी अपनी सीमा मे रहती हुई ही कोई न कोई कार्य या परिवर्तन कर ही रही है। ऐसा कार्य करती हुई वह अगली अगली कडो को निमित्त रूप से स्पर्श अवश्य कर रही है पर अपनी कार्य सीमा को उलघन करके अन्य की कार्य सीमा मे प्रवेश करने को समर्थ नही है। जैसे कि किसान का चैतन्य विकल्प की सीमा को उल्घन करके शरीर की हिलन जुलन रूप क्रिया या परिवर्तन को भी स्वय अपनी कड़ी मे उत्पन्न कर सके, यह वात असम्भव है। इतनी शक्ति उसमे है ही नही। इस प्रकार देखने पर परस्पर मे निमित्त नैमित्तिक रूप से गु थी उसी शृ खला की प्रत्येक कडी मे पृथक पृथक कार्य की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है।

दूसरे प्रकार से, निमित्त की ओर से देखने पर भी क्या निमित्त ने आकर उस निकट-वर्ती अन्य द्रव्य मे जो कोई भी कार्य करा दिया है, या वही कार्य हो पाया है, जोकि होना निश्चित था। इस दिशा मे विचार करने के लिये पूर्व कथित वह वड़े मील वाला दृष्टान्त देखिये (देखो विषय १२ प्रकरण न० ६) एक गरारी स्वयं घूमती हुई अपने निकट-वर्ती दूसरी गरारी के घूमने के लिये प्रेरक निमित्त वनी हुई है, यह स्पष्ट है। पर क्या अपने अपने चकरो के प्रवाह क्रम मे घूमती हुई उन दोनो गरारियो का जो कोई भी

दाता किसी समय परस्पर सयोग को प्राप्त हो सकता है या कोई निश्चित दाँता ही सयोग को प्राप्त होगा। क्या उस प्रेरक गरारी मे इतनी शक्ति है कि उस अगली गरारी के उस न० ५ वाले दाते को तुरन्त आगे बुलाकर स्पर्श कर ले ? नही ऐसा होना असम्भव है। बिल्कुल किसान के विकल्पो वत किसी गरारी का वह वह दाता अपने अपने नम्बर पर ही यथा योग्य रूप मे सम्पर्क को प्राप्त हो सकेगा। उसमे फेर फार करने को वह गरारी तो क्या आप भी समर्थ नही है। बस इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने परिवर्तनो के प्रवाह क्रम मे चलते हुये यथा योग्य रूप मे अपने निकट-वर्ती अन्य पदार्थो के परिवर्तनो मे निमित्त होते हुये भी, उस उस पदार्थ की आगे पीछे के नम्बर पर प्रगट होने वाली नियत अवस्थाओ को, जबरदस्ती खेच कर अपनी मर्जी के अनुसार पहले पीछे करने मे असमर्थ है।

बताइये निमित्त नैमितिक सम्बन्ध होते हुए भी वस्तु परतन्त्र कैसे बनी ? यह सम्बन्ध होते हुए भी अर्थात बिना निमित्त के कार्य की सिद्धि न होते हुए भी, वस्तु स्वतन्त्र रीति से अपने अपने आश्रय पर, अपने अपने मे से, अपने अपने लिये, अपने अपने द्वारा स्वय उस उस समय, वह वह ही नियत अवस्था उत्पन्न कर रही है। और उससे पूर्व वाली का विनाश कर रही है ऐसी ही वस्तु की व्यवस्था है। इसमे हस्ताक्षेप कौन करे ? अत वस्तु पूर्ण स्वतन्त्र ही है।

दिनाक २ अप्रेल १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन न० २१

१० निमित्तों के सयोग की स्वतन्त्रता

आहा हा ! कितनी स्वतन्त्र है वस्तु व्यवस्था। जहा चैतन्य द्रव्य ही नही एक एक परमाणु स्वतन्त्र रीतय अपना अपना काम कर रहा है। ऐसे विश्व मे रहते हुए मुझे 'यह कर' 'वह कर' की कल्पनाओ के लिये अवकाश ही कहा है। अत ओ चेतन ! इस करा करी के चक्कर से अब विश्राम पा, और यदि कुछ करना ही है तो अपने अन्दर करने के प्रति झुककर कर। देख शान्ति रानी वर माला लिये तेरी प्रतीक्षा कर रही है।

यहा नवा प्रश्न होता है कि निमित्तो का यथा योग्य सयोग कराने वाला कौन है ? मेरे बिना स्वय निमित आकर प्राप्त कैसे हो सकते है ? मै जब चाहूँ जिस किस प्रकार भी निमित्त को मिला लूं या हटा दू। जैसे जैसे निमित्त को मै मिलाऊ वैसा वैसा ही कार्य मै कर लू गा। तभी तो रह सकेगी मेरी स्वतन्त्रता। नही तो मै नियति के आधीन होकर परतन्त्र हुए बिना कैसे रह सकू गा ?

प्रभो ! अन्य पदार्थो को अपने आधीन बनाने की तेरी धारणा अभी भी टूटी नही है। दूसरो की परतन्त्रता मे अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम अभी तक तुझे बना हुआ है। विचार तो सही कि यदि अन्य पदार्थो को निमित्त रूप से बुलाना या हटाना तेरे आधीन है तो तुझको भी निमित्त रूप से बुलाना या हटाना उन अन्य अन्य पदार्थो के आधीन क्यो न होगा। यदि तुझे यह अधिकार प्राप्त है तो विश्व के सभी द्रव्यो को क्यों इस अधिकार से वचित रखना चाहता है ? सभी तो विश्व के पदार्थ है। तेरे सहोदर भाई ही तो है। और यदि सबको यह अधिकार प्राप्त है तो तू ही बता कि कौन किसको बुला या हटा सकेगा। जहा सब स्वामी हो वहा दास कौन बने ? जिस समय तू किसी एक पदार्थ को

अपने कार्य का निमित्त बनाने के प्रति दौड़ेगा उसी समय वह दूर खड़ा तीसरा पदार्थ तुझे अपना निमित्त बनाने के प्रति दौड़ पडेगा । और एक सघर्ष और महान युद्ध खड़ा हो जायेगा । एक विप्लव मच जायेगा । क्या यह विश्व उस समय इस प्रकार व्यवस्थित रीति से टिका दिखाई दे सकेगा जैसे कि आज दिखाई दे रहा है ? सब गुत्थमगुत्था हो जायेगे प्रलय हो जायेगी । सर्व शून्य हो जायेगा। वस्तु व्यवस्था को तू न बिगाड सकेगा । अपनी कल्पना ही बिगाडनी होगी। वस्तु की स्वतन्त्रता मे हस्ताक्षेप तू न कर सकेगा, अपनी धारणा ही बदलनी होगी । जो पदार्थ जिस समय जिस पदार्थ को जिस कार्य विशेष के लिये निमित्त बनना नियत है वही बन सकेगा अन्य नही, ऐसा स्वाभाविक रीति से व्यवस्थित है । निम्न दृष्टान्त पर से इस रहस्य को पढ़ने का प्रयत्न करे ।

कल्पना कर एक रेल गाड़ी की, जिसमे छोटे वड़े अनेको पहिये लगे हैं । आज की रेलगाड़ी मे तो सर्व पहिये समान व्यास वाले हैं पर इस काल्पनिक रेलगाड़ी मे सर्व ही असमान व्यास वाले हैं अर्थात छोटे वड़े हैं । इन सर्व पहियो पर ऊपर वाली दिशा मे चाक से निशान लगा दीजिये । अब रेल को चला दीजिये । देखिये इन पहियो की ओर । यह गड़बड़ क्यो मच गई । एक ही दिशा मे लगाये गये निशान आगे पीछे कितने कर दिये ? आगे पीछे रहते हुए भी वह देखो इस पहिये का निशान ऊपर की दिशा मे आकर कभी तो उस नम्बर नौ वाले पहिये के निशान के साथ सम्मेल कर लेता है और कभी दूर पडे उस नम्बर पच्चीस वाले निशान के साथ । और गणित के आधार पर हम यह निकाल भी सकते है कि कौन पहिये का निशान किस समय कौन पहिये के निशान के साथ उसी ऊपर की दिशा मे आकर सम्मेल खा जायेगा । देखो उस इन्जन के ६ फुट व्यास वाले पहिये का वह निशान उसी ऊपर की दिशा मे आकर, इस २ फुट ११ इन्च व्यास वाले पहिये के निशान के सामने, उसी समय आ सकेगा जबकि वह स्वय ९ चक्कर कर लेगा और यह छोटा पहिया १८ चक्कर कर चुकेगा । अर्थात जब कि गाडी १६२ फुट आगे चली जायेगी । यदि गाड़ी की रफ्तार का पता हो तो समय भी निकाल सकते हैं कि किस समय ऐसा होना सम्भव होगा । बताइये क्या इस क्रम को फेर फार किया जाना सम्भव है ? और क्या इनका परस्पर मे समान दिशा को प्राप्त करना भी कोई रोक सकता है ? नही ! बस तो इस विश्व की चलती रेल मे लगे इन छोटे बडे अनन्तो पहियों की कोई एक अवस्था विशेष यथा योग्य रीति से परस्पर में न तो अनुकूलता या प्रतिकूलता धारण किये बिना रह सकती है और न ही इस सम्मेल के निश्चित समय मे फेर फार किया जा सकता है । ऐसी ही वस्तु की व्यवस्था है ।

अब इस कर्ता बुद्धि के अहंकार को छोड़ । जिस प्रकार तू उस रेल के पहिये को अपने अपने नम्बर पर सम्मेल खाते देख अवश्य सकता है, पर अपनी मर्जी के अनुसार जिस किसी का भी सम्मेल तू करा नही सकता । उसी प्रकार इस विश्व के अनन्तो पदार्थो को स्वत परस्पर निमित्त बनते व विछुडते तू देख अवश्य सकता है पर जिस किसी को भी निमित्त बना नही सकता । अतः स्वभाव ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कराने को पर्याप्त है । वहाँ तेरे हस्ताक्षेप की आवश्यकता नही और न ही तुझे ऐसा अधिकार है ।

११ नियति, निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय अब दसवां प्रश्न होता है कि यदि निमित्त स्वतः प्राप्त होकर कार्य कर देते है तो पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता ? प्रभो ! यह प्रश्न तेरी कौन सी दृष्टि से निकल रहा है । क्या उसी कर्तापने के अभिमान की दृष्टि से या वस्तु व्यवस्था के निर्णय की दृष्टि से ? यदि

पहली दृष्टि से निकल रहा है तो समझले कि तू वस्तुओं को हाथ से पकड कर अपनाने की व्यग्रता को अभी छोड नही पा रहा है। या तेरे कल्याण का नियत समय अभी नही आया है। तू इन बाह्य पदार्थों की पकड धकड की उधेड बुन से अभी निवृति पा नही सका है। और इसलिये अशान्ति का ही पुरुषार्थ तुझे अभी करना है। इस क्रम मे तुझे इच्छाओ की दाह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों की निमित्तता ही प्राप्त हो सकेगी। क्योकि तेरा पुरुषार्थ इस समय उसी ओर झुका जा रहा है। अत स्वत एव प्राप्त और निमित्त रूप पदार्थों की चमक से अन्धा हुआ तू अपने हित को भूल कर आज अशान्ति का पुरुषार्थ कर रहा है। यह तेरी नियति है। इसको गुरु क्या करे। क्योकि इसमे फेर फार करने को समर्थ नही है। इस प्रकार निमित्त, पुरुषार्थ व नियति का सम्मेल अशान्ति की दिशा मे हो गया।

अब यदि तेरा प्रश्न वस्तु व्यवस्था के निर्णय की दृष्टि से निकल रहा है, तब तो स्वतन्त्र वस्तु व्यवस्था को समझ कर तुझे अब ज्ञाता दृष्टा वनना ही योग्य है। निमित्तों के मिलाने व बिछोडने की शक्ति से शून्य तुझे अब इस करने धरने की व्यग्रता से विश्राम पाना ही योग्य है। और ऐसी दृष्टि वन जाने पर तू ज्ञाता दृष्टा मात्र बने रहने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है? मार्ग मे यदि स्वत. ही अपने अपने प्रवाह क्रम के अनुसार करने धरने के विकल्प आयेगे भी तो क्या उनको उपरोक्त दृष्टि से दबाने का प्रयत्न न करेगा या अल्प स्थिति मे राग व विकल्पो वश लौकिक कार्य करते रहते भी क्या पग पग पर तू अपते को धिक्कारता न रहेगा। अब स्वतन्त्र वस्तु व्यवस्था का निर्णय हुआ है तो निश्चय से स्वत ऐसा ही करेगा। तेरी अन्तर प्रेरणा व दृष्टि तुझे ऐसा ही करने को बाध्य करेगी।

दृष्टि मे से अर्थात विश्वास मे से तो कर्ता बुद्धि पहले ही निकल गई, धीरे धीरे उपरोक्त पुरुषार्थ के फल स्वरूप प्रवृति मे भी वह क्रम से कम होती चली जायेगी। अर्थात विरक्तता आती चली जायेगी। प्रति क्षण ही ज्ञाता दृष्टा बने रहने का प्रयास करेगा। बस यही तो इष्ट है या कुछ और? यही तो शान्ति मार्ग का पुरुषार्थ है। तू जिसे आज पुरुषार्थ समझ रहा है अर्थात बाहर के पदार्थों को मिलाने व दूर करने की व्यग्रता, वह तो शान्ति मार्ग मे पुरुषार्थ नही कहा जाता। शान्ति के विपरीत पडने के कारण वहा तो वह अपुरुषार्थ की कोटि मे गिना जाता है। ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना ही शान्ति का पुरुषार्थ है।

अत वस्तु स्वतन्त्रता के निर्णय रूप यह दृष्टि ही शान्ति मार्ग का प्राण है। कर्ता बुद्धि का विनाशक है। कहने से कर्ता बुद्धि दूर नही होती, ऐसी वस्तु व्यवस्था का निर्णय करने से होती है। सब की ऐसी दृष्टि हो जाये सो भी सम्भव नही है। जिस की काल लब्धि जागृत होती है उसी की बन पाती है। तेरी ऐसी दृष्टि बनी है तो समझले कि अपने क्रम पर स्वत ही इन गुरुओ का तथा ऐसे उपदेश का निमित्त वर्तमान मे तुझे प्राप्त हो रहा है। इस प्राप्त दृष्टि के कारण ज्ञाता दृष्टा बनने की प्रेरणा रूप पुरुषार्थ भी जागृत हो चुका है। और क्या चाहिये? इस पुरुषार्थ के कारण शान्ति मार्ग पर अग्रसर तुझ को वीतरागी जनो की सगति ही भायेगी। इसलिये भविष्य मे भी तुझ को गुरु जन या उनकी वाणी का ही निमित्त होगा। ऐसा नियत है। बस हो गया नियति, निमित्त व पुरुषार्थ का सम्मेल।

निमित्त का होना भी बाधित न होगा, पुरुषार्थ भी बाधित न होगा और नियति भी

बाधित न होगी, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार पाचों समवाय युगपत वस्तु में पाये जाते है।

[illegible] अब ग्यारहवा प्रश्न है कि अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार नियति मे अनियति कैसे घटित होती है? तो इसका उत्तर भी बहुत सरल है जो नं० १ वाले प्रश्न के उत्तर मे आ चुका है। अर्थात पुरुषार्थ के प्रति अग्रसर होने वाला प्राणी उस समय यह नही सोचा करता कि क्या नियत है। अथवा पहले अपनी नियति व भवितव्य को जानू गा तब कार्य करू गा। ऐसा कोई भी प्राणी जीवन प्रवाह मे करता हुआ देखा नही जाता। जिस समय बाहर मे कुछ करने का प्रयास होता है उस समय ऐसी विचारना नही हुआ करती। तथा जिस समय इस नियति सम्बन्धी तत्त्व की विचारना का भी प्रयास या पुरुषार्थ होता है तब भी यह सोच कर नही हुआ करता कि अब ऐसी विचारना का समय आ गया है, इस लिये अब मुझे ऐसी विचारना तो करनी चाहिये।

पुरुषार्थ अच्छा होता है। वह हो जाया करता है। हम तुच्छ ज्ञानियो की तो बात नही अवधि व मन पर्यय ज्ञानी भी कोई उद्यम करने से पहले यह विचारते हो कि अब क्या करने का समय आया है, ऐसा नही है। इसलिये पुरुषार्थ करते समय "क्या होना नियत है" ऐसे ज्ञान से शून्य उस व्यक्ति के लिये जो कुछ वह प्राप्त करने जा रहा है-वह अनियत है। विचारना आने पर वही प्राप्ति या पुरुषार्थ उसे नियत भासने लगता है। बस यही है नियति व अनियति का सम्मेल। विश्वास या दृष्टि मे नियति रहती है और प्रवृत्ति मे अनियति।

अभी तो यहां केवल पांच बाते ही कही हैं। परन्तु यहां वस्तु स्वरूप में तो न जाने ऐसी ऐसी कितनी बाते पडी है। पाच ही बातो मे वस्तु इतनी जटिल दीखने लगी, यदि और बातो को भी इसमे मिला दे तो कितनी जटिल वन जायेगी ? अनुमान कीजिये। परन्तु सब बातो को युगपत देखू तो वस्तु की जटिलता स्पष्ट दृष्टि मे आ जाये। कथन क्रम के अनुसार पृथक पृथक करके उन ही बातो को आगे पीछे देखे तो, उनके साथ ही रहने वाली अगली व पिछली बातो को उस समय विचारणाओ मे अवकाश न मिलने के कारण, शकाये उपजने लगती है। अब शान्त हो। कहा या सुना नही जा सकता, परन्तु देखा सम्पूर्ण जा सकता है। अब इधर से दृष्टि हटा कर वस्तु मे प्रवेश पाने का प्रयत्न कर।

V आस्रव बन्ध

१५

—: आस्रव सामान्य :—

दिनाक १५ जुलाई १६५६

प्रवचन न० २२

१—आस्रव का अर्थ अपराध, २—कार्माण शरीर व उसकी नि सारता।

१ आस्रव का अर्थ अपराध

अहो! अपराधो से अतीत वीतरागी गुरुओ, आपका उपकार, करुणा व नि स्वार्थता। निपट अन्धे को आखे प्रदान करके इसे अपराधो के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने वाले हे गुरुजनो! "इसके अपराधो को अब शान्त करो। शान्ति पथ के पथिक को स्व पर भेद कर चुकने के पश्चात, अब यह बात चलती है कि वह कौन सा ऐसा अपराध है जिसका कि दण्ड उसे इस व्याकुलता के रूप मे मिल रहा है। गुरु देव के द्वारा प्रदान की गई दिव्य चक्षु से आज मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि वास्तव मे मेरा सारा जीवन ही अपराध-मय है। चौबीस घण्टो मे और करता ही क्या हूँ-अपराध के अतिरिक्त? यहा अपराध से तात्पर्य लौकिक अपराध न ले लेना, जिससे कि राज्य दण्ड उठाने पडे। वल्कि वह पारमार्थिक अपराध लेना, जिसके कारण कि यह व्याकुलता का दण्ड उठाना पडे। कौन देने वाला है वह दण्ड? कोई दूसरा नही, मै स्वय ही हूँ। क्योकि जो अपराध मै करता हूँ वह स्वय व्याकुलता रूप ही है। इसी अपराध को आगम कारो ने आस्रव नाम से कहा है।

२ कार्माण शरीर व उसकी नि सारता

आस्रव अर्थात आ+स्रव। 'आ' का अर्थ चारो ओर से और 'स्रव' का अर्थ स्रवना, रिसना या धीरे धीरे प्रवेश करना, अर्थात जो धीरे धीरे प्रवेश कर रहे है। उन्हे आस्रव कहते है। दो वस्तुये है, जो इस प्रकार प्रवेश कर रही है। एक तो मेरा अपना चैतन्यात्मक अपराध और दूसरा वही जड पर-पदार्थ, जो इसके कारण से कुछ एक विशेप निमित्त वनने की शक्ति को लेकर आता है। इसे कर्म कहते है। मेरा अपराध मेरे जीवन मे प्रवेश पाता है और कर्म शरीर मे। मेरे अपराध से आगे वताये जाने वाले मेरे सस्कारो का निर्माण होता है, और इन कर्मो से एक सूक्ष्म शरीर का, जिसे कार्माण शरीर कहते है। अन्यत्र इसे लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर यद्यपि सूक्ष्म है परन्तु वास्तव मे यह ही मूल शरीर है, क्योकि जिस प्रकार अनादि काल से मेरे सस्कार मेरे साथ चले आ रहे हैं, और आगे भी चलते रहेगे, उसी प्रकार यह भी बराबर साथ चलता आ रहा है और आगे भी बना रहेगा। ऊपर दीखने वाला चमडे का शरीर तो वहुत स्थूल है। इसका निर्माण उसी सूक्ष्म शरीर से होता है। वह न होता तो अमूर्तीक जीव का मूर्तीक शरीर कभी न हो सकता। जीव व इस शरीर के बीच वह गोद का काम करता है। यह स्थूल शरीर तो मृत्यु के समय अपना त्याग पत्र दे देता है, पर वह कभी त्याग पत्र

नही देता। जैसे जैसे सस्कारो मे कुछ परिवर्तन आता जाता है तैसे तैसे उसमे भी परिवर्तन अवश्य आता जाता है। यह ऊपर का शरीर तो दृष्ट है पर वह अन्दर का सूक्ष्म शरीर योगी जनो के अतिरिक्त किसी को किसी यन्त्र के द्वारा भी दिखाई नही देता।

यहा इतना कहने योग्य है कि वास्तव मे वही शरीर मेरा बन्दीगृह है, यह शरीर नही। यदि ऐसा नही होता तो इस शरीर को आत्म हत्या के द्वारा त्याग कर सम्भवत मै इसकी बन्दी से निकल भागता। और इस प्रकार इसका अभाव हो जाने पर इस सम्बन्धी इच्छाये मुझे प्रगट न हो सकती। मै शान्त हो जाता। परन्तु दुर्भाग्य वश ऐसा नही है। इसका विच्छेद हो जाने पर उसका विच्छेद नही होता, और वह पुन नये शरीर का निर्माण कर देता है। अत शान्ति का उपाय इसका विच्छेद करना नही है, बल्कि कुछ और है।

यदि उस सूक्ष्म शरीर का किसी प्रकार विच्छेद कर दिया जाये तो सहायक के अभाव मे यह शरीर भी टिका नही रह सकता, और त्याग पत्र देकर स्वय चला जाता है। पर यह त्याग पत्र सदा के लिये होता है। प्रति दिन वाली यह मृत्यु वास्तविक नही है। तब इसकी मृत्यु वास्तविक होती है? यह फिर मुझको बन्दी नही बना सकता। परन्तु उस सूक्ष्म शरीर का विच्छेद कैसे किया जाये, सो विचारनीय है। सूक्ष्म व अदृष्ट होने के कारण तथा दूध पानी वत मेरे साथ मिल कर पडा होने के कारण, किसी यन्त्र के द्वारा उसका विनाश किया जाना असम्भव है। अग्नि के द्वारा भी उसे भस्म नही किया जा सकता। वास्तव मे उसका विच्छेद करना मेरे बस की बात नही। जिसे मै छू व देख तक नही सकता, उसके विच्छेद करने का स्वप्न देखना भ्रम है। हॉ मै उस अपराध का विच्छेद अवश्य कर सकता हू जिसके कारण से, कि इसका प्रवेश हो रहा है।

अपराध को करने वाला स्वय मै हूँ। वह अपराध तत्क्षण व्याकुलता के रूप मे मेरे अनुभव मे आ रहा है। मै उससे भली भाति परिचित हू। उसे करने का व न करने का मुझे पूरा अधिकार है। यदि मै स्वय अपराध न करू तो कोई शक्ति जबरदस्ती मुझे अपराध करने के लिये वाध्य नही कर सकती। इन उपरोक्त कर्मो का दास बना आज का जगत अपने को उस सूक्ष्म शरीर के आधीन मानता है। "मुझको तो अपराध वह करा रहा है, जब तक वह रास्ता न देगा, मै क्या कर सकता हूँ? उसका उदय होगा तो मुझे अपराध करना ही पडेगा। मै क्या करू? मै स्वय तो अपराध करना चाहता नही। पर यह मेरा पीछा छोडते नही। गुरुदेव दया करके इनसे मेरा पीछा छुडा दे तो मै अपराधी कभी न बनूं।" और इस प्रकार अपना दोष दूसरो के गले मढता है। स्वय को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अपने अपराध को स्वीकार करने तक का साहस जिसमे नही है वह बेचारा पामर व्यक्ति कभी यह नही विचारता कि क्या इस प्रकार तुझे शान्ति मिलनी सम्भव है? यह शरीर तो सदा मे है और रहता रहेगा। तुझे अपराध कराता रहेगा। स्वभावत ही उस तेरे अपराध से उसमे और वृद्धि होती रहेगी। इस प्रकार न कभी उसका विनाश होगा न तेरे अपराध का। तू सदा बन्दी बना, खाना ही रहेगा ठोकरे, इस व्याकुलता मय जगत की। प्रभो! अब विपरीत बुद्धि को छोड। तुझे आज प्रकाश मिल रहा है। कुछ देख। अपने अपराध को स्वीकार कर और इसे तोडने का प्रयत्न कर। इस पर तेरा वश चल सकता है। उस बेचारे जड शरीर को अपने अपराध के कारण क्यो कोसना है।

प्रकाश को पीटने से प्रकाश का अभाव नही हो जाता। दीपक बुझाने से ही होगा। गोली

को उठा कर झेलने से तो गोली लगने का भय नही जाता, उसके लिये तो व्याध (शिकारी) पर आघात करना होगा। सिंह सदा ऐसा ही करता है पर श्वान उससे उल्टा। वह व्याध पर न झपट कर गोली पर झपटता है। मारने वाले पर न झपट कर लाठी पर झपटता है। भला विचारो तो, लाठी बेचारी का क्या दोष ? व्यक्ति उठा कर लाया तो वह आई। उसे घुमाया तो घूम गई। उसी प्रकार इस बेचारे जड शरीर का क्या दोष ? तूने अपराध करके उसे बुलाया तो आकर बैठ गया। अपराध करने मे ही रस मान मान कर तू उसे घुमाता है तो घूम जाता है अर्थात उदय मे आ जाता है। वह बेचारा तो तेरा दास है। जैसी तुझसे आज्ञा पाता है वैसा करता है। वेतन न दे तो स्वय भाग जायेगा। नया नया अपराध करके आनन्द मानना ही उसको वेतन देना है। प्रभु जाग ! देख तू सिह की सन्तान है श्वान की नही। लाठी को मत पकड। उस बेचारे को मत कोस। भूल पर आघात कर। अपने अपराध को देख, उसको स्वीकार कर।

भगवन ! तू स्वतत्र है। स्व पर भेद विज्ञान किया है, फिर भी अपने को इस बेचारे जड कार्माण शरीर के आधीन क्यो मानता है ? "जो यह करायेगा वही तुझे करना पडेगा।" अर्थात तुझ मे अपना तो कुछ बल है ही नही। कोई कह रहा है कि ईश्वर जैसा करायेगा वैसा करना पडेगा और तू कह रहा है कर्म जैसा करायेगा वैसा करना पडेगा। बात तो एक ही रही। केवल नाम भेद रहा। उनका ईश्वर आकाश मे बैठा कोई काल्पनिक व्यक्ति है और तेरा ईश्वर कर्म। अनादि से परतत्र दृष्टि बनी रही। व्याकुलता का निशाना बनता रहा। आज सौभाग्य से गुरुदेव का उपदेश प्राप्त हुआ है। यहा भी पुरानी टेव न छोडी ? उसी परतत्रता का पोषण किया ? कुत्ते की दुम को बारह वर्ष नलकी मे रखा पर टेढी ही निकली। अपनी स्वतत्र शक्ति को अब तक न पहिचाना। गुरुदेव के बताने पर भी विश्वास नही करता। कैसे होगा कल्याण ?

क्या कहा ? गुरुदेव पर व उनकी वाणी पर पूरा विश्वास है ? पर बात तो वास्तव मे ठीक नही जचती। केवल कहने मात्र का विश्वास हो तो हो, पर सच्चा विश्वास तो नही है। वह विश्वास जिसका प्रतिबिम्ब जीवन मे दिखाई दे। जीवन मे तो अविश्वास ही दिखाई दे रहा है। "आपकी बात स्वीकार है, पर करूगा तो वही जो करना है" कुछ ऐसी बात है। बता कैसे कहे, कि विश्वास है। क्या भेद विज्ञान इसी का नाम है कि "शरीर जुदा मै जुदा" इतना कहा और हो गया ? यदि पूर्व कथित रूप से गुरुदेव के समझाने पर उसमे और अपने मे पट कारकी भेद का निश्चय किया है, तो बता तू कैसे कह सकता है कि कर्म तेरा काम कर सकेगे ? भाई ! अपना अपराध करने वाला तू स्वय है। स्वतत्र रह कर करता है। अपने द्वारा करता है। कर्म बेचारे का क्या दोष ?

यदि तेरे निकट पडा भी है तो पडा रहने दे। क्या मागता है तेरा ? वह अपना काम करता रहे और तू अपना। वह तुझे काम करने से तो रोकता नही। जिधर चाहे जा। जिस प्रकार चाहे विचार कर। चाहे तो इन अपराधो मे रस ले चाहे तो न ले। यह बेचारे जड तुझे क्या कहते है ? अब गुरुदेव की शरण मे आया है। स्व पर पदार्थों का स्वरूप निश्चय किया है। बस पर को पर समझ। इस पर मे लक्ष्य हटा। स्व पर लक्ष्य कर। गुण या दोष जो कुछ भी देखता है स्व मे देख। स्व मे ही पुरुषार्थ कर। तभी कल्याण सम्भव है। कर्मो से भिक्षा माग कर भिखारी बना हुआ क्यो अपने कुल को कलक लगाता है ? आ तुझे समझाय, वह तेरा अपराध क्या है ? जो क्षण क्षण प्रति बराबर तेरे जीवन मे प्रवेश कर रहा है।

— ० —

१६

—: अशुभ आस्रव :—

दिनाक २३ जुलाई १९५९

प्रवचन न० २३

१—क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध, २—पचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी राग द्वेष, ३—रागद्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता।

१ क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध

शान्ति के घातक व व्याकुलता के कारण आस्रव का कथन चलता है। जड आस्रव अर्थात कर्मास्रव की बात हो चुकी। अब मुख्य आस्रव की बात चलेगी जो प्रत्यक्ष रूप से शान्ति का घातक ही नही बल्कि स्वय व्याकुलता स्वरूप है। जो अपने अनुभव मे आता है। जो स्वय मेरा ही कुछ कोई दुष्कृत है। जिसको स्वतन्त्र रूप से मैं कर रहा हू और इसलिये यदि चाहूँ तो स्वतन्त्र रूप से रोक भी सकता हूँ। वह आस्रव भी यद्यपि कर्म कहलाता है पर यह जड़ात्मक नही हैं, चेतनात्मक है। मेरी ही कोई अवस्था विशेष है। क्योकि व्याकुलता स्वरूप है इसलिए शान्ति के प्रति कर्तव्य नही है। अपराध है। यह अपराध भी दो प्रकार का है। शुभ और अशुभ। पहले अशुभ की बात चलेगी।

आस्रव जो सर्व ओर से प्रतिक्षण मुझ मे प्रवेश पा रहा है, अर्थात् वह अपराध जो प्रति क्षण मै किये जा रहा हूं, इस बात से बिल्कुल बे खबर, कि इससे मुझे शान्ति मिलेगी कि अशान्ति। जैसा कि साक्षात् अनुभव मे आ रहा है। मै प्रति समय कोई न कोई नई नई क्रियाए मन से, वचन से काय से किया करता हूँ। यदि विचार करके देखू तो उन सब क्रियाओ का मूल अन्तर मे उठने वाले वह विकल्प है जो इन्द्रिय भोगो से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते है। तथा उन भोगो के प्रति शृंखलाबद्ध इच्छाओ मे से उत्पन्न होते है। मन मे उठे हुये यह विकल्प ही इस शरीर को तथा जिह्वा को प्रेरित करके कोई न कोई शारीरिक व वाचिक क्रिया करने पर बाध्य करते है। यदि मन मे यह विकल्प न आये तो शरीर व वचन से वैसी क्रियाये न हो। मन-वचन-काय की यह सब क्रियाये इच्छाओं के आधीन तथा परम्परा इच्छा की उत्तेजक होने के कारण शान्ति की घातक है, तथा स्वय व्याकुलता रूप है। अत शान्ति-पथ-गामी मेरे लिये ये सब अपराध स्वरूप हैं। इन ही का नाम आस्रव है।

२ पचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी राग द्वेष

शरीर की चमड़ी को सुन्दर देखकर, या इसे हृष्ट पुष्ट देखकर, या इसे सुन्दर वस्त्रालकार से कुछ सजा हुआ देखकर, इसको चिकना चुपडा देखकर न मालूम क्यो मुझे एक प्रकार का आनन्द सा होता है। रसीले व मिष्ट पदार्थो को खाते, सुगन्धित व स्वादिष्ट व्यञ्जन पदार्थों का भक्षण करते हुये न मालूम क्यो मुझे एक प्रकार का आनन्द सा आता है। अकस्मात् ही किसी पुष्प की या किसी मिष्टान् की या इतर तेल आदि की सुगन्धि नाक मे पडते ही न मालूम क्यो मै उस ओर कुछ खिचा

खिचा सा अनुभव करने लगता हूँ। वाजार मे कोई सुन्दर चीज़ या मूर्ति देखकर, या हलवाई की दुकान मे सजी हुई मिठाई देखकर, कोई सुन्दर रेडियो, ग्रामोफोन आदि देखकर, सिनेमा के चलचित्र पर कुछ चलते फिरते चित्र देखकर, या थियेटर सर्कस के कुछ सीन देखकर, या नृत्य देखकर, या किसी सुन्दर स्त्री का मुख देखकर, या अपने किसी परम मित्र को देखकर, न मालूम अपने मन मे कहाँ से उथल पुथल मचाता यह एक आकर्षण सा आ घुसता है कि किसी प्रकार मै यह पदार्थ प्राप्त कर पाऊ तो कितना अच्छा हो ? कही से आती हुई मीठे राग की ध्वनि व मेरी प्रशसा के शब्द न मालूम क्यो मेरे कान खडे कर देती है, और मुझे सब काम छोडकर अपनी ओर ही ध्यान देने व कुछ अभिमान करने को वाध्य कर देती है ? तथा अन्य भी अनेको प्रकार के यह पाच इन्द्रियो सम्वन्धी विषय मुझे अपनी ओर आकर्षक करते ही है उनमे मुझे कुछ आनन्द सा भासता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से ही अन्तरग मे कुछ मिठास सा वर्तता है। विषयो के प्रति इस प्रकार के आकर्षण का नाम राग है। और इस जाति के यह विषय इप्ट कहे जाते है।

अधिक गर्मी या धूप मे चलते हुये या सर्दी मे काम करते हुये, या मैले व खुरदरे वस्त्र शरीर पर धारण करते हुये, शरीर पर मैल जमी जानते हुये, इस पर किसी प्रकार चोट आदि खाते हुये अथवा इस पर मच्छर आदि के काटने पर न मालूम क्यो कुछ पीडा सी, कुछ हटाव सा, कुछ बुरा सा प्रतीत होने लगता है ? कोई भी कडवा या कसैला या रूखा पदार्थ खाते हुये, या स्वत ही मुह मे से या किसी कुष्टी के शरीर मे से या कही अन्यत्र से किसी प्रकार की दुर्गन्धि नाक मे आ जाने पर न जाने क्यो मुह फेरने को या शीघ्र से शीघ्र वहा से चले जाने को जी चाहता है ? किसी कुरूप से कुष्टी को देखकर, या किसी भी मैले कुचैले व्यक्ति को देखकर, या विष्टा को देखकर, अपने किसी शत्रु को देखकर अथवा किसी रोगी को देखकर न जाने कहा से कुछ घृणा सी, कुछ भय सा उत्पन्न होने लग जाता है ? गाली का या व्यग का कोई वचन सुनकर या अपनी निन्दा का वचन सुन कर, या वैसे ही कोई कर्कस सा शब्द सुनकर न जाने क्यो कुछ बुरा सा लगने लगता है ? क्यो क्रोध सा आने लगता है ? तथा अन्य भी अनेको प्रकार के यह पाच इन्द्रियो सम्बन्धी विषय मुझ मे कुछ अदेख सका सा, कुछ हटाव का सा, कुछ क्रोध सा, कुछ बुरा सा भाव उत्पन्न कर देते है। उनमे कुछ मुझे हटाव सा वर्तता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से अन्तरग मे कुछ हलचल सी मच जाती है। विषयो के प्रति इस प्रकार के अदेख सके से भाव का नाम द्वेष कहलाता है। और इस जाति के यह विषय अनिष्ट विषय कहे जाते है।

इप्ट विषयो की प्राप्ति मे राग तथा उनकी अप्राप्ति या विनाश मे द्वेष होता है। और इसके विपरीत अनिष्ट विषयो की प्राप्ति मे द्वेष तथा अप्राप्ति व विनाश मे राग वर्तता है। वस यह राग द्वेष ही मुझे प्रति क्षण मन द्वारा इनकी यथा योग्य प्राप्ति व अप्राप्ति सम्वन्धी कल्पनाये करने के लिये, उपाय सोचने को वाध्य करते है। वचन द्वारा किसी को प्रेम पूर्ण वाक्य कहने पर और किसी को गाली आदि देने के लिये मजवूर करते हैं। और शरीर द्वारा इधर उधर दौड, इधर आ उधर जा, ऊपर चढ़ नीचे उतर, हाथ उठा हाथ घुमा, झुकने या सीधे खडे रहने, बैठने या लेटने आदि रूप कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। उन उन विषयो की प्राप्ति हो जाने पर ही यह कार्य होते हो तो भी खैर थी, परन्तु उनकी निकट सम्भावना न होने पर भी शेख चिल्ली की भाति यह क्रियाये वरावर चला करती है।

कोई एक ही क्रिया बहुत देर तक चलती रहती हो, सो भी नही। प्रति क्षण बदलती रहती है। अगले अगले क्षणो मे पहले पहले से अपूर्व ही कोई नई क्रिया हुआ करती है।

३ राग द्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता

प्रभो ! सोचा है कभी इस सम्बन्ध मे कि यह क्या है ? यही तो है वह अपराध जिसे विकल्प नाम से कहा जाता है। आगे आगे के प्रकरणो मे आने वाले "इन्द्रिय विषय" "रागद्वेष" व "विकल्प" इन शब्दो का यही तो तात्पर्य है। क्या इन क्रियाओ को करते हुये प्रति क्षण व्याकुलता सी नही भासती है ? बराबर होती रहने वाली इन क्रियाओ से तू कुछ थका थका सा नही महसूस करता है। साक्षात् व्याकुलता रूप इन क्रियाओ मे फिर भी तू बडी लग्न से प्रवृति करता है, महान आश्चर्य है। वास्तव मे तूने आज तक विचार कर देखा ही नही कि यह क्रियाये सुख रूप है कि दु ख रूप। विचारता भी कैसे ? उन दो महा सुभट राग द्वेप की असीम इच्छा रूप सेना से कौन भयभीत नही हो जाता ? उन इच्छाओ से सतप्त ही तू आज तक बिना बिचारे, किये जा रहा है-यह कार्य। प्रति क्षण नया नया अपराध। यदि एक क्षण को भी इधर ध्यान दे तो सदा के लिये इससे मुक्ति मिल जाये इन विकल्पो से छुट्टी मिल जाये। फिर यह कार्य करने की आवश्यकता ही न पडे। इसलिये वास्तव मे इच्छाये करना ही वह अपराध है, आस्रव है, जिसके प्रति कि सकेत करना अभीष्ट है।

स्व पर मे भेद न होने या झूठा भेद होने के कारण ही इन पूर्व कथित पदार्थो का आश्रय वर्तता है, जिन की महिमा से अपरिचित रहने के कारण ही इन शारीरिक या भोग सामग्री आदिक पर-पदार्थो की महिमा तेरी दृष्टी मे आती है। यदि यह समझ लेता कि इन पदार्थो से तेरा कोई कार्य सिद्ध होने वाला नही है, क्योकि यह पर पदार्थ है, षट् कारकी रूप से स्वतन्त्र, तो इन क्रियाओ को अवकाश न रहता। यदि यह समझ लेता कि यह षट् कारकी रूप से स्वतत्र पर पदार्थ तेरे आधीन नही है, तो इनकी प्राप्ति व विनाश की इच्छाये तुझे जागृत न होती। यदि यह समझ लेता कि यह षट् कारकी रूप से स्वय अपना सर्व कार्य करने को समर्थ है, तो अन्य की सहायता की आवश्यकता न पड़ती। यदि यह समझ लेता कि षट् कारकी रूप से स्वतत्र तू स्वय शान्ति का भण्डार है तो इन वस्तुओ मे अपनी शान्ति की खोज करने की भूल कभी न करता। यदि यह समझ लेता कि षट् कारकी रूप से स्वतन्त्र तू इनके आधीन नही है तो कदापि इनका आश्रय लेने का प्रयत्न न करता। स्वतन्त्र रूप से, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने मे से, अपने ही स्वभाव के आधार पर प्रयत्न करता-शान्ति प्राप्ति के लिये, और शीघ्र ही सफल हो जाता। विकल्प मिट जाते। सर्व इच्छाओ का लोप हो जाता। और यह सुभट राग द्वेष अपना रास्ता नापते दिखाई देते।

भाई ! जरा तो बुद्धि से काम ले। इच्छाओ की ज्वाला मे घी डालने वाली यह तेरी मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियाये तेरे लिये हितकारी है 'कि अहितकारी ? सुख रूप है' कि दु.ख रूप ? इच्छाओ का दास बन कर अपनी प्रभुता को भूल गया ? इस धूल की महिमा गिनता है ? इसमे आकर्षित होता है ? अपनी शान्ति की बराबर अवहेलना किये जा रहा है ? अपमान किये जा रहा है ? भोगो का रूप धारण किये इन इच्छाओ रूपी वेश्याओ को घर मे वास दिये जा रहा है ? पर धन्य है वह पति भक्त शान्ति रानी, जो अनादि काल से अपमानित होते हुये भी आज तक तेरे घर मे बैठी है ? अब भी उसकी ओर देख। सुन ! कितनी मधुरता से वह तुझे अपनी ओर बुला रही है ? "स्वामिन् ! आइये !

एक बार, केवल एक बार मेरे मुख पर दृष्टि डाल लीजिये। फिर भले चले जाना उधर ही। मैं आपको रोकूंगी नहीं। इतना ही खेद है कि जब से आये हो एक बार भी तो आँखें उठा कर मेरी ओर नहीं देखा।" भाई! ठीक तो कहती है, एक बार देखने में क्या हर्ज है? नहीं अच्छी लगेगी तो छोड़ देना।

निर्विकल्प इस शान्ति के दर्शन करे तो, विकल्पात्मक इन मन-वचन-काय सम्बन्धी क्रिया को अपराध स्वीकार किये बिना न रहे। और तेरा जीवन ही बदल जाये। जो अब इच्छाओं की ज्वाला में स्वाहा होने जा रहा है, वही फिर शान्ति सुधा के निर्मल सरोवर में स्नान करने लगे।

१७

—: शुभ आस्रव निषेध :—

दिनाक १७ जुलाई १९५९

प्रवचन न० २४

१—पुण्य अपराध, २—पुण्य पाप में समानता, ३—पुण्य प्रकृति मे इच्छाओ का बल, ४—पाच कोटि की शुभ इच्छायें, ५—कर्म धारा व ज्ञान धारा, ६—पुण्य का निषेध, ७—पुण्य मे पाप, ८—ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर, ९—अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना।

१ पुण्य अपराध   शान्ति के घातक व इच्छाओं की ज्वाला मे नित्य मुझे भस्म करने वाले आस्रव की बात चलती है। इसके दो अगो मे से अशुभ आस्रव अर्थात अशुभ अपराध की बात तो हो चुकी। अब चलेगी शुभ अपराध की बात।

कल के प्रकरण मे बताई गई ही वे मन-वचन-काय की क्रियाये हो, ऐसा नही है। धर्म कर्म के सम्बन्ध में भी उनकी क्रियाये चला करती है। उन क्रियाओ का आधार भी किसी विशेप जाति की इच्छाये ही है? इच्छा मूलक होने के कारण इन क्रियाओ का समावेश भी आस्रव या अपराध के प्रकरण में किया जा रहा है। क्योकि इच्छा व्याकुलता की जननी है। और व्याकुलता सर्व ही अपराध रूप है?

धर्म कर्म सम्बन्धी वे क्रियाये मन के द्वारा, वचन के द्वारा, काय के द्वारा, सच्चे देव की पूजा व भक्ति के रूप मे, अथवा शान्त-मूर्ति वीतरागी गुरु की उपासना के रूप मे, अथवा शान्ति पथ प्रदर्शक प्रवचन के अध्ययन मनन के रूप मे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह त्याग व्रतो के रूप मे, प्राणियो पर दया के रूप मे, धर्मोपदेश के रूप मे, परोपकार के रूप मे, देश सेवा के रूप मे, साधर्मी जनों पर प्रेम के रूप मे, तप जप शील सयमादि के रूप मे, इत्यादि अनेको रूपो मे मै नित्य ही किया करता हूँ। इन सब क्रियाओ विशेप का वर्णन तो आगे सवर के प्रकरण मे क्रम से कहा जाने वाला है। यहा तो केवल सकेत मात्र के द्वारा धर्म कर्म रूप क्रियाओ से तात्पर्य है। इतना मात्र दर्शाना अभीष्ट है कि यह सर्व क्रियाये आस्रव है। अपराध है?

ओह! क्या कहा जा रहा है? मानो बाण ही फेके जा रहे है। कलेजा छलनी हुआ जाता है यह वचन सुन कर। धार्मिक क्रियाये और अपराध? निकाल दो इस वक्ता को बाहर। कौन से देश की बात सुनाने आया है? नास्तिक कही का। बस बस बन्द करो यह बकवास। ऐसी बात सुनने को भी हम तैयार नही। जप, तप, शील, सयम, पूजा, दान, भक्ति, सेवा सब अपराध? [illegible]। कितना कठोर है तेरा हृदय? प्राणियो की रक्षा करना और अपराध? हम ने नहीं तो [illegible]।

और इस प्रकार की अनेको बातों का मानों तूफान ही आ गया हो आप सब के हृदय मे। ऐसी बात कभी न सुनी, न देखी। एक अनौखी बात। इतनी कठिनाई उठा उठा कर जिन क्रियाओ को बड़े बड़े योगिश्वरो ने किया, आज उन्हे अपराध बताया जा रहा है? यह कोई नई जाति का धर्म चलाना चाहता है? सबको ही नास्तिक बनाना चाहता है?

शान्त हो प्रभु! शान्त हो! यह नास्तिक बनाने की बात नही है, शान्ति दिलाने की बात है। तेरा कोई दोप नही। वास्तव मे कभी इतनी निर्भीकता से ऐसी बात का न सुनना ही तेरे इस क्षोभ का कारण है। "मन वचन काय की यह क्रियाये अत्यन्त हित रूप है, धर्म रूप हैं। मोक्ष देने वाली हैं।" इस प्रकार की तेरी पुरानी धारणाये ही तेरे इस क्षोभ का कारण है। शान्त होकर सुन, तू स्वयं पछतायेगा अपनी इस भूल पर। बात कठिन नही है। समझ मे आ जायेगी। अब तक सुनी नही, इसलिये समझी नही। शान्त चित होकर सुन। मेरे कहने मात्र पर विश्वास न कर लेना। तेरा अन्त.करण स्वय ही 'हाँ' कर दे तो स्वीकार करना, नही तो न करना। मेरी बात मेरे पास ही तो रहेगी? तुझ से कुछ छीन तो न लू गा?

२ पुण्य पाप में समानता

कल बताई गई अशुभ क्रियाओ को तो दुनिया पाप बताती है, अपराध बताती है। परन्तु देखो वीतराग के मार्ग की अलौकिकता, कि धार्मिक क्रियाओ को भी अपराध बताया जा रहा है। पाप कहा जा रहा है। "पुण्य व पाप मे अन्तर देखने वाला शान्ति का उपासक नही है"। यह कहा जा रहा है। है ही कुछ आश्चर्य की बात। कितनी निर्भीकता है. वीतरागी गुरुओ की बात मे। सर्वलोक एक ओर और वह अकेले एक ओर, बेधड़क धार्मिक क्रियाओं को पाप बताने वाले। यहा तक कह दिया है ज्ञानी जनो ने, "भगवन! मुझे सब कुछ हो। बडे से बड़ी बाधा भी स्वीकार है, पर एक पुण्य कभी न हो।" अरे! कैसी अजीब बात है यह। जिस पुण्य को, जिन धर्म को सब चाहते हैं उसे ज्ञानी इन्कार करते है। याद होगी आगरे के विरागी गृहस्थ श्री बनारसी दास जी के जीवन की वह घटना जब उसने बादशाह अकबर से यह मागा था कि अगर आप मुझ पर प्रसन्न हो, तो कृपया आज के पाछे मुझे अपने दरबार मे न बुलाना। और आश्चर्य मे पड़ गया था सारा दरबार उस समय। क्या मांगा इसने? पागल हो गया है शायद? जिसकी नजर के लिये आज सारा देश तरसता है, वह व्यक्ति उसके पास बुलाने से भी आना नही चाहता? बस ऐसी ही अटपटी बात है ज्ञानियो की। सामान्य मनुष्य को यह रहस्य समझ मे नही आ सकता। और वही हालत है आपकी। परन्तु घबराइये नही। गुरुदेव की शरण मे आये हो। अज्ञानी न रहोगे। इस रहस्य को अवश्य समझ लोगे।

विषय समझने से पहले यह बात अवश्य हृदयंगत कर लीजिये कि सिद्धान्त वही होता है जो सर्वत्र समान रीति से लागू हो। कही लागू हो जाये कही नही उसे सिद्धान्त नही कहते। वह कल्पना है। पक्षपात है। वैज्ञानिक मार्ग मे पक्षपात को अवकाश नही, भले पहले की पोसी सर्व धारणाओ का त्याग क्यो न करना पडे। 'सत्य' सत्य ही रहेगा। "आपकी कल्पनाओ के अनुकूल हो तो सत्य, नहीं तो असत्य," ऐसा सत्य का लक्षण नहीं। कोई भी स्वीकार न करे तो भी 'सत्य' तो सत्य है। आपकी कल्पनाओ के कारण सत्य न बदलेगा। सत्य के कारण आपको ही अपनी धारणाये बदलनी होगी। यह तो विचारिये कि यदि आपकी धारणायें व क्रियाये सच्ची होती, तो आज दुखी क्यो होते? अधिक नही तो कुछ शान्ति तो अवश्य होती। और प्रारम्भ से ही तो यह बताया जा रहा है कि वास्तविक सिद्धान्त व रहस्य से अपरिचित तेरी सब धारणाये भूल के आधार पर टिकी हुई है? यहा तो सुन कर क्षोभ नही

आया था ? यहां क्षोभ क्यो आ गया ? प्रतीत होता है कि अन्य धारणाओं की अपेक्षा इस धारणा की शक्ति सब से प्रबल है। इसकी पकड बहुत मजबूत है। इसलिये सर्व शक्ति लगा कर इसे तुडाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह बात तेरे हित के लिये है, अहित के लिये नही।

३ पुण्य प्रवृत्ति में इच्छाओं का बल

देखिये पहले तो यह याद कीजिये कि आप क्या प्रयोजन लेकर निकले है ? शान्ति ! अच्छा तो अब बताइये कि शान्ति का क्या लक्षण आपने स्वीकार किया है। निरभिलाषता या निर्विकल्पता। ठीक ! अब यह बताइये कि आप अभिलाषाये चाहते हो या उनका निरोध ? उनका निरोध। शाबाश ! शान्ति के उपासक के मु ह से इसके अतिरिक्त और कुछ निकल भी कैसे सकता था ? सिद्धान्त को तो आप खूब समझे हुये हो, परन्तु फिर भी उपरोक्त बाधा क्यो ? खैर धीरे धीरे दूर हो जाएगी। अब यह बताइये यदि कुछ इच्छाओ को निकाल कर कुछ इच्छाये छोड दी जाये तो ? किसी भी जाति की एक भी इच्छा नही रहनी चाहिये। वाह। कितना सुन्दर उत्तर है अनेको पीडाये पहुँचा कर जब थक गये तो अग्रेजो ने भी यही प्रश्न पूछा था-गान्धी से, कि कुछ स्वतन्त्रता तो ले लो, कुछ हमारे हाथ मे रहने दो। उस समय गान्धी ने भी यही उत्तर दिया था, जो आज आपने दिया है। "चाहे आप स्वर्ण के भी बनकर आये, चाहे मुझे सब कुछ देने को भी तैयार हो जाये पर मुझसे यह आशा न करना कि मै परमाणु मात्र का भी अधिकार तुम्हारे हाथ मे रहने दू । मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिये, और पूर्ण ही लू गा रत्ती भर कम नही। अच्छा निर्णय हो चुका कि नि.शेष इच्छाओ का अभाव करना आपका प्रयोजन है। अब याद रखना इसे। आगे जाकर भूल न जाना।

आ जाइये अब मूल विषय पर। विचारिये कि उपरोक्त धार्मिक क्रियाये इच्छा के विना की जाती है। या इच्छा सहित ? देखिये हमारी आज की कोई क्रिया भी चाहे पुण्य रूप हो या पाप रूप, चाहे धर्म रूप हो कि अधर्म रूप, विना इच्छो के नही हो रही है। यह बात अलग है कि इच्छाये कई जाति की होती है, अशुभ भी होती है शुभ भी। अशुभ इच्छाये कहते है भोगाभिलाष को, जिनका कथन कि कल के प्रवचन मे आ चुका है। और शुभ इच्छाये कहते है भोगाभिलाष से निरपेक्ष पूजादि या सेवादि उपरोक्त कार्य करने की इच्छा को। भोगाभिलाष के अभाव के कारण ही इन क्रियाओ को निष्काम कर्म कहते है। जिसका कि गीता मे कथन आया है। परन्तु विचारिये कि क्या भोगाभिलाष के अभाव हो जाने के कारण उन क्रियाओ को निरभिलाष मान ले। यदि धार्मिक भी इन क्रियाओ को करने की अभिलापा न होती, तो बताइये उन क्रियाओ मे प्रवृति ही कैसे होती ! मेरे हर शुभ या अशुभ क्रिया के पीछे किसी न किसी इच्छा की प्रेरणा होती है ?

४ पाच कोटि की शुभ इच्छायें

अब देखना यह है कि वे इच्छाये जो इस धर्म क्षेत्र मे मेरे अन्तरग मे उत्पन्न होकर मुझे वे क्रियाये करने की प्रेरणा दे रही है, कितने प्रकार की है। यह सब उपरोक्त क्रियायें अनेको प्रकार की इच्छाओ व अभिप्रायो से प्रेरित होकर की जा रही है। विचारने से सब स्पष्ट हो जाती है।

१—पहली इच्छा तो अत्यन्त स्थूल भोगो की प्राप्ति के प्रति है। जिसके कारण कि उन क्रियाओ का रूप अन्तरग मे कुछ ऐसा सा होता है कि इन क्रियाओ को करने से मुझे धर्म होगा। और धर्म का फल धन धान्य की प्राप्ति, राज्यादि सम्पदा, सुन्दर स्त्रिये, आज्ञाकारी पुत्र व सेवक आदि ही तो है। इसलिये यह क्रियाये मुझे इष्ट है। अथवा प्रभो मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे उपरोक्त सम्पदा प्रदान

कर देगे, मुकदमा जिता देगे, परीक्षा मे सफल करा देगे, शत्रु पर विजय करा देगे इत्यादि। इस प्रकार की इच्छाये रख कर पूजा करना, छत्र चढाना, वोलत कवूलत करना आदि अनेको ऐसी स्थूल क्रियाये होती है कि उनके अन्तरग की इच्छाये स्पष्ट प्रगट हो जाती है।

२—दूसरी इच्छा वह है जिसके आधार पर इस भव सम्बन्धी भोगो का तो नही, परन्तु अगले भव सम्बन्धी भोगो का अभिप्राय अन्तरग मे छिपा रहता है। उसका रूप कुछ इस ढग का है, "तिर्यञ्च व नरक गति तो वडी दुखदाई है वहां तो धर्म कर्म भी होना बड़ा कठिन है, किसी प्रकार देव गति मिले तो अच्छा, या भोग भूमि मिले तो अच्छा। वहा सुख है, सर्व अनुकूल है, कोई चिन्ता नहीं है, जीवन सुख पूर्वक वीतेगा इत्यादि। प्रयोजन की सिद्धि व्रतादि के द्वारा ही वताई गई है। पात्र दानादि के द्वारा ही वताई गई है। अत यह क्रियाये ही मुझे इष्ट है। इस अभिप्राय पूर्वक अधिकाधिक भक्ति, तप व दानादि क्रियाये करता है। यद्यपि स्थूलत बाहर मे वह अभिप्राय पूर्ववत प्रगट होने नही पाता, परन्तु वात चीत मे वह अवश्य प्रगट हो जाता है। इसलिये यह इच्छा भी स्थूल भोगों सम्बन्धी ही है।

३—तीसरी इच्छा वह है जिसके आधार स्वर्गादि सम्बन्धी न सही, पर मोक्ष सम्बन्धी अभिप्राय अन्दर मे छिपा रहता है। परन्तु यहाँ मोक्ष का स्वरूप किसो अन्य प्रकार का कल्पना किया रहता है। इसका रूप कुछ इस प्रकार का है कि देवादि के सुख को तो गुरुजन दु.ख बताते है। अत. ठीक है-मुझे वह सब कुछ नही चाहिये। परन्तु मोक्ष के लिये तो वह स्वयं भी प्रयत्न कर रहे है ? इन क्रियाओं का फल मोक्ष भी तो है ? कहा जाता है कि मोक्ष मे अनन्त सुख है ! सर्व इन्द्रो से भी अनन्त गुणा। सर्व चक्रवर्तियो से भी अनन्त गुणा। वाह वाह ! इससे अच्छी वात क्या ? वहा तो खूब मौज मे रहूँगा। मोक्ष शिला भी सुन्दर वताई जाती है। उस पर वैठने मात्र से ही वडा मुख मिलेगा। फिर अनन्तो सिद्ध वहा विराजमान है। उनको साक्षात स्पर्श करने का अवसर मुझे मिलेगा। पवित्रात्माओ के स्पर्श से तथा उनके दर्शन से कितना सुख मिलेगा, जव कि साधुओ तक के स्पर्श की व दर्शन की इतनी महिमा वखानी जाती है ? और न सही लोक मे ख्याति तो हो ही जायेगी, कि बहुत धर्मी है। "अत मुझे इन धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृति करना ही इष्ट है", यह अभिप्राय भी वचनो पर से जाना जा सकता है। अत स्थूल है। यद्यपि साधारणतय देखने पर भोगाभिलाष सी प्रतीत नही होती, परन्तु यह भी भोगाभिलाष की कोटि मे आ जाती है। क्योकि मोक्ष सुख से अनभिज्ञ केवल शिला स्पर्श, सिद्धो का सम्पर्क, उनका स्पर्श व दर्शन भी इन्द्रिय सुख ही है अतीन्द्रिय नही।

४—चौथी इच्छा वह है जिसके अन्तर्गत विदेह क्षेत्र मे जाकर सीमन्धर प्रभु के दर्शन का अभिप्राय छिपा है ? उसका रूप कुछ ऐसा है, "पुण्य करने से देव गति मे जाऊगा, और वहा से प्रभु के दर्शन को। अथवा यहा से सीधा विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न हो जाऊगा और प्रभु के दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करूंगा, और फिर मोक्ष" परन्तु यहा फिर मोक्ष का स्वरुप पहला ही रहा। और सीमन्धर प्रभु के दर्शन में भी उनी के किसी सुख की कल्पना रही। या रही कोरी भावुकता। सो भी तीसरी इच्छा के समान ही है। यह भी वचनालाप से प्रगट हो जाती है।

५—पाचवी इच्छा है सच्चे मोक्ष की इच्छा। जिसका रूप कुछ इस प्रकार का है कि "मुझे केवल शान्ति चाहिये और कुछ नही। मुझे मोक्ष शिला लेकर क्या करना है ? दूसरे सिद्धो से मेरा

क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अत. मेरे हृदय मे उस लोक शिखर वाले सिद्ध लोक के प्रति कोई आकर्षण नही। यह ठीक है,वहाँ ही जाना होगा। परन्तु इसकी कोई महत्ता नही। नरक लोक मे जाकर भी यदि शान्ति रहती हो तो वह भी मेरे लिये मोक्ष है। और कही जाने की मुझे क्या आवश्यकता, मुझे तो यहा ही शान्ति वर्तती है। यही मेरी मोक्ष है। कुछ कमी है पूरी हो जायेगी। ये धार्मिक क्रियाये करना शान्ति की दृष्टि से कुछ प्रयोजनीय नही। जो कुछ भी इनका फल बताया जाता हो, पर मेरे लिए इनका कोई फल नही। जो इनका फल धनादि की प्राप्ति है वह मुझे चाहिये नही। वर्तमान मे साक्षात् विकल्पात्मक होने से ये क्रियाये स्वय अशान्ति रूप है। भले कुछ शान्ति रूप हो, पर वह शान्ति नहीं जो निर्विकल्प समाधि मे होती है। परन्तु फिर भी जव समाधि मे स्थिर न रह सकू तब क्या करू ? अशान्ति मे तो जाना होगा। कही भोगादिको की ओर प्रवाह हो गया तो गजब हो जायेगा। सब कमाई लुट जायेगी। अत "सारा जाता देखिए तो आधा लीजिए बांट" इस युक्ति के अनुसार, चलो, इन्ही क्रियाओ मे मन को उलझा दो, इत्यादि प्रकार से इन क्रियाओ मे प्रवृति करता है। यद्यपि यह प्रवृति सच्ची है। यहाँ किसी भी रूप मे भोगो की अभिलाषा की रेखा भी दिखाई नही देती। न ही बाह्य क्रियाओ से या वचन से कोई भी उस प्रकार का अभिप्राय प्रगट होने पाता है, तो भी "मुझे किसी प्रकार शीघ्र शान्ति मिले", इतनी तो व्यग्रता है ही। बस इसी लिए अत्यन्त सूक्ष्म भी यह इच्छा ही तो है।

अव सिद्धान्त लागू कीजिए। क्योकि पाचो मे ही कोई न कोई इच्छा है अत. यह सब धार्मिक क्रियाये अपराध है। इतना अन्तर है कि न० १ से न० ४ तक की इच्छाये तो भोगाभिलाष सम्बन्धी होने के कारण अशुभ है, अत्यन्त अनिष्ट है। इसलिए उन इच्छा पूर्वक की गई वे क्रियाये बड़ा अपराध हैं। परन्तु न० ५ की इच्छा अत्यन्त सूक्ष्म व भोगाभिलाष से निरपेक्ष होने के कारण, तथा उस इच्छा का भी अन्तरग मे निषेध वर्तते रहने के कारण शुभ है। इष्ट है। उस सूक्ष्म इच्छा के साथ वर्तने वाली क्रियाये शान्ति मे इतनी वाधक नही पडती, जितनी कि पहली चार। बल्कि साधक की भोगाभिलाष के प्रति कुछ न कुछ रक्षा करने के कारण कुछ सहायक ही रहती है। अतः इस दशा मे वह क्रियाये कथ-ञ्चित इष्ट है। परन्तु सिद्धान्त वाधित नही होना चाहिए। जितनी कुछ भी इच्छा है, उतना अपराध ही है। अत. यह पाचवी भी है-अपराध ही, आस्रव ही।

५ ज्ञान धारा व कर्म धारा

मन, वचन व काय की क्रियाओ की विशेषताये जानने के लिये मानसिक विचारनाओ की गहराई मे उतर कर, कुछ पढना होगा। क्योकि मानसिक क्रिया ही वचन व शरीर की क्रियाओ की अधिपति है अत इस प्रकरण मे उसको ही विशेषत जानना अभीष्ट है। मानसिक विचारनाओ का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि विचारनाये दो जाति की है। एक तो केवल किसी वस्तु के स्वरूप आदि का निर्णय करने रूप तथा दूसरी उस वस्तु के साथ अपना षट् कारकी नाता उत्पन्न करके उस मे अच्छे बुरे की कल्पना करने रूप। पहली विचारना का नाम मै ज्ञान धारा कहता हूँ और दूसरी का नाम कर्म धारा।

ज्ञान व कर्म धारा का विशेष स्पष्टी-करण निम्न दृष्टान्तो पर से भली भाँति हो जायेगा। विचारना किसी भी पदार्थ सम्बन्धी क्यो न हो दोनो जाति की हो सकती है। ऐसा नही है कि निज आत्मा सम्बन्धी या भगवान सम्बन्धी विचारनाये तो ज्ञान धारा रूप हो और लौकिक पदार्थो सम्बन्धी विचारनाये कर्म धारा रूप। निज स्वरूप व भगवान सम्बन्धी विचारनाये कर्म धारा रूप हो सकती है

और अत्यन्त निकृष्ट समझी जाने वाली विष्टा सम्बन्धी विचारना ज्ञान धारा रूप हो सकती है। सो कैसे वही दर्शाता हूँ।

मै हूं। ज्ञान स्वभावी हूँ। शान्ति मेरा स्वभाव है। पहले भव मे मै कुत्ते के रूप मे था। अगले भव मे देव के रूप हो जाने वाला हूँ। तथा इसी प्रकार की अन्य भी अनेकों विचारनाये, जिनमे केवल मेरा भूत, वर्तमान व भविष्यत काल सम्वन्धी अनेकों अवस्थाओ मे गून्था हुआ एक रूप ही आधार वना है, वे सर्व विचारनाये ज्ञान धारा रूप हैं ? क्योकि यहा था, हूँ, हूँगा के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ के या अपनी ही किसी अवस्था के साथ षट् कारकी सम्वन्ध जोड कर उनमे इष्टता व अनिष्टता उत्पन्न नही की गई है। केवल होने मात्र का निर्णय है। परन्तु मै पहले भव वहुत निकृष्ट दशा मे पड़ा था। वहुत दु.खी था। अव मै, कुछ धर्म करूंगा। या भोग भोगूंगा। देव वन जाऊं तो वहुत अच्छा लगेगा। इस प्रकार की अपने सम्वन्धी ही सर्व विचारनाये कर्म धारा रूप है। क्योकि अन्य पदार्थो व अपनी ही किन्ही अवस्थाओं के साथ षट् कारकी सम्वन्ध जोड कर उनमे इष्टता व अनीष्टता की कल्पना की जा रही है।

इसी प्रकार भगवान पूर्ण शान्ति मे स्थित है। वे तीन लोक को देख रहे हैं। पहले निगोद मे रहते थे। आगे सदा आनन्द मे ही मग्न रहेगे। भगवान सम्बन्धी यह सव विचारनाये ज्ञान धारा रूप हैं। और भगवान अधमोद्धारक है। उनकी पूजा व भक्ति मेरे लिये वड़ी हितकारी है। वे अपने आश्रितो को अपने समान कर लेते हैं इत्यादि विचारनाये कर्म धारा रूप है।

इसी प्रकार यह विष्टा नाम का एक पदार्थ है। इस का रग पीला है। इस मे एक विशेष प्रकार की गन्ध है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है। यह पहले अन्न रूप थी। यह खेतों में खाद के रूप मे डाली जाती है। इत्यादि विष्टा सम्वन्धी सव विचारनाये ज्ञान धारा रूप है। परन्तु यह वहुत घिनावनी है, दुर्गन्धित है। इसे मेरे पास से हटाओ इत्यादि सव विचारनाये कर्म धारा रूप है।

यह युद्ध स्थल है। यहां अनेको योद्धा परस्पर में लड़ कर मृत्यु की गोद में सो जाया करते है। यह युद्ध सिकन्दर व पोरस के मध्य हुआ था इत्यादि सर्व विचारनाये ज्ञान धारा रूप हैं। परन्तु यह युद्ध मेरे देश के लिये वड़ा हानि कारक सिद्ध हुआ। भविष्यत मे हमे ऐसे युद्धों के प्रति रोक थाम करनी चाहिये इस प्रकार की विचारनाये कर्म धारा रूप है।

आज का दिन वहुत गर्म रहा है यह ज्ञान धारा की विचारना है। परन्तु इस से मुझे वड़ी वाधा हुई है। गर्मी कुछ कम हो जाती तो अच्छा होता, यह कर्म धारा है। यह दो भेद मानसिक क्रियाओं मे ही है। वचन व शरीर की क्रियाये तो कर्म धारा रूप ही हैं।

वास्तव मे देखा जाये तो ज्ञान धारा वुद्धि पूर्वक के प्रयास द्वारा विचारनाये करने रूप नही होती। क्योकि इस प्रकार विचारना करने से तो वह भी कर्म धारा ही वन जायेगी। वह तो केवल सहज प्रतिभास रूप है। जैसा कैसा भी, जिस किस भी वस्तु का प्रतिभास हो जाने पर मन की विचारनाये रुक जाती हैं। तथा वह कुछ उस प्रतिभास के साथ तन्मय सा होकर खोया खोया सा महसूस

करने लगता है। वह दशा कुछ अद्वैत सी होती है और इसलिये शान्ति रूप है। जितनी देर भी उसमे स्थिति रहती है मन को थकान नही होती बल्कि आनन्द मे कुछ झूमता सा रहता है। परन्तु वहाँ से छूट कर यदि कर्म धारा मे आ जाता है तो बुद्धि पूर्वक का प्रयास प्रारम्भ हो जाने के कारण तब उसे उन्ही विचारनाओ मे थकान महसूस होने लगती है।

इन दोनो धाराओ मे यह बताने की आवश्यकता नही कि कौन धारा शान्तिरूप। क्योकि अनेको दृष्टान्तो से पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि पदार्थ या पदार्थ का ज्ञान अशान्ति का कारण नही। मेरे तेरे, या अच्छे बुरे की कल्पनाये ही अशान्ति का कारण है। क्योकि इन शुभ क्रियाओ मे कर्म धारा काम कर रही है इसी लिये इन का निषेध किया जा रहा है। आगे यह भी स्पष्ट कर दिया जायेगा कि कुछ क्रियाये दोनो धाराओ के मिश्रण रूप भी हो सकनी सम्भव है। तव वे ही किसी अपेक्षा उपादेय हो जाती है। (देखो अधिकार न० १८ प्रकरण न० ५)

दिनाक १८ जुलाई १९५९

प्रवचन न० २५

६ पुण्य का निषेध अहो ! शान्त आत्माओ से मुझ मे प्रतिबिम्बित होने वाली शान्त आभा जयवत रहो। वह शान्ति जिसने भव सतप्त मुझ अधम को एक अपूर्व शीतलता प्रदान की वह शीतल शान्ति जिसके सामने दाहोत्पादक ये पचेन्द्रिय के भोग चितातुल्य है। वह मधुर शान्ति जिसके सामने भोगो के सब रस फीके है। वह द्युतिवन्त शान्ति जिसके सामने प्राणी का अन्धकार मिटा देने वाली भोगो की चमक फीकी है। वह महिमावन्त शान्ति जिसके सामने भोगो की महिमा तुच्छ है। वह मूल्यवान शान्ति जिसके सामने तीन लोक की विभूति भी निर्मूल्य है। हे देवी ! अपना मुख दिखाया है। अब छिपा न लेना। मै तेरे लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने को तैयार हू। तेरी ओर निहार कर अब मै, कभी इस सम्पदा की ओर आख उठा कर न देखू गा। हे नाथ ! मुझको शान्ति प्रदान कीजिये। कि इस आपदा जनक सम्पदा की ओर इस भव मे तो क्या, आगे किसी भव मे भी मै दृष्टि न उठाऊ। सदा इसे ठुकराता चलू। इसका अपमान करता चलू। शान्ति रानी को पाकर कौन ऐसा है जो इस कुलटा का मुख देखेगा।

७ पुण्य में पाप और जब इस सम्पदा ही की ओर से दृष्टि हट गई तो फिर इस के कारण पुण्य को मै क्या समझू ? वह भी मेरे द्वारा अपमानित हुये बिना न रह सकेगा। मै पाप का स्वागत करने को तैयार हूँ। पर पुण्य का नही। वह पुण्य जो पाप से अधिक भयानक है। पाप तो ऊपर से ही भय दिला देता है जिससे कि इसके प्रति स्वाभाविक घृणा उत्पन्न होजाये। परतु पुण्य ऐसा लुभावना जाल फैलाता है कि स्वत आकर प्राणी इसमे फस जाते है और तडप तडप कर प्राण दे देते है। वह पुण्य जो तीसरे भव नरक का द्वार दिखलाता है और वर्तमान भव मे इच्छाओ की ज्वाला मे जलाता है।

क्योकि स्वाभाविक रीति से ही इच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो जाने पर उसमे आसक्ति हुये बिना नही रह सकती। इसलिये भोग सम्पदा या देवादि पदो की इच्छा से की जाने वाली पुण्य रूप

क्रियाओ का फल भोगादि प्राप्त हो जाने पर उनमे असक्तता हुए विना नही रह सकती। और यह वात सर्व सम्पत ही है। बहुत प्रतीक्षा के पश्चात मिली हुई स्त्री मे क्या अत्यत आसक्तता होती नही देखी जाती और आसक्तता का फल क्या होना चाहिए, सो सब जानते है। देखिये अपनी भूल का विषैला फल। धार्मिक क्रियाओ को भोगाभिलाष के कारण अपने हित रूप मान कर उन क्रियाओ को करने मे सन्तोष धारण किया। "मैंने बहुत अच्छा काम किया है। मै वहुत धर्मात्मा हूँ।" ऐसा अभिमान उत्पन्न किया। भोगो की तीव्र इच्छा के कारण सताप उत्पन्न किया। यह दूसरे भव मे फल पाया। और तीसरे भव मे उस आसक्ति के फल स्वरूप कुगतियो मे अनेक दु ख सहे। यह मिला तीसरे भव मे उन क्रियाओ का फल और फिर भी उन क्रियाओ को अत्यन्त हित रूप मानता है। खेद है। इसी से ज्ञानी जन उनको अपराध कहते है।

८ ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर

उन क्रियाओ को अपराध वता देने से यह तेरे अन्दर मे उत्पन्न हुआ क्षोभ ही यह वात दर्शाता है कि उनके प्रति तुझे मिठास वर्तता है। तर्क किया जा सकता है कि ज्ञानी जनो को भी तो उन क्रियाओ मे मिठास ही आता है? नही! वे क्रियाये करते अवश्य है पर उनको इनमे मिठास कभी नही आती। मिठास तो स्वय एक शान्ति मे ही आती है और इसलिये उनको धन का निषेध सुन कर क्षोभ नही आता। स्वय अन्तरग से वह यही भावना उत्पन्न किया करता है कि यह क्रियायें करने की आवश्यकता उसे न पडे। फिर तेरी मिठास और उनकी मिठास मे अन्तर भी तो महान है। तेरी मिठास तो अपनी शान्ति से अपरिचित रहने के कारण केवल तेरे उन चार जाति के भोगाभिलाष सम्बन्धी अभिप्राय मे से निकल रही है। जिनके सम्बन्ध मे कल वताया गया था। और उसकी मिठास पाचवी जाति की शान्ति सम्बन्धी अभिलाषा मे से निकल रही है। जिसमे केवल शान्ति की अपेक्षा है अन्य किसी वात की नही है। उन क्रियाओ मे तुझे तो तन्मयता सी दीखती है, उसका आधार तो वह मधुर, सुर, ताल, लय, मजीरे, ढोलक आदि है, जिनके द्वारा भक्ति करने को तू वहुत महत्ता देता है और उसकी तन्मयता का आधार अपनी वह शान्ति है, जो कि उसे उस समय भगवान की शान्ति को देख कर याद आ जाती है और अपने अन्दर जिसका प्रत्यक्ष वेदन करने लगता है। तू इन क्रियाओ को करते हुए उन्हे हित रूप समझता है, और इन क्रियाओ सम्बन्धी अपने पुरुषार्थ को हित रूप समझता है, इनके प्रति अपने झुकाव को हित रूप समझता है। और वह इन क्रियाओ को करते हुये भी इन्हे हित रूप नही समझता, इन क्रियाओ की इच्छा को हित रूप नही समझता, इन क्रियाओ सम्बन्धी अपने पुरुषार्थ को हित रूप नही समझता, तथा उनके प्रति अन्तरग मे उसे कभी झुकाव उत्पन्न नही होता। उसका सच्चा झुकाव है तो केवल शान्ति के वेदन के लिये।

अभिप्रायो मे महान अन्तर होने से उनके फलो मे भी महान अन्तर पड़ जाता है। फल तो दोनो को ही यद्यपि भोग सम्पदा मिलता है, परन्तु तुझको कदाचित जितनी मिल पाती है उससे हजारो गुणी उसे मिल जाती है। तू उस सम्पदा मे उलझ जाता है, क्योकि क्रियाये करते हुये उसी की अभिलाषा मन मे बैठी हुई थी और वह उसे प्राप्त करके भी उससे उदासीन बना रहता है और समय पड़ने पर उसे वेधडक ठुकरा देता है। तू उसमे मिठास लेता है और उसे वह जजाल भासती है। देव गति को तू अच्छा समझता है और वह तेतीस सागर की कैद, क्योकि यह मार्ग मे न आती तो वह इतने समय पहले ही अपने प्रयोजन को सिद्ध कर चुका होता। तुझे तीसरे भव उसका फल पाप मे मिलता है और उसे सदा पुण्य ही पुण्य मे। और इसी कारण तेरी वह क्रियाये कही जाती है पापानुबन्धी पुण्य।

देख वाहर मे क्रियाये एक होते हुए भी केवल अभिप्रायो के फेर से कितना महान अन्तर पड गया है दोनो मे। अपने अन्दर मे झुक कर जरा गौर से देख, वही या उसी जाति के कुछ और अभिप्राय बैठे हुए है या नही। शान्ति के प्रति का अभिप्राय तो तुझे हो ही नही सकता, क्योकि तेरा हृदय स्वय कह रहा है कि उसका वेदन हो नही पाया है। वह अब भी उसके लिये तडप रहा है। अत भाई। क्षोभ को तज कर अन्तर के कुछ अभिप्राय को वदलने का प्रयत्न कर, जिससे कदाचित् उन क्रियाओ की सार्थकता हो जाये। और जैसा कि कहा जाता है यह परम्परा रूप से शान्ति पथ मे कुछ सहायक हो जाये। अभिप्राय बदले विना तो ये परम्परा रूप से भी उसमे सहायक नही है।

९ अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना

यह सुन कर आश्चर्य कर रहा होगा कि भिन्न अभिप्राय रखते हुए भी कार्य कैसे हो सकता है ? ठीक है तेरा प्रश्न ! आगे भी सयमादि के प्रकरणो मे तुझे यही शका उत्पन्न होगी तथा ज्ञानी गृहस्थ की महिमा का वखान किया जाने पर कि यह भोग भोगते भी वैरागी है, तुझे यह शका हुए बिना न रहेगी। अत. इस शका के निवारणार्थ ही यहा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ कि ऐसा होना सम्भव है, कि अभिप्राय कुछ और हो और क्रिया कुछ और। अभिप्राय मे उसका निषेध वर्तते हुए भी, वाह्य मे वह क्रिया करता हुआ दीखता है। अन्तरग मे रस न लेते हुए भी वाहर मे कुछ रस लेता हुआ सा प्रतीत होता है।

ले सुन ! आगम मे भी इस बात का समाधान भरत चक्री सम्बन्धी एक सुन्दर दृष्टान्त देकर किया गया है। यह प्रश्न किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाने पर, एक तेल भरा कटोरा उसके हाथ मे दिया और आज्ञा की कि सारे नगर मे घूम कर आये। पर तेल की एक बू द भी गिरने न पाये। गिरी तो तत्क्षण सर उडा दिया जायेगा। आज्ञा का पालन हुआ। लौट आने पर उस व्यक्ति से पूछा गया कि उसने नगर मे क्या क्या देखा, तो क्या वताता बेचारा। तेल और अपना सर या तलवार के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दिया था उसे। नगर मे क्या देखता ? वस ज्ञानी को भोग भोगते भी कैसे रस आवे ? उसे तो दिखाई देता है केवल अपनी शान्ति का लक्ष्य या वर्तमान तुच्छ मात्र विद्यमान शान्ति के वेदन मे वाधा पडने की सम्भावना।

दूसरा आगम का दृष्टान्त है अर्जुन का। कौवे के नेत्र बीधने को धनुष वाण चढाये अर्जुन खड़ा है। गुरु पूछते है कि क्या दिखाई देता है-उसे। जवाब मिला कि कौवे की एक नेत्र और वह भी उस समय, जब कि वह उस पुतली मे आती है। इसके अतिरिक्त और कुछ नही। वहा उस कौवे का इतना वडा शरीर विद्यमान होते हुये भी उसे दिखाई कैसे देता है ? उसके लक्ष्य मे तो था केवल एक नेत्र। इसी प्रकार पुण्य क्रियाओ मे ज्ञानी को मिठास क्यो आवे ? उसे तो वर्तमान मे या भविष्यत मे दिखाई देती है केवल एक शान्ति। लक्ष्य तो लगा है केवल उसी पर ? यह है लक्ष्य बिन्दु या अभिप्राय की महिमा।

इनके भी अतिरिक्त सुनिये एक लौकिक उदाहरण। कल्पना करो कि किसी मुकदमे मे उलझ गये आप। अपनी रक्षा के लिये कुछ सामान व रुपया ले मैजिस्ट्रेट के घर गये और वडे प्रेम से वह सामान घूस के रूप मे भेट किया। बोले बच्चो के लिये है। उसके वच्चो के प्रति प्रेम भी वहुत दिखाया। उन्हे खिलाता, बाजार ले जाता। जो कुछ उन्हें चाहता लाकर दे देता। वच्चो की मा भी समझती कि उसे बड़ा मोह पड गया है-बच्चो से। और पिता भी समझता कि उसे प्रेम है हमारे कुटुम्ब

से। परन्तु आप जानो कि कैसा प्रेम है आपको ? मुकदमा जीता कि सब प्रेम हवा मे उड़ा। बस ज्ञानी को पता है कि कैसी रुचि है उसे इन धार्मिक क्रियाओ के प्रति। शान्ति मिली कि सब रुचि भागी। वर्तमान की यह झूठी रुचि दिखावटी है। केवल अशुभ बातो मे यह विकल्प न चले जाये, इस भय के कारण। उससे विपरीत तेरी रुचि है, उन बच्चो के साथ माता के प्रेम वत हित बुद्धि रख कर।

और भी एक उदाहरण। जिससे सम्भवत अभिप्राय की अत्यन्त सूक्ष्मता का भी स्पर्श किया जा सके। कल्पना कीजिये कि आपकी आयु ६० वर्ष की हो चुकी है। और सन्तान नही हुई। स्त्री ने बहुत इलाज कराये पर निराश रही। निराश होकर अपने भाई का कोई बच्चा रख लिया अपने पास। खूब प्रेम करते थे, इस अभिप्राय से कि दो तीन वर्ष मे परच जायेगा। तब गोद ले लेगे। एक दिन गाव जाते जाते मार्ग मे सौभाग्य वश वृक्ष के नीचे बैठे दिखाई दिये एक अवधिज्ञानी दिगम्बर साधू। भक्ति उमड़ी, नमस्कार किया और कह डाली अपने मन की व्यथा। उत्तर मिला कि जाओ एक वर्ष पश्चात पुत्र होगा। सन्तोष हुआ तथा अतीव प्रसन्नता भी। घर आकर स्त्री से बताया। पर बेचारी बिल्कुल निराश हो चुकी थी, कैसे विश्वास करती ? ऊपर से हा हूँ कर दी पर भीतर से यही आवाज आती रही कि अरे ! क्या रखा है बच्चा होने को ? स्वामी को तो साधू की भक्ति वश ऐसे ही विश्वास हो गया है। बच्चा होना असम्भव है ?

अब भी उस दत्तक पुत्र पर दोनो का स्नेह बराबर था। परन्तु विचारिये कि स्त्री के व आपके स्नेह मे कुछ अन्तर पड़ा कि वैसे ही है ? यद्यपि स्त्री का स्नेह ज्यो का त्यो रहा पर आपके स्नेह मे कुछ अन्तर पडा। विश्वास जो था कि दो तीन साल पीछे उस बालक को तो चला ही जाना होगा- अपने घर। तीन महीने बीत गये। गर्भ के चिन्ह दिखाई दिये, बताइये कुछ और अन्तर पडेगा उस दूसरी स्थिति के प्रेम मे ? अवश्य पडेगा, आपका प्रेम कुछ पहले की अपेक्षा भी कम हो जायेगा, और स्त्री के प्रेम मे भी कुछ अन्तर पड जायेगा। अब चौथी स्थिति। बालक पैदा हो गया। क्या कुछ अन्तर पड़ा तीसरी स्थिति के प्रेम मे ? अवश्य पडा, और सम्भवत अब तो उस दत्तक पुत्र पर भी वह अन्तर कुछ कुछ प्रगट सा होने लगा। कभी कभी धमकाने की भी नौबत आने लगी। अब बालक हो गया दो वर्ष का। बताइये अब भी प्रेम रहा उस पहले बालक पर ? नही, अब तो कुछ वह भार दीखने लगा। यद्यपि शर्म व लिहाज के कारण स्वय बालक को विदा न किया, पर यह इच्छा अवश्य रही कि जितनी जल्दी चला जाये अच्छा है।

देखिये, विश्वास मे अन्तर पडते ही प्रेम मे अन्तर पड़ गया। पहली दो स्थितियो मे वह अन्तर सूक्ष्म रहा, बाहर प्रगट न होने पाया। और आगे की स्थितियो मे उत्तरोत्तर स्थूल हो आया। अब बाहर भी उसके चिन्ह दिखाई देने लगे। इस उदाहरण पर से यह बात भली भाति जानी जा सकती है कि अभिप्राय बदल जाने पर किस क्रम से क्रिया मे धीरे धीरे अन्तर पडा करता है, और पहली स्थितियो मे अभिप्राय मे क्रिया का निषेध होते हुए भी क्रिया बराबर होती रहती है।

और भी एक सुन्दर व स्पष्ट उदाहरण है। एक किसान खेती करता है और एक कैदी भी। दोनो ही दत्त चित्त से काम मे जुटे हुये दिखाई देते है। दोनो ही खेती को फूली देख कर प्रसन्न चित्त दिखाई देते है। क्रिया दोनो से हो रही है। पर क्या अभिप्राय दोनो का समान है ? किसान हित बुद्धि से खेती करता है और कैदी दण्ड समझ कर। किसान की तन्मयता हित बुद्धि के कारण ध्रुव है

और कैदी की क्षणिक। आज छुट्टी मिले तो चाहे खेती में आग लगे, उसकी बला से। खेती के लिये जेल मे रहने को तैयार नही। परन्तु किसान को मृत्यु शय्या पर पडे हुए भी सम्भवत यही विचार हो कि कही खेती मे गाय न घुस गई हो। किसान की प्रसन्नता उसके फल को भोगने के लिये है, और कैदी की प्रसन्नता केवल अपने परिश्रम के फल के कारण है। भोक्तापने से निरपेक्ष। किसान की खेती है अभिप्राय के अनुकूल और कैदी की खेती है अभिप्राय के प्रतिकूल।

बस इसी प्रकार तेरी धार्मिक क्रियाये है अभिप्राय के अनुकूल, हित बुद्धि पूर्वक, उनमे मिठास लेते हुये। और ज्ञानी की क्रियाये है, अभिप्राय से प्रतिकूल, अहित बुद्धि रख कर, उसमे कुछ कडवास लेते हुए। महान अन्तर है। आ ाश पाताल का अन्तर। धान्य कूटते समय देखने वाले को क्या पता कि यह धान्य कूटता है या तुष ? औखली मे ऊपर तो तुष ही दिखाई देता है। इसी प्रकार ज्ञानी को पूजादि करते देख कर तू क्या समझे कि यह भगवान की पूजा करता है या अपनी शान्ति की। ऊपर से तो भगवान की ही पूजा करता है। देखम देखी वह देखने वाला अपने घर जाकर तुष कूटने लगे तो क्या निकलेगा उसके परिश्रम का फल ? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पडेगा, जितना की धान्य कूटने वाले को। उसी प्रकार ज्ञानी की देखम देखी तू भी पूजादि करने लगे तो क्या निकलेगा उस परिश्रम का फल ? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पडेगा जितना कि ज्ञानी को।

१८

—: शुभ आस्रव समर्थन :—

दिनाक १६ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० २५

१—शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध, २—मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश, ३—चार कोटि की क्रियायें, ४—मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त, ५—चार क्रियाओं में हेयोपादेयता।

१ शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध

धार्मिक क्रियाओ को अपराध बताया जा रहा है। तेरी व ज्ञानी की उन क्रियाओं सम्बन्धी अन्तरग अभिप्राय मे क्या अन्तर पडा यह बात कल दर्शाई गई। इन क्रियाओ को अपराध कहता सुन कर उपजा क्षोभ यद्यपि शान्त हो चुका है पर उसका स्थान एक सशय ने ले लिया है। उसका स्पष्टीकरण ही आज किया जायेगा।

तो क्या इन शुभ क्रियाओ को दोष दे ? यदि यह बात है तो बडा ही अच्छा हुआ। आज तक भूल कर व्यर्थ ही समय गवाता रहा। दुकान का भी व्यर्थ ही हर्ज करता रहा। यह रहस्य खोल कर तथा मुझे जगा कर बडा उपकार किया है आपने। आज से मन्दिर मे न जाऊगा। बेकार ही लोग धन बरबाद करते है-मन्दिर आदि बनवा कर या प्रतिमा स्थापित करवा कर। इत्यादि अनेको विकल्प उठ रहे होगे आज आपके मन मे।

नही भाई ऐसा नही है। सम्भल ! देख कहा जा रहा है तू। तेरे इस प्रवाह के रोकने के लिये ही तो ज्ञानी जनो ने यह क्रियाये तेरे लिये अच्छी बताई है। धन्य है उनकी करुणा बुद्धि, जिसमे ज्ञानी कि अज्ञानी सबको बराबर का स्थान प्राप्त है। ज्ञानी जन पागल नही थे भाई ! कि तेरे ऊपर कोई व्यर्थ का साम्प्रदायिक भार लाद देते। उनके उपदेश मे सर्व जन कल्याण के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिप्राय नही होता। प्रभु ! विचार कर, अपने हित अहित को पहिचान। कुछ तो बुद्धि लगा। केवल दूसरो के सकेत पर मत चल। तुझे ज्ञानी बनने के लिए बताया जा रहा है। मूढता त्यागने के लिए कहा जा रहा है। परन्तु हर बात का उल्टा ही अर्थ ले तो कहने वाले का क्या दोष ? उन क्रियाओ को करने के लिये कहा जाये तो "वह मुझे सुख प्रदान करने वाली है" ऐसा मान कर उनको ही हित रूप समझ जाता है। अभिप्राय को बदलने के लिये कहा जाये तो उन क्रियाओ को ही छोडने के लिये तैयार हो जाता है। दोनो प्रकार मुश्किल है। किस प्रकार समझाये ? ऐसे कहे तो भी नीचे की ओर जाता है और वैसे कहे तो भी नीचे की ही ओर जाता है। नीचे की ओर जाने को नही कहा जा रहा है भगवन ! ऊपर उठने को कहा जा रहा है। दोनो ही प्रकार से नीचे ही जाने का प्रयत्न क्यो करता है ? ऊपर उठने का प्रयत्न कर।

जरा विचार तो सही कि इन क्रियाओ को छोड कर यह समय कौन कार्य मे बितायेगा ? दुकान आदि के धन्धो मे ? तो लाभ क्या हुआ ? कुछ हानि ही हुई। पुण्य की बजाए पाप ही हुआ। धर्म अर्थात् शान्ति न हुई। पाप मे धकेलने के लिये तो अपराध नही बताया जा रहा है-इन क्रियाओ को। धर्म मे ले जाने के लिये बताया जा रहा है। जिससे कि तेरी दृष्टि पाप व पुण्य से अतीत किसी तीसरी बात पर जा सके, जो तेरे लिये साक्षात् हितकारी है। जिसे तू आज तक भूला हुआ है। दुकान आदि के धन्धे मे न जाकर यदि शान्ति मे स्थिति पाने सम्बन्धी पुरुषार्थ करना अभीष्ट है-इस समय मे, तो इससे अच्छी बात ही क्या है ? अवश्य इन क्रियाओ को त्याग दे। शीघ्र त्याग दे। और शान्ति का वेदन करने मे निश्चलता धार।

२ मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश

देख सिद्धान्त घटित करते है। पहली बात तो यह है कि कोई भी समय ऐसा नही कि तू विना कुछ काम किये रह रहा हो। दुकान का काम, कही जाने का काम, कुछ उठाने धरने के काम इत्यादिक अनेक कार्यो के अतिरिक्त यदि खाली भी बैठा है तो कुछ न कुछ विचारने का काम तो हर समय किया ही करता है। और किसी काम से, फुरसत मिल जाये तो मिल जाये पर विचार धाराओ से तो अवकाश पाना कठिन है। विचार वह राक्षस है जो हर समय तुझ से काम मांगता है। इसे काम मे लगा दे तो लगा दे नही तो वह स्वय तुझे अपने काम मे लगा लेगा।

हात्तम ताई की एक पिक्चर आई थी। उसमे था यह सीन। मन्त्रो द्वारा अपने कार्य की सिद्धि के अर्थ में वश किया एक राक्षस अपने स्वामी से कहता है कि "काम दो नही तो तुझे खा जाऊगा।" यह काम बताया, वह काम बताया आखिर कब तक ? इतने काम थे ही कहा, कि एक समय के लिये भी खाली न रहने पावे ? विचारा कि यह तो अच्छी बला मोल ले ली। अच्छाई के लिए सिद्ध किया था इसे परन्तु गले ही पड गया। वह अब छोडे से भी तो नही छूटता। विचार विचार कर एक उपाय सूझा। ठीक है ? आओ काम बताता हूँ। एक जीना बनाओ। उस पर उतरो और चढो। वह टूट जाए तो फिर बनाओ। फिर उतरो फिर चढो। और बराबर इसी भाति करते रहो जब तक कि मै तुम्हे न बुलाऊ। अब तो सब राक्षसी हवा हो गई। खाली न रहने पाया, स्वामी तो भय से मुक्त हो गया।

इसी प्रकार तू भगवान आत्मा। उपयोग तेरा सेवक। परन्तु एक ऐसा सेवक जो हर समय काम माँगता है। एक क्षण को भी खाली नही रह सकता। काम न दे तो विकल्प जालो मे उलझा कर ऐसा धक्का दे तुझे, कि धरातल पर आकर तडपने लगे। तो भाई ! इस उपयोग राक्षस को किसी न किसी काम मे उलझाये रखना ही श्रेय है। भले निष्प्रयोजन क्यो न हो।

३ चार कोटि की क्रियायें

अब यह देखना है कि यह काम कितनी जाति के होने सम्भव है कि जिनमे इस उपयोग को उलझाया जा सके। कुल क्रियाओ को शान्ति पथ की दृष्टि से तीन कोटियों मे विभाजित किया जा सकता है। एक अशुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई भोगाभिलाष व रुचि सहित भोगो मे रमणता रूप अशुभ क्रिया। दूसरी शुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई दो जाति की अर्थात् भोगाभिलाष सहित की, या इससे निरपेक्ष केवल शान्ति की अभिलाषा सहित की धार्मिक क्रिया या शुभ क्रिया। और तीसरी साक्षात् शान्ति के वेदन के साथ तन्मयता रूप शुद्ध क्रिया। शुभ क्रिया के दो भेद हो जाने से कुल क्रियाये चार प्रकार की हो जाती है। पहली क्रिया को अशुभ या पाप कहते है। शुभ के प्रथम भेद

रूप दूसरी क्रिया को पापानुबन्धी पुण्य रूप शुभ क्रिया कहते हैं। शुभ के द्वितीय भेद रूप तीसरी क्रिया को पुण्यानुबन्धी रूप शुभ क्रिया कहते है। और चौथी क्रिया शुद्ध क्रिया कहलाती है।

इन चार क्रियाओ मे एक समय मे एक ही क्रिया की जानी शक्य है दो नही। अर्थात् मन मे एक क्रिया सम्बन्धी विचार उठ सकते है? एक समय मे दो क्रिया सम्बन्धी नही। ऐसा तो हो सकना सम्भव है कि वचन व काय किसी दूसरी क्रिया को करते हों और मन किसी दूसरी क्रिया को, जैसा कि प्रति दिन अनुभव करते हैं। काय या वचन से तो भगवान की पूजादि कार्य करते हो और मन बाजार मे घूमता हो। परन्तु यह नही हो सकता कि मन ही भगवान की पूजा सम्बन्धी विचार कर रहा हो और उसी समय बाजार मे भी घूमता हो। जैसे कि ध्यान पूर्वक यह प्रवचन सुनते हुए आपको क्लाक की टन-टन भी सुनाई नही देती। अपनी चचलता के कारण यह बडी द्रुतगति से गमन कर सकता है। अर्थात् अभी गृहस्थ सम्बन्धी विचार कर रहा हो और अगले ही क्षण मोक्ष व शान्ति सम्बन्धी। इन दो विचारो के बीच का अन्तराल कभी अधिक भी हो जाता है और कभी कम भी। अधिक अन्तराल होने पर तो हमे यह जान पडता है कि एक समय मे एक ही कार्य हुआ और दूसरा कार्य कुछ देर पश्चात् दूसरे समय मे हुआ है। परन्तु अल्प अन्तराल होने पर हमे ऐसा सा लगने लगता है कि दो काम एक दम हो रहे हैं। जैसे कि यह प्रवचन सुनने सुनते भी इस क्लाक की टन टन आप कदाचित सुन लेते हो।

यद्यपि मन-वचन व काय इन तीनो की क्रियाओ मे स्वतन्त्रता देखने को मिलती है। परन्तु यह सब क्रियाये उपयोग या बुद्धि पूर्वक नही हुआ करती। स्वत सब चला करती है। बुद्धि पूर्वक की मन-वचन व काय की क्रियाओं मे भेद नही हुआ करता। मन या बुद्धि पूर्वक विचारा जाना, उसी दिशा मे शरीर से गमन क्रिया जाना, उसी के मकान पर ही जाकर रुका जाना, और उसी व्यक्ति विशेष से वही बाते करी जानी। और इसी प्रकार मन की विचारनाओं के ऊपर भी शारीरिक व मानसिक क्रियाओ का प्रभाव बराबर पडा करता है। क्रिया ठीक चल रही है यह देखने को मन स्वतः लौटा करता है। मन-वचन व काय इन तीनो की उपरोक्त प्रवृतियो से सब परिचित हैं। केवल विश्लेपण न कर पाने के कारण हमे उनके क्रम का पता नही चलता।

४ मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त

१—मन को हर समय कुछ न कुछ विचारने को चाहिये। यह खाली नही रह सकता।
२—मन एक समय मे एक ही विचार कर सकता है।
३—बुद्धि पूर्वक की गई शरीर व मन की क्रियाओ से मन भी उसी ओर आकर्षित हो जाता है।

५ चारों क्रियाओं मे हेयोपादेय

उपरोक्त सिद्धान्त पर से यह स्पष्ट हो गया कि मन को किसी एक क्रिया विशेष में जुटा देने पर वह उस समय दूसरी क्रिया न कर सकेगा, और शरीर व वचन की सहायता से उसको कुछ देर कदाचित वहा ही अटकाये रखा जा सकता है। अब यह विचारना है कि कौन सी क्रिया मे जुटाना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे पास चार क्रियायें हैं। पाप, पापानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य व शुद्ध क्रिया, इन चारों में कौन क्रिया हित रूप है और कौन किया अहित रूप इसका तोल हमे शान्ति की तुला से करना है। जिसमें सर्वथा अशान्ति है वह सर्वथा हेय है। जिसमे अधिक अशान्ति है वह अधिक हेय है। जिसमें कुछ शान्ति है वह कुछ हेय है। तथा जिसमे सर्वथा शान्ति है वह सर्वथा उपादेय है। उपरोक्त चारो क्रियाओ का तोल करने से, इसमे तो कोई संशय है ही नही कि पहली पाप और चौथी

शुद्ध क्रिया, इन दोनो मे पहली अत्यन्त हेय है और चौथी अत्यन्त उपादेय है ? विचारना तो दूसरी व तीसरी क्रिया के सम्बन्ध मे है। उन्हे हेय माने या उपादेय।

इस बात का उत्तर लेने के लिये हमे यह विचारना होगा कि यह क्रियाये अशान्ति ही रूप है या कुछ शान्ति रूप भी है। यद्यपि एक उपयोग मे एक ही कार्य सिद्ध होने के कारण एक कार्य मे शान्ति और अशान्ति दोनो अशो का सद्भाव एक समय मे रहना कुछ जचता नही है। परन्तु विचार करने पर एक ही कार्य मे यह दोनो अश रहने मे कोई बाधा प्रतीत नही होती। शान्ति और अशान्ति पृथक पृथक भी रह सकती है, और मिश्रित रूप मे भी। देखिये समझिये ! उपयोग व शान्ति मे कुछ अन्तर है। उपयोग केवल जानने का नाम है और शान्ति है स्वाद का नाम। उपयोग ज्ञान है और शान्ति ज्ञेय। उपयोग प्रकाशक है और शान्ति प्रकाश्य। ज्ञान मे भले क्रम रहे ज्ञेय मे क्रम रहने की आवश्यकता नही। यदि दो या अधिक ज्ञेय मिल कर एकमेक हो जाये तो एक ही समय मे क्या ज्ञान उसे जान न लेगा ? जैसे कि अनेक पुद्गलो के पिण्ड स्कन्ध को या जीव पुद्गल मिश्रित मनुष्य को जानने मे क्या आगे पीछे जानने की आवश्यकता पड़नी है ? या अनेको नमक मिर्च आदि मसालो के मिश्रित स्वाद को जानने या अनुभव करने के लिये क्या क्रम की आवश्यकता पडती है ? अर्थात् नमक का स्वाद पहले जानोगे, फिर मिर्च का, पीछे अन्य किसी मसाले का, क्या इस प्रकार जानोगे ? इतना अवश्य है कि जिस प्रकार मिश्रित मसाले का स्वाद चखते समय नमक मिर्चादि का भिन्न-भिन्न स्वाद न आकर एक विजातीय ही ही प्रकार का मिश्रित स्वाद आता है, जो न अकेले नमक सरीखा है, न अकेली मिर्च सरीखा। इसी प्रकार मिश्रित शान्ति का स्वाद लेते समय भी शान्ति तथा अशान्ति का भिन्न-भिन्न स्वाद न आकर, शान्ति अशान्ति मिश्रित कोई विजातीय ही स्वाद आता है, जो न अकेली शान्ति रूप है और न अकेली अशान्ति रूप, बल्कि इनके मध्यवर्ती किसी तीसरी ही जाति रूप है। जिसका निर्णय मिश्रण मे पडे शान्ति व अशान्ति के अशो पर से किया जा सकता है। अधिक शान्ति का अश रहने पर कुछ शान्तता की ओर झुका हुआ और अधिक अशान्ति रहने पर कुछ अशान्ति की ओर झुका हुआ स्वाद आता है। फलितार्थ निकला यह, कि पाप क्रिया तीव्र अशान्ति रूप है। क्योकि वहा भोगाभिलाष के साथ-साथ भोगने की व्यग्रता रूप रागद्वेषादि का स्पष्ट वेदन हो रहा है। दूसरी क्रिया सर्वथा मन्द अशान्ति रूप है, क्योकि यहा भोगाभिलाप सम्बन्धी ही रागद्वेषादि है। भोगने सम्बन्धी व्यग्रता नही। तीसरी क्रिया शान्ति अशान्ति के मिश्रण रूप है, क्योकि यहाँ भोगाभिलाष का अभाव है, और उसके भोगने की व्यग्रता का भी। जितने अश मे क्रिया करने के प्रति की व्यग्रता है, उतनी अशान्ति है, जितने अश मे वीतरागता है उतने अश मे शान्ति। चौथी क्रिया सर्वथा शान्ति रूप है। उस पर से इन चारो की हेयोपादेयता का निर्णय करना भी बडा सहल हो जाता है। पहली पाप क्रिया तो अशान्ति के कारण सर्वथा हेय है। दूसरी क्रिया अशान्ति के कारण यद्यपि हेय ही है पर पहली की अपेक्षा मन्द अशाति होने के कारण कथञ्चित उपादेय है। तीसरी क्रिया भी यद्यपि चौथी पूर्ण शाति वाली क्रिया की अपेक्षा अशाति मिश्रित होने के कारण हेय ही है, परन्तु पहली व दूसरी क्रियाओ की अपेक्षा शाति का अश रहने के कारण उपादेय है। परन्तु चौथी क्रिया की अपेक्षा अशाति का अश हेय है। और चौथी क्रिया तो पूर्ण शाति रूप होने के कारण पूर्ण उपादेय ही है। यह चौथी क्रिया वास्तव मे आस्रव रूप नही है। अपराध रूप सर्वथा नही है। यह सवर व निर्जरा रूप है। अर्थात् ज्ञान धारा मे रगी सर्व क्रियाये उपादेय है और कर्म धारा मे रगी सर्व क्रियाये हेय है। आशिक ज्ञान धारा मे रगो क्रियाये प्रथम भूमिका मे अभ्यास करने के अर्थ प्रयोजनीय है।

इस सारे प्रकरण में पाप के अतिरिक्त दोनों शुभ क्रियाओ को भी सर्वथा व कथञ्चित् अपराध रूप बताया गया था। सो सिद्ध कर दिया गया। परन्तु इसका तात्पर्य उन शुभ क्रियाओं का जीवन मे से सर्वथा निषेध कराना नही है बल्कि अभिप्राय बदलवाने का है। उन क्रियाओ मे जो "बहुत अच्छी है, हित रूप है", ऐसा मिठास वर्तता है, उसे छुडाने का तत्पर्य है। ऐसा अभिप्राय तो सर्वथा हेय ही है। परन्तु अभिप्राय के हेय हो जाने पर, वह क्रियाये एक दम छोड दी जाये, ऐसा नही हुआ करता, जैसा कि पहले दृष्टान्त द्वारा समझा दिया गया है। अब प्रश्न होता है यह कि अभिप्राय बदल जाने के पश्चात् क्रिया कौन सी करे ? क्योकि कुछ करना तो पडेगा ही। निष्क्रिय तो रह नही सकता। इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिये हमे उपरोक्त चारो क्रियाओ मे से छाँट करनी है। परन्तु जिसमे चारो प्रकार की क्रिया करने की शक्ति न हो वह कितने मे से छाँट करेगा ? उतने मे ही से तो करेगा जितनी की वह कर सकता है। ज्ञानी जीव जिन्होने तुच्छ मात्र भी शान्ति का वेदन कर लिया है वे तो चारो क्रियाये कर सकते है। इसलिये उन्हे तो चारो मे से छाट करनी है। और वे व्यक्ति जिन्होने तुच्छ मात्र भी शान्ति का परिचय प्राप्त नही किया है, केवल पहली दो क्रियाये ही कर सकते है। अगली दो उनके पास है ही नहीं, क्या करे ? यद्यपि अभिप्राय से भोगाभिलाप जाती रही है, परन्तु शान्ति के वेदन रहित होने से इनका समावेश तीसरी क्रिया मे नही किया जा सकता। इसलिये उन्हे केवल पहली दो क्रियाओ मे से छांट करनी है।

विषय स्पष्ट हो गया। ज्ञानी व्यक्ति तो चौथी क्रिया करने का ही भरसक प्रयत्न करेगा, परन्तु वहाँ भी अन्य भूमिका मे शक्ति की हीनता वश अधिक समय न टिका रह सके तो, शेप समय तीसरी क्रिया मे बिताने का प्रयत्न करेगा। दूसरी क्रिया तो उससे होगी ही नही। क्योकि शुभ क्रियाओ मे उसकी प्रवृति तीसरी कोटि मे चली जायेगी। और गृहस्थ दशा मे, करने का अभिप्राय न होते हुए भी, पूर्व सस्कार वश यदि कदाचित् पहली क्रिया हुई भी उसके प्रति बहुत अधिक निन्दन ग्रहण करेगा ? परन्तु अज्ञानी जीव अभिप्राय बदल जाने पर और शाति की जिज्ञासा जागृत हो जाने पर दूसरी क्रिया को ही करने का भरसक प्रयत्न करेगा। तीसरी क्रिया की कोटि मे प्रवेश पाने का भी भरसक प्रयत्न करेगा, पहली क्रिया करने का स्वय प्रयत्न न करेगा, परन्तु यदि सस्कार वश हो ही गई तो उसके लिये अपनी निन्दा करेगा।

बताइये अब कहा रहा विरोध को अवकाश ? परन्तु अपराध रूप तो वे क्रियाये रही ही रही। सिद्धान्त तीन काल मे बाधित हो नही सकता।

१६

—: बन्ध तत्व :—

दिनाक २० जुलाई १९५९

प्रवचन न० २७

१—वन्धन शरीरादिक की दासता, २—तीन दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन, ३—भूल के प्रेरक सस्कार, ४—सस्कारों का निर्माण क्रम।

१ वन्धन शरीरादिक की दासता

स्वतन्त्रता की उपासना के द्वारा सम्पूर्ण बन्धनो का विच्छेद करके पूर्ण स्वतन्त्रता सहित निज चैतन्य देश मे शान्ति रानी के सग विलास करने वाले पर-ब्रह्म अनन्तो-सिद्ध भगवन्तो! मुझे भी शक्ति प्रदान करे, कि आपकी भाति मै भी इन बन्धनो का विच्छेद करके, निज साम्राज्य का भोग कर सकू। परन्तु वन्धन क्या है बात तो पहले जाननी पडेगी। क्या किसी ने बेडी डाली है पाओ मे, या बन्द किया है जेलखाने मे? कुछ भी तो ऐसी बात दिखाई नही देती? फिर भी बन्धन क्या?

ऐसा नही है भाई! यह बन्धन बेडियो रूप नही है, पर बेडियो से भी अधिक दृढ है। यह वन्धन जेलखाने रूप नही है पर जेलखाने से भी अधिक प्रबल है। सो दो प्रकार से देखे जा सकते है, एक अन्तरग मे और दूसरे बाहर मे। यदि मै स्वय अन्तरग मे न बन्धू तो बाहर मे मुझे बाधने वाली कोई शक्ति नही। इस शरीर को अपना मान कर निष्प्रयोजन इसकी सेवा में जुटे रहना, अथवा इसके लिए कुछ इष्ट से दीखने वाले धनादि अचेतन पर पदार्थ तथा कुटुम्ब आदि चेतन पर पदार्थो की सेवा मे ही जुटे रहना तो वह अन्तरग बन्धन है, जो स्वय मैने अपने सर लिया हुआ है। कुटुम्ब आदिक वास्तव मे वन्धन नही। यदि मै इनकी सेवा न करू तो कोई शक्ति ऐसी नही जो मुझे सेवक वना सके। सेवक वने रहना मेरी अपनी भूल है और मजा यह कि इस भूल मे भी मै आनन्द मनाता हूँ। यह मेरी भूल ही अन्दर मे मुझे कुछ प्रिय सी, कुछ मधुर सी लगती है? यदि मेरा कोई अत्यन्त हितैषी मुझे इससे छुडाने के लिये इनकी स्वार्थता दर्शाये भी तो मुझे वह भाता नही। मैं अन्तरग मे किसी दाह से व्याकुल हुआ, हाय हाय करता अन्तरग से पुकार अवश्य करता हूँ, पर उनकी मानने को एक मी तैयार नही हूँ। कितना दृड है यह बन्धन?

और इसके कारण से आस्रव तत्व मे दर्शाये गये उस कार्माण शरीर या सूक्ष्म शरीर में उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होते जाना, इस शरीर का और और नित्य नये नये जड कर्मो के प्रवेश द्वारा पुष्ट होते रहना, सो बाह्य बन्धन है। अर्थात् कर्म वन्धन है। यद्यपि यह अत्यत सूक्ष्म शरीर हमको दृष्टि गत होता नही परतु प्रत्यक्ष ज्ञानी गुरु इसे हस्तामलक वत् प्रत्यक्ष देखते हैं। परन्तु मेरे कल्याण मे यह वेचारा जड क्या बाधा पहुँचा सकता है? यदि मैं स्वय भूल न करू तो पडा है, पडा ही रहेगा। पड़ा

रहने दे क्या माँगता है बेचारा, "कर्म बेचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई ? अग्नि सहे घन घात लोह की सगत पाई।" यदि मै इन पर-पदार्थों की सेवा स्वय स्वीकार न करू तो कोई शक्ति नही कि जबरदस्ती मुझे सेवा करने को बाध्य करे। इनकी सेवा स्वीकार करने वाला तो मै हू। बिना किसी बाह्य के दबाव के स्वतत्र रूप से स्वीकार करता हूँ। और पीछे पुकार करता हू कि हाय हाय इन कर्मों ने मुझे पकडा है। कोई छुडाओ कोई छुडाओ।

२ दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन

अरे! कैसी मूर्खता है ? वृक्ष की कौली भर कर यदि मै आते जाते पथिको से यह पुकार करू कि भाई! मेरी सहायता करो। देखो इस वृक्ष ने मुझे पकडा है, इससे मुझे छुडाओ तो, कितनी मूर्खता होगी ? मैं नित्य अन्य को उपदेश देता हूँ। तोते का दृष्टात सुना सुना कर, मानो जगत को रिझाता हूँ। शिकारी के द्वारा लटकाई गई नलकी पर बैठा तोता, नलकी घूम जाने के कारण जब स्वय उतरने लगता है तो यह जान कर कि अरे! मै तो नीचे गिरा नलकी को और दृढ पकड़ लेता है, और उस पर उल्टा लटका रहता है। परन्तु विचारता यह रहता है कि नलकी ने मुझे पकड लिया है। पर फड-फडाता है उडने के लिये, पर पाँवो को न छोडे तो कैसे उडे ? "बस नलकी ने मुझे पकड लिया है हाय कोई छुडाओ" वही दशा तो मेरी है। स्वय दासता स्वीकार करके, हाय इस दासता से मुझे छुडाओ। कितनी हसी की बात है ?

देखो बन्दर की मूर्खता शिकारी के द्वारा पृथ्वी मे आधी गाडी गई चनो से भरी हडियाँ मे, चनो के लालच वश हाथ डाले स्वय, चनो की मुठ्ठी भरे स्वय और बन्द मुठ्ठी हडिया के मु ह मे से न निकल सके तो पुकार करे, हाय हाय, हडिया ने मुझे पकड लिया कोई छुडाओ कोई छुडाओ। यदि उस समय उसको यह कहा जाये कि भाई! मुठ्ठी को खोल दो, छुटा हो तो पडा है, तो मुठ्ठी खोलने के लिये कभी तैयार नही। भले शिकारी पकड ले। किसने पकडा है उसको ? हडिया ने या उसके लालच ने ? हडिया बेचारी का क्या दोष ? अब छोडे और भाग जाये। पडी रहेगी बेचारी। वह कब उसे पकडने को वृक्ष पर चढेगी ? बन्दर की मूर्खता पर आज मै हस रहा हू, पर खेद है कि अपनी मूर्खता मुझे दिखाई नही देती। शरीर, धन व कुटुम्बादि की सेवा स्वय स्वीकार करके कोस रहा हूँ कर्मों को। हाय इन कर्मों ने मुझे पकडा। देखो निष्कारण कनकान कर रहे है। अरे प्रभो! किसने पकडा है तुझे ? विचार तो सही। सेवा चाकरी छोड। कौन रोकता है तुझे ? यह बेचारा जड कर्म तो बिल्कुल निरापराध हैं। यह कब पकडते है तुझे ? तू स्वय ही इनको बुला बुला कर पकड लेता है इन्हे. अपराध मेरा और गले मढू कर्मों के। कैसे मज की बात है ?

भाई! तुझे कल्याण चाहिये, हित चाहिये, सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, तो बाहर मे इन की ओर न देख। देख अपनी ओर, अपनी प्रभुता की ओर। तू तो पहले ही से कल्याण रूप पडा है। तू तो अब भी शान्ति का भन्डार ही हैं। किसने छीना है उसे ? कुछ भी तो नही बिगडा है तेरा। अपनी शाति को सेवा चाकरी मे खोजने जाता है, बस इस कल्पना ही ने तो पकडा है तुझे। यही वह बन्धन है जो महात्माओ ने तोड दिये हैं। तू भी तोड दे तो वैसा ही तो है। सिद्ध प्रभु व तुझमे तनिक भी तो भेद नही ? काहे दुहाई देता है उनके द्वार पर, कि तुझे शाति प्रदान करे। तू सर्व समर्थ है, शक्ति का पुज।

३ भूल के प्रेरक संस्कार

इसकी सेवा चाकरी का भाव कौन पैदा करता है तेरे हृदय मे ? क्या कोई सिखाता है तुझे यह बाते ? पैदा होते ही बालक दौड पडता है स्तन की ओर। कौन सिखाता है उसे ? स्वय सीखा सिखाया ही तो उत्पन्न हुआ है। कभी यह क्रिया करने लगा था, आज आदत बन गई। संस्कार बन गया। कही भी जाये, इस रूपमे या उस रूप मे, मनुष्य के शरीर मे या तिर्यंच के शरीर मे, नरक गति मे या देव गति मे, यह सस्कार तो साथ ही लेकर जाता है। फिर किस सिखाने वाले की आवश्यकता है ? स्वय सीखता है, स्वय सस्कार बनाता है, स्वय साथ ले जाता है। स्वय तू ही तो है इनका निर्माण करने वाला। तू स्वय इनको न बनाये तो कर्म बेचारे क्यो आये ? तू इन सस्कारो को तोड दे तो कर्म भी बेचारे तेरा साथ छोड दे। कर्मो से प्रार्थना करने से कि भाई ! "अधिक न सताओ। कृपया मुझे रास्ता दे दो। मै धर्म करने जा रहा हूँ", क्या लाभ है ? इन बेचारो को क्या सुनाई देता है ? अपने सस्कारो को पहचान, उनका निर्माण तू नित्य किस प्रकार कर रहा है उसे जान, तथा ऐसी भूल करना छोड दे तो बन्धन काहे का ? स्वतंत्र ही तो पडा है।

सस्कार का नया शब्द सुनकर घबराने की आवश्यकता नही। आगम मे इस शब्द का प्रयोग किया नही। मै किस आधार पर कह रहा हूँ, यह विचारने की आवश्यकता नही। इस प्रकार का आगम के शब्दो का पक्ष तेरे लिये अहितकारी है। ऐसा पक्ष करेगा तो बात न समझ सकेगा। आगम मे जिसे भाव बन्ध नाम से पढता चला आया है, वह क्या बला है ? क्या कभी सोचा था ? अरे ! अपने अन्दर मे उतर कर देख, सस्कार प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे है। सस्कार उस आदत का नाम है जो तूने धीरे धीरे नित्य नये नये अपराध कर करके अर्थात आस्रव के द्वारा पुष्ट की है। और उसी पुराने पुष्ट या आदत रूप सस्कारो से प्रेरित हुआ नित्य नये नये अपराध कर रहा है। बिल्कुल विवेक नही रहा है। अपराध, सस्कारो का निर्माण, आगे उनकी प्रेरणा से पुन पुन, वही नये नये अपराध, सस्कारो का और पोषण, अधिक अधिक प्रेरणा, अधिक अधिक अपराध, सस्कारो की अधिक अधिक पुष्टि। बस यही तो है वह चक्र जिसमे मै उलझा पडा हूँ।

४ सस्कारों का निर्माण क्रम

समझनी भी कठिन नही है। सबके अनुभव मे आई है। केवल विश्लेषण करने की कमी है ज्ञानी व अज्ञानी मे इतना ही तो अन्तर है। एक फिलास्फर व एक साधारण व्यक्ति मे इतना ही तो अन्तर है। फिलास्फर सिद्धान्त व नियम कोई घर मे थोडे ही बनाता है। सिद्धान्त का आधार तो अनुभव है। विश्लेषण करो तो आप भी बना सकते हो। यदि बनाने की शक्ति न हो तो समझ तो अवश्य सकते हो। देखिये दृष्टान्त देकर समझाता हूँ। सस्कार निर्माण का क्रम तथा उस सस्कार की वह शक्ति जो तुझे नये नये अपराध करने की प्रेरणा देती है।

देखिये उस डाकू की ओर ! आज का वह विश्व-विख्यात डाकू, क्या डाकू बनकर जन्मा था ? नही तो। जन्मा था तब तो बिल्कुल भोला भाला था। छोटा सा बच्चा था। तबतो बडा प्रिय लगता था। आज का यह भयानक रूप कैसे धारण किया ? डाकू बनना उसने प्रारम्भ किया उस समय से जबकि वह स्कूल मे पढने के लिये भेजा गया। पहले ही दिन उसकी दृष्टि पडी अपने साथी की पैन्सिल पर। कुछ सुन्दर सी लगी। न मालूम एक विचार सा कहा से उठा उसके अन्दर ? एक बिजली की चमक की भाति उसे कुछ धक्का सा लगा "और यदि उठा लू इसे तो, अवकाश का ही तो समय है, रैसेस है, कोई भी तो नही है यहाँ ? सब साथी खेल मे लग्न है। कोई भी तो नही देख रहा है ? किसी को क्या पता चलेगा ? कि मैने उठाई है ?" और चारो ओर चौकन्ना होकर न जाने किसे खोज रहा है ?

हाथ यकायक बढता है पैन्सिल की ओर। पर यह क्या ? "अरे ! नही नही यह ठीक नही है। यदि किसी ने देख लिया तो ? मार पडेगी बुरी तरह। और वह वेचारा साथी तो रोयेगा। नही नही मत उठा।" हृदय मे बुरी तरह कापता हुआ सा। पुन चौकन्नी सी दृष्टि चहूँ ओर। और साहस वटोर कर उठा ही लेता है-उस पैन्सिल को-हृदय की कम्पन को दवाने का प्रयत्न करता हुआ। घर जाकर प्रसन्न होता है उस पैसिन्ल को देख देख कर। अरे दो पैसे की होगी। कितनी सुन्दर है ? चलो आज तो दो पैसे कमाये।

और अगले दिन वही दृष्टि पडी पुस्तक पर। चौकन्नी सी आखे घूमने लगी यकायक चारों ओर। हृदय मे कम्पन, हाथ भी कुछ कापे कांपे से, परन्तु न तो था आज कल जितना विस्मय, न था कल जितना भय, न था कल जितना कम्पन, न थी कल जितनी ग्लानि। किताव उठाई और वस्ते मे डाल दी। घर जाकर किताव को उलट-पलट कर देखा। विल्कुल नई है। वाह,वाह ! कितना अच्छा हुआ ? अव तुझे किताव खरीदनी न पडेगी।

तीसरे दिन उसी प्रकार दवात, और फिर चौथे पाचवे दिन अन्य-अन्य वस्तुये। पर आगे को हीन-हीन विस्मय, हीन-हीन भय, और हीन-हीन कम्पन, हीन-हीन ग्लानि। इनके साथ-साथ धीरे-धीरे साहस मे वृद्धि। और आज वही है साहसी निर्भीक डाकू। जिसके अन्दर न है विस्मय, न है भय, न है कम्पन, न है ग्लानि। वस वन गया सस्कार, एक पुष्ट और प्रवल डाके डालने का। पहली दूसरी आदि स्थितियो मे ही रोकता तो रुक जाता, पर आज उसे कितना भी दण्ड मिले, वह सस्कार रुकने वाला नही। पहले दिन जिस सस्कार का आरम्भ कापते हुये हृदय से हुआ था आज वह उसे प्रेरणा करता है-साहस देता है-वडे वडे डाके डालने का।

इसी प्रकार किसी मित्र की प्रेरणा से पहले दिन घृणा बुद्धि से, कापते हुये हृदय के साथ, शराव की एक घूट मात्र पी लेने वाले उस व्यक्ति को, आज शराव के विना चैन नही। पहले दूसरो के पैसे से पीनी प्रारम्भ करने वाला, आज अपनी लहू पसीने की कमाई को भी शराव के लिये फूक रहा है। कौन शक्ति है ? कौन प्रेरणा है ? वही सस्कार की शक्ति, वही सस्कार की प्रेरणा, जिसे उपरोक्त क्रम से स्वय उसने पुष्ट किया है।

वस वन गया सस्कार निर्माण का सिद्धान्त। कोई भी व्यक्ति कभी एक नया अपराध करता है। तव सस्कार की रूप रेखा मात्र सी अन्दर मे वन जाती है, जो उसे पुन वह अपराध करने के लिये वल प्रदान करती है-तथा उसके भय को हटाती है। उससे प्रेरित हुआ पुन उसी जाति का अपराध करता है। उस सस्कार को पुष्टि हो जाती है। वह पुष्ट सस्कार और अधिक प्रेरणा व वल देता है। पुन उस जाति का अपराध दोहराता है। पुन सस्कार की पुष्टि हो जाती है। और इसी प्रकार पुन. पुन. नया नया अपराध या आस्रव और तत्फल स्वरूप और सस्कारो की पुष्टि, या पूर्व-पूर्व सस्कार मे नई-नई शक्ति का वन्ध। और इसी प्रकार आगे जाकर वन वैठता है वह एक प्रबल संस्कार, एक आदत एक Instinct। जिसको अव यदि दवाना भी चाहूँगा तो कुछ असम्भव सा प्रतीत होगा।

इसी प्रकार मै अनादि से कुछ नये-नये अपराध या आस्रव करता चला आ रहा हूँ। जिस जिस जाति के अपराध करता हूँ उस उस जाति के अपराध पहले भी किये थे। अत उस उस जाति के

सस्कार अन्तरग मे पहले से ही पडे है। अब का किया नया अपराध मिल जाता है अपनी जाति के पूर्व सस्कार के साथ-और पुष्ट कर देता है-उसे ! इसी प्रकार सर्व ही पूर्व सस्कारो का बराबर सीचन करता चला आ रहा हूँ। बराबर आस्रव तत्व के द्वारा उनका पोषण करता चला आ रहा हूँ। बरावर उन्हे वेतन देता चला आ रहा हूँ। यह है वास्तव में मेरा बन्धन अर्थात् बन्ध तत्व। इसकी प्रेरणा से करता हूँ मै नित्य नये नये अपराध ? इसकी प्रेरणा से ही स्वीकार की है मैने शरीरादिक की दासता।

यदि आज इस दासता को छोड कर नये नये अपराध करना वन्द कर दू तो इन सस्कारो को आहार कहा से मिलेगा ? वेतन कौन देगा ? स्वय सूख जायेगे बेचारे। या भूखे मरते छोड जायेगे मुझे। कोई दूसरा द्वार जा खट खटायेगे। अत भाई यदि स्वतन्त्रता चाहिये तो कर्मो को कोसने से कुछ न बनेगा। न ही प्रभु से भिक्षा मॉगने से काम चलेगा। जिस प्रकार रस ले लेकर सस्कारो का निर्माण किया है उसी प्रकार रस ले लेकर इन्हे तोडने से काम चलेगा। स्वतन्त्र रूप से तूने ही इनका निर्माण किया है, और स्वतन्त्र रूप से तू ही इन्हे काट सकता है। कैसे ? सो अगले प्रवचन में आ जायेगा।

VI संवर निर्जरा

[गृहस्थ सम्बन्धी]

२०

—: संवर सामान्य :—

दिनांक २१ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २८

१—जीवन में उतारने की प्रेरणा, २—क्रियाओं में अभिप्राय की मुख्यता, ३—प्रत्येक क्रिया के अन्तरंग व बाह्य दो अंश।

भव सतप्त इस पथिक को शान्ति प्रदान कीजिये नाथ! आपकी शरण मे आकर क्या इतना भी न मिलेगा? सुनते आये है कि अपने आश्रित को आप अपने समान कर लिया करते हो। अनेको अधम उधारे है-आपने। मै भी तो एक अधम हूँ। मुझ पर भी कृपा कीजिये प्रभु! शान्ति मागता हूँ और कुछ नही। धन सम्पत्ति नही माँगने आया हूँ। और वह आपके पास है ही कहा जो कि दे देते? वही वस्तु तो दी जा सकती है जो कि उसके पास हो। आपके पास है शान्ति का अटूट भण्डार। मुझे भी दीजिये नाथ! थोड़ी सी ही दे दीजिये। इस ही मे सन्तोष कर लू गा। देखिये अपने द्वार से खाली न लौटाइये। मेरा तो कुछ न बिगड़ेगा। क्योकि मैं तो पहले ही रक हूँ। अब भी रंक रह लू गा। जगत आपकी ही निंदा करेगा, कि काहे बड़ा, भूखे की झोली मे एक मुट्ठी चावल भी नही डालता।

१ जीवन में उतारने की प्रेरणा

नही नही। ऐसा होना असम्भव है। आपकी शरण मे जो आया है वह खाली नही लौट सकता। मुझ मे लेने की शक्ति होनी चाहिये। आप तो मार्ग दर्शा ही रहे हैं। सवर का मार्ग, अर्थात् सम्यक् प्रकार वरण करने का मार्ग। सम्यक् प्रकार ढक देने का अर्थात् दवा देने का मार्ग। किनको? आस्रव अधिकार मे बताये प्रति क्षण होने वाले नवीन नवीन अपराधो को। उन अपराधों को जो साक्षात् व्याकुलता रूप है। अन्तर दाहक है। उनके दव जाने का नाम ही तो शान्ति है। अत यह सवर का मार्ग ही तो शाँति का मार्ग है। ले सुन! सुनने मात्र से काम न चलेगा जीवन मे उतारने से काम चलेगा। आज तक जीव अजीवादि तत्वो की रटत की है। शाति मिले तो कैसे मिले? अब वैसी बात न समझना। कुछ सूत्र याद करने से कोई लाभ नही। उनके रहस्य को जीवन मे उतारने से लाभ है। ले तो उसी रहस्य को सूत्रो मे नही, बडी सरल भाषा मे, तेरी भाषा मे, वड़ा सहल करके धीरे धीरे समझाता हूँ। ध्यान से सुन! विचार कर! और आज से ही अपने दैनिक जीवन मे उनके अनुसार कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर।

वे बाते कुछ ऐसी भी नही होगी, जो तू न कर सके। या कुछ कठिन पडे। गुरुदेव बडे उपकारी है। छोटे से छोटे, बडे से बडे तथा शक्ति हीन व शक्तिशाली सब का उपकार करते है। सबको यथा योग्य मार्ग दर्शाते है। जो कियाये करने के लिये तुझे कहा जायेगा, वे तेरे ही लिये उपयुक्त है। आज तक अनेको वार सुनी है वही क्रियाये, पर बैठी नही है ध्यान मे। कारण कि कुछ विकट सी, कुछ उलझी हुई सी बना कर बताई गई है। साथ साथ व्रतो आदि की कुछ समस्याये भी मिला दी गई है। बीच बीच मे मुनियो की चर्चा का भी कथन कर दिया गया है। एक खिचड़ी सी वन गई है। पचे तो कैसे पचे ? डर मत। व्रत धरने को नही कहा जायेगा, न कुछ खाना पीना छोडने को कहा जायेगा, न घर छोडने को कहा जायेगा, फिर भी उनको जीवन मे उतारने से साक्षात् शाति का रस तुझे स्वय आयेगा। किसी से पूछने जाना न होगा। किसी शास्त्र मे देख कर निर्णय न करना होगा। कसौटी स्वय तेरे पास है। थोडा करके देखना। जरा ही प्रयास करना। कुछ लाभ दिखाई दे, कुछ शाति आवे, तो ग्रहण कर लेना नही तो छोड देना।

पक्षपात व साम्प्रदायिकता की बात नहीं है। सर्व हित की बात है। कोई भी क्यो न हो। पशु हो या मनुष्य, नारकी हो या देव, ब्राह्मण हो या शूद्र, जो करे सो पावे। जीवन मे उतारने का नाम करना है, ऊपर ऊपर की कुछ दिखावे की या शरीर को तोड़ने मरोडने की या पदार्थो विशेष को इधर से उधर धरने की, ऐसी क्रियाओ का नाम नही है। अहो ! करुणा सागर गुरुदेव ! कितना सहल वना दिया है मार्ग ? हर किसी को अवकाश प्रदान कर दिया है। मानो सर्व समानता की बिगुल ही बजाई है। आपके शासन मे ब्राह्मण आदि को ऊंचा व शूद्र को नीचा दर्जा प्राप्त हो ऐसा भेद है ही नही और वास्तव में आपके शासन मे शूद्र नाम का शब्द ही नही है।

जिस मार्ग की नीव मे ही द्वेष डाला गया हो, ब्राह्मण व शूद्र मे द्वेप उत्पन्न कर दिया गया हो, शूद्र के पानी का त्याग कराया जाता हो, उस मार्ग को साम्यता का मार्ग होने का दावा किया जाये, आश्चर्य है। द्वेष व साम्यता दोनो कैसे इकट्ठे रह सकेंगे ? शांति प्राप्त हो तो कैसे हो ? मूल मे ही भूल है, फल कैसे लगे ? भगवन समझ ! स्व पर भेद विज्ञान प्राप्त करके, इस भूल को निकाल दे। और फिर साम्य रस मे भीगी उस गुरुदेव की वाणी को सुन।

२ क्रियाओ में अभिप्राय की मुख्यता

यह सवर का प्रकरण है। उसके अन्तर्गत कुछ विशेष क्रियाओ का वर्णन आयेगा। वे क्रियाये जो गृहस्थ के करने योग्य है। वे क्रियाये जिसे वह आसानी से कर सकता है। वे क्रियाये जिन से उसके शरीर को भी बाधा नही पहुँचती, क्योकि इन क्रियाओ मे वाहर की नही कुछ अन्तरग की मुख्यता है। यद्यपि इन क्रियाओ मे कुछ क्रियाये वह है जिन को कि शुभ आस्रव के प्रकरण मे अपराध बता कर कथञ्चित् निषेध किया गया है। परन्तु जैसा कि वहा भी स्पष्ट कर दिया गया था, इनमे अन्तरग की मुख्यता होने के कारण तथा अभिप्राय ठीक होने के कारण यह क्रियाये वहा बताई गई तीसरी कोटि मे समावेश पा जाती है। इसलिये अल्प भूमिका मे कथञ्चित् उपादेय है। तात्पर्य यह कि ज्ञान धारा मे रगी सर्व क्रियाये उपादेय व कर्म धारा मे रगी सर्व क्रियाये हेय हैं। (देखो अधिकार नं० १७ प्रकरण नं० ५)।

यद्यपि आज तक उन क्रियाओ में से आप सब बहुत क्रियायें पहले से करते आ रहे हैं। जैसा कि देव पूजा आदि, पर अन्तरंग अभिप्राय ठीक न होने से उनका वह फल नही हुआ है जो कि

होना चाहिये था, अर्थात् शान्ति। इसलिए ऐसा कहने मे आता है कि जितना अधिक धर्म करने वाले व्यक्ति है उतने ही अधिक दुःखी है। यह बात झूठी भी नही है। वास्तव मे ऊपर से देखने से ऐसा ही दिखाई दे रहा है। उसका कारण यह है कि या तो वह क्रियाये मिथ्या अभिप्राय पूर्वक की जा रही है, अर्थात् आस्रव प्रकरण मे बताये दूसरे अभिप्राय पूर्वक की जा रही है, या केवल कुल परम्परा से बिना समझे ही की जा रही है ? सच्चे अभिप्राय पूर्वक अर्थात् आस्रव प्रकरण मे बताये गये तीसरी कोटि के अभिप्राय पूर्वक इन क्रियाओ को करने वाला तीन काल मे भी कभी दुःखी रह नही सकता। ऐसा दावे के साथ कहा जा सकता है। अत प्रत्येक क्रिया की परीक्षा अपने अभिप्राय से करते हुये चलना है। अभिप्राय पर ही जोर है। वही मुख्य है। क्रिया की इतनी महत्ता नही जितनी उसकी है। अत. अभिप्राय को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये। स्थल-स्थल पर दृष्टान्तो आदि के द्वारा अभिप्राय पढने का उपाय भी बताता जाता रहेगा। उसे पढ कर गुण दोष खोजना, दोपो को दूर करने का प्रयत्न करना। तभी वह क्रियाये सच्ची कहला सकती है।

एक उदाहरण देता हूँ। एक किसी साधू को स्वर्ण बनाने की रसायनिक विद्या आती थी। एक गृहस्थ को पता चल गया। विद्या लेने की धुन को लिये, वह उस साधू की सेवा करने लगा। दो वर्ष बीत गये। बहुत सेवा की। साधू ने प्रसन्न होकर उसे विद्या दे दी। अर्थात् वह कापी जिसमे वह उपाय लिखा था उसे दे दी। प्रसन्न चित्त गृहस्थ घर लौटा। भट्टी बनाई, सारा सामान जुटाया। और जिस प्रकार कापी मे लिखा था, करने लगा। बड़ी सावधानी वर्ती, कि कही गल्ती न हो जाये। प्रत्येक क्रिया को पढ़ पढ कर किया, पर स्वर्ण न बना। फलत श्रद्धा जाती रही। सोचने लगा दो वर्ष व्यर्थ ही खो दिये। साधू ने यू ही झूठ मूठ अपनी ख्याति फैलाने के लिये ढोंग रच रखा था। सोना आदि बनाना उसे आता ही न था। कापी मे भी यू ही काल्पनिक बाते मेरे मन बहलाने को लिख दी। क्रोध मे भर गया। पर क्रोध उतारे किस पर ? साधू न सही उसकी कापी तो है। चौराहे पर बैठ कर लगा कापी को जूतो से पीटने। सहसा ही वह साधू मार्ग से आ निकला। गृहस्थ की मूर्खता को देख कर सब कुछ समझ गया। बोला क्यो इतना क्रोध करता है। भूल स्वयं करे और क्रोध उतारे कापी पर ? इस बेचारी ने क्या लिया है तेरा ? चल मेरे साथ मै देखता हूँ, कैसे नही बनता सोना ? भट्टी के पास दोनो आये। सामान जुटाया, प्रक्रिया चालू हुई। सब ठीक, परन्तु नीबू पड़ने का अवसर आया, तो लगा चाकू लेकर नीबू काटने। साधू बीच मे ही बोला। 'क्या करता है ?' 'नीबू काटता हूं।' 'कहाँ लिखा है इसमे नीबू काटना ?' "काटना न सही, नीबू का रस तो लिखा है ? बिना काटे रस कैसे निकले ?" साधू ने गृहस्थ से नीबू छीन लिया, और दोनो हथेलियो के बीच साबुत का साबुत नीबू रख कर, जोर से दबा दिया। रस नुचड़ गया। बोला कि ऐसे निकलता है रस। यह न सोचा बुद्धि लगा कर, कि चाकू से लोहे का अन्श जाकर सारे फल का विनाश कर देगा ? और सोना बन गया। गृहस्थ लज्जित हुआ-अपनी भूल पर। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत। विद्या साधू अपने साथ ही ले गया।

तात्पर्य केवल इतना दर्शाना है कि सर्व क्रिया ठीक होते हुवे भी कोई ऐसी भूल जो दृष्टि मे भी आती नही सर्व फल का विनाश कर डालती है। और यथा कथित फल न मिलने पर बजायें अपनी भूल खोजने के प्राणी का विश्वास क्रिया पर से ही उठ जाता है। इस प्रकार बजाते हित के अपना अहित कर बैठता है। अत. पहले से ही अभिप्राय की सूक्ष्मता को पढने के लिये कहा जा रहा है।

ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल का भी सुधार किया जा सके। और क्रिया से वही फल प्राप्त किया जा सके, जो कि उसमे होना चाहिये।

३ प्रत्येक क्रिया मे अन्तरग व बाहय दो अन्श

सवर रूप सर्व क्रियाओ मे जैसा कि प्रत्येक क्रिया के साथ साथ बताया जायेगा युगपत् दो अश विद्यमान रहते है। एक बहिरग अश और एक अन्तरग अश। बहिरग अश तो शारीरिक क्रिया रूप होता है और अन्तरग अश मानसिक क्रिया रूप। बहिरग अश तो सर्व सामान्य व्यक्तियो के इन्द्रिय गम्य है, और अन्तरग क्रिया केवल करने वाले एक व्यक्ति विशेष के अनुभव गम्य। बाह्य क्रिया का आधार शरीर व कुछ बाह्य जड़ या चेतन सामग्री है, और अन्तरग क्रिया का आधार वह अभिप्राय जिसके प्रति कि ऊपर सकेत किया जा चुका है। बाह्य क्रिया करने आदि के विकल्प सहित है और अन्तरग क्रिया शाति के अनुभव सहित। और इसलिये वह सर्व क्रिया अशाति व शाँति के मिश्रण रूप है। शुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई तीसरी कोटि की क्रिया है। इसमे जितना अश अन्तरग शाति के वेदन का है उतने ही अश मे यह क्रियाये संवर रूप हैं ? जितना अश विकल्पात्मक है उतने अश मे यह सर्व क्रियाये आस्रव रूप ही है। अत जहा आस्रव प्रकरण मे अपराध रूप से उन क्रियाओ का कथन आया है, वहा तो उन क्रियाओ के बाह्य अशो की मुख्यता से समझाना। जहा जहा कि अन्तरग अश रूप अभिप्राय के सुधार पर जोर दिया जा रहा है वही क्रियाये सवर रूप है।

सवर कहते हैं प्रत्येक क्षण नया नया अपराध होने देने से रोक देने को। अर्थात् जिस किसी प्रकार भी लौकिक भोगादि सम्बन्धी विकल्प, या पर-पदार्थों मे इष्टानिष्ट बुद्धि रोकी जा सके, रोकना कर्तव्य है। वास्तव मे पदार्थो को जानना अपराध नही है। जानने मात्र से राग द्वेप उत्पन्न नही हो सकता। राग द्वेष होता है इष्टानिष्ट बुद्धि से। देखिये आप अपने बरामदे मे खडे सडक की ओर देख रहे है। अनेक पशु, पक्षी, व व्यक्ति सडक पर से गुजरते आप ने देखे। कुछ परिचित भी थे कुछ अपरिचित भी। कुछ देर पश्चात् उसी सडक पर देखा अपने पुत्र को आते हुवे। तुरन्त यह सोच कर कि कुछ कार्य-वश मेरे पास ही आ रहा है, एकाएक बोल उठे "क्यो ! क्या काम है ? इतनी जल्दी कैसे लौट आये आज ? पुत्र को देख कर यह विकल्प क्यो ? कारण यही कि अन्य व्यक्तियो मे थी माध्यस्थता और पुत्र मे थी इष्टता। इमी प्रकार आप इन्ही आखो से देखते हो-हस्पताल मे पडे और बुरी तरह कराहते हुए अनेक रोगियो को, और इन्ही नेत्रो से देखते हो अपने रोगी पुत्र को। परन्तु जो अत्यन्त व्याकुलता व वेदना का भाव पुत्र को देख कर आप मे जाग्रत होता है, वह अन्य रोगियो को देख कर क्यो नही होता ? कारण यही कि पुत्र मे है इष्टता और अन्य मे माध्यस्थता। यदि कदाचित् उन्हे देख कर थोडी मात्रा मे व्याकुलता हो भी गई है, तो उसका कारण भी है कुछ करुणा जिसका आधार है-राग या इष्टता। यदि पूर्ण माध्यस्थता होती तो उन्हे देख कर बिल्कुल व्याकुलता न होती।

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार हमे यह देखना है कि ऐसी कौन सी क्रियाये सम्भव है जिनमे इष्टता अनिष्टता को पूर्ण रूप से या आँशिक रूप से भी अवकाश न हो। अनेको क्रियाये होनी सम्भव है। पूर्ण रूप से इष्टता अनिष्टता रहित क्रियाओ को करने की सामर्थ्य इन्द्रिय विजयी योगियो मे ही होनी सम्भव है। इसलिये अल्प दशा मे मेरे लिये कुछ ऐसी क्रियाये होनी चाहिये जो कि मैं

सुविधा पूर्वक अपने जीवन मे उतार सकूं। ऐसी क्रियाये आंशिक रूप से ही इष्टता अनिष्टता रहित हो सकती हैं। अत. सवर क्रियाये दो भागो मे विभाजित कर दी गई, एक गृहस्थ के योग्य दूसरी साधु के योग्य। पहले गृहस्थ सम्वन्धी क्रियाओ की वात चलेगी। साधु सम्वन्धी क्रियाओ की वात आगे आयेगी। गृहस्थ सम्वन्धी सवर रूप क्रियाओ को छ कोटियो मे विभाजित किया जा सकता है। देव पूजा गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान। अव क्रम पूर्वक इन्ही क्रियाओ का अन्तरग व वाह्य स्वरूप दर्शाया जायेगा। तथा यह भी साथ साथ वताने का प्रयत्न किया जायेगा कि आज तक की हमारी क्रियाओ में क्या त्रुटि रहती चली आई? जिसके कारण कि इनका फल नहीं मिल रहा है?

२१

—: देव पूजा :—

दिनांक २२ जुलाई १९५९

प्रवचन न० २६

१—शान्ति का भिखारी मैं, २—अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति में देवत्व, ३—शान्ति के उपासक का सच्चा देव, ४—यथार्थ पूजा शान्ति का वेदन, ५—वास्तविक पूजन व बहुमान का चित्रण, ६—अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप, ७—देव कौन, ८—पूजा क्या, ९—पूजा की आवश्यकता क्यों, १०—देव के आश्रय की क्या आवश्यकता, ११—देव से मुझे शान्ति कैसे मिल सकती है, १२—पूजा में कर्ता वाद क्यों, १३—पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों, १४—चित्र का मन पर प्रभाव, १५—वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता, १६—कल्पनाओं का बल, १७—प्रतिमा व जीवित देव में समानता, १८—देव के प्रति बहुमान व भक्ति, १९—प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर, २०—पंच कल्याणक महत्व, २१—प्रतिमा क्या और कैसे देती है २२—भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त, २३—विकल्पों को सर्वत या सर्वदा दबाने में असमर्थता, २४—थोड़ी देर को दबाना प्रयोजनीय, २५—अनुकूल वातावरण की महत्ता, २६—मन्दिर की अनुकूलता, २७—मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पों का त्याग।

१ शान्ति का भिखारी मैं

हे शान्ति सुधा सागर ! हमे अपना दास बनने का सौभाग्य प्रदान कीजिये। ओह ! कैसी अनोखी बात है ? शान्ति का उपासक मै भीख मागने पर उतर आया हूँ। और भीख भी काहे की ? दासत्व की ? परन्तु इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है भाई। क्योकि आज मै वास्तव मे हूँ ही भिखारी। भिखारी कौन होता है, यह तो सोच ? भिखारी के दो मुख्य लक्षण हैं। पहला यह कि जिसे कुछ इच्छा हो, दूसरा यह कि जिसकी इच्छाये पूर्ण न हो पाती हो या पूर्ण होने की आशा न हो, क्योकि यदि किसी को इच्छाये न हो, या अपनी इच्छाओ को स्वय पूरा कर लेता हो, तो दूसरे के सामने हाथ फैलायेगा ही क्यो ? बस तो आज की दशा मे यह दोनो लक्षण मुझ मे घटित होते है। मुझे शान्ति की इच्छा है, और गृहस्थ जाल मे बन्ध कर विकल्प सागर मे डूबे हुये मुझे परिश्रम करने पर भी विकल्पो से मुक्ति मिलती प्रतीत नही होती। और इसलिये इस दशा मे रहते हुए शाति मिलनी बहुत दुर्लभ लगती है। यहां तक कि आज मै कुछ हत बुद्धि सा, निराश सा होकर यह ही सोचा करता हूँ कि क्या करू ? कैसे इन विकल्पो मे छूटू ? कैसे शाति मे स्थिति पाऊ ? मै भिखारी अवश्य हूँ। पर अन्य भिखारियो मे और मुझ मे अन्तर है। वे है धन व भोगो के भिखारी, और मै हूँ शाति का भिखारी। भिखारी बना रहना किसी को अच्छा नही लगता, और मुझे भी अच्छा नही लगता, पर क्या करू भूखा मरता क्या नही करता। जिस प्रकार कदाचित् सौभाग्य वश उन भिखारियो मे से किसी एक को भी किसी प्रकार भी धन या भोगो की प्राप्ति हो जाये तो वह स्वत ही भीख मांगना छोड़ देता है। उसी प्रकार मुझे भी

कदाचित् किसी प्रकार शाति मे स्थिति हो जाये तो मै भी स्वत भीख मांगना छोड दू'गा। जैसे वह यदि आज ही आपके कहने से या स्वत ही भीख मांगना छोड दे तो भूखे मर जाये, उसी प्रकार मै भी यदि आपके कहने से या शर्म के कारण भीख मागना छोड़ दू तो भूखा मर जाऊं।

२ अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति मे देवत्व

अब प्रश्न यह उठता है कि भिखारी वन कर घर से निकला कोई भी व्यक्ति किस के पास जाये भीख मांगने ? उत्तर स्पष्ट है कि, उसके पास, जिसके पास कि उसकी अभीष्ट वस्तु का भण्डार हो तथा जो उदार हो कृपण नही। वस तो जिस प्रकार धन के भिखारी जाते है धन के भण्डार व दानी, धनिको व राजा के पास, धनुष विद्या के भिखारी जाते है, उस विद्या के भण्डार व उदार हृदय द्रोणाचार्य के पास, आधुनिक विद्या के भिखारी जाते है उस विद्या के भण्डार तथा इसे देने मे तत्पर स्कूल, कालिज के मास्टरो व प्रोफैसरो के पास, वीरता के भिखारी जाते है, वीरता के भण्डार तथा दयालु महाराणा प्रताप के पास, जुए के भिखारी जाते हैं, वडे जुआरी के पास, उसी प्रकार शान्ति का पुजारी मै जाऊगा शान्ति के भण्डार व विश्व कल्याण मे तत्पर किसी भी योग्य व्यक्ति के पास।

अब देखना यह है कि मेरी कामनाओं की पूर्ति करने वाला, मुझ भिखारी की झोली भर देने वाला, उपरोक्त लक्षणो को धारण करने वाला, ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास कि मैं जाऊं, तथा वह कहा रहता है ? चलो खोजे उसे। यह लो राजा की सवारी जाती है। आइये इसी से माग ले "राजा महाराज की जय हो। इस गरीब की झोली मे भी कुछ डाल दो।" "लो यह दो अशर्फी।" "पर क्या करूं गा इनका ? मुझे तो शान्ति चाहिये। हो तो दे दीजिये।" "अरे! इस शान्ति का तो मै भी भिखारी हूँ। भिखारी भिखारी को क्या देगा ?" और इस प्रकार स्कूल का मास्टर, प्रोफैसर, सेठ, सेनापति, जुआरी, कसाई सब से माग कर देखो सब स्वय भिखारी हैं इस शान्ति के। उनके पास जाना व्यर्थ है।

अब आइये इधर इस द्वार पर जहा कि कल्पनाओ के घोडे पर सवार, यह कुछ विशेष प्रकार के भिखारी खडे भीख मांग रहे है। देखे तो अन्दर कौन है, और क्या वाट रहा है ? अरे! यह तो मुरली वजाता हुआ उसकी धुन मे, तथा गोपियो के साथ क्रीड़ा करने मे मस्त हुआ, अतीव सुन्दर शरीर का धारी, बलवान, नीतिज्ञ, दयालु, सखा व अनेक गुणो का भण्डार कृष्ण है। "प्रभो! मुझको भी दे दीजिये कुछ ?" "हा, हां, लो। वताओ क्या चाहिये ? सगीत का मधुर पान चाहिये, तो यह लो। इन्द्रियो मे आसक्तता का स्वाद चाहिये ? तो यह लो। अपने साथियो से प्रेम करने की इच्छा हो तो, यह लो। वीरता चाहिये, तो यह लो। राज्य नीति चाहिये, तो यह लो। धन महल चाहिये, तो यह लो। अरे! तुम तो कुछ बोलते ही नही। बोलो, डरो नही। जो चाहिये ले लो।" 'परन्तु भगवन्! मेरे काम की तो इनमें एक भी वस्तु नही। मुझे तो शान्ति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "हैं क्या कहा ? शांति ? भाई यह तो कुछ कठिन समस्या है। मैं स्वयं इसके लिये शिव की उपासना करता हूं।"

आइये इधर देखिये, कैसी भीड़ लगी है ? अरे! यह तो राजा राम है। कन्धे पर धनुष, दाईं ओर भ्रातृ भक्त लक्ष्मण, और बाई ओर माता सीता। अहा हा! कितना मनोज है यह दृश्य ?

कृत चित्र
श्री महावीर दर्शन
अन्यथा शरणम् नास्ति त्वमेव शरणम् मम।
तस्मात् कारुण्य भावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर॥

शान्ति की शरण

मानों विश्व को प्रेम का सदेश सुना रहा है। मुख पर कोमल कोमल मुस्कान, मानों जगत को निर्भयता प्रदान कर रहा हो। आओ इन्ही के सामने झोली फैला कर देखू । सम्भवत कुछ मिल जाये। देखिये यह स्वय बुला रहे है। कितना प्रेम है इनमे ? प्रभो ! मुझे भी दे दीजिये कुछ। "ले लो भाई यह पडा है ढेर, जो चाहे ले जाओ। देखो यह पडी है पितृभक्ति, इधर देखो यह पड़ा है प्रजा पालन, और वह देखो रखा है न्याय, यह है वीरता, और यह लो कर्तव्य परायणता। बताओ क्या चाहिये ? अरे ! चुप क्यो हो ?" "क्या कहूँ भगवन् ! इन सव में से मुझे कुछ भी नही चाहिये। मुझे तो चाहिये केवल शान्ति।" "ओह ! समझा। वहुत भाग्यशाली हो तुम, कि उस महान वस्तु की जिज्ञासा लेकर आये हो कि जिसके सामने तीन लोक की सम्पदा तुच्छ है, जिसके लिये बडे बड़े चक्रवर्तियो ने राज पाट को लात मार दी, और जिसके लिये मैने स्वय भी इस सम्पूर्ण जाल को तोड़ कर वीतरागी वेष धर बनवास को अपना सौभाग्य समझा था। तुम सम्भवत. नही देख पा रहे हो मेरे जीवन का वह पिछला भाग, जव कि मै राजा राम नही था वल्कि था साधू राम, और न ही देख पा रहे हो मेरे आज का जीवन जब कि मै राजा की वजाए भगवान राम बन चुका हू। यदि शान्ति चाहिये तो राजा राम के पास न मिलेगी, वल्कि भगवान राम के पास मिलेगी, मुनि राम के पास मिलेगी, तपस्वी राम के पास मिलेगी, दिगम्बर राम के पास मिलेगी, जिसको न रही थी महल की आवश्यकता, जिसको न रही थी वस्त्राभूषण की आवश्यकता, जिसको न रही थी दास दासियो की आवश्यकता, जिसको न रही थी धनुष वाण की आवश्यकता, जाओ उसे वन मे खोजो।"

कैसा मधुर व नि स्वार्थ है इनका उपदेश ? धन्य हो गया हूँ भगवन्। आज इसे सुन कर। आपने मझे अधिक भटकने से रोक दिया। यदि आप से उस शान्ति भण्डार मुनि व भगवान राम के सम्वन्ध में परिचय न पाता तो न जाने किस किस के दर की ठोकरे खानी पडती। वडा अनुग्रह हुआ है-नाथ आपका। कृपया आशीर्वाद दीजिये कि मै उस परम योगेश्वर को खोज निकालने मे सफल हो जाऊ।

३ शान्ति के उपासक का सच्चा देव

चलिये अब बन की ओर अपने प्रभु को खोजने, जो मेरी झोली मे शान्ति की भिक्षा डाल सके। अरे ! यह सामने कौन दिखाई दे रहे है। कितनी शान्त व सौम्य है इनकी मुखाकृति। रोम रोम से शान्ति का प्रसार करते, मानो यह साक्षात् शान्ति के देवता ही है। जिनका नग्न वेष वता रहा है कि इन्हे कोई इच्छा नही है। कोई चिन्ता नही है-गर्मी की या सर्दी की, भूख की या प्यास की। इनकी शान्त मुस्कान बता रही है कि इन्हे आश्चर्य नही है, कोई शोक नही हे, कोई भय नही है, जिसके कारण कि इन्हे शस्त्र अपने पास रखना पडे। इनका पुलकित शरीर वता रहा है कि इन्हे कोई राग भी नही है। शान्ति मे इनको निश्चलता वता रही है, कि इस व्याकुल जगत से इन्हे कोई सम्पर्क नही रहा है, और न ही आगे कभी होगा। इनका सन्तोष वता रहा है कि इस शान्ति का विच्छेद न मे कभी न होगा। इनकी साम्यता बता रही है कि इन्हे न भक्त से प्रेम है न निन्दक से द्वेप। इनकी [illegible] इनके अन्तरग की साम्यता को दर्शा रही है तथा वतला रही है कि इन्हे कोई अभिमान नही है, किसी भी पर पदार्थ का कुछ करने सम्बन्धी मोह भी नहीं है। इनकी सरल चित्तता वता रहीहै कि इन्हे कुछ परिग्रह नही करना पड़ रहा है। खुले आकाश के नीचे वैठी यह निर्भीक शान्त मुद्रा न जाने मुझे [illegible] बाध कर अपनी ओर खेच रही है ? कितनी शांति आ गई है इनके दर्शन मात्र से ? इस [illegible]

बैठा हूँ सब कुछ यहाँ तक कि वह भी, कि मै यहाँ किस काम के लिये आया था ? मानो मै स्वयं भी शात हुआ जा रहा हूँ ।

चन्दन के आस पास लगे वृक्ष भी स्वत चन्दन बन जाते है । इस शान्ति के देवता का भी तो ऐसा ही माहात्मय प्रतीत होता है । इनसे बिना कुछ मागे ही मै तृप्त हुआ जा रहा हूँ । कृत-कृत्य हुआ जा रहा हूँ । भोगो का रस इस समय मुझे विषसम भास रहा है । स्त्री व बच्चो की चीख पुकार मानो मेरे कानो को चीरे डाल रही है ? धन सम्पत्ति मानो एक बडा भारी भार सा प्रतीत होता है । इसका उपार्जन व रक्षण अब साक्षात् दावाग्नि वत् दिखाई पड़ता है । मै भी स्वय शाति के साथ तन्मय सा हो गया हूँ । शाति सुधा का मानो पान ही कर रहा हूँ । आज मै अपने को भिखारी नही समझता । मैं तो स्वामी हूँ । सामने बैठा जैसा ही सा लग रहा हूँ-कुछ अपने को । ठीक ही सुना करता था कि प्रभु अपने आश्रित को अपने समान कर लेते हैं । आज उस बात का साक्षात् हो रहा है ? अन्तर केवल इतना ही है कि तब समझा करता था यह कि वह उसे कुछ राज्य वैभव, सुन्दर स्त्रिया आदि देकर अपने बराबर करता है और अब समझता हूँ यह कि उसका करना तो नाम मात्र से भले कह लो, परन्तु उसके बिना किये स्वत उसका आश्रित उसके समान शात हो जाता है । उसके बिना कुछ दिये ही स्वत वह वस्तु अर्थात् शांति पा लेता है, जिसकी इच्छा लेकर कि वह इनकी शरण मे आया था, तथा जिसके लिये कि भटकता भटकता वह कुछ निराश हो गया था ।

अहो ! इस परम अभीष्ट शाति को पाकर, उस शाति को कि जिसके पाने के लिये मुझे व्यर्थ ही अनेको द्वारो की ठोकरे खानी पडी, मै आज न जाने अपने को कितना महान देख रहा हूँ । कुछ ऐसा सा लगता है कि मानो मुझे नाली से निकाल कर सिहासन पर बैठा दिया गया हो-राजतिलक करने के लिये । परम सौभाग्य ही जागृत हो गया है । आज तक राजा राम को देखता रहा, अब भगवान राम को देख रहा हूँ । भगवान हनुमन्त को देख रहा हूँ । भगवान ऋषभ को देख रहा हूँ । अरिष्ट नेमि को देख रहा हूँ । भगवान पार्श्व व महावीर को देख रहा हूँ । मानो साक्षात् ब्रह्मा को, शिव को या शकर को ही देख रहा हू । महादेव या महेश को देख रहा हूँ । विष्णु या बुद्ध को देख रहा हूँ । अल्लाह या खुदा को देख रहा हूँ । जिनको आज तक पृथक पृथक देख कर व्यर्थ ही द्वेप की ज्वाला मे जलता रहा, आज उसको एक शान्ति के आदर्श के रूप में देख रहा हूँ । वास्तव मे आज मै धन्य हो गया हूँ ।

जगत पुकारता रहे इसे अनेको नामो से । परन्तु शान्ति के भिखारी मेरे लिये तो यह राम है न वीर । ये है केवल शान्ति के प्रतीक । यह है मेरा लक्ष्य बिन्दु । मेरे जीवन का आदर्श । यह है वह जो कि बनना चाहता हूँ-मैं । यही है मेरे उपास्य देव, जिनके चरणो का दास बनने को मैने प्रार्थना की थी । सर्वत्र घूमा पर राग व इच्छा, द्वेप व भय, प्रेम व शोक के अतिरिक्त कुछ न देखा । सब स्थानो से निराश ही लौटा । सर्व दोप विमुक्त इस शाति के सौन्दर्य मे मुझे वह दिखाई दे रहा है, जो मैने कही नही देखा अर्थात् वीतरागता, छोटे बडे, ऊचे नीचे, सर्व प्राणियो के प्रति साम्यता, सरलता, सौम्यता, स्थिरता, कोशादि रहितता, प्रसन्न चित्तता । अनेक गुणो का भण्डार यही मेरा लक्ष्य था, जिससे मुझे कुछ मागना था, पर बिना मागे ही जिसे देख कर मुझे मिल गया ।

दिनाक २३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३०

४ यथार्थ पूजा शाति का वेदन

शाति के उपासक ने दर दर की ठोकरे खा कर भी आखिर शाति के देवता अर्थात् अपने अभीष्ट देव को ढूढ ही लिया। परन्तु किकर्तव्य विमूढ सा मै अब इनकी पूजा कैसे करू ? क्या जल से या चन्दन से ? या अक्षत पुष्पादि से ? इन वस्तुओ की इन्हे आवश्यकता ही क्या ? अरे भोले ! इनको तो तेरी पूजा ही की कौन आवश्यकता है ? इनको तो कुछ नहीं चाहिये। तू चाहे पूजा कर या निन्दा। यह तो दोनो मे समान है। चाहे जल चढा चाहे विष दोनो से ही इनको लाभ हानि नही। तेरे विकल्प। किसी प्रकार चाहे पूरे कर।

मै क्या करू प्रभु ! कुछ भी किये नही बनता। एक ओर आप शाति के देवता, त्रिलोकाधिपति, और दूसरी ओर मै रंक, कीट। सर्व लोक मे ऐसी कोई वस्तु दिखाई देती ही नही जिसे आपके चरणो मे भेट करू। असमंजस मे पडा हूँ। कभी आपको और कभी अपने को देखता हूँ। कहा विठाऊ आपको ? तीन लोक मे आपके योग्य स्थान भी दीखता नही ? तो क्या मै आपकी पूजा ही न कर सकू गा ? क्या सेठ लोगो को हो अधिकार है, इस महा सौभाग्य का ? बोलते क्यो नही ? मै भी तो आपका सेवक हूं ? भले कुछ न आता हो मुझे। भले बोलना भी न आता हो, भले मेरे पास धन न हो, भले मेरे पास आपकी भक्ति के पाठ न हो। परन्तु इतना तो अवश्य है-मेरे पास, कि मेरे हृदय मे आपको देख कर कुछ तूफान सा उठ खडा हुआ है। क्या कहूँ मै उसे ? मै स्वय नही जानता कि क्या है वह ? कुछ बहुमान सा है। यद्यपि आपके योग्य तो नही पर कुछ है तो अवश्य ? बस यह सामग्री है-मेरे पास। क्या स्वीकार कर लेंगे मेरी पूजा को ?

५ वास्तविक पूजन व बहुमान का चित्रण

अहा हा ! शाति ही शाँति दीखती है चहूँ ओर। सर्व विकल्प शात हो गये है मेरे। कोई चिन्ता नही रही है। शाति के इस प्रवाह मे मै स्वय खो सा गया हूँ। अपनी महिमा का भान होने लगा है। मै चैतन्य हूँ। यह सव वाह्य दीखने वाले नाते कहाँ है-मुझ मे ? मै मै को विचार कर, सर्वदा इस मे ही खोया रहूँ तो कहा है अवकाश चिन्ताओ को, कहा है अवकाश विकल्पो को, और कहा है अवकाश व्याकुलता को ? आप वत् ही तो हूँ ? अमूर्तिक व शाति स्वरूप। यदि अन्य का विचार न करू तो शाति ही तो है ? और आपको देख कर तो अन्य सर्व को मै पहले ही भूल चुका हूँ। आपको मेरी इस भक्ति से हर्ष नही हो रहा है, और न उसकी निन्दा से खेद। मुझे ही क्यो हो ? किसी के लिये मै चिन्ताये क्यो उठाऊ ? किसी की निन्दा से मै दु खी क्यो हूँ ? किसी के दु ख मे मैं दु ख क्यो मानू ? हुआ करे लोक व्याकुल, मै तो सुखी हूँ। मुझे तो अपने से मतलव है। मैं किसी का बुरा भी क्यो चितू ? मै तो अवाध्य हूँ। मै शरीर, पुत्र, धन, धान्यादि को अपना हितकारी क्यो समझू ? और अहितकारी भी क्यो समझू ? आप जिस प्रकार मुझे देख रहे है, इस निन्दक को देख रहे है, इस समवशरण विभूति को देख रहे है, उसी प्रकार क्यो न देखू मैं भी सर्व ज्ञेय को। है वह भी कोई पदार्थ। पड़े रहे। मुझे क्या ? मुझ से क्या लेते है ? मुझे क्या देते है ? नाहक विकल्प किया करता था-नि सार, निष्प्रयोजन। किसी का क्या जाता था ? मेरा ही विगड़ता था। मेरे ही घर मे आग लगती थी। आज आपके दर्शन पाकर न जाने कहा जाते रहे है यह सब विकल्प।

आप और मैं ? अरे ! यह दो पना कहां टिकता है ? जो आप हैं सो ही तो मैं हूँ । शांत मूर्ति आप और शांत मूर्ति मैं । अरे रे ! यह क्या ? सब शांति ही शांति ! और कुछ नहीं ? यहां तो "शांति और मैं इस द्वैत को भी अवकाश नहीं ? कहूँ भी क्या ? दूसरा कुछ है ही नहीं यहां ? एक अद्वैत ब्रह्म । शान्तं, शिवं, सुन्दरं । कैसे बखान करूं इसकी महिमा ? इसकी महिमा का क्या अपनी महिमा का ? अपने सौन्दर्य का । शरीर के सौन्दर्य का नहीं कह रहा हूँ भगवन् ! अपने सौन्दर्य की बात है । अन्तरंग सौन्दर्य की । जिसके सामने जगत की सुन्दरता भ्रम है । जिसमें तन्मयता हो जाने पर सारा जगत ही कल्पना मात्र है । जहां मैं और शान्ति का भी भेद नहीं । आहा ! यह ! बस यह । इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

अरे ! मैं तो आपकी पूजा करने आया था ? पर आपको भूल गया और अपने को भी ? कौन पूजा करे, किसकी करे, और कैसे करे ? कोई पदार्थ ही दिखाई नहीं देता ? क्या अर्पण करूं ? एक शांति है । लीजिये यही चढ़ा देता हूँ चरणों में । और शान्ति को चरणों में चढ़ा दिया तो मैं पृथक कहां रह गया ? मैं भी तो चढ़ गया वहीं ? चरणों में क्या चढ़ा ? आपकी शान्ति में ही तो मिल गया ? आपकी शान्ति और मेरी शान्ति दो रही ही कहां ? एक शान्ति ही तो है ? और वह मैं ही तो हूँ ? बस फिर वही शान्ति उसके साथ, तन्मयता, वही सौन्दर्य । बताइये भगवन् ! पूजा करूं तो कैसे करूं ? पुन. पुन. शान्ति में खोया जा रहा हूँ । पूजा का विकल्प फिर शान्ति, फिर पूजा का विकल्प, फिर शान्ति । यह आंख मिचौनी ? कभी अन्दर कभी बाहर । कभी अपनी ओर, कभी आपकी ओर । पागलों का सा प्रलाप है प्रभु ! पूजा करूं तो कैसे करूं ?

यही तो यथार्थ पूजा है । और क्या चाहता है-इसके अतिरिक्त ? चढ़ाने व पढ़ने में क्या रखा है ? अपनी शान्ति पर न्यौछावर होकर उसके साथ तन्मय हो जाना ही प्रभु के चरणों में वास्तविक भेंट चढ़ाना है । तू तो धन्य है कि तुझे वास्तविक पूजा का अवसर मिला । लोकों के द्वारा की जाने वाली पूजा पर क्यों जाता है ? यह बेचारे स्वयं नहीं जानते कि पूजा किसे कहते हैं ! निज शान्ति के साथ तन्मयता में अत्यन्त तृप्ति, सन्तोष व हल्कापना सा, जो प्रतीति में आता है, वही वास्तव में देव पूजा है-अन्तरंग पूजा ।

इस पूजा में से स्वाभाविक माधुर्य आ जाने पर स्वतः ही प्रभु के प्रति एक बहुमान सा उत्पन्न हो जाता है । इस माधुर्य से च्युत हो जाने पर अर्थात् निज शान्ति के वेदन से हट कर, प्रभु का विकल्प उत्पन्न हो जाने पर कुछ इस प्रकार की स्वाभाविक दासता सी उत्पन्न हो जाती है कि हे प्रभु ! मुझ जैसे भव कीट को यह अतुल निधान प्रदान करके, कृत्य कृत्य कर दिया है-आपने । मैं किन शब्दो में कृतार्थता प्रगट करूं ? आपको कहां बिठाऊं ? इत्यादि जो पूर्व कथित विकल्पों के आधार पर प्रभु में तन्मयता है वह ही उनकी भक्ति व बहुमान कहलाता है ।

इस प्रकार का बहुमान कृत्रिम नहीं हुआ करता, स्वाभाविक होता है ? अन्तरंग ध्वनि में निकलता है । किसी गुरु की प्रेरणा से नहीं होता । स्वयं अन्तःकरण की प्रेरणा से, उसके प्रसाद में उत्पन्न होता है ? स्वाभाविक बहुमान का कुछ चित्रण इस दृष्टान्त के आधार पर दृष्टि में आ जाता है ।

एक सेठ जी थे। एक ही पुत्र था-उनके। दुर्भाग्य से कुसगति मे पड गया। सम्पत्ति लुटाने लगा। सेठ जी को बडी चिन्ता हुई। वीमार पड गये। चिन्ता वढती गई। "क्या होगा मेरे पीछे इस लड़के का ? भूखा मरेगा ?" और इसी प्रकार अनेको विकल्पो मे फसे अन्तिम श्वास लेने लगे। उनका एक मित्र था। वडा प्रेम था दोनो मे। अपने मन की व्यथा किसे सुनाते ? मित्र पर दृष्टि पडी और सब क्षुब्ध व्यथा उगल दी। "मित्र इस सकट से मेरी कुछ सहायता करो। मै तो एक दो दिन का हूँ। इस वच्चे की रक्षा का भार तुम्हे देता हूँ।" मित्र भी स्वय एक सेठ थे। जगत के अनेक उतार चढाव देखे थे। वोले "चिन्ता न करो। शाति धरो। मुझ पर विश्वास करो। वच्चे का जीवन कुछ ही दिनो मे पलटा जायेगा।" सारी नगदी जेवर व हीरे जवाहरात घर के एक कोने मे गाड दिये, और सेठ जी सो गये-सदा के लिये। लडका कई साल तक जायदाद वेच वेच कर लुटाता रहा और एक दिन फकीर हो गया। एक एक करके मित्रो ने अपना रास्ता नापा, और लडका वेचारा लगा भूखा मरने। कभी सूखे चने चवा लेता, कभी पानी ही पीकर सन्तोष कर लेता। तन पर वस्त्र थे पर नाम मात्र को। रहने को एक मकान ही रह गया था। और वह भी काल के प्रहारो से भग्नावशेष-मात्र-वत्। भीख मागने का साहस होता तो अवश्य भिखारी वन गया होता। पर इस प्रकार कव तक चले ? एक दिन व्याकुल चित्त हो उसके पाव ले चले उसे-किसी ओर। उसी अपने पिता के मित्र अपने चचा के पास। "चचा जी, आ गया, आखिर, आज आपकी शरण में। आप को छोड और जाता भी कहा ? आप पिछली बाते याद दिला कर मुझे लज्जित न करना। मेरा अन्तष्करण स्वय मुझे धुतकार रहा है। उसकी मार असह्य है। आप इस वेदना को और न वढाना। रक्षा करना।

दयालु चचा वोले कि, "वेटा चिन्ता न कर। यह मुझे पहले से पता था कि एक दिन अवश्य आयेगा यहा। अच्छा ही किया आ गया तो। कब तक चलाता-व्यर्थ भूला रह कर। और तुझे इस दशा मे रहने की आवश्यकता भी क्या है ? तू तो अब भी क्रोड़ो का स्वामी है। अब भी चाहे तो व्यापार कर अपने पिता से भी अधिक धनवान होगा। कमी ही क्या है तुझ को ? परन्तु विश्वास कैसे आये ?" "नहीं, नही चचा, हसी न कीजिये। एक एक रोटी को मोहताज अब सेठ बनने के स्वप्न देखने का अवकाश कहाँ ? अव तो रोटी चाहिये।" "घवरा नही बेटा ! मै हसी नही कर रहा हूँ। ठीक ही कहता हूँ। विश्वास कर मुझ पर। तेरे हित की वात है। तू अब भी हजारो को खिला देने योग्य है। रोटी की क्या कमी तुझे ? जा अपने घर का दक्षिणी कोना खोद डाल।" सहम ही गया मानो यह सुन कर। कोई वज्र ही पड़ा हो जैसे उस पर। "सब ओर से निराश्रय हो गया हूँ। एक यह मकान शेष है। यह भी काल के प्रहारो द्वारा खाया हुआ। मकान भी काहे का एक छल मात्र, जिसके नीचे सर छिपा लेता हूँ। खोद दिया तो कभी खडा न रह सकेगा। यह भी मूह मोड जायेगा। इतनी बडी चोट सहने की इसमे शक्ति ही कहा है ? "नही, नही, चचा। मुझे बे घर बनाने की वात न कीजिये। अब अधिक परीक्षा न कीजिये। वस पेट भरने भर की इच्छा है।" "ओह ! दया आती है तेरी दशा पर भूख का मारा आज तू जितना भी सशय करे थोडा है। पर नही। अब इसे छोड। विश्वास कर जैसे मै कहता हूँ वैसे कर। जा अपने घर का दक्षिणी कोना खोद डाल।"

लडखड़ाता लडखडाता आखिर चल पडा, कुछ निराशा मे डूबा। "परन्तु अब मार्ग भी क्या है ? देखी जायेगी। जहा इतना सहा यह भी सह लूगा। चचा के अतिरिक्त अब है भी कौन, जिसके

पास जाऊ अपनी पुकार सुनाने ?" घर खोदना प्रारम्भ किया। और कुछ देर के पश्चात्, "है! यह खट की ध्वनि कैसी ? क्या है इसमे दवा हुआ ? कोई टोकना सा प्रतीत होता है। अरे! यह तो है वह जिसकी ओर चचा का सकेत हुआ था।" और एक ही वार घूम गई चचा की सब बाते-उसके हृदय पट पर। "तू अब भी करोडपति है। तू अब भी करोडपति है।" मानो कोने कोने से यही आवाज आ रही थी। पागल सा हो गया कुछ भावुकता के आवेश मे। भूल गया आगे खोदना। हाथ भी कैसे चलना ? कृतघ्नी तो न था ? यद्यपि पृथ्वी का टोकना पृथ्वी मे ही था, पर सेठ वन चुका था आज वह। "नही नही यह कृतज्ञता न कहलायेगी। यह सब कुछ मेरा है ही कव ? मेरा होता तो भूखा क्यो मरता ? और यदि दूसरे मकानो के साथ इसे भी वेच देता तो किसका होता यह टोकना ? नही नही मेरा कुछ भी नही। भले यहा रहता हूँ। वह इतनी प्रेरणा न देते तो खोदने को ही कव तैयार होता—मै ? और इसी प्रकार के विचारो मे खो गया। रुक गये उसके हाथ-और चल पडा दौडा दौड़ा अपने चचा के घर की ओर।

"चलिये चचा चलिये। सम्भाल लीजिये वह, जो वहा से निकला हे। आपने ही बताया था। आपका ही है।" "वेटा! जा उसको निकाल ले व्यापार प्रारम्भ कर, तेरा कल्याण होगा।" धन्य है चचा आपकी सहानुभूति, धन्य है आपका प्रेम, धन्य है आपकी नि स्वार्थता धन्य है आपका त्याग। आज तक आपकी शरण मे न आकर व्यर्थ ही ठोकरे खाता रहा। क्षमा कर दीजिये अव मुझे! मै अधम हूँ। नीच हूँ। पापी हूँ। आपकी ओर आज तक न देखा। उन दुष्टो को ही मित्र समझता रहा जिन्होने सब कुछ लूटा है-मेरा। और यदि कदाचित् इस टोकने का भी पता होता तो, अव तक साथ न छोडते। आप न होते तो आज मै रंक से राव कैसे बनता ? मै कैसे आन्तरिक कृतार्थता प्रगट करू। कहने को शब्द भी तो नही है मेरे पास। किंकर्तव्य विमूढ सा मानो सब कुछ भूल गया हूँ मै। जी करता है कि आपके चरणो मे ही विछ जाऊ मै ? क्या करू, क्या न करू. कुछ सूझ नही पडता ? आशीर्वाद दीजिये चचा। आखिर यही निकलता है मुंह से।" और इस प्रकार का कुछ अन्तर प्रवाह वह रहा था-उसके हृदय से आज। आखो से अश्रु धारा, मानो उसकी सब पिछली भूलो को धोये डाल रही थी। और यह सब कुछ वह किसी दवाव से नही कर रहा था। स्वत ही उससे ऐसा हो रहा था। यदि और भी शक्ति होती तो और भी सब कुछ करने को तैयार था-आज अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट करने के लिये। नया जीवन जो मिला था-उसे आज।

६ अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप

और आप भी क्या ऐसा ही न करते यदि होते उस परिस्थिति मे ? यदि कृतज्ञ हो तो अवश्य ऐसा ही करते। क्योकि यह स्वभाव ही है एक कृतज्ञ का। उपकारी के प्रति सहज भक्ति, सहज वहुमान। यह है वह भाव जिसके प्रति कि सकेत किया गया था। अन्तरग शान्ति के तुच्छ मात्र वेदन के माधुर्य से निकला हुआ देव के प्रति का स्वाभाविक वहुमान, आदर्श भक्ति, आदर्श पूजा। और इस वहुमान से प्रेरित हो अपनी योग्यतानुसार कुछ शब्दो की, तथा अपने उद्‌गारो की, तथा कुछ सामग्री आदि की, उनके चरणो मे भेट, कुछ याचनाये, सो है बाह्य पूजा-द्रव्य पूजा।

१—हे नाथ! इस तृप्ति कर अतुल शान्ति मे विश्राम करते, आप तो जन्म जरा मरण से अतीत, क्षण क्षण मे वर्तने वाले दाहोत्पादय विकल्पो की दाह से अति दूर, स्वय एक शीतल सर हो। मुझको भी शीतलता प्रदान कीजिये। इन विकल्पो से मेरी रक्षा कीजिये प्रभु! उस अलौकिक शीतलता

हो पाने की जिज्ञासा लिये लौकिक शीतलता का प्रतीक यह जल लाया हूँ आपके चरणो पर चढाने को मानो, मेरे उद्गार ही जल बन कर बह निकले है आज।

२—हे देव ! इस शीतल शान्त सरोवर मे वास करके भव सताप के दाह का नाश कर दिया है आपने। मुझ सतप्त का दाह भी नाश कीजिये प्रभु ! बडा खेद खिन्न हो रहा हूँ। चिन्ता का ताप सहन नही होता। [illegible] जल रहा हूँ। मेरी भी यह दाह शान्त कीजिये। नाथ ! क्योकि शीतलता की इच्छा लेकर लौकिक दाह विनाशक यह चन्दन लाया हूँ आपके चरणो की भेट करने को मानो मै स्वय ही साक्षात् चन्दन बन कर आया हूँ—आपके चरणो की बलिहारी जाने।

३—हे शान्ति के अक्षय भण्डार ! हे अतुल निधान ! क्षय कर डाली है, भग्न कर डाली है सब आकुलताये आपने। यह अक्षय शान्ति मुझको भी प्रदान कीजिये नाथ ! इसी से यह अक्षत अर्थात् बिना टूटे हुए मुक्ता फल लाया हूँ इन चरणो की भेट, मानो अपनी अक्षय निधि की याद बन कर मै स्वय सौभाग्यवान होने आया हूँ आपके चरणो पर।

४—हे निर्मोह जिन ! शान्ति रानी का कर ग्रहण करके विश्व विजयी बन कर इस काम को सदा के लिये परास्त कर दिया है-आपने। वह देखो दूर ही खडा वह काँप रहा है-आपके निकट आने का साहस नहीं है ? पर आपसे पराजित हुआ वह अपने क्रोध की ज्वाला मे भस्म किये जा रहा है, मुझ जैसे क्षुद्र कीटाणुओ को। लोक की सम्पदा की असीम कामनाओ मे मानो जला जा रहा हूँ-मै। रक्षा कीजिये, प्रभु ! इस दुष्ट काम से। आपकी शरण को छोड कर कहा जाऊ अब, जहा इसका साया न दिखाई देता हो। आपकी शान्ति का कोमल स्पर्श करने व इसकी सुगन्धित श्वास मे अपने को खो जाने की इच्छा लेकर ही यह लौकिक कोमलता व सुगन्धि के प्रतीक पुष्प लाया हू मै-चढाने को। मानो अत्यन्त सुगन्धित शान्त व कोमल उन चरण कमलो का रस लेने के लिये स्वय भवर ही बन कर आया हू।

५—हे क्षुधा निवारक ! अनादि काल से लगी, इन धूल सरीखे, आकर्षक पर-पदार्थो की भूख शान्त कर ली है आपने। मै भी तो बहुत क्षुधित हू। तीन लोक की सम्पत्ति का भोग कर करके भी जो आज तक तृप्त नही हुई है, ऐसी मेरी भूख को भी शान्त कर दीजिये प्रभु ! इसी से लौकिक क्षुधा निवारक यह स्वादिष्ट चरु नैवेद्यादि मिष्टान्न लाया हू इन चरणो की भेट, मानो इस शाति से अत्यन्त तृप्त वत् हुआ मै आज स्वय अत्यन्त मिष्ट बन कर विश्राम करने आया हू यहा।

६—हे ज्ञान ज्योति ! हे त्रिलोक प्रकाशक ! आन्तरिक अन्धकार का विनाश कर अतुल तेज जागृत किया है आपने। कोटि जिव्हाओ से भी इस तेज की महिमा वर्णन करने को आज बृहस्पति भी समर्थ नही। उस तेज की, उस अतुल प्रकाश की, जिसमे तीन लोक तीन काल वर्ती सर्व पदार्थ हाथ पर रखे आवले वत् प्रतिभास रहे है-आपको। इस अन्धे को भी नेत्र प्रदान कीजिये प्रभु। पर-पदार्थो मे ही रस लेने मे अन्धा हुआ आज मै अपने को भी देखने मे समर्थ नही हू। यह प्रकाश मुझे भी दीजिये जिससे कि अपने शान्त स्वभाव के एक क्षण को तो दर्शन कर सकू। इससे ही लौकिक प्रकाश का प्रतीक यह

तुच्छ दीपक लाया हू भेट देने। मानों आपकी ज्योति से उद्योतित हुआ मै स्वय ही दीपक वन गया हू आज।

७—हे विष्णु ! हे अग्नि ! आपके अनन्त ताप मे पडे यह मेरे दोष भस्म वन कर उड ही नही रहे है वल्कि विश्व के कोने कोने मे कोई अपूर्व सुगन्धि फैला रहे है इसका आज मैं साक्षात् वेदन कर रहा हूँ। मतवाला वना जा रहा हू। और इसी से लेकर आया हू यह धूपायन आपके चरणो मे।

८—हे मिष्ट फल प्रदायक ! आपको तो आपका लक्ष्य विन्दु जो शान्ति, उस फल की प्राप्ति हो चुकी है। आप तो अथक उसके स्वाद मे मग्न हो रहे है। कुछ मेरी ओर भी तो निहारिये। इस भिखारी की ओर भी तो देखिये। दर दर की ठोकरे खाता कितनी कठिनाई से आया है इस द्वार पर। हर ओर से निराश होकर आये हुये इसे यहा से निराश न लौटाइये। इस फल का थोडा टुकडा मेरी झोली मे भी डाल दीजिए। मै भी दुआये दू गा आपको। यह एक तुच्छ सा लौकिक फल पड़ा है ? डाल दिया था यह भी किसी भूखे ने मेरी झोली मे नि सार सा है। परन्तु क्या करु इसके अतिरिक्त और है भी नही मेरे पास, जो कि भेट करू। लीजिये इसे ही लीजिये। पर मुफ्त मे नही। वह अपने वाला फल मझे भी प्रदान कर दीजिये।

और इसी प्रकार की अनेको उठने वाली अन्तरग की मधुर मधुर कल्पनाओ पर बैठ कर ऊ ची ऊ ची उडाने भरते हुए, मानो प्रभु के साथ तन्मय ही, होने जा रहा हू। इन वाह्य के जलादि द्रव्यो से भगवान की अर्चना की जो यह क्रिया, उसे कहते हैं द्रव्य पूजा वाह्य पूजा। अन्तरग व वाह्य दोनो अगों मे गून्थी, यह है वास्तविक देव पूजा जो एक शान्ति का उपासक, शान्ति के आदर्श अपने देव के प्रति करता है। केवल पूजा ही नही साक्षात् शान्ति का वेदन ही पडा है इसमे। देव के लिये नही वल्कि अपनी शान्ति के आस्वाद के लिये ही होती है यह पूजन, यह उद्गार, जो स्वतन्त्र ही प्रवाहित हो उठते हैं।

दिनाक २४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३१

७ देव कौन

देव पूजा की वात चलती है। इस प्रकरण के अन्तर्गत अनेको प्रश्न सामने आकर घूमने लगते है। जैसे—१ देव कौन ? २ पूजा क्या ? ३ पूजा की आवश्यकता क्यो ? ४ प्रतिमा की आवश्यकता क्यो ? ५ जड प्रतिमा से मुझे क्या मिले ? ६ मन्दिर की आवश्यकता क्यो इत्यादि।

पहला प्रश्न है देव कौन ? वास्तव मे देव के सम्वन्ध मे कोई निश्चित नियम नही वनाया जा सकता, कि अमुक ही देव है। क्योकि देव नाम आदर्श का है। और आदर्श इच्छा के पूर्ण लक्ष्य का नाम है। अत देव की परीक्षा अपने अभिप्राय से की जा सकती है। जैसा अपना अभिप्राय हो या जैसी अपनी इच्छा हो वैसा ही उस व्यक्ति विशेष का लक्ष्य होगा, और वैसे ही किसी यथार्थ या काल्पनिक आदर्श को वह स्वीकार करेगा। उसकी दृष्टि उस पर ही जाकर ठहरेगी जैसा कि वह स्वय बनना चाहता

है। वस वह ही उसके लिये सच्चा देव है। जैसे धनवान बनने की इच्छा वाले का देव कुबेर हो सकता है वीतरागी शान्त मुद्रा धारी यह देव नही जिसकी कि बात चलने वाली है। पितृ भक्ति की इच्छा वाले का देव कुमार राम या श्रवण हो सकता है वीतरागी देव नही। और इसी प्रकार अन्यत्र भी। परन्तु यहा तो शान्ति पथ प्रदर्शन चल रहा है। इसलिये केवल शान्ति प्राप्ति की इच्छा लेकर देव को खोजना है, या देव की परीक्षा करनी है। सो परसो के प्रकरण मे की जा चुकी है। और यह निर्णय किया जा चुका है कि उस देव का स्वरूप, जिसकी मै आदर्श रूप से उपासना करने चला हू, वह वीतरागी व शान्त रस पूर्ण होना चाहिये अन्य नही। क्योकि अभिप्राय से विपरीत जिस किसी को भी, आदर्श बना कर उपासना करने से अभिप्राय की पूर्ति होना असम्भव है। अभिप्राय शून्य उपासना मे भले यह नियम लागू न होता हो पर यहाँ जिस सच्ची पूजा या उपासना की बात चलेगी उसमे अभिप्राय सापेक्ष होने के कारण यह नियम अवश्य है।

८ पूजा क्या — दूसरा प्रश्न है 'पूजा क्या'? जैसा कि कल के प्रवचन मे काफी विस्तार करके वताया जा चुका है। शान्ति के अभिप्राय की पूर्ति के अर्थ, शान्ति में तल्लीन किसी व्यक्ति विशेष को आखो के सामने रख कर या उस व्यक्ति के किसी चित्रण के आंखो के सामने रख कर अथवा उस व्यक्ति या उसके चित्रण को अन्तरग मे मन के सामने रख कर, अथवा शान्ति के यथार्थ जीवन आदर्श को मन मे स्थापित करके, कुछ देर के लिये अन्य सर्व सकल्प विकल्प को छोड, उस आदर्श की शान्ति के आधार पर, निज शान्ति का अपने अन्दर में किञ्चित् वेदन करते हुए, उसके साथ तन्मय हो जाना अन्तरग उपासना या पूजा है। तथा उस शान्ति के मधुर आस्वाद वश, निमित्त रूप उस आदर्श के प्रति सच्चा बहुमान उत्पन्न हो जाने पर, अपनी हीनताओ को सामने रख कर, उन हीनताओ के दूर होने की भावना आते हुये, उस आदर्श से, उसमे प्रगट दीखने वाले गुणो की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार से प्रार्थना करना बाह्य पूजा है? इन दोनो पूजाओ मे अन्तरग पूजा ही यथार्थ पूजा है। इसके बिना बाह्य पूजा निरर्थक है। यह वाक्य वरावर दृष्टि मे रखना चाहिये, क्योकि इसको भूल जाने पर अगले प्रश्नो का उत्तर समझ मे न आयेगा।

९ पूजा की आवश्यकता क्यों? — यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अब अन्तरग पूजा अर्थात् शान्ति का वेदन ही प्रधान है तो बाह्य पूजा की आवश्यकता क्यो? प्रश्न बहुत अच्छा है। वास्तव मे उसकी कोई आवश्यकता न होती यदि प्रथम भूमिका मे ही मै स्वतन्त्र रूप से शान्ति का वेदन जान कर उसमे स्थिति पाने के योग्य हो सकता। शान्ति से बिलकुल अनभिज्ञ मैने, न कभी शान्ति को देखा है, न सुना है, न अनुभव कियाहै। ऐसी दशामे सोचिये कि शातिमे स्थिति पाकर अन्तरग पूजा करनी सम्भव कैसे हो सकती है? अत जब तक शान्ति का परिचय प्राप्त न कर लू, किसी न किसी शान्त जीवन का निकट सानिध्य आवश्यक है। क्योकि शान्ति ऐसी वस्तु नही जो शब्दो मे बताई जा सके, या स्कूलो मे पढाई जा सके, या शान्ति शब्द के रटने मात्र से उसे जाना कहा जा सके। यह तो किसी आन्तरिक सूक्ष्म स्वाद का नाम है, जो वेदन किया जा सकता है व किसी के जीवन पर से अनुमान लगा कर किञ्चित् जाना जा सकता है, पढा जा सकता है, जैसा कि आगे दृष्टान्त पर से स्पष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं वल्कि शान्ति का परिचय प्राप्त कर लेने पर भी, मै निरन्तर उसमे स्थित रह सकू, इतनी शक्ति भी प्रथम अवस्था मे होनी असम्भव है। अत उतने समय के लिये जितने समय तक कि मै स्वतन्त्र रूप से उसके रसास्वादन में लय होने के योग्य न हो जाऊं, मुझे उस बाह्य पदार्थ के आश्रय की आवश्यकता होगी। और इसी प्रयोजन के

अर्थ है अन्तरग सापेक्ष वाह्य पूजा। यहा इतना अवश्य जान लेने योग्य है कि आगे अगली भूमिका मे जाकर इस वाह्य पूजा की कोई आवश्यकता नही रहती। परन्तु इस गृहस्थ दशा मे स्थित मनुष्य के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है ?

१० देव के आश्रय की क्या आवश्यकता

विना किसी वाह्य जीवन का आश्रय लिये इस शाँति का परिचय क्यो प्राप्त नही हो सकता ? शान्ति तो अपना स्वभाव है, स्वतन्त्र रूप से क्यो जानी नही जा-सकती ? उसके जीवन की शान्ति मुझ मे कैसे आ सकती है, और अपनी शान्ति बिना दिये वह मुझे शाँति का स्वाद कैसे चखा सकता है ? इत्यादि अनेको प्रश्न इस स्थल पर मुझे आगे चलने से रोक रहे है। अच्छा ले, पहले इनका ही स्पष्टीकरण कर देता हूँ।

पहले प्रश्न का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि जिसने आज तक न देखा हो, न अनुभव किया हो,वह बिना पर के आश्रयके उसे कैसे जान सकताहै ? जसे जिस वस्तुका आकार ही मेरे ध्यान मे नही, उस वस्तु को वनाने का कारखाना मै कैसे लगा सकता हूं ? उस वस्तु का एक नमूना अपने सामने रख कर भले ही उस जैसी अनेको वस्तुये वनाने मे सफल हो जाऊ। यह ठीक है कि कारखाना चल जाने के पश्चात् उस नमूने को अब मुझे कोई आवश्यकता नही रहती, परन्तु प्रारम्भ मे वह मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा प्रश्न है, स्वतन्त्र रूप से क्यो नही जानी जा सकती ? परन्तु इसका निषेध किया किसने ? स्वतन्त्र रूप से भी जानी अवश्य जा सकती है। परन्तु केवल उसके द्वारा जिसने कि कभी पहले उसका परिचय प्राप्त किया हो। भले ही उसका परिचय प्राप्त करके छोड़ बैठा हो। यहा इतनी वात अवश्य है कि अधिक समय तक छोडे रहने के कारण वह परिचय अत्यन्त लुप्त हो सकता है, ऐसा कि प्रयत्न करने पर भी याद न आये। तव उसे अवश्य पुन वाह्य का आश्रय लेने की आवश्यकता पडेगी। जैसे कि पहली वार लगाया हुआ कारखाना यदि दुर्भाग्यवश फेल हो जाए, और कुछ वर्ष पश्चात् पुन. उसे चालू करना पडे तो अव उसे नमूने की कोई आवश्यकता नही रहती। स्वतन्त्र रूप से स्मरण के आधार पर माल वना लेता है। परन्तु यदि किसी रोग विशेष के कारण उसकी स्मरण शक्ति जाती रही हो, और फिर यह कारखाना चालू करना पडे, तव तो पुन. उसे अवश्य नमूने की आवश्यकता पडेगी।

११ देव मे मुझे शान्ति कैसे मिलती है

तीसरा प्रश्न है, उसके जीवन की शान्ति मुझ मे कैसे आ सकती है ? वहुत सुन्दर प्रश्न है। तेरा विचार विल्कुल ठीक है। वास्तव में किसी अन्य की शान्ति मुझ मे कदापि नही आ सकती। उसकी शान्ति उसके साथ और मेरी शांन्ति मेरे साथ ही रहेगी। उसकी शान्ति उसके पुरुषार्थ से ही उत्पन्न हुई है, और मेरी शाति मेरे पुरुषार्थ के द्वारा मुझ मे ही उत्पन्न होगी। उसकी शाति का उपभोग वह स्वय ही करेगा। ऐसी ही वस्तु की स्वतन्त्रता है। इसलिये वह मुझे शांति देने मे समर्थ नहीं है। इतना अवश्य उससे लाभ है कि उसका नमूना देख कर मै उस परम परोक्ष रहस्य का कुछ अनुमान लगा सकता हू-यदि वुद्धि पूर्वक प्रवल पुरुषार्थ करू तो। जैसे कि कारखाना लगाने वाले उस व्यक्ति को नमूना कुछ देता नही है, वह स्वयं ही उसको देख कर अनुमान के आधार पर उस सम्वन्धी परिचय प्राप्त कर लेता है। वैसे ही शान्त स्वरूप व आदर्श रूप वह व्यक्ति मुझे कुछ नही देता है, मै

स्वयं उसकी मुखाकृति, उसका शान्त परिभाषण, जीवन में होने वाली उसकी शान्त कुछ क्रियाओ को देख कर, अनुमान के आधार पर शान्ति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त कर सकता हूँ।

यहा यह बात कुछ विचारणीय है कि अनुमान के आधार पर किसी के जीवन को कैसे पढा जा सकता है ? इसके सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त है। एक जिज्ञासु किसी समय अपने गुरु के पास पहुँचा। बोला प्रभो ! कुछ हितकारी उपदेश देकर मेरा कल्याण कीजिये। गुरु बोले कि भाई ! मै उपदेश तो दे दू गा, पर उसका लाभ कुछ न होगा। मै तो केवल दो चार वाक्य ही कह सकता हूँ। परन्तु उनका रहस्य तुम कैसे समझ सकोगे ? ऐसे उपदेश तुम पहले भी अनेको बार सुन चुके हो, परन्तु सुनने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध होता नही। जाओ नगर के विख्यात सेठ शांति स्वरूप के पास चले जाओ। वहा उनके पास रह कर धैर्य पूर्वक उपदेश सुनना।

आज्ञानुसार वह सेठ की दुकान पर पहुच गया, गुरु की आज्ञा कह सुनाई और सेठ के पास दुकान पर रहने लगा। सेठ बड़ा व्यापारी था। प्रतिदिन लाखो का व्योपार। अनेको मुनीम गुमाश्ते, बही खाते और न मालूम क्या क्या ? जिज्ञासु सोचने लगा कि न जाने क्या सोच कर गुरु देव ने भेज दिया है ? यहा क्या उपदेश मिलेगा ? यह बेचारे सेठ जी स्वय उपदेश के पात्र है। यह तो स्वय ही जाल मे फसे बैठे है, क्या जाने कि कल्याण किस चिडिया का नाम है। फिर भी रहना तो पडेगा ही। गुरु की आज्ञा जो है। दो महीने बीत गये, पर सेठ जी की जबान से एक शब्द भी उपदेश का न निकला। फिर वही पहले वाले विचार घूमने लगे हृदय पट पर। इसी प्रकार विचारो के हिंडोले मे झूलता अन्तरग मे नराश सा व्यर्थ समय गवा रहा था-बेचारा।

और एक महीने पश्चात् एक मुनीम जी घबराये हुए आए सेठ जी के पास। मु ह से वाक्य न निकलते थे बेचारे के। कुछ साहस करके बोला कि "चार करोड का माल जहाज से भेजा था। समाचार आया है कि जहाज डूब गया है।" सेठ जी अत्यन्त शान्त रहते हुए ही बोले, "तो क्या हुआ ? प्रभु की कृपा है। जाओ अपना काम करो।" एक छोटा सा वाक्य था। वाक्य से ध्वनित कुछ सन्तोष, तथा शान्त मुखाकृति। पूर्व वत् ही अपने काम मे सलग्नता। मानो कुछ हुआ ही नही। जिज्ञासु ने वह सब सुना व देखा। दो महीने पश्चात् आज उसे कुछ ऐसा लग रहा था, कि कोई उसे बहुत बडा उपदेश दे रहा है। विचार निमग्न वह सहमा सा बैठा ही रह गया था।

और दो महीने बीत गये। एक दिन पुन एक घटना घटी। मुनीम जी दोडे दौडे आ रहे है। हाँपते हुए। मानो दो मील से चले आ रहे हो। मस्तक पर पसीने की बू दे, आखो मे हर्ष, होंठो पर मुस्कराहट "सेठ जी, सेठ जी, बड़ा हर्ष का दिन है। भाग्य जाग गये।" "अरे, कुछ हुआ भी ?" सेठ जी ने पूछा। और मुनीम जी जल्दी जल्दी बोल गये, "अमुक सौदे में दश करोड का लाभ। अभी तार आया है। यह लीजिये।" सेठ जी आज भी शात थे। बोले "तो क्या हुआ ? प्रभु की कृपा है। जाओ अपना काम करो।" वही दो शब्द, वही सन्तोष, वैसी ही शात मुखाकृति, वैसा ही पूर्व वत् काम मे संलग्नता। मानो कुछ हुआ ही नही। आज तो जिज्ञासु के आश्चर्य का पारावार न रहा। उसे मिल चुका था वह उपदेश जिसके लिये वह गुरु के पास गया था। साम्यता का आदर्श। चुप रहा न गया। पछ ही बैठा।

"सेठ जी ! मै क्या देख रहा हूँ ? कुछ अनोखी सी बात ? चार करोड़ की हानि मे वही बात, १० करोड के लाभ मे भी वही बात ? कुछ विश्वास नही आता !" तुझको आश्चर्य हो रहा है जिज्ञासु । परन्तु उसमे आश्चर्य की कोई बात नही । मेरी दृष्टि को न पहिचान सकना ही इसका कारण है । लाभ हानि का मेरी दृष्टि मे कोई मूल्य नही, क्योकि बाहर से सर्व आडम्बर का स्वामी भले देख रहा है पर अन्तरंग मे मै केवल इसका मैनेजर हूँ । व्यापार तो प्रभु का है । सारे विश्व मे उसके व्यापार की अनेको शाखाये है । कभी इस शाखा से वह रुपया उस शाखा मे भेज देता है, और कभी उस शाखा से इस शाखा मे । मै तो केवल नाम लिख देता हूँ, या जमा कर देता हू । और बातो से मुझे क्या मतलब है ? और समझ गया वह जिज्ञासु साम्यता का रहस्यार्थ, जो शब्दो पर से तीन काल मे भी समझाना सम्भव नही था ।

इसी प्रकार पूर्ण आदर्श व जीवन पर से समझी जा सकती है पूर्ण शान्ति ।

१२ पूजा मे कर्ता-वाद क्यों

चौथा प्रश्न भी बहुत सुन्दर है । कि बिना अपनी शांति दिये वह मुझे शाति का स्वाद कैसे चखा सकते है ? जैसा कि ऊपर बता दिया गया है वह अपनी शाति का स्वय उपभोग करने मे समर्थ है मुझे देने मे नही । परन्तु उपरोक्त प्रकार अनुमान के आधार पर शाति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त करके, मै भी अपने जीवन मे, अपने सम्भाषण मे, वैसे वैसे ही रूप से वर्तने का प्रयत्न करने लगता हूँ । उसकी मुखाकृति पर से उसकी अन्तरमुखी दृष्टि का अनुमान करके स्वय भी अन्तर्मुख होने के प्रयत्न करने लगता हूँ, जैसा कि आगे के प्रकरणो मे स्पष्ट हो जायेगा । और अपने इस प्रयत्न मे दृढ रहते हुए कुछ समय पश्चात् स्वय उस अमृत का स्वाद चख अवश्य सकता हूँ । इतनी ही कुछ मेरे प्रयोजन की उससे सहायता मिलती है । और इस सहायता के कारण ही "यह शान्ति उसने दी है", ऐसा कहा जा सकता है । जो केवल उपचार है ।

यहा एक और प्रश्न उठ सकता है कि जब वह कुछ दे नही सकता तो "हे प्रभु मुझे शाति प्रदान कीजिये' इस प्रकार के शब्दो के द्वारा "भक्ति क्यो की जाती है ?" ठीक है । सैद्धान्तिक रूप से इनका कोई अर्थ नही है । इन शब्दो को सत्यार्थ मानकर प्रभु को शाति या अशाति अथवा दु ख या सुख देने वाला समझ बैठना भ्रम है । परतन्त्रता है । पुरुषार्थ हीनता है । स्व पर भेद से अनभिज्ञता है । ऐसा समझने वाला सच्चे देव को आदर्श रूप से स्वीकार कर लेने पर भी शाति की प्राप्ति नही कर सकता । क्योकि "देव ही प्रसन्न होकर मेरा प्रयोजन सिद्ध कर देगे । मुझे तो स्वय कुछ करना न पडेगा ।" ऐसा अभिप्राय रखने के कारण वह उपरोक्त प्रकार न अपने जीवन मे कुछ विशेष परिवर्तन का प्रयत्न करेगा और न उसे वह प्राप्त होगी ।

स्वय अपने उद्यम द्वारा अपने मे से उत्पन्न की गई होने पर भी बहुमान वश कृतज्ञता प्रगट करने के लिये तथा उस उत्कृष्ट आदर्श के सामने अपनी इस हीन दशा को रख कर दोनो मे महान अन्तर देखने के कारण, यह कहने मे अवश्य आता है कि यह महान विभूति आपने ही प्रदान की है । यदि आप न होते तो मुझ अधम के द्वारा यह प्राप्त की जानी कैसे सम्भव थी ? इत्यादि । बिल्कुल उसी प्रकार [illegible] सम्मान सम्बन्धी [illegible] के दृष्टान्त मे सेठ पुत्र के मुख से अपने चचा के प्रति कहा गया था । और आज भी निरभिमानता दिखाने के अर्थ जिस प्रकार ऐसा कहते सुने जाते हो कि, "आपकी कृपा से ही

सफल हो जायेगा यह काम। यह आपका ही बालक है। यह आपका ही मकान है" इत्यादि। शब्दों मे कहे जाने पर भी उनका अर्थ वैसा नही होता जैसा कि शब्दों पर से ध्वनित होता है। बस तो इसी प्रकार भक्ति के सम्बन्ध मे समझना। शब्दो मे सब अपने ऊ च नीच कर्ता हर्ता, प्रभु को ही भक्ति व निराभिमानता व कृतज्ञता वश, कहने मे भले आओ, पर उसका अर्थ यह ग्रहण नही करना चाहिये कि यह कुछ दे रहे है या दे देगे।

दिनाक २५ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३२

१३ पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों

देव पूजा के प्रकरण मे यह चौथा प्रश्न है, "पूजा मे प्रतिमा की आवश्यकता क्यो ? प्रश्न बहुत सुन्दर व स्वाभाविक है। तनिक विचार करने पर उत्तर भी अपने अन्दर से लिया जा सकता है ? वास्तव मे ही प्रतिमा की आवश्यकता न होती, यदि साक्षात् देव मेरे समक्ष हो सकते। साक्षात् की तो बात नही, यहाँ तो आस पास भी देखने मे नही आते, और न ही उनके साक्षात् निकट मे होने की सम्भावना ही है। और यदि आस पास मे ही कही होते भी तो इतने बडे विश्व मे वह अकेले सब के प्रयोजन की सिद्धि कैसे कर सकते, अर्थात् विश्व के सर्व व्यक्ति उनके दर्शन कैसे कर सकते ? व्यक्ति असख्यात और देव एक। दो तीन दश पाच आदि भी हो तो भी सभी की अभिलाषा पूर्ण नही होती। यदि एक दिन के दर्शन मात्र से काम चल जाता, तो भी सम्भवत यह अभिलाषा जीवित देव की उपस्थिति मे शांत हो जाती, परन्तु ऐसा तो नही है। यह अभिलाषा तो नित्य की है। और देव किसी एक या कुछ मात्र व्यक्तियो के लिये बन्ध कर एक ही स्थान पर रहे, यह कैसे हो सकता है ?

अत कोई भी कृत्रिम मार्ग निकालना ही होगा। हम मनुष्य है। बुद्धिमान है। तिर्यञ्च होते, पशु पक्षी होते, तो सम्भवत इच्छा होते भी कुछ न कर सकते। परन्तु हम तो बहुत कुछ कर सकते है ? अत. कृत्रिम देव बना कर अपना काम चला सकते है। उसी कृत्रिम देव का नाम है प्रतिमा। प्रतिमा अर्थात् जो देव की ही प्रतिकृति है, उसका ही प्रतिविम्ब है। भले जड़ हो, पाषाण की हो, पर इस प्रकार की कोई भी प्रतिमा जिसकी आकृति उनके शरीर की बाह्य आकृति के बिलकुल सदृश हो, मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर देती है। क्योकि मेरा कुछ ऐसा ही स्वभाव है, अर्थात् आप सव का ही कुछ ऐसा स्वभाव है, कि किसी व्यक्ति का चित्र देख कर या उसका नाम सुन कर भी कुछ कुछ उसी प्रकार के भाव चित्त मे उत्पन्न होने लगते है जैसे कि उस व्यक्ति विशेष के साक्षात् होने पर उत्पन्न होते। यह कोई स्वाभाविक मनोविज्ञान है।

१४ चित्र का मन पर प्रभाव

अपने विचारो पर मै जड चित्रो का प्रभाव नित्य ही देखता हूँ। एक कागज पर खिंचे दु शासन द्वारा द्रौपदी का चीर हरण देख कर कुछ रोना सा आ जाता है। रानी झांसी व महाराणा प्रताप का चित्र देख कर मानो मेरी भुजाये ही फड़कने लगती है। अपनी प्रेमिका का चित्र देख कर मन मे विकार उत्पन्न हो जाता है। सिनेमा मे पड़दे पर चलने फिरने वाली उन कुछ प्रकाश की

रेखाओ मात्र को एक क्षणिक चित्र के रूप मे देखने से क्या होता है ? वह मुझ से छिपा नही है। यदि कुछ न हुआ होता तो धन खर्च करके व्यर्थ ही वहां नीद न खोता। अभी किसी चित्र विशेष को देख कर मानो मुझे रोना आ जाता है। क्या कारण है ? वह भी तो चित्र ही है। जड़ चित्र, जो एक क्षण भी सामने टिकता नही। किसी के प्रति द्वेष हो जाने पर उसके चित्र की अविनय करने का भाव क्यो आता है-मेरे हृदय मे। कागज़ पर खिंची दो चार लकीरें ही तो हैं ? स्वयवर मे सयोगता ने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले मे माला क्या समझ कर डाल दी थी ? अपने उपास्य देव या स्वय अपने चित्र को जूतो मे पड़ा देख कर क्यों दु ख सा होने लगता है मुझे ? अपने कमरो को चित्रो के द्वारा क्यो सजाता हूं-मैं ? यदि सजाऊं भी तो, जो कोई भी चित्र क्यो टाग नही देता, अपनी रुचि के अनुसार ही क्यो टांगता हूँ ? इत्यादि सर्व दृष्टान्तो पर से एक जड़ चित्र का मेरे मन पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह बात स्पष्ट प्रगट हो जाती है। वैसे ही देव के चित्र को देख कर स्वाभाविक रीति से ही मेरे मन पर कुछ अद्वितीय प्रभाव पड़ता है।

और इस प्रभाव मे और भी कई गुणी वृद्धि हो जाती है जब कि मै इसमे अपनी कुछ विशेष कल्पनाओ को डाल देता हू। जैसे दश पॉच सूत के धागो की बनी इस देश की ध्वजा को ऊंचे पर लहराते देख कर मानो मेरा रोम रोम फूल उठता है, और इस छोटे से वस्त्र के टुकडे को अपमानित होता देख कर मुझे स्वत ही क्रोध आ जाता है। क्या कारण है ? वहा किसी जानकार व्यक्ति की तो बात ही नही, किसी व्यक्ति का या देश नगर ग्रामादि का चित्र भी तो नही है। केवल एक कपड़े का टुकड़ा ही तो है वह ? परन्तु ऐसी बात चित्र मे होती अवश्य है। जिस बात का साक्षात् वेदन हो उससे नकार कैसे की जा सकती है ? इसका कारण यही है कि बजाज की दुकान पर रहने तक ही वह साधारण वस्त्र था, परन्तु आज तो मेरी कुछ कल्पनाओ का आधार होने के कारण वह साधारण वस्त्र नही रहा है, वह बन गया है देश की लाज। यह शक्ति उस जड़ वस्त्र मे नही बल्कि मेरी कल्-नाओं मे है। इसी प्रकार पत्थर या लकडी के टुकड़े आदि मे भी मै देव की कल्पना करके उसी प्रकार का भाव उत्पन्न कर सकता हूं, जैसा कि जीवित देव को देखने से होता है। और यदि वह पत्थर व लकड़ी का टुकड़ा देव की आकृति के अनुरूप ही हो तो सोने पर सुहागा है। आकृति सापेक्ष और आकृति निरपेक्ष दोनो ही प्रकार की प्रतिमाये आज हमारे देखने मे आती है। जैसे शिव प्रतिमा आकृति निरपेक्ष है और वीतरागी शान्त देव की प्रतिमा आकृति सापेक्ष। परन्तु आकृति सापेक्ष का जो प्रभाव सहज ही पड़ता प्रतीत होता है वह आकृति निरपेक्ष मे अनुभव करने मे नही आता, जिसका कारण सम्भवत. यह हो कि आकृति निरपेक्ष को देख कर मुझे बुद्धिपूर्वक ही उन कल्पनाओ की याद करने के लिये अधिक ज़ोर लगाना पड़ता हो, जो कि आकृति सापेक्ष को देखते ही अबुद्धि पूर्वक स्वत जागृत हो उठती है। खैर कुछ भी हो यहां तो केवल इतना सिद्ध करना था कि प्रतिमा का कोई प्रभाव न पड़ता हो ऐसा नही है। उसका हमारी बुद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त बातो पर से तीन सिद्धान्त निकलते है। एक तो यह कि किसी चित्र का मेरी मनोवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दूसरा यह कि किसी भी वस्तु मे कल्पना विशेष कर लेने पर उस वस्तु मे मुझे तद्वत् सा ही भाव बीतने लगता है, और तीसरा यह कि आकृति सापेक्ष प्रतिमा से मेरे चित्त पर आकृति निरपेक्ष प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। और जिस प्रतिमा को आज मैने अपने

सामने अपना उपास्य बना कर रखा है उसमे यह तीनो ही बाते पाई जाती है। प्रतिमा तो वह है ही चाहे पाषाण की हो या धातु की या लकडी की या कागज पर खिंची चित्र रूप। इसके अतिरिक्त उसमे वीतराग आकृति का ज्यो का त्यो आकार या प्रतिबिम्ब भी विद्यमान है। और मैने अपनी कुछ विशेष कल्पनाये भी इसमे उडेली हुई है। अत: आज जीवित देव या उस प्रतिमा मे मेरे लिये कोई अन्तर नही रह गया है।

१५ वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता

भो कल्याणार्थी! इस सशय को दूर कर। आ मेरे साथ और देख कि प्रतिमा मे क्या दिखाई देता है। आज तक तूने इसे पाषाण की प्रतिमा के रूप मे देखा है, आ, आज मै इसे जीवित रूप मे दिखाता हू। आज तक प्रतिमा के दर्शन किये है, आ, मै जीवित देव के दर्शन कराता हूँ। अपनी दृष्टि से नही मेरी दृष्टि से देख। यह प्रतिमा कहा है यह तो साक्षात् देव विराजमान है। जीवित देव! वही वीतरागी शान्त मुद्रा धारी देव जिनके दर्शन कि परसो बन मे किये थे। देख गौर से देख यह वही तो है। क्या अन्तर है इसमे तथा उनमे? उनकी मुखाकृति भी सौम्य, सरल व शान्त थी और इनकी भी वैसी ही है। उनके होठो पर भी मीठी मुस्कराहट थी और इनके होठो पर भी वैसी ही है। उनके शरीर पर भी वस्त्र नही था और इनके शरीर पर भी नही है। उनके भी रोम रोम से शान्ति टपकती थी और इनके भी रोम रोम से शाति टपकती है। वह भी मौन थे और यह भी मौन है। वह भी निश्चल थे और यह भी निश्चत है। वह भी बन्दक व निन्दक मे हर्ष विषाद रहित समान थे और यह भी वैसे ही है। उनके दर्शन करने पर भी उनके चैतन्य का साक्षात्कार नही हो रहा था और इनके दर्शन पर भी इनके भी चैतन्य का साक्षात्कार नही हो रहा है। ऊपर से वह भी जड वत् ही भासते थे और यह भी वैसे ही दीख रहे है। वहां भी अनुमान के आधार पर शान्ति को पढा जा रहा था और यहां भी अनुमान के आधार पर शाति को पढा जा रहा है। अन्तर क्या है? केवल इतना ही न कि वह चमडे की प्रतिमा थी और यह पाषाण की। परन्तु वहां तो तेरी दृष्टि मे चमडा न आकर देव ही आया था, एक शाँत जीवन ही आया था। यहाँ क्यो तेरी दृष्टि मे पाषाण आता है? क्यो उसी दृष्टि से यहा भी नही देखता? इनका ऊपरी रूप न देख कर इनके अन्तरग मे घुस और इन कल्पनाओ के आधार पर जो कि मैने इनमे डाली हुई है इनके जीवन ही को देखने का प्रयत्न कर। तब देखना कि यह जड़ दिखाई न देगे, साक्षात् चेतन दिखाई देगे।

१६ कल्पनाओं का बल

कल्पनाओ मे महान बल है। शेख चिल्ली कुछ कल्पनाओ के बल पर ही राजा बन बैठा। और बात चला दी अपनी काल्पनिक स्त्री पर। शेख चिल्ली की ही बात न समझना। वास्तव मे हम सब शेख चिल्ली है। सुबह से शाम तक वैसी ही कल्पनाये किया करते है। बेटा हो जायेगा, उसका विवाह कर देगे, सुन्दर सी एक बहु घर मे आयेगी, पोता हो जायेगा, मेरी गोद मे आकर खेलेगा, तुतला तुतला कर बोलेगा, कितना प्यारा लगेगा, कुछ बडा होकर "बाबा जी" कह कर पुकारेगा मुझे। अहा! मानो मै किसी दूसरे लोक मे पहुँच जाऊगा, कितना सुन्दर होगा वह दिन, कब आयेगा वह दिन? यह सब शेख चिल्ली की कल्पनाये नही तो क्या है? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानो असली दृश्य ही सामने हो। एक व्यभिचारी केवल कल्पनाओ के आधार पर अपनी प्रेमिका के घर पर पहुँच जाता है, और प्रेम से उसका अग स्पर्शता हुआ कल्पना मे ही व्यभिचार सेवन करता है। शेख चिल्ली की कल्पनाये नही तो क्या है? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानो असली प्रेमिका का ही साक्षात् स्पर्श हो रहा हो। तथा इसी प्रकार की अनेको राग वर्धक कल्पनाये कर करके नित्य ही, कभी हर्ष का तो कभी

विषाद का अनुभव किया करता हूँ। ऐसा होता सबको प्रतीत होता है, फिर इस सत्य के प्रति नकार क्यो ? प्रतिमा के प्रभाव व कल्पनाओं की शक्ति के प्रति आज जो नकार तुझे वर्त रही है उसके पीछे कोई पक्षपात छिपा बैठा है। कोई सम्प्रदाय पुकार रहा है। तू एक वैज्ञानिक वन कर निकला है सम्प्रदायिक नही। एक वैज्ञानिक है तो पक्षपात को अब धो डाल। और इस मनोविज्ञान से कुछ लाभ उठा।

आज तक इस मनोविज्ञान को दूसरी दिशा मे प्रयोग करना आया है आज उसी का प्रयोग इस दिशा मे कर। देख तुझे साक्षात् देव के दर्शन होते हैं शांति के दर्शन होते है। आज तक वैज्ञानिक बन कर दर्शन किये नही, साम्प्रदायिक वन कर ही दर्शन करता रहा है। और इसी लिये ऊपर की शकाये उत्पन्न हो रही है। अभिप्राय के तनिक के फेर से क्रिया मे महान अन्तर पड़ जाता है। अत अभिप्राय को ठीक वना कर आगे वढ। पहले ही इस दिशा मे काफी समझा दिया गया है-तुझे। आ, और देख इस प्रतिमा मे जीवित देव।

दिनाक २६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३३

१७ प्रतिमा व जीवित देव में समानता

देव पूजा के सम्वन्ध मे बात चलती है। अन्तरग व वाह्य पूजा का चित्रण खेच दिया गया, अब यह देखना है कि प्रतिमा मे जीवित देव के दर्शन कैसे किये जाये ? आओ चले। यह लो आ गया भगवान का समवशरण। गन्ध कुटी पर विराजमान साक्षात् वीतराग देव। वह देखो सामने वीतराग प्रभु कितनी शान्त मुद्रा मे स्थित है। वेदी मे नही समवशरण मे वैठे है। वेदी पर दृष्टि न कीजिये केवल प्रतिमा पर लक्ष्य दीजिये। जैसे धनुर्धर अर्जुन की दृष्टि मे कौवे की आख ही आती थी-उसी प्रकार। यह जीवित ही तो है। जिन्हे वन मे देखा था वही तो है। वही मुखाकृति, वही वीतरागता, वही सरलता, वही शान्ति, वही मधुर मुस्कान, वही निश्चल आसन, वही मौन, वही नासाग्रदृष्टि, वही निर्भीक नग्न रूप, वही निश्चिन्तता, वही अलौकिक तेज, वही आकर्षण।

१८ देव के प्रति बहुमान व भक्ति

आहा हा ! धन्य हुआ जा रहा हूँ आज-मैं। किस परम सौभाग्य से मिला है यह दुर्लभ अवसर ? जिनके दर्शनो को वडे बडे इन्द्र तरसते है, भर्वार्थ-सिद्धि के अहमिन्द्र को भी जो सौभाग्य प्राप्त नही है। आहा हा ! आज मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज मै इस विश्व मे सबसे ऊंचा हूँ। आज से पहले अधम था, नीच था, पापी था। पर आज ? आज न पूछिये। मुझे यह बताने को भी अवकाश नही कि आज मै सर्वार्थ सिद्धि के इन्द्रो से भी ऊंचा हूँ। आज मुझे कुछ अन्य वाते विचारने का अवकाश नही। किसी की वात सुनने का अवकाश नहीं। बोलने का अवकाश नही। अरे ! पलक झपकने तक का अवकाश नही-आज मुझे। अरे मन ! कृपा करके जरा चुप रहो न। देख नही रहे हो कि आज मेरे, देव आये है-मेरे आंगन में। अरे ! जवाहर लाल नेहरू तेरे घर पर आ जाये तो तू पागल वन

जाये। सोचने को भी अवकाश न रहे, कि क्या करू कहा बिठाऊ इनको ? और आज तीन लोक के पति, त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ, पधारे है, तो तुझे अपने राग अलापने की पडी है ? लाज नही आती ? देख देख सावधान हो। प्रभु को बैठाने के लिये स्थान बना। घबरा नही। तेरे पास है प्रभु के योग्य स्थान।

आइये नाथ, आइये ! इस अधम का आँगन पवित्र कीजिये। यहां विराजिये, यहां विराजिये-इस मेरे हृदय मन्दिर मे। भगवान देखिये तो कितना सुन्दर बनाया है ? सर्व सकल्प विकल्पो का कूडा कर्कट निकाल कर-कितना उज्वल, धुला धुलाया तथा पवित्र पडा है यह-केवल आपकी प्रतीक्षा मे, कि कब आये मेरे प्रभु और कृतार्थ करे मुझ अधम को ? आहा हा ! मानो आज मैं सामान्य व्यक्ति नही हूँ। मेरे पांव आज पृथ्वी पर नही पडते। मेरे घर मे विराजे है त्रिलोकाधीश। अरे जाओ रे जाओ रे लोगो जाओ क्या देखते हो ? नजर मत लगाओ। पहले सौभाग्य प्राप्त करके आओ, फिर देखना मेरे प्रभु को। आज मै गर्व के मारे उडा जा रहा हूँ आकाश मे। तुम इस पृथ्वी पर खडे कैसे पकड़ सकते हो मुझे ? मत देखिये नाथ ! इनकी ओर। यह सब तो ऐसे ही मेरे आगन मे आपको आया देख कर चिड़ रहे है। इन्हे यह सौभाग्य जो मिला नही। आप खडे न रहिये भगवन ! बैठ जाइये, इस मन के जड़ित आसन पर। आपके लिये ही तो बिछाया था इसे। आहा हा ! आज पावन भये मेरे नेत्र, मै हुआ पूर्ण धनी। मेरा जीवन पावन हो गया, मेरा जन्म पावन हो गया, मेरा तन पावन हो गया, मेरा मन पावन हो गया, मेरा हृदय पावन हो गया। मै सारा पावन हो गया, कृतकृत्य हो गया। मेरे आगन पधारे है भगवन्, शान्ति के देवता, मेरे उपास्य, मेरे लक्ष्य, मेरे आदर्श।

१९ प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर

अरे ठहर ठहर रे मन ! अभी मत बोल। बीच मे अपनी टाग अडाये बिना क्या एक क्षण भी नही बैठ सकता। बडा चचल है। प्रभु की तो शर्म कर। इतना निर्लज्ज न बन। कब कब पधारते है प्रभु। सुन सुन। तनिक कान लगा कर सुन, देख प्रभु मुझ से बाते कर रहे है। अरे तू भी तो अपना जीवन सफल बना ले। यह अवसर फिर मिलना कठिन है। अहा हा ! कितनी मिष्ट है प्रभु की वाणी मानो अमृत ही वर्ष रहा है। मेरी तो बात ही क्या नरक मे पडे जीवो को भी तो कुछ चैन सी पड गई है इस समय। तीन लोक तृप्ति-कर यह अमृत गगा। अरे मन ! तनिक अपना ढकना तो खोल। ले इस गगा को भरले अपने मे। याद रख फिर न मिलेगी इसकी शीतल धारा। तरसता रह जायेगा। बहुत स्थान है तेरी गहनता मे। सब की सब समाले अपने अन्दर। देख एक बूद भी न बिखरने पाये। और ले, अब बे सुध हो कर करने लगा-मै अमृत का पान।

क्या देखा तूने अधरो मे ? .... एक शान्ति मुस्कान।
क्या देखा तूने नेत्रो मे ? .... इस ही का सम्मान।
क्या देखा कर कमलो मे ? .... लक्ष्य सिद्धि आल्हाद।
क्या सुनता है इन कानो मे ? .... मधुर तृप्ति का नाद।
क्या देख रहा मेरे मन मे ? .... शान्ति सखी का नृत्य।
क्या दीख रहा तुझ को तन मे ? .... शान्ति नगर का दृश्य।

आओ सखा ! इस शान्ति नगर के क्षण भर यात्री बन जाओ।
आता हूँ भगवन् ! रुक जाओ। लो हाथ पकड कर अपनाओ।

कैसा लगता है अब तुझको ? .... मै तुम एक हुये मानो।
कुछ इच्छा है तो कह डालो ? .... क्या कहूँ। नाथ अब मत बोलो।
क्या कह रहा है यह वन्दक ? .... होगे कोई मुझे क्या इनसे।
जा जा इनकी कुछ तो सुनले ? .... इनका नाता ही क्या मुझसे।
कुछ इच्छा है तो अब भी कह दे ? .... बस प्रभु और न बोलो मुझ से।

नेत्र वन्द किये मानो मै प्रभु मे मिल चुका था, दीन दुनिया की खबर न थी। मैं था और थे मेरे शान्ति आदर्श वीतराग प्रभु। और फिर ? वही। अरे मन ! तेरा सत्यानाश हो। तू अपनी चचलता से वाज न आया। आखिर वही किया जो तुझे करना था। घसीट ही लिया मुझे। अच्छा करले जो कुछ करना है। अपनी वदकारी मे कमी मत रख। सर्व अरमान निकाल ले। आखिर कव तक ? एक दिन विदा लेनी होगी तुझे। बान्ध ले अपना विस्तरा वोरिया। अब अधिक दिन नही निभेगा मेरा साथ। मेरा रास्ता यह और तेरा रास्ता वह। प्रभु को भुला देना तो अब मेरी सामर्थ्य से वाहर हो चुका है। क्योकि अव मै कर चुका हू प्रतिमा मे जीवित देव के दर्शन। अब यह मेरे लिये पाषाण नही है। भगवान है।

२० पंच कल्याणक महत्व

अव तक भले भूला रहा हूं पर अव मुझे सब पिछली बातें याद आ गई हैं। वह दृश्य मेरी आंखो के सामने घूम रहा है, जब कि प्रभु ने माता की कोख मे प्रवेश किया था। मेरे सामने ही इनका जन्म हुआ था। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है, जबकि आपका राजतिलक हुआ था, और इनकी प्रजा का एक अग बन के मै सुख पूर्वक जीवन बिताता था। आहा हा ! वह दिन तो मानो कल ही गुजरा है। क्या दृश्य था वह ? चहूँ ओर वैराग्य व वीतराग। लौकान्तिक देवो का वह सम्वोधन, मेरे कानो मे आज भी गूंज रहा है। प्रभु को वैराग्य आ गया था उस दिन। राज पाट को ठुकरा व नीची गर्दन किये वन की ओर चल पड़े थे। मुझ से रहा न गया। पालकी उठा लाया। प्रभु को बैठाया और ले चला कुछ दूर अपने कन्धो पर। ओह ! कितना उत्साह था उस दिन मुझ मे ? जैसे कि आज ही मै भी घर छोड कर चल दू-प्रभु के पीछे। पर मेरा दुर्भाग्य मै न जा सका। प्रभु चले गये और मै देखता ही रह गया। कितनी उदासीन थी सारी प्रजा ? पर प्रभु प्रसन्न थे। शान्त थे। मानो चले हो किसी स्वयवर मे।

यह दृश्य तो मानो यह मेरी आंखो के सामने ही हो रहा है। देखो देखो। क्या नही दीख रहा है तुम्हे ? लो इन आखो से देखो। वह प्रभु बैठे किस तरह घास फूस की भाँति आपने केश नोच कर फेंक रहे हैं। मैने इन ही हाथो से समेटे थे उनके वाल। ध्यान मे निश्चल हुए वह योगी यही तो हैं, जिनके शरीर पर खाज खुजाता हुआ वह मृग मैने देखा था। और वह दिन मानो जब तीनो लोक झकार उठे थे। चहुँ ओर ही युगपत् गूंजने वाली दुंदुभियो की ध्वनि मानो आकाश को फाडने का प्रयत्न कर रही थी। उस दिन उत्पन्न हुआ था भगवान को वह ज्ञान, जिसके प्रकाश मे मानो वह तीनो लोको को व तीनो कालो को प्रत्यक्ष देख रहे थे-अपने हृदय पट पर। वह अलौकिक तेज जिसमें कि मुझे भी दिखाई देने लगे थे-अपने सात भव। आहा हा ! कैसी महिमा थी उस समय भगवान की ? तीन लोक की

सम्पत्ति ही सिमट आई थी उनके चरणों मे । मै तो क्या, सहस्र-जिव्हा भी उसका वर्णन करने मे असमर्थ है । और अन्त का वह दिन जब भगवन विदा ले रहे थे हम सब से-सदा के लिये । मानो अनाथ बना चले थे हम सबको । मै रो रहा था-उस समय । न जाने क्यो ? सम्भवत इसलिये कि मै भी कभी ले सकू गा ऐसी विदा ।

और आज वही प्रभु है मेरे सामने । मानो इस अनाथ की सुध लेने आये है, कि भूल न बैठा हो कही उस अन्तिम रुदन के भाव को । वास्तव मे था भी वैसा ही । प्रभु से क्या छिपा है ? मै तो भूल ही बैठा था सब कुछ । यहाँ तक कि प्रभु भी पाषाण दिखाई देने लगे थे अब मुझे । सोते को जगा दिया प्रभु ने । भगवन ! आप न आते तो न जाने क्या होता मेरा ? इस भव मे अपने हाथो से की हुई सब क्रियाओं को, अपनी आखो से देखे हुए सव दृश्य को, अपने कानो से सुने हुए सव शब्दो को, इसी भव मे भूल गया तो आगे क्या होता ? तभी तो कहते है आपको करुणा सिन्धु, भक्त प्रति पालक, अधमोद्धारक ।

२१ प्रतिम क्या और कैसे देती है — अरे भोले प्राणी ! अब भी समझ न पाया कि क्या दे दिया इस प्रतिमा ने ? कितनी सामर्थ्य है दृष्टि मे आने वाली इस पाषाण की मूर्ति मे । भावना शून्य तुझे दिखाई ही कैसे देगी वह सामर्थ्य । पक्षपात के गहन अन्धकार मे मु द गई है तेरी आखे । शान्ति के दर्शन कर-उपरोक्त प्रकार तन्मय होकर । तब पता चले कि क्या देती है यह प्रतिमा । कितनी सामर्थ्य है इसमे । ठीक है यह अपनी रक्षा स्वय नही कर सकती क्योकि जड़ है, परन्तु मेरी रक्षा अवश्य कर सकती है । हाथ कगन को आरसी क्या ? करके देख वे उपरोक्त प्रकार से इसके दर्शन । यह रक्षा स्वय नही करती तो क्या आश्चर्य, वह जीवित प्रभु भी तो, जिनकी की यह आकृति है स्वय नही करते थे अपने शरीर की रक्षा । अनेक शक्तियो व ऋद्धियो के भण्डार होते हुए भी, इस पृथ्वी को एक अगुली पर घुमा देने की शक्ति रखते हुए भी, वह नही करते थे स्वय अपने शरीर की रक्षा । वह नित्य जागृत रहा करते थे अपनी रक्षा के लिये, निज शान्ति की रक्षा के लिये, और यह प्रतिमा भी बराबर कर रही है अपनी रक्षा ।

प्रभु ! इस अन्धकार मे तुझे कैसे सूझे कि किसे कहते है अपनी रक्षा ? एक ओर कह रहा है शरीर और आत्मा भिन्न है और दूसरी ओर कह रहा है कि शरीर की रक्षा ही मेरी रक्षा है । भला कहा है विश्वास तुझे स्वय अपनी बात पर ? प्रभु का विश्वास तुझ जैसा पोच न था । वह दृढ थे इस बात पर कि वह चैतन्य हैं अन्य कुछ नही । शरीर से उनका कोई नाता नही तनिक भी । फिर बता इसकी रक्षा क्यो करते ? और कदाचित् उपकार बुद्धि से भी कर देते, यदि इसकी रक्षा करते हुए स्वयं अरक्षित न होते । समझ भगवन समझ ! शरीर की रक्षा क्या बिना इसके प्रति का राग आये सम्भव है ? और राग आने पर क्या शान्ति सुरक्षित रह सकती है ? वह शान्ति जिसके लिये कि इतना पुरुषार्थ किया है उन्होने । फिर बता शरीर की रक्षा के लिये अर्थात् एक ऐसी वस्तु की रक्षा के लिये जो उनके लिये उस समय बिल्कुल निष्प्रयोजन बन चुकी थी, राग उठा कर अपनी शान्ति का घात करना, निधि लुटा देना, अपने हाथो अपने घर मे आग लगा देना, कौन बुद्धिमत्ता थी ? और प्रभु ऐसी मूर्खता क्यो करते ? बस वही आदर्श तो उपस्थित कर रही है वह प्रतिमा । निश्चल ध्यान अवस्था मे स्थित, अन्तर

तथा बाह्य जल्पों से रहित, उस समय प्रभु भी तो जड़ वत् ही दीखते थे। क्या भूल गया उस दिन को ? जब अपने मुंह से उस महायोगी को जड़ भरत कह कर पुकारा करता था ? यदि यह प्रतिमा ही जड़ वत् दीखती है तो क्या आश्चर्य हुआ।

२२ भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त

देख प्रतिमा सम्बन्धी महाभारत का प्रसिद्ध दृष्टान्त। भले ही नीच कुलीन होने के कारण या "मेरे द्वारा सिखाई गई धनुर्विद्या का दुरुपयोग न हो जाये, उसका प्रयोग पशु हिंसा के प्रति न हो जाये", इस कारण वश, गुरु द्रोणाचार्य ने उस भील को धनुर्विद्या देने से इन्कार कर दिया था। पर उसकी दृष्टि में तो गुरु द्रोणाचार्य उसके गुरु बन चुके थे। भले वह उसे अपना शिष्य स्वीकार न करते पर उसकी भावना कैसे बदल सकते थे ? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष ही सही। धनुर्विद्या अवश्य सीखूंगा। ऐसा दृढ संकल्प वाले उस भील ने वन मे जा कच्ची मिट्टी से बनाई द्रोणाचार्य की प्रतिमा, और एक गुफा के मुख पर बड़ी विनय से विराजमान कर दिया उसे। तीन समय पुष्प चढ़ाता था उसके चरणो मे। वह उसकी दृष्टि मे प्रतिमा न थी। वह थे साक्षात् गुरु द्रोण। प्रतिमा से ही पूछ पूछ कर करने लगा धनुर्विद्या का अभ्यास। स्वय अपने ही हृदय से प्रगट होने वाले लक्ष्य साधन के उपायो को यदि पहले ही से मान बैठता अपने, तो अभिमान हो जाता। "गुरु द्रोण ही क्या करेंगे इसमे ? मै स्वयं ही सीख लूंगा" ऐसा भाव आ जाता। और कभी न सीख सकता वह विद्या। परन्तु उसके हृदय मे यह विकल्प था कब ? उसकी दृष्टि मे तो थी गुरु की विनय। लक्ष्य चूक जाने पर गुरु से अर्थात् प्रतिमा से क्षमा मांग लेता और लक्ष्य सफल हो जाने पर उनके चरण छू लेता। वर्षों बीत गये इसी प्रकार करते। पर एक क्षण को भी उसने उसे प्रतिमा रूप मे न देखा। वह थे उसके साक्षात् गुरु। और एक दिन सिद्धहस्त हो गया वह-अर्जुन की विद्या को भी शर्मा देने वाला।

अर्जुन से यह कैसे सहा जा सकता था ? गुरु द्रोण का शिष्य इस वे गुरुवे भील से नीचा रह जायें ? नही यह नही हो सकता। गुरु से जाकर कह ही दिया। गुरु आये। भील से पूछा। किन से सीखी है विद्या ? गुरु को साक्षात् सामने देख लेट गया उसके चरणो मे। आहा हा ! आखिर चले ही आये आप खिचे हुये। भक्त की भक्ति मे इतनी ही सामर्थ्य हैं। "भगवन ! और कोई नही आप ही है मेरे गुरु" यह था भील का उत्तर। गुरु द्रोण आश्चर्य मे डूब गये। यह बात सत्य कैसे हो सकती है। उन्होने तो उसे विद्या देने से इन्कार कर दिया था न। नही मै नही हो सकता। यह झूठ बोलता है। छिपाना चाहता है अपने गुरु का नाम-मुझसे। भील ताड़ गया गुरु के मन की बात और ले गया उनको प्रतिमा के पास। यदि विश्वास न आता हो तो देख लीजिये, यह बैठे हैं मेरे गुरु। और गुरु द्रोण पर खुल गया सारा रहस्य-जड़ प्रतिमा क्या दे सकती है और किस प्रकार दे सकती है यह रहस्य।

भो कल्याणार्थी ! अब पक्षपात तज। किसी दूसरे के लिये नही अपने लिये। "मेरे मन मे है भगवन ! क्या करूंगा प्रतिमा के दर्शन करके" ऐसा बहाना छोड़ दे। स्वय तेरी शान्ति का घात कर रहा है यह। क्योकि अब तक तूने भगवान के दर्शन किये ही कब है, जो तेरे हृदय मे उनका वास सम्भव हो जाता। भगवान शब्द का नाम तो भगवान नही। भगवान जीवन का एक आदर्श है जो तू इस प्रतिमा से पढ़ सकता है या साक्षात् भगवान मे। भगवान वर्तमान मे है नही। अत. उनके प्रतिनिधि इस प्रतिमा की अब शरण ले, और अपना कल्याण कर।

दिनाक २७ जुलाई १९५९

प्रवचन न० ३४

२३ विकल्पों को सर्वत· या सर्वदा दवानेमें असमर्थता,

देव पूजा की बात चलती है। देव का व पूजा का स्वरूप दर्शाया जा चुका है। अब प्रश्न यह होता है कि मन्दिर की क्या आवश्यकता ? प्रश्न बहुत उत्तम व स्वाभाविक है। ऐसे प्रश्न उत्पन्न करते समय यदि भय लगेगा तो तत्व नही समझा जा सकता। जैसे मैं कहूँ वैसे स्वीकार कर लेना वास्तव मे समझना नही है। देख इस प्रश्न का उत्तर स्वय अपने अन्दर से ही आ जाता है।

'मुझे शान्ति चाहिये' यह समस्या है। इस समस्या को सुलझाने का अब प्रश्न है। शान्ति प्राप्त करने से पहले यह जानना आवश्यक था कि शान्ति क्या है, और इसका घात करने वाला कौन है ? सो भी जाना जा चुका कि शान्ति मेरा स्वभाव है, और इसका घात करने वाला मेरा अपना ही अपराध है, जिसे आस्रव तत्व मे दर्शाया गया है। अर्थात् शरीर धन व कुटुम्बादि सम्बन्धी अनेको नित नये नये उठने वाले विकल्प इच्छाये व चिन्ताये। यदि यह विकल्प दब जाये तो मै शान्त पहले ही हूँ। वास्तव मे शान्ति प्राप्ति नही करनी है बल्कि अशान्ति को दूर करना है। इन चिन्ताओ को, इन इच्छाओ को, इन विकल्पो को दूर हटाना है। यह दूर हुए कि शान्त तो मै हूँ ही। वह तो स्वभाव जो ठहरा। प्राप्त की प्राप्ति क्या ? जो पहले ही से मेरे पास हे उसको प्राप्त करने का प्रयास क्या ? स्वभाव का कभी विच्छेद नही हुआ करता। क्या अग्नि से जल गर्म हो जाने पर भी जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ बैठता है ? नही। तो मै ही इन विकल्पों के कारण व्याकुल होता हुआ भी, अपनी शान्ति कैसे छोड़ सकता हूँ ? अत जिस किस प्रकार भी इन विकल्पो के अभाव करने का प्रयास करना है।

२४ थोडी देर को विकल्प दवाना प्रयोजनीय

अब विचारना यह है कि क्या एक दम इन विकल्पो को रोका जाना सम्भव है ? जैसे कि बिजली का बटन दबाया और प्रकाश बन्द ? क्या इसी प्रकार कोई क्रिया विशेष करी और विकल्प बन्द, ऐसा होना सम्भव है ? नही। ऐसी बात यहा सम्भव नहीं, क्योकि प्रारम्भ मे ही आस्रव बन्ध तत्वो के अन्तर्गत इन विकल्पो व सस्कारो के जन्म का यह क्रम दर्शाते हुये यह बताया जा चुका है कि सस्कार धीरे धीरे ही शक्ति पकडता हुआ एक दिन पुष्ट हो जाता है। एक दम पुष्ट नही हो बैठता। बस उसी प्रकार यहा भी समझना। आगे निर्जरा के प्रकरण मे इस बात को सविस्तार भी बताया जायेगा, कि कोई भी सस्कार क्रम पूर्वक तोडा जाता है। जब तक सस्कार समूल नष्ट न होगा, तब तक उससे प्रेरित हुआ मै नित नये नये विकल्प भी छोड़ न सकूगा। रोगी का रोग एक दम दबाया नही जा सकता। क्रम पूवक और धीरे धीरे ही दबाया जा सकता है। उसी प्रकार विकल्प दबाने के सम्बन्ध मे भी समझना।

२५ अनुकूल वाता- वरण की महत्ता

इन विकल्पो मे सर्वदा के लिये तो क्या, कुछ देर के लिये भी पूर्णतया अंकुश नहीं लगाया जा सकता। हा इतना अवश्य है कि इन्हे कुछ देर के लिये किसी प्रकार दबाया अवश्य जा सकता है। जिस प्रकार कि मारफीन के इन्जैक्शन द्वारा या कोकीन के इन्जैक्शन द्वारा कुछ देर के

लिये पीड़ा दवाई अवश्य जा सकती है। अब मुझे यह देखना है कि कुछ देर के लिये ही सही, वह क्रिया विशेष कौन सी है जिसके करने से कि वे विकल्प दब सके। अनेको बार जब कि मै क्रोध मे अत्यन्त व्याकुल बना हुआ, अन्दर ही अन्दर कुछ जलन सी महसूस करता हूँ मैने यह अनुभव किया है कि ऐसे अवसरो पर यदि मै घर या दुकानादि का वातावरण छोड़ कर क्लब मे जाकर खेलने लगू तो धीरे धीरे वह क्रोध शान्त हो जाता है। और उस समय तक पुन जागृत नही हो पाता जब तक कि पुन उसी प्रकार का कोई अन्य वातावरण मेरे सामने न बन जाये। बस इसी अपने अनुभव से सिद्धान्त निकाल लीजिये।

सिद्धान्त यह विकल्प कि बाह्य वातावरण का मेरे विचारो के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जुआरियो के वातावरण मे मै रह कर जुआरी और शराबियो के वातारण मे मै रह कर शराबी बन जाता हूँ। इस प्रकार निर्विकल्प वातावरण मे मै रह कर निर्विकल्प भी बन सकता हूँ। यद्यपि स्व पर भेद विज्ञान के अन्तर्गत वस्तुत इसका निषेध किया गया है, और बताया गया है कि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य पर कोई प्रभाव नही पड सकता। और इस बात पर मुझे विश्वास भी है। युक्ति आदि से निर्णय भी किया है, परन्तु अभी तक वह विश्वास पूर्णतय मेरे जीवन मे उतरने नही पाया है। पूर्व का पराश्रित हो जाने का सस्कार अभी दृढ है। गल्ती मेरी ही है। पर करता हू मै किसी वातावरण से प्रभावित ही होकर। जो बात स्पष्ट अनुभव मे आती हो, उस के प्रति न करने से क्या लाभ ?

विकल्प को दबाने के दो उपाय है। एक तो यह कि स्व पर भेद ज्ञान के द्वारा मै जहा कही भी बैठा दृढता धार कर वातावरण की ओर दृष्टि ही न दू, और अपने शान्त स्वभाव को लक्ष्य मे लेकर अन्तरग मे एक नया वातारण उत्पन्न कर लू। यह उपाय करने बैठता हूँ तो वर्तमान की इस प्राथमिक अवस्था मे अपने को बिल्कुल असमर्थ पाता हू। बात को समझना सरल है पर उस बात को कार्यन्वित रूप देना कुछ कठिन। समझने व श्रद्धा करते से अधिक समय नही लगता, पर उसे पूरा करने को एक लम्बा समय होना चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये जो इस अत्यन्त निकृष्ट अवस्था मे भी किया जा सकना सम्भव हो, और मेरी शक्ति से बाहर न हो।

२६ मन्दिर की अनुकूलता

कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ताओ से कुटुम्ब के वातावरण मे रह कर, और धनोपार्जन सम्बन्धी चिन्ताओ से दुकान पर रह कर और शरीर सम्बन्धी चिन्ताओ से शरीर की सेवा मे सलग्न रह कर, बचने का प्रयास करते हुए भी बचा नही जा सकता। अत. इस निश्चय के आधार पर कि वातावरण बदल देना चाहिये। अत यह विचारना है कि इसको छोड़ कर किस वातावरण मे जाऊ? क्या क्लब मे जाने से काम चल जायेगा ? नही, क्याकि यद्यपि वहा कुटुम्बादि सम्बन्धी विकल्प दब जायेंगे पर हार जीत सम्बन्धी नये विकल्प उत्पन्न हो जायेगे। अत वातावरण ऐसा होना चाहिये कि जहा जाकर यदि विकल्प भी उत्पन्न हो, तो वीतरागता सम्बन्धी ही हो, शान्ति सम्बन्धी ही हो। और सौभाग्य वश शान्ति के आदर्श जीवित देव या उसकी प्रतिमा की शरण में जाने से यह प्रयोजन ठीक ठीक सिद्ध हो जाता है। जैसा कि इससे पहले के प्रकरणो मे दर्शा दिया गया है। इन दोनो मे भी देव की शरण का तो प्रश्न ही नही, क्योकि वर्तमान मे कही दिखाई ही देते नही। उनकी प्रतिमा सौभाग्य वश अवश्य प्राप्त है। प्राप्त साधन से ही कुछ लाभ लेना है।

अब यह विचारिये कि यदि यह प्रतिमा घर पर ही रख लूं तो क्या वह वातावरण छूट कर नया तातावरण बनाया जा सकेगा ? यह बताने की आवश्यकता नही कि नही बनाया जा सकेगा। एक ओर स्त्री की नई नई मागे, एक ओर बुद्ध माता पिता की कराहट, एक ओर बच्चों की चीख पुकार, इन सव को होते हुये प्रतिमा के सामने खडे हुये भी कैसे मेरा उपयोग उनकी ओर आकर्षित न होगा ? अत: कोई अन्य उपयुक्त स्थान ढूढना होगा ।

चलिये वन मे खोजे । आहा हा ! कैसा रमणीक व सुन्दर स्थान है ? यहा ही तो देखा था अपने प्रभु को बैठे हुये । बडा शान्त । प्रकृति ने मानो अपनी विशाल गोद फैलाई है-नगर व ग्राम की दाह से जले मुझे आश्रय देने के लिये । बहुत शान्त वातावरण है। इससे अच्छा और क्या वातावरण हो सकता है ? जहां आते ही मै भूल जाता हूँ सर्व कुटुम्ब को, धन को, यहां तक कि शरीर को, और खो जाता हूँ प्रकृति की सुन्दरता मे । उस स्वाभाविक व शाश्वत् सुन्दरता मे जिसको करने का या नवीन बनाने का विकल्प भी मुझे नही आ सकता ? बस अपने प्रभु की प्रतिमा को यहा ही ले आऊ, और कर दू विराजमान, किसी वृक्ष के नीचे, एक शिला पर । यह वातावरण स्वय शान्त होने के कारण, प्रतिमा के दर्शन करने मे मेरी बहुत महायता करेगा । और इसी कारण से बन गये चैत्य वृक्ष । जिनकी ओर कि गुरुदेव पुन पुन सकेत कर रहे है-इस आगम मे । चैत्य वृक्ष । अर्थात् प्रतिमा रखी गई हो जिस वृक्ष के नीचे, वह चैत्य वृक्ष । और प्राचीन समयो मे यह चैत्य वृक्ष ही हुआ करते थे, जहा जाकर कि मै कुछ देर के लिये भूल जाता था-सब चिन्ताये और लय हो जाता था प्रभु की शान्ति मे । जैसा कि पहले प्रकरणो मे वता दिया गया है ।

यह समय वह था जब कि मै छोटे छोटे गाँवो मे रहा करता था। दो फर्लाङ्ग चला कि चैत्य वृक्ष पर पहुँच गया । फालतू समय भी काफी होता था । सो पचास छोटी छोठी झोंपडियो का ग्राम होता ही कितना वडा है ? चारो ओर वन ही वन पडा है, और है हरे हरे खेत । परन्तु समय मे पलटा खाया और आज मै रहता हूँ बडे बडे नगरो मे । जहाँ से यदि कई मील भी चल लिया जाये तो भी मै वन मे प्रवेश न कर सकू गा । सडको आदि पर बडा व्याकुल सा वातावरण । और आज इतना समय भी तो नही है मेरे पास कि मीलो चला जाऊ बन मे भगवान के दर्शन व पूजा करने और घर पर लौट आऊ । सम्भवत आधा दिन लग जाये इस काम मे । मै गृहस्थ भला कैसे दे सकता हूँ इतना समय ? यदि गुरुदेव की प्रेरणा से या अन्तष्करण मे शान्ति की अभिलाषा की प्रेरणा से कुछ समय निकालने का भी प्रयत्न करू तो वडी कठिनता से १५ मिन्ट या आध घण्टा । अव्वल तो इतना समय भी फालतू कहा है आज मेरे पास ?

बन को अनुकूल वातावरण के रूप मे प्रयोग में करना आज असम्भव है। अत कोई अन्य कृत्रिम मार्ग निकालना पडेगा, जो भले ही उतना सुन्दर व स्वाभाविक न हो, पर जिस किस प्रकार भी वहा मेरे प्रयोजन की सिद्धि किञ्चित हो सके । और निकल ही आया एक उपाय । नगर ही मे एक पृथक स्थान या मन्दिर वना डालो । उसके अन्दर घर सम्बन्धी कोई सामान न रखो । बस हो मेरे प्रभु की प्रतिमा शान्ति के दर्शन के लिये, और हो मन्दिर की दिवारे, जिनके दूसरी ओर भले पडा रहे नगर का व्याकुल वातावरण, परन्तु उनके भीतर हो केवल एक शान्ति ही शान्ति । चहूँ ओर दीवारो पर खिंचे हो या यो प्राकृतिक चित्र, या शान्त जीवनो के चित्र, या हों शान्ति उत्पादक कुछ गुरु वाक्य । ताकि

इस स्थान मे आकर जिधर भी दृष्टि उठाऊं-दिखाई दे एक शान्ति। इसे कहते है मन्दिर अर्थात् शान्ति का निवास स्थान। यद्यपि आज इस विलासता के युग में आकर इसमे भी विलासता का विषैला अग प्रवेश पा गया है। सोने चाँदी की अधिकाधिक सामग्री के रूप में, कुछ बर्तनों के रूप में, छत्र, चमरो के बडे सग्रह के रूप मे, फर्नीचर के रूप मे, परन्तु फिर भी यहा अन्यत्र की अपेक्षा शान्ति है। कर्तव्य तो यह है कि इस विषैले अश को यहा से निकालने का प्रयत्न करू, और कर भी रहा हूँ। कुछ सफलता भी मिली है। क्योकि नवीन आदर्श मन्दिरो की स्थापना की जा रही है, जहा न स्वर्ण का छत्र है न चमर, न बर्तन भाडो की खड खड़ाहट, न अधिक चौकियो आदि का सग्रह, न अधिक प्रतिमाये न लौकिक आकर्षण। केवल एक विशाल प्रतिमा है और एक बड़ी टेवल या बैठने के लिये कुछ आसन। बस और कुछ नही। यह हे मेरे प्रयोजन की सिद्धि मे सहाय.. शान्त वातावरण।

यद्यपि प्रभु को तो कुछ नही, वह तो वीतराग है। कही भी बैठा दो ले जाकर। निश्चल व निर्विकल्प ही रहते है। पूर्ण जो हो गये है। पर मै तो अभी चलना भी नही सीखा हूँ। इसी कारण मन्दिर मे यह विलासता का दृश्य खटकने लगता है आँखो मे सो ठीक ही है। फिर भी अपना काम निकालना है। यदि आदर्श मन्दिर उपलब्ध हो जाये तो बहुत अच्छा, नही तो भागते चोर की लगोटी ही भली। इन ही मन्दिरो से काम चलाओ। जरा अधिक बल लगाना पडेगा, इस रूप में, कि दृष्टि के सामने पडे आकर्षक पदार्थों की ओर मेरा विकल्प खिचने न पावे। परन्तु घर व दुकानादि से फिर भी अच्छा है। अनेको अन्य विकल्पो मे तो छुट्टी मिली ही मिली। दो प्रकार की मुख्य बाधाये है जो मेरी शान्ति को बाधित करती है। एक इन्द्रिय ज्ञान व उनके द्वारा जाने गये पदार्थ, और दूसरा मन व उसमे उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष व अप्रत्यख पदार्थों सम्बन्धी विकल्प। इन दोनो बाधाओ मे से इन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी स्थूल है, क्योकि वह बाह्य मे पडे पदार्थो का आश्रय लिये बिना उत्पन्न नही होती, और मन सम्बन्धी बाधा सूक्ष्म है, क्योकि इसके विकल्पो को बाह्य मे किसी पदार्थ के आश्रय की आवश्यकता नही है। मन्दिर के वातावरण व घर आदिक के वातावरण मे इतना ही अन्तर है कि घर आदिक मे तो दोनो प्रकार की बाधाये सम्भव है परन्तु मन्दिर मे केवल मन सम्बन्धी। क्योकि रागात्मक बाह्य पदार्थ वहा दिखाई ही नही देते। घर बैठ कर विकल्पो के प्रशमन का पुरुषार्थ करने मे दोनो प्रकार की बाधाओ का सामना करना पडेगा। जिसमे अधिक बल की आवश्यकता है। और मन्दिर मे बैठ कर वही पुरुषार्थ करने मे केवल एक बाधा का सामना करना पडता है। इसके अतिरिक प्रतिमा की उपस्थिति मुझे शान्ति के दर्शन करने मे सहायता भी देती है। इसलिये कम बल से भी काम चलता है।

यदि विकल्पो के प्रशमन के लिये पर्याप्त बल मुझ में हो, तो मन्दिर की वास्तव में कोई आवश्यकता न थी। तब तो घर पर बैठे, दुकान पर बैठे, रेल मे बैठे, या सडक पर चलते, किसी स्थान पर भी, किसी समय भी, मै विकल्पो को दबा कर शान्ति मे मग्न हो जाता। परन्तु अनुभव करने पर तो यह जाना जाता है कि जीवन चर्चा में विकल्प बजाये दबाने के अधिकाधिक वृद्धि को ही प्राप्त होते है, इसलिये विकल्प प्रशमन के प्रयोजनार्थ घर आदिक का वातावरण प्रतिकूल पडता है और मन्दिर का वातावरण अनुकूल। आगे आगे भी सर्वत. यही सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा कि अनुकूल

वातावरण मे रह कर पुरुषार्थ करने मे कम बल लगाना पडता है, इसलिये आगे आगे के सर्व प्रकरणों मे जहा अन्तरग विकल्पो के सवरव अर्थात् प्रशमन का अनेक दिशाओ मे प्रसार होने लगेगा, जिस किस प्रकार भी प्रतिकूल निमित्तो के त्याग व अनुकूल निमित्तो के ग्रहण करने की दृष्टि मे से ओझल नही किया जा सकेगा। कारण कि मै अधिक बल वालो की कोटि मे नही हूँ। मेरी शक्ति वहुत हीन है। जरा सी बात मे ही विकल्प उठ खडे होते है। आगे आगे भी यद्यपि शक्ति बढती चली जायेगी, और वहा वहा तत् तदनुसार अनुकूलताये बनाने का प्रयास भी बराबर चलता रहेगा। भले पहले पहल की अनुकूलताओ का आगे आगे कोई मूल्य न रह जाये। जैसे कि साधु दशा मे पहुँच जाने पर यद्यपि मन्दिर का अधिक मूल्य नही रह जाता, परन्तु कोई भी अन्य एकान्त नाम के योग्य स्थान का मूल्य बन जाता है।

२७ मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पो का त्याग

अब यह तो सिद्ध हो गया कि मन्दिर मे आकर अनुकूल वातावरण के कारण मै चाहूँ तो किञ्चित् शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ। परन्तु मन्दिर मे आ जाने मात्र को पर्याप्त मान कर यदि सन्तोप कर बैठू तो क्या उस प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है? नही। क्योकि यद्यपि एक स्थूल बाधा टल कुकी है परन्तु अत्यन्त प्रवल मन सम्वन्धी सूक्ष्म बाधा जीतनी है। यदि उस बाधा को जीतने का प्रयत्न किये बिना, तथा बाधा के विवेक हीन केवल साम्प्रदायिक विश्वास के आधार पर ही, मन्दिर मे आकर हाथ जोडू और चला जाऊ तो कोई कार्य की सिद्धि नही हो सकती। इसलिये इतना जानना आवश्यक है कि मन्दिर मे क्यो आना चाहिये, कैसे आना चाहिये, और वहा आकर क्या करना चाहिये?

उपरोक्त तीन प्रश्नो मे से पहले प्रश्न का उत्तर तो दिया जा चुका है कि केवल विकल्पो का प्रशमन करना ही मन्दिर मे आने का प्रयोजन है। इसलिये यहा आने से यदि विकल्प किंचित् भी शान्त नही होते तो यहा आना निरर्थक है। तीसरे प्रश्न का उत्तर भी लगभग आ गया, कि वहा आकर प्रतिमा मे जीवित देव के पूर्व प्रकरणानुसार दर्शन करते हुये निज शान्ति मे लय होने का प्रयास करना चाहिये। मन्दिर मे भी आकर यदि "यह बडा सुन्दर है, यह स्तम्भ सगमरमर के है, इस पर वहुत पैसा लगा हुआ है, अभी इसमे इतनी कमी है", इत्यादि विकल्पो मे उलझकर देव दर्शन का कार्य भूल बैठू तो भी यहा आना निरर्थक ही हुआ। इसका यह अर्थ नही कि फिर यहा न आये, वल्कि यह अर्थ है कि यहा आकर इन विकल्पो मे उलझने की वजाये यथार्थ देव दर्शन का कार्य करना ही मेरा कर्तव्य है। देव दर्शन व देव पूजा मे कोई विशेष अन्तर नही है। दर्शन ही पूजन है।

अब यह देखना है कि मन्दिर मे कैसे आया जाये? प्रयोजन पर ध्यान दीजिये। विकल्पो के प्रशमनार्थ व शान्ति के अनुभववार्थ आता हूँ यहा। शान्ति के दर्शन तो देव की पूजा से हो जाते हैं। पर विकल्पो का प्रशमन तो स्वय करना पडेगा। विकल्पो की उपस्थिति मे देव के भी तो दर्शन न कर सकोगे। नेत्र करते होगे दर्शन और मन भागता फिरेगा घर व बाजार मे। मन्दिर तो केवल निमित्त

मात्र हैं। यदि स्वय पुरुषार्थ प्रवर्धक विकल्पो का किंचित् त्याग करू, तो मन्दिर व वातावरण सहायक कहलाये, और यदि मन का व्यापार चलने दू, इस पर ब्रेक न लगाऊ, तो मन्दिर तो जबरदस्ती मुझ से विकल्प छीनने से रहा ? अत· मन्दिर के लिये घर से चलते समय पहिला पग ही जब आगे बढ जाये, तब से ही अपना मन्दिर सम्बन्धि कार्य प्रारम्भ करना है।

"अब चला हूँ प्रभु के साथ, तन्मय होने। अपनी शान्ति का, तृप्ति का, स्वाद लेने। परम आल्हाद मे नृत्य करने। मानो प्रभु की वीतरागता अभी से घूमने लगी है मेरे हृदय पट पर। अरे चेतन ! यह विकल्प क्यो ? क्या नाता है इन पदार्थो से, कुटुम्ब से इस सम्पत्ति से या इस शरीर से तेरा ? सब जड या चेतन पथिक जा रहे है अपने अपने मार्ग पर, बराबर बढते हुए एक लक्ष्य की ओर न जाने क्यो ? मै भी जा रहा था अब तक इनकी साथ। पर मुझे मुड जाना है दूसरी पगडडी पर, और इन सबो को जाना है सीधे इसी पगडडी पर। जाने दो इन्हे। तुझे क्या मतलब कही जाये यह। तू अपना मार्ग देख और यह देखे अपना। निभ लिया जितना साथ निभना था। सदा किसका साथ निभता है ? यों ही मिलते और बिछुडते रहते है। अब इधर मत देख। इस अपने मार्ग की ओर देख। इस पर जाते हुए भी तो कोई न कोई साथी मिल हो जायेगा। घबराता क्यो है ? भले कम पथिक जाते हो इस मार्ग पर, परन्तु जाते तो अवश्य है। मार्ग सूना तो नही है। वे तो थे सब स्वार्थी, लुटेरे, और इधर मिलेंगे, नि.स्वार्थी, करुणाधारी। वे देखो दूर दिखाई दे रहा है कोई जाता हुआ। कितनी शान्त है इसकी चाल" और इसो प्रकार की विचार धारा से बहते न जाने कब आ जाये मन्दिर की डयोढी।

आज भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ। परम अभीष्ट शान्ति की उपासना को जा रहा हूँ। तो सर्व विकल्पो की गठरी छोड दे इसी डयोढी के बाहर। इसको सर पर रखे कैसे जायेगा आगे ? और अच्छा भी क्या लगेगा इस घसियारे की दशा मे प्रभु के आगे जाता हुआ ? यह माली तो यहा बैठा ही है। जरा देखते रहना भाई ! वापिस आकर उठा लू गा, "और इस प्रकार सर्व विकल्पो के भार को त्याग कर, प्रवेश करता हूँ मन्दिर मे। मानो आज मै साधु ही हूँ। मेरे मे और साधु मे अन्तर ही क्या है ? उसने घर सम्पत्ति को त्याग वैराग्य धारा। और मैने भी घर सम्पत्ति तथा उनके विकल्पों की गठरी को त्याग वैराग्य धारा। वह भी शान्ति की ओर उन्मुख और मै भी शान्ति की ओर उन्मुख। रहे यह वस्त्र, सो इनकी कोई मुख्यता नही। क्योकि इस समय देव के अतिरिक्त मुझे कुछ दिखाई ही नही देता। यहा वस्त्र बेचारे मेरी दृष्टि मे कैसे आवे। "और यह देखो आ गया अब मै साक्षात् प्रभु के सामने।" इसके पश्चात् वही तल्लीनता जिसके सम्बन्ध मे पहले काफी बताया जा चुका है।

इस प्रकार अपनी अपनी योग्यता अनुसार किसी निश्चित समय के लिये, १५ मिनट आध घण्टा या एक घण्टे के लिये सर्व सग विमुख होकर, घर गृहस्थी से नाता तोड कर, थोड़े समय के लिये मानो मुनि हूँ, मन्दिर मे प्रवेश करु तो मेरे प्रयोजन की सिद्धि हो। और उसी का नाम है वास्तव मे मन्दिर जाना। उतने समय के लिये इतनी दृढता होनी चाहिये, जैसे कि सेठ धन दत्त को हुई थी।

धन का लाभ हानि ता तुच्छ सी बात है, यदि पुत्र मृत्यु का समाचार भी आ जाये तो नेत्र न हटे-प्रभु पर से, और कोई विकल्प न आने पावे मन मे। "अरे! उस पुत्र का नाता है ही कहा मेरे पास इस समय ? वह तो बाहर पड़ा है गठड़ी मे। भाई! जरा बाहर प्रतीक्षा करो। जब बाहर आऊ तो याद दिलाना। खोजू गा उस गठड़ी मे वह तुम्हारा कागज कही मिल गया तो। अब तो कुछ याद नही पड़ता। अभी दफ्तर का समय हुआ नही, शान्ति का भोजन कर लू, फिर आऊगा। फिर सुनू गा कि क्या कहना है तुम्हें। अव इस समय अवकाश नही।" ऐसे होने चाहिये विचार उस अवसर पर। तब कहा जा सकता है कि मन्दिर मे जाना सफल हुआ। और उसे तू स्वय अनुभव करेगा। यह है वास्तविक देव दर्शन।

२२

—: गुरु उपासना :—

दिनांक २८ जुलाई १९५६

प्रवचन नं० ३१

१ — गो पूर्व संस्कारों को विजय कर महान विकल्प सागर से पार हो जाने वाले, तथा गम्भीर पुन हृति प्रशान्त सागर की अथाह गुरुता को प्राप्त हे गुरुवर ! मुझे भी गुरुता प्रदान करें। हे कुशल खेवटिया। मेरी नौका इस भव सागर से पार करो। उस पार, जहां न राग द्वेष की ज्वाला हो और न हो हर्ष शोक की आंधी। हो एक गहन शान्ति। आज मैं अशान्त हूँ। प्रतिक्षण मिलने वाली अन्तरंग की प्रेरणा, मुझे शान्त द्वीप की ओर जाने के लिये मानों वाचाल कर रही है, परन्तु विकल्पों की इस आंधी में अत्यन्त विशाल व भयानक इस भव सागर को इन शक्ति हीन भुजाओं से कैसे पार करूं ?

हे गुरुवर ! यदि जन्मान्ध इस पामर को आंखे प्रदान करके आप यह न दर्शाते कि मेरा घर शान्ति है, और आज मैं अशान्ति सागर में गोते खाता हूँ, तो किस प्रकार मुझे आपकी शरण भाती ? मैं कैसे यह समझ पाता कि मैं तो चिदानन्द घन पूर्ण परमेश्वर, आनन्द मूर्ति, तथा ज्ञान शरीरी वर्तमान में स्थित प्रभु आत्मा हूं, चैतन्य हूं अमूर्तिक हूं ?

आधार पर मेरा जीवन व सत्ता है। मै न होऊ तो यह न हो,और यह न हो तो मे न होऊ। मै इनकी रक्षा करता हूँ यह मेरी रक्षा करते है। यह न होते तो मेरा कभी का कल्याण हो गया होता, न्याय अन्याय कभी न करता। मुझ निर्दोष को दोषी बनाने वाले यह है, मै तो उज्जवल निर्दोष हूँ। इत्यादि। इस प्रकार की पर-पदार्थ के साथ षट् कारकी अभेद बुद्धि के कारण इनके ही काम मे व्यग्रता धारण कर, अपने काम से विमुख मै अशान्त बना हुआ हूँ। और मजा यह कि फिर भी चाहता शान्ति ही हूँ। यह सब आपका ही प्रसाद है कि आज मै इन सबको प्रत्यक्ष पर-पदार्थ के रूप मे अपने से बिल्कुल भिन्न षट् कारकी रूप से पृथक देखने मे समर्थ हुआ हूँ। इन सबको अपनी दृष्टि से अजीव तत्व रूप देख पाया हूँ। ऐसी भारी भूल के भान बिना "अजीव इतने होते है, इतने प्रकार के होते है, इनके लक्षण यह यह है" इत्यादि जानने को ही अजीव तत्व का श्रद्धान गिनता रहा' कभी विश्लेषण द्वारा स्व व पर को जुदा करके नही देखा।

"यदि मेरी भूल है तो हुआ करे। इस भूल से मेरी हानि ही क्या है? इसी प्रकार की धारणा आज तक बनी रही। यह भी कभी सोचने को अवकाश न मिला कि मेरी वर्तमान की दशा क्या है, और शान्ति का स्वरूप व उसकी प्राप्ति का सच्चा उपाय क्या है? उपरोक्त पर-पदार्थो की व्यग्रता मे, इच्छाओ के आधार पर अर्थात् इच्छाओ को बढा चढा कर, मै शान्ति खोजने बैठा हूँ। महान आश्चर्य है। आपके बिना मुझे इस अन्धकार मे कौन यह सुझाता कि यही तो मेरा अपराध है। और इस अपराध के ही द्वारा पुष्ट किये गये, नित्य के राग द्वेषादि को प्रेरित करने वाले सस्कार ही मेरा वास्तविक बन्धन है। अशान्ति का मूल है। आपका शाब्दिक उपदेश पाकर आज तक यही मानता आया हूँ कि जड कर्मो का मेरे प्रदेशो मे आना मात्र कोई आस्रव नाम का तत्व है, और उनका किसी विचित्र प्रकार से बन्धान होकर कार्माण शरीर का रूप धारण कर लेना ही बन्ध तत्व है। आज तक अपनी शान्ति अशान्ति को खोजने का प्रयत्न ही नही किया। कर्म है, ऐसे है, वैसे है, इस प्रकार के भेदादि की उलझन मे उलझा अपने को ज्ञानी मान बैठा, और झूठे अभिमान के शिखर पर बैठ, नीचे पडी बिलखती अपनी शान्ति पर स्वय थूकने लगा।

आपकी महान कृपा से आज वह कुछ रहस्य प्रगट हो जाने पर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है-शान्ति पथ। अशाति के उपरोक्त भ्रमात्मक पथ से बिल्कुल उल्टा, विपरीत दिशा मे जाने वाला। धन्य है आपकी बुद्धि! विष मे से अमृत खोज निकाला। अनुमान के अधार पर यह जान कर कि "क्योकि वहा अशान्ति है, और मुझे चाहिये शान्ति। वहा विकल्प है और मुझे चाहिये निर्विकल्पता "यह सिद्धान्त बना डाला कि शान्ति का मार्ग अशान्ति से बिल्कुल उल्टा ही होना चाहिये। आपने देखा कि अशान्ति उत्पन्न हो रही है पर-पदार्थो का आश्रय लेने से, अत शान्ति का मार्ग होगा उनका आश्रय छोड़ देने से। और इसलिये मुझ पामर को उपदेश मे बताने लगे यही रहस्य, कि यदि मै उन पर-पदार्थो का कर्ता न बनू उनसे लाभ हानि न मानू, उनमे रस न लू, तो अवश्य शान्त हो जाऊ। उसी मार्ग का अर्थात् सवर का प्रकरण चल रहा है। लक्ष्य है पर-पदार्थो का आश्रय कतई न हो। कर्ता बुद्धि के आधार पर होने वाला राग व द्वेष कतई न हो।

राग और द्वेष दोनो सहोदर है। "यत्र राग पद धत्ते द्वेपस्तत्रेति निश्चय।" जहा राग होता है वहाँ द्वेष होता ही है। कोई द्वेप को बुरा समझे और राग को अच्छा माने सो गल्त है। दोनो

ही आकुलता जनक है। स्वय आकुलता स्वरुप है। उनको दूर करना ही होगा। 'यह कतई न हो', ऐसा तो हुआ लक्ष्य। हमे तो इस लक्ष्य की पूर्ति करनी अभीप्ट है। इसे कार्यान्वित रूप देना अभीष्ट है। लक्ष्य मात्र से तो काम चलता नही। और उसकी प्राप्ति की जिज्ञासा रख कर उस ओर चले बिना वह लक्ष्य भी क्या ?

अब देखना यह है कि क्या इस लक्ष्य की प्राप्ति एक समय मे हो जानी सम्भव है, अर्थात् क्या सम्पूर्ण राग द्वेप का जीवनमे से विच्छेद किया जाना सम्भवहै ? नही, लक्ष्य एक समय मे निश्चय हो जाया करताहै पर प्राप्ति करनेमे अधिक समय लगताहै। लक्ष्य बनाना एक बातहै और उसकी प्राप्ति दूसरी बात। लक्ष्यमे कोई क्रम नही होता,परन्तु प्राप्ति के लिये कोई मार्ग होताहै,जिसमे क्रम पड़ता है। उस मार्ग मे धीरे धीरे शक्ति अनुसार चलना होता है ? इसलिये चलते चलते कोई आगे निकल जाता है और कोई रह जाता है-पीछे। किसी मे शान्ति अधिक प्रगट हो जाती है और किसी मे रह जाती है-कम। जितना बल लगाओ जितनी तेजी से चलो उतनी ही जल्दी शान्ति के निकट पहुँच जाओ। क्या अधिक बल वाले, क्या हीन बल वाले, उस मार्ग पर चलने की देर है, पहुँच दोनो जायेगे लक्ष्य पर। कोई पहले और कोई पीछे। अत प्रभु ! अपने को असमर्थ मत समझ। उस मार्ग चलने की सामर्थ्य तुझ मे न हो, ऐसी बात नही है। चल, भले धीरे धीरे चल।

२ गुरु परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता

शान्ति के मार्ग मे गमन करते हुए तेरा पहला कदम कहा पडेगा भला ? वह पड़ेगा देव पूजा मे, शान्ति के पूर्ण आदर्श के बहुमान मे, उसकी भक्ति व उपासना मे, अथवा चैत्य चैत्यालय व शान्त स्वरूप प्रतिमा के आदर्श दर्शनो मे, आदर्श पूजा मे। पूजा जैसी कि पहले प्रकरणो मे बताई गई है। अर्थात् देव कैसा होना चाहिये, प्रतिमा व मन्दिर से क्या लाभ, अनुकूल वातावरण का मन पर प्रभाव पडता है इत्यादि, बातें बताते हुए भली भाति यह बात दर्शा दी गई थी कि देव का आश्रय लेने का यह प्रयोजन नही है कि वह मुझे जबरदस्ती तार देगा। पर यह है कि नमूने के रूप मे उसे अपने सामने रख कर मै अपने जीवन मे उसका रूप ढालने का प्रयत्न कर सकू। जैसा नमूना होगा वैसा ही माल बनाया जा सकेगा। इसलिये नमूने के सम्बन्ध मे अत्यन्त सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। खूब अच्छी तरह परीक्षा करके, अपनी अभिलाषाओ के अनुरूप ही नमूना अर्थात् देव को उपास्य रूप मे ग्रहण करना चाहिये। बिना विवेक किये जैसा तैसा भी आदर्श हमे हमारा लक्ष्य नही दर्शा सकता।

अब दूसरे पग की बात चलती है। वह है गुरु उपासना। जिस प्रकार ऊपर अच्छी प्रकार घूम फिर के, खूब परीक्षा करके ही, अपने लक्ष्य के अनुरूप देव मैंने पहले खोजा है, उसी प्रकार यहाँ गुरु के सम्बन्ध मे भी जानना। गुरु मेरी नाव के खेवटिया है। अत देव से भी अधिक है-उनकी मुख्यता। जैसा कैसा भी गुरु मेरी नाव को किस दिशा मे ले जाये, शान्ति की ओर ले जाये या अशान्ति की गहराई मे डुबाये यह कौन जाने अत खूब अच्छी तरह परीक्षा करके ही किसी को गुरु स्वीकार करना योग्य है। गुरु चेतन पदार्थ है। अपने उपदेशो मे वह शिष्य की बुद्धि को अपने अभिप्राय के अनुसार घुमा सकता है। अतः गुरु को स्वीकार करने से पहले यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इसका

आन्तरिक अभिप्राय क्या है ? इसका जीवन शान्ति की ओर जा रहा है या अभिलाषाओ के पोषण की ओर ?

३ गुरु का जीवन एक है शिक्षा — देव पूजा वत् ही गुरु उपासना का प्रयोजन गुरु को प्रसन्न करने का या रिझाने का नही। बल्कि उनके शान्त स्वरूप पर से अपना शान्त स्वरूप निहारना, उनके गुणो पर से अपने गुणो को स्मरण करना, तथा उनके जीवन पर से अपने जीवन मे कुछ परिवर्तन की प्रेरणा लेना है। इस मार्ग मे मेरी प्रगति बराबर बढती हुई चली जानी चाहिए। यद्यपि देव पूजा करते समय आध पौन घण्टे के लिए, अन्तरग की प्रगति उस समय अवश्य कुछ शान्ति की ओर बढी थी, पर दैनिक चर्या के अन्य समयो मे लौकिक धन्धो मे फस कर वह पुन मन्द पड जाती है, लुप्त वत हो जाती है। गुरु का जीवन मुझे मन्दिर मात्र मे सीमित कर्तव्य ही नही दर्शाता, बल्कि चौबीस घण्टो की मेरी जीवन चर्या मे कुछ योग्य अन्तर डालने की प्रेरणा देता है, तथा इस सशय को दूर करता है कि यह शान्ति पूर्ण हो सकनी शक्य भी है या नही। गुरु से प्रश्न करके नही बल्कि उसके जीवन पर से यह बात पढी जा सकती है, कि यह शान्ति अवश्य ही पूर्ण हो सकती है। और मुझे अपने जीवन मे कुछ इस प्रकार से परिवर्तन करना चाहिए। जैसा कि देव पूजा के प्रकरण न० ११ के अन्तर्गत दृष्टान्त मे प्रगट करके दिखाया गया था (देखो प्रवचन नं० ३१ दिनाक २४ जुलाई १६५६)। एक जीवित आदर्श से कुछ शाब्दिक उपदेश न मिलने पर भी एक भारी उपदेश मिलता है। यह उपदेश कुछ ऐसा होता है जो सीधा जाकर जीवन पर टकराता है, और जीवन की दिशा को घुमा देता है। दो वर्ष की स्वाध्याय भी इतना नही सिखा सकती जितना कि एक मिनट की गुरु उपासना सिखा देती है। गुरु जीवित आदर्श है इसलिये इनकी उपासना या दर्शन मेरे जीवन मे एक फेर ला सकने मे समर्थ है। यद्यपि गुरु मौखिक उपदेश भी देते है। जिससे बडे-बडे सिद्धान्तिक रहस्य खुल जाने के कारण मार्ग सरल बन जाता है, परन्तु जीवन को प्रेरणा देने वाला उपदेश वचनों से नही बल्कि स्वय उनके जीवनो से लिया जाता है। शाब्दिक उपदेश हम शास्त्र मे से भी पढ सकते है। पर जीवित उपदेश हमे गुरु के सिवाय कही अन्यत्र उपलब्ध नही हो सकता। इसलिए गुरु उपासना है इस मार्ग मे दूसरा पग, मार्ग का बडा आवश्यक अग।

४ आदर्श गुरु उपासना — मेरी भान्ति उन गुरुओ ने भी प्रथम पग देव पूजा मे ही रखा था। वहा से बढते बढते ही उन्होने अपनी अन्दर से आती हुई कोई गर्जना सुनी कि "प्रभू ! तू सिंह है, सिंह की सन्तान है, त्रिलोकाधिपति है। तू अपने को पामर व कायर मत समझ। अपनी जाति को पहिचान। जिनका तू उपासक बना है, वही तू है।" उससे ही इन्हे जागृति मिली प्रेरणा मिली, और बन गये वीर, सच्चे वीर, इन्द्रिय विजयी। ऐसा वीरत्व अपने अन्दर जागृत करने के लिये ही गुरु उपासना की प्रधानता है। गुरु उपासना का अर्थ गुरु के पाव दबा देना, या उनकी सच्ची झूठी प्रशसा करके उन्हे प्रसन्न करने का प्रयत्न करना मात्र नही है। इसका आन्तरिक अर्थ कुछ और ही है।

उपासना कहते है गुरु की अन्तरग वीतरागता के दर्शन करने को। धन्य है प्रभु आपका जीवन। आपके पास गृहस्थ दशा मे सब कुछ होते हुए भी आपने उसकी ओर चित्त न लगाया। वास्तव मे आपने तत्व को समझा है। मुझ पामर का भी उद्धार कीजिये। वह भावना वास्तव मे मेरे अन्दर भी जागृत कीजिए। (वस्तुत भावना यह जागृत नही करेंगे, परन्तु भक्ति के आवेग मे उनके प्रति बहुमान

होने से ऐसे शब्द निकल ही जाया करते है।) (जैसा कि देव पूजा के प्रवचन नं० ३१ दिनाक २४ जुलाई १६५६ के प्रकरण नं० १२ मे बताया गया था) गृहस्थ मे आप अपने को सतान का सहायक मान रहे थे, परन्तु कितनी जल्दी छोड दी वह मान्यता ? मेरा भी यह भ्रम दूर कर दीजिए प्रभु ! आपने इस ससार से दूर एक नया ससार बसाया है। कितना सुन्दर है यह ससार जहा शान्ति सुन्दरी के साथ आप किलोल कर रहे है। जहा इस सुन्दरी की कोख से आपके सन्तति उत्पन्न हुई है, निष्कपटता व निष्कषायता तथा अन्य अनेक सद्गुण। मुझे भी वही ले चलिये प्रभु ! कितने स्वतन्त्र है आप ? न है वस्त्र की आवश्यकता न धन की। न किसी की सहायता की आवश्यकता न इन्द्रादि पदो की। धन्य है आपकी स्वतन्त्रता को, धन्य है आपकी निर्भयता को, धन्य है आपकी साम्यता को। सुख व दुख मे, अनुकूलता व प्रतिकूलता मे, सदा समान भाव। सदैव अपने को ही निहारा करते है। मुझ पर भी करुणा कीजिये नाथ। यह भाव व शक्ति मुझ मे भी प्रदान कीजिये।

"देखिये भगवन् ! आपका वीर्य कितना बढा हुआ है कि आपने कुटुम्बादि से ममत्व छोडा तो छोडा, परन्तु इससे भी आगे आपने तो मेरी ऐसी बुद्धि को, कि "क्या गर्मी सर्दी आदि की बाधाये सहन करने को मै समर्थ हो सकू गा ?" दूर करके यह सिद्ध कर दिया है कि मै अवश्य सहन कर सकू गा। आप धन्य है। "परन्तु इस पर से मेरे जीवन मे कुछ प्रेरणा मिले तभी तो यह 'धन्य', धन्य है। आज के लोको को सम्भवत यह भ्रम होता है कि दिशाओ मात्र को वस्त्र रूप से ग्रहण करते हुए, आकाश की खुली छत के नीचे, गर्मी सर्दी को कुछ जबरदस्ती केवल भावुकता वश सहन करते हुए, आप कष्ट सहन कर रहे है, और वह कष्ट करना ही आपको मुक्ति दिला देता है। परन्तु यह केवल भ्रम है। अब मुझे आपके प्रसाद से तत्वो का प्रकाश मिला है। कोई जीव अशान्ति के मार्ग मे से शान्ति पा नही सकता, ऐसा मुझे दृढ विश्वास हो गया है। आपके जीवन को तपश्चरणो का जीवन कहा जाता है। परन्तु क्या जाने क्यो मुझे तो वह फूलो की सेज पर विश्राम करता प्रतीत होता है। यह सुख का मार्ग है। इसमे दुख है ही नही। कडाके की सर्दी सहन करते हुए भी आपकी मुखाकृति देखने पर आपके अन्तर मे कल्लोलित शान्ति रस का सागर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अशान्ति की एक रेखा को भी वहा प्रवेश कहा ? यदि सर्दी आदि सहन करने से आपको दु ख होता तो आपके अन्दर अशान्ति होती। और वह आपके मस्तक पर आये बिना न रहती ? परन्तु यहा वह दीखती ही नही।

अब मै जान पाया हूँ, कि यह बाधाये आपके लिये बाधाये नही है। आपका वीरत्व जागृत हो चुका है। आज आपने साक्षात् शत्रुओ को ललकारा है। शत्रु सामने खडे है। परन्तु किस मे सामर्थ्य है कि आपको डिगा सके ? धन्य है यह साहस, कि यह बात प्रत्यक्ष दिखा दी है। शब्दो से नही, बरन् अपने जीवन से। आप कितने बडे योद्धा बन कर युद्ध क्षेत्र मे उतरे है, जहाँ बडे से बड़ा शत्रु आता है- आपको विचलित करने के लिये-आपकी परीक्षा करने के लिए। पोप माघ मे चलने वाला तीव्र वायु का वेग, रात्रि को कितना ठण्डा कर देता है, परन्तु आप ऐसी रात्रि मे भी धैर्य और शांति से, चिन्तवन मे निजानन्दा रस पान ही किया करते है। आपके साहस को देख कर मानो जन सामान्य को कम्पा देने वाला वह तुषार स्वय कम्पायमान हो गया है आज। वह भागा जा रहा है न जाने किस ओर ? वह आपके प्रहार मे मानो भयभीत होकर आज खण्ड खण्ड हो, हिम के रूप मे आप के चरणो मे आ पड़ा है ?

इस प्रकार के भावो से गुरु का स्वरूप देख कर, अपनी शक्ति का स्वीकार करना ही वास्तव मे गुरु उपासना है। और यदि मै गुरु उपासना करू और करता ही चला जाऊ, जब तक कि वीरत्व प्राप्त न कर लू, तो क्या मै समझ न पाऊगा कि मेरे लिये भी वैसा बन जाना सम्भव है ? और क्या इससे मेरी गति इस मार्ग मे और न बढेगी ? इस उपासना के प्रताप से मेरा लक्ष्य और निकट आ जायेगा। अत हे कल्याणार्थी ! हे शान्ति पथ के पथिक ! राग की शरण को छोड अब वीतरागी गुरु की शरण मे जा।

दिनाक २९ जुलाई १९५९

प्रवचन न० ३६

५ देव व गुरू में कथञ्चित समानता

शाति की प्राप्ति करने चला हू। उसकी प्राप्ति से पहले 'वह क्या है' यह जानना आवश्यक है। ऐसा न हो कि हीरे के बजाय काच ले आऊ। यद्यपि पहले शाति के स्वरूप सम्बन्धी प्रवचन मे चार प्रकार के शाति के चित्र खेच कर उसके झूठे व सच्चे पने की परीक्षा कर ली गई थी। परन्तु नमूना देखे बिना उस रहस्य को समझना कुछ कठिन है। इसलिये शांति का नमूना देखने की आवश्यकता है। देव तो पूर्ण शाति के आदर्श है ही-परन्तु उनसे किञ्चित् कम दशा मे गुरु भी पूर्ण वत् ही शाति के आदर्श है। क्योकि बाह्य से देखने मे देव व गुरु दोनो की शाति मे कुछ अन्तर दिखाई नही देता। अतरग मे भले ही कुछ अतर हो तो हो। उसको वह स्वय जाने। मुझे उसमे क्या ? इसलिये शाति के मार्ग मे जितने वन्दनीय व पूजनीय देव है उतने ही गुरु भी है। बल्कि किसी अपेक्षा से गुरु का ध्यान मेरी दृष्टि मे देव से भी ऊ चा है। क्योकि मुझे कीचड से निकाल कर मु ह दर मु ह आकर, वह मुझे मेरा हित न दर्शाते तो देव का परिचय भी मुझे कैसे होता ? मै इस उत्तम मार्ग मे आकर अपने जीवन को किञ्चित् भी शात कैसे बना पाता ? शाति की अपेक्षा देखने पर तो पाचो ही परमेष्ठियो का एक स्थान है। 'आचार्य कुछ ऊ चे है, उपाध्याय कुछ नीचे है, अर्हन्त सबसे ऊ चे है" इत्यादि। इस प्रकार का भेद एक वन्दक की दृष्टि मे है ही नही। क्योकि वास्तव मे वह न देव को वन्दता है न गुरु को वन्दता है। उसका वन्दन तो है केवल एक शाति के लिये, जो पाचो मे ही उसे बाह्य मे समान रूप से दिखाई देती है।

६ पर होते हुए भी गुरू का आश्रय क्यों

किसी को पूजने मे व्यक्ति का कोई न कोई तो स्वार्थ होता ही है। और इसी लिये धन का इच्छुक लक्ष्मी को पूजता है, वही बाट तराजू गज आदि को पूजता है। सो वृथा नही पूजता। उसके अतरग मे धन प्राप्ति का लक्ष्य अवश्य है। इसी प्रकार पच परमेष्ठी की पूजा मे भी मेरा कोई न कोई स्वार्थ अवश्य होना चाहिये। वह स्वार्थ क्या है ? "तू चैतन्य पदार्थ है, यह सब स्त्री पुत्र धन धान्यादि तुझ से भिन्न है। शरीर, रागद्वेषादि यहा तक कि स्वाभाविक पर्याय भी किसी अपेक्षा 'पर' है। ज्ञान मे इनका आश्रय आने पर कुछ रागात्मक विकल्प उठे बिना नही रहते। अत इनका आश्रय छोडे बिना शाति मिलनी असम्भव है।" इस प्रकार एक ओर तो पर तत्व को छोड़ने का आदेश दिया जा रहा है, उसे अनिष्ट बताया जा रहा है और दूसरी ओर देव व गुरु का आश्रय लेने

की, उनकी पूजा, वन्दना आदि करने की प्रेरणा। क्या देव व गुरु स्व है? यह भी तो पर हैं? फिर उस ही का निषेध और उसी का ग्रहण? कैसी अजीब बात है? समझ मे नही आती? सो भाई! ऐसी बात नही है। पर तत्व का आश्रय तो सदैव ही अशांति का कारण है। हमारा कर्तव्य तो एक मात्र निज शांति मे ठहरना ही है। परन्तु क्या करे, अल्प दशा मे यह सम्भव नही दीख रहा है? पूर्व प्रवल सस्कार वश, अधिक देर शांति मे स्थिरता रहती नही। पुन पुन लौकिक पर-पदार्थों की ओर ही उपयोग भागने का प्रयत्न करता है। इसलिये यदि पर तत्व का ही आश्रय लेना है तो किसी ऐसे का ही ले, जिनमे लौकिक तीव्र रागात्मक विकल्प तो न उठ पावें। विकल्प ही उठे तो शांति सम्वन्धी तो उठे। और इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये शांति को प्राप्त किन्ही पर तत्वो का आश्रय लेने के लिये कहा जा रहा है। लौकिक पर पदार्थो का आश्रय पराश्रय के लिये होता है, इन में से रस लेने के लिये होता है, पर यह आश्रय पराश्रय छुड़ाने के लिये है।

यहाँ वडे भारी विवेक की आवश्यकता है। क्योकि पराश्रय की वात है। वडी देख भाल कर, ऐसे का ही आश्रय लेना योग्य है जिनमें कि कुछ मेरे लक्ष्य विन्दु की आभा दिखाई दे, शान्ति दिखाई दे, वीतरागता दिखाई दे। यहा 'पर' के आश्रय से अर्थात् गुरु के आश्रय से उठने वाली मेरी अपनी ही भावनाये, क्योकि मुझे मेरी शान्ति की याद दिलाती प्रतीत होती है, निज शान्ति के दर्शन कराती प्रतीत होती है, इसलिये वह 'पर' का आश्रय भी स्व के आश्रय के लिये ही है। भविष्यत की वात नही वर्तमान में ही उसके आधार पर मै अधिकाधिक स्व की ओर झुकता प्रतीत होता हूँ। अत वाह्य मे देव गुरु का पराश्रय अन्तरग मे निज शान्ति का ही आश्रय है। दोनो क्रियाये साथ साथ चल रही हैं। लौकिक पर पदार्थों से वाह्य निवृत्ति, देव गुरु मे वाह्य प्रवृत्ति, देव गुरु मे अन्तरग निवृत्ति, स्व शान्ति मे अतरग प्रवृत्ति। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनो मार्गो का कितना सुन्दर समन्वय? यही है पच परमेष्ठी की पूजा या उपासना मे मेरा स्वार्थ। यहां विवेक की माँग है, कि यदि इस अल्प दशा मे तुझे पर का आश्रय लेना ही है, तो किसी ऐसे का ले जो तेरे लक्ष्य के अनुकूल हो।

७ प्रयोजन वश अनेकों गुरू यद्यपि गुरु के सम्वध मे भी देव वत् निश्चित् रूप से यह नही कहा जा सकता कि अमुक ही गुरु है। क्योकि जिससे अपने जीवन के लिये कोई भी हित की वात सीखने मे आये, वह गुरु है। और इस प्रकार एक जुआरी का गुरु जुआरी और एक चोर का गुरु चोर ही हो सकता है। अन्य नही। लेकिन जीवन को उन्नत वनाने के लिये लौकिक विद्या प्रदान करने वाले स्कूल के मास्टर भी गुरु है। परतु यहां जीवन सम्वधी कोई वात सीखना अभीष्ट नही है अत वे लौकिक गुरु यहा गुरु नहीं कहे जा सकते। शांति सम्बंधि कोई बात जिससे सीखने मे आवे सो ही यहाँ गुरु कहा जा सकता है। इस प्रयोजन के लिये भी, कदाचित् अनेको कुछ ऐसे व्यक्ति या पशु व जड़ पदार्थ तक भी गुरु वनते हुए पाये जाते है, कि जिन वेचारो को यह भी पता नहो कि शांति किस चिडिया का नाम है। जैसे सारी रात ग्राहक की प्रतीक्षा मे विता देने पर अत मे प्रात को निराशा के कारण निद्रा की गोद मे चली जाने वाली वेश्या, "निराशा सतोष की जननी है" ऐसा उपदेश देने के कारण गुरू मानी जा सकती है। अथवा रोटी के टुकडे को लिये हुए चील पर अन्य चीलो को झपटते देख यह उपदेश मिलता है कि परिग्रह दुख का और झगडे का मूल है, अतः इस दृष्टि से वह चील भी गुरु कही जा सकती है। तथा दाल के सोये को देखकर, दाल व उसके छिलके वत् "चैतन्य तत्व व शरीर की पृथकता" का उपदेश मिल जाने के कारण, कदाचित दाल भी गुरु है।

परतु यहां शाति का उपदेश देते हुए भी ऐसे जीवो व पदार्थो को गुरु स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि उनमे से किसी का भी जीवन शाति का आदर्श नही है। यहा केवल वीतरागी व शात प्रवृति मनुष्य को ही गुरु कहा जा सकता है- भले ही शब्दो मे उपदेश देने की योग्यता भी उसमे न हो। क्योकि शब्दो के द्वारा वह शिक्षा ग्रहण नही की जा सकती जो बिना शब्दो के ही केवल जीवन पर से कर ली जा सकती है। जैसा कि पहले ही देव पूजा के प्रकरण मे, जिज्ञासु को सेठ के जीवन से साम्यता की शिक्षा मिलने का दृष्टान्त दिया जा चुका है। (देखो प्रवचन न० ३१ दिनाक २४-७-५६ प्रकरण नं० ११) ऐसे वीतराग व शात जीवन वाले व्यक्ति भी जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त यथा योग्य रूप मे अनेको प्रकार के वेषो सहित हो सकते है। जैसे कि एक सच्चा ज्ञानी गृहस्थ भी किंचित् शात व सतुष्ट जीवन के कारण, गुरु कहा जा सकता है। परन्तु यहा उनकी भी बात नही है। क्योकि गृहस्थ सम्बधि अथवा शरीर रक्षण सम्बधि, जो कुछ भी अधिक या हीन परीग्रह उनके पास देखने मे आता है, उनके जीवन मे अधिक या हीन अभिलाषाओ का, राग व अशान्ति का प्रदर्शन कर रहा है। जिससे कि वे शान्ति के आदर्श नही कहे जा सकते।

८ गुरू परीक्षा की प्रधानता व उसका उपाय

इस लिए गुरु की परीक्षा करनी आवश्यक हो जाती है। देव की परीक्षा भी आज इतनी आवश्यक नही है जितनी कि गुरु की। क्योकि जो देव आज उपलब्ध है, वह जड है। गुरु चैतन्य है। वह बुद्धि पूर्वक उपदेश द्वारा प्रेरित करके अपने आश्रित का उपकार भी कर सकता है और अपकार भी। परन्तु परीक्षा कैसे करे ? देव की परीक्षा तो केवल बाह्य की नग्नता, निष्परिग्रहता व नासाग्र दृष्टि आदि चिन्हो से कर लेनी सहल है। वहा तो अन्तरग भावो की परीक्षा का प्रश्न ही नही है। परतु गुरु के सम्बध मे तो बडी सावधानी वर्तनी पडेगी। उसकी परीक्षा केवल वाह्य रूप पर से ही करनी पर्याप्त नही है। अतरग अभिप्राय पर से करनी होगी। क्योकि हो सकता है कि किसी का वाह्य वेष नग्न हो, पास मे कुछ परिग्रह भी न हो, रहता भी बन मे हो, दृष्टि भी नासिका पर टिकाई हो, मुख पर कुछ शाति भी प्रतीत होती हो, पर अतरग अभिप्राय उसका मलिन हो। अत. यहा परीक्षा करने के लिये कुछ सूक्ष्म दृष्टि करने की आवश्यकता पडेगी। रूढ़िवाद से काम न चलेगा।

यदि आदर्श के अनुकूल गुरु उपलब्ध नही है तो जिस किसी को गुरु स्वीकार कर लेना भी ठीक नही है। स्वर्ण के अभाव मे पीतल को स्वर्ण मानने के लिये कौन तैयार हो जायेगा ? जब लौकिक बातो मे इतनी परीक्षा करता हूँ, तो यहा तो हित अहित का प्रश्न है। भगवान कह रहे है कि तू ज्ञानी की सन्तान है, अपने पिता को लाछन मत लगाना। मै त्रिलोक का व त्रिकालज्ञ का पुत्र हूँ। मुझे वैसा ही बनना है। परीक्षा के विना कोई बात स्वीकार कर लेना मेरा काम नही। आज तक जिस किसी को भी गुरु स्वीकार करता आया हूँ। क्योकि वास्तव मे मुझे पता ही नही था कि मुझे क्या बनना है। पर आज यह बात जान जाने के पश्चात् कि मुझे पूर्ण वीतरागी और शान्त बनना है, मै जिस किसी को गुरु स्वीकार नही कर सकता।

जौहरी की दुकान खोली है। इसमे मिट्टी भरने से काम न चलेगा। हीरे ही रखने होगे। उसके लिये पहले यह पहचानना होगा कि हीरा किसको कहते है। अध्यात्म की दुकान मे सच्चे गुरु को ही प्रवेश है। अन्य को नही। अत सच्चे गुरु की पहिचान सीखे बिना काम न चलेगा। यह कहना ठीक नहीं कि हम तो बाह्य का रूप देख सकते है, अतर का अभिप्राय कैसे जाने ? एक बालक भी पिता की

मुखाकृति को देखकर पहिचान लेता है कि इस समय वह उसे क्रोध से मार रहा है कि प्यार से। यदि क्रोध से मारे तो रो देता है, और यदि प्यार से तो हस देता है। एक बालक मे अतर अभिप्राय जानने की शक्ति है, तुझमे कैसे न होगी ? कुछ मेहनत अवश्य करनी होगी।

कुछ दिन उसके निकट सम्पर्क मे रहना होगा। उसकी सर्व दैनिक क्रियाओ को ध्यान से पढना होगा। गमनागमन करते समय दृष्टि रखनी होगी। उपदेशादि देते समय या किसी अन्य से व अपने शिष्य से बातें करते समय ध्यान से सुनना होगा। उसकी भोजन चर्या देखनी होगी। उसके उपदेश का ढग व वचन माधुर्य की ओर ध्यान देना होगा। वस्तुओ को उठाते धरते उस पर दृष्टि रखनी होगी। शौचादि को जाते समय भी उसे निहारना होगा। सामायिक, वन्दना या ध्यानादि करते समय भी ध्यान से उसकी स्थिरता, अस्थिरता को देखना होगा। सर्व अवसरो पर उसके शरीर के हाव भाव आदि को पढना होगा। मस्तक व मुखाकृति पर नित्य ही आकर विलय हो जाने वाले भावो को पढना होगा। फालतू समय मे सिद्धान्तिक चर्चा करके, उसके उत्तरो पर से, तत्व सम्बन्धी अन्तरग अभिप्राय की जाच करनी होगी। इस प्रकार करने से मै उसके अन्तरग अभिप्राय को न जान पाऊ, यह असम्भव है। इतनी योग्यता सब मे है। परन्तु यदि आखो पर पट्टी बाँध कर परीक्षा करने का प्रयत्न ही न करू तो लक्ष्य को कैसे प्राप्त करूगा ? लौकिक बातों मे इतना परिश्रम करना पड़ता है। परम हित की बात बिना परिश्रम कैसे मिलेगी ?

९ गुरू की यथार्थ पहिचान वीतरागता

गुरु के अन्दर वीतरागता होनी चाहिये यही गुरु की वास्तविक पहिचान है। यदि बाह्य मे वस्त्रादि का परिग्रह है, उसको तो गुरु मानने का प्रश्न ही पैदा नही होता, क्योकि वहां तो राग का साइन बोर्ड ही लगा है। परीक्षा तो उसकी करनी है कि जिसने यह साइन बोर्ड ही उतार दिया है। जौहरीकी दुकानमे हीरे ही होने चाहिये काँच नही। अत' केवल बाह्यकी निष्परिग्रहता पर से गुरु की पहिचान नही हो सकती। यह फोकट की वस्तु नही, कि कोई भी नग्न हो जाये और बन बैठे गुरु। हित और अहित का प्रश्न है। जीवन मृत्यु का प्रश्न है। ज्ञानी किसी को गुरु केवल इसलिये स्वीकार नही करता कि वह नग्न है। वह तो उसको कसौटी पर कसता है।

दिनाक ३० व ३१ जुलाई १९५९

प्रवचन न० ३७ व ३८

भगवान आत्मा को भगवान बनने की इच्छा हुई है। वर्तमान दशा से कम्पन छूटा है। इसे भव सागर के रूप मे देखने लगा है। इसे पार होने के लिये खेवटिया की खोज है, जो ऐसा न हो कि बीच मे ही डुबा दे। अत गुरु की परीक्षा की बात चलती है। बाह्य वेप के धारी अनेक व्यक्ति आज गुरु होने का दावा कर रहे हैं। किस को स्वीकार करू ? किस का आश्रय लू ? घबरा नही आत्मन् ! देख, कुछ लक्षण गुरु देव स्वय बता रहे है-गुरु परीक्षा करने के लिये।

१० यथार्थ गुरू

गुरु वह होता है जो वीतराग व शान्त हो। जिसके जीवन मे कपाय की रेखा दिखाई न देती हो। विपय पोपण का भाव जिसमे से जाता रहा हो। पाचो इन्द्रिय जिसने वश मे कर ली हो।

छोटे बडे प्राणियो के प्रति जिसके हृदय से दया उमडी पडती हो। पट् आवश्यक क्रियाओ मे जो सदा तत्पर रहता हो। केश लु चनादि क्रियाओ को करके ख्याति न चाहता हो। निज हित के लिये चारित्र पालन करता हो, दिखाने के लिये नही। जिसके पास धागे का ताना मात्र भी न हो। नग्न रहता हो। गर्मी सर्दी को न गिनता हो। कमण्डल, पीछी, व एक दो शास्त्र, इन तीन वस्तुओ के अतिरिक्त, चौथी वस्तु को अपने पास न रखता हो। शास्त्र भी अधिक न रखता हो। जहा पहला शास्त्र पढ कर पूरा हो गया, उसे वही छोड दिया, और वहाँ से दूसरा ले लिया। इस प्रकार पीछे से लेकर आगे तक छोडता चला जाता हो। अपने पास सग्रह न करता हो। किसी दिशा विशेप मे जाने का लक्ष्य न रखता हो। जिधर नाक उठी चल दिये।

जो भोजन तो करता हो पर केवल सयम की रक्षा के लिये, शरीर पोपण के लिये नही। इस प्रकार से कि दातार को बाधा न हो। जैसे भ्रमर फूल पर बैठे, रस ले और उड जाये, पर फूल ज्यो का त्यों बना रहे। एक भी पखडी झडने न पाये। जैसा कैसा बना बनाया मिल जाये और ले ले। केवल सयम की गाडी को लक्ष्य की ओर खेचने के लिये लेता हो। जैसे चू चू करती गाडी के धुरे मे, थोड़ी थोडी देर के पश्चात् तेल दे देते है। केवल इसलिये कि जिस किस प्रकार यह एक बार घर पहुच जाये। भोजन मे स्वाद अस्वाद, सलोने अलोने, चिकने रूखे आदि की ओर जिसका ध्यान न जाता हो। खड्डा भरने से मतलब हो। दातार के गरीब अमीर पने से जिसे मतलव न हो। जैसे गाय को घास खाने से ही मतलब है, चाहे चक्रवृति के महल मे खड़ी हो चाहे भिखारी की कुटिया मे। ऐसी निरपेक्ष बुद्धि से जो भिक्षा पूर्वक बिना याचना किये आहार ग्रहण करता हो।

लौकिक जन ससर्ग से जो दूर रहना पसन्द करता हो। जो सदा धार्मिक चर्चा ही करता हो। लौकिक कथाये न करता हो। भारत मे क्या हो रहा है उसे परवाह नही। विश्व मे क्या वीत रहा है उसे चिन्ता नही। कोई चाद पर जा रहा है या एटम बम बना रहा है उसकी दृष्टि मे कोई महत्व नही। ऐसी बाते न करता है न पूछता है। न लौकिक समाचार पत्र पढता है। भोजन सम्बन्धी बाते नही करता। भोजन को दण्ड समझता है। भोजन करने मे जो समय चला गया उसे अपराध मानता है। भोजन की चर्चा मे समय क्यो खोये ? स्त्री आदि की सुन्दरताओ की चर्चा की वार्ता नही करता है। चोर डाकुओ आदि की वाते नही पूछता है। या तो मौन रहता है। और वोलता है तो आत्म हित सम्बन्धी बात ही करता है।

जो दुख व सुख मे समान रहता हो। धूल व सोना जिसकी दृष्टि मे समान हो। जिसकी मुखाकृति शान्त रहती हो। मुख पर मधुर सी मुस्कान खेलती हो। उपसर्ग आने पर भी जो व्याकुल न होता हो, धैर्य न छोड़ता हो। आहारादि मे वाधा पड़ जाने पर भी जो पूर्व वत् शान्त रहता हो, मानो कुछ हुआ ही नही। सवके ऊपर जिसकी समान वुद्धि रहती हो। कोई स्तुति करे या निन्दा, नमस्कार करे या उद्दण्डता पूर्वक यो ही आकर वैठ जाये उनके सामने, परन्तु दोनो के प्रति एक कल्याण का ही आशीर्वाद निकलता हो। तथा नीचे लिखे जो दोप उनकी रूप रेखा भी जिसके जीवन मे दिखाई न देती हो। और इनके अतिरिक्त अन्य भी असख्यातो गुणो का जो भण्डार हो। वह वीतरागी ही, मेरा गुरु है।

कोटि जिव्हा लगाकर भी जिनके गुणो का कथन होना असम्भव है, उनके गुण वर्णन करने के लिये यह मेढक टरटर कर रहा है, सो इसका दु साहस है।

११ अयथार्थ गुरू उसका जीवन यदि रागात्मक हो, अन्तरग मे जिसके कषाय पडी हो, वह वीतरागी नही कहला सकता। जिसे वात करते हुए या दूसरे के किसी प्रश्न पर, या अपनी वात कटती देख कर क्रोध आ जाता हो। जिसे वचन पर कावू न हो। 'इस वात का दूसरे पर क्या प्रभाव पडेगा' इस विवेक से शून्य हो, जो जी मे आये वोल देता हो, वह गुरू नही हो सकता। जो कपाय वश अपने मुख से अपनी प्रशसा करते हिचकिचाता न हो, वह गुरू नही हो सकता। जिसके अन्दर कुछ अभिप्राय पड़ा हो, और वाहर मे क्रिया कुछ और करता हो, जैसे खोया, मेवा व फल आदि का भोजन करने की जिज्ञासा रखकर अन्न छोड देता हो. वह गुरू नही हो सकता। ऐसे व्यक्ति को भले वाह्य का त्याग दिखाई दे, पर अन्तरग मे माया चारी पड़ी है। जिसके अन्दर लोभ की प्रवृति वरावर चल रही हो। किसी वहाने से भी पैसा एकत्रित करने की पडी हो। संस्थाये खोल कर, ग्रन्थ मालायें चला कर, या किन्ही उपायो से चन्दा इकट्ठा करता फिरता हो वह गुरू नहीं हो सकता। जिसमे ख्याति का लोभ पडा हो, शास्त्र इसलिए लिखता हो कि मेरी प्रशंसा हो, प्रवचन इसलिए देता हो कि मेरी प्रशसा हो। इस प्रकार कषायो से जो पीडित हो वह गुरू नहीं हो सकता।

जिसमे विषय पोषण का भाव पडा हो और उसके पोषणार्थ वह अनेको अयोग्य क्रियाये करते हुए हिचकिचाता न हो। जैसे दातार की प्रशसा करता हो-इस अभिप्राय से कि यह अच्छा स्वादिष्ट भोजन देगा, या मेरी अधिक सेवा करेगा। अथवा उसका सन्देश दूसरे गाव मे पहुंचा देता हो। अथवा उसे कोई उसके भाग्य सम्बन्धी वात वताता हो। अथवा उसे यंत्र-मत्र या तावीज गण्डे वना कर देता हो। अथवा वाजार भाव का उतार चढाव वता देता हो। उनके वच्चो को देख कर, 'यह वड़ा होनहार है' इत्यादि रूप से, उसके मु ह पर उनकी प्रशसा कर देता हो, उनके प्रति सहानुभूति दिखाता हो। किन्ही लौकिक कार्यो के सम्वन्ध मे अपनी अनुमति दे देता हो, वह गुरु नही हो सकता।

जिसमे दया न हो, जो रूढि वश केवल वाह्य क्रियाओ को करता हो, पीछे से चीटी आदि छोटे जन्तुओ को हटाते हुए भी जिसके नेत्र किसी अन्य ही दिशा मे देखते हो। जिसे मनुष्य या दातार के कष्ट का तनिक भी विचार न हो। दातार के प्राण पीडन करके अर्थात् उसपर भार वन कर आहार लेता हो। किस अन्य व्यक्ति द्वारा अपनी रुचि अरुचि दातार पर प्रगट करा देता हो। ऐसे त्याग कर दिये हों जिनको निभाना एक साधारण गृहस्थ के लिए अत्यन्त कठिन हो या अन्न का भोजन छोड कर दूध व फलो का रस पीता हो। अर्थात् आठ आये या रुपये का भोजन छोड कर दस रुपये का भोजन एक समय मे कर लेता हो, उसे अहिसा महाव्रत कैसा ? उसे तो न्याय और अन्याय का भी विचार नही। केवल इन्द्रिय पोषण का विचार है। दातार चाहे कर्ज लाकर वनाये। स्वय अपने पर कात्र करने की वजाये यह कहकर अपना पिण्ड छुडा लेता हो, कि "दातार जो वनाता है ले लेते है। हम कहने थोडे ही जाते है। वह न वनाये" इत्यादि, वह गुरु नही हो सकता। उसे यह भी भान नही कि दातार किस भक्ति वश कर्ज़ा लाकर भी वनाने को तैयार है। उसपर तेरी इस प्रवृति से कितना वड़ा भार पड़ रहा है। उसे अहिसा महाव्रत कैसा ?

जिसे वचन पर काबू नही, "यह वचन दूसरे को इष्ट पडेगा कि अनिष्ट, शान्ति देगा कि अशान्ति, मिष्ट है या अमिष्ट, "इस प्रकार का जिसे विवेक नही। किसी को शूद्र कहते भी जिसका कलेजा हिलता नही। जो अपने मुख से अपनी प्रशसा और दूसरे की निन्दा करते डरता नही। जिसके वचनो मे से क्रोध या मान, माया या लोभ टपकता हो। जो धर्म कथा न करके, लौकिक जनो के साथ राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा, व भोजन कथा करने मे आनन्द मानता हो। जिसके बोलने का ढग व्यगात्मक या हास्यात्मक हो। इत्यादि अन्य अनेको दोष जहा दिखाई देते है वहा सत्य व्रत कहा ?

जो दातार की आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध अधिक मूल्य का भोजन ग्रहण करता हो। 'चौके मे कितनी वस्तु बनाई गई है, उसमे से तुझे कितनी लेनी चाहिये,' इस बात के विचार से शून्य जिसे अपनी जिव्हा का पोषण मात्र ही अभीष्ट हो। जो दातार की बिना इच्छा के कुछ सकेतादि द्वारा, उसके घर की कोई वस्तु माग लेता हो। पीछी, कमण्डल व शास्त्र के अतिरिक्त चौथी वस्तु अपने पास रखता हो। जो अपने निवास स्थान पर दूसरे को ठहरने मे रोक लगाता हो। उसे अचौर्य व्रत कहा ? वह मेरा गुरु नही हो सकता।

जिव्हा इन्द्रिय के प्रहार से घायल हुआ जो भोजन मे स्वाद लेता हो। नित्य पौष्टिक, गरिष्ट, व तामसिक, या राजसिक भोजन करता हो। दसियो बीसियो तरह के व्यजन पदार्थो का ग्रहण करता हो, एकान्त मे स्त्रियो से बाते करता न हिचकिचाता हो, वह ब्रह्मचारी कहा ?

जिसे परिग्रह का त्याग तो दूर रहा उसका परिमाण भी न हो। केवल एक नग्नता का साइन बोर्ड लगाकर जगत भर की विष्टा अपने घर मे भर कर बैठा हो। रोगो से भयभीत होकर, जिसे अपने साथ औषधियो का पिटारा रखना पडता हो। सर्दी से बचने के लिये जिसे कोई विशेष प्रकार का बक्सा रखना पडता हो। मच्छरो से बचने के लिए जिसे मच्छरदानी चाहिये। जिन्होने अनेको सस्थाओ तथा शास्त्र मालाओ के बन्धनो मे अपने को जकड रखा हो। शास्त्र छपवाने के लिए टाइप राइटर व प्रेस तक लगा लिए हो। इसके अतिरिक्त भी टार्च आदि अन्य अनेको सामान अपने साथ रखते हो। वे बेचारे अभिलाषाओ से सताये गये रक क्या जाने-निष्परिग्रहता का मूल्य ? कैसे देखे उसमे अपना हित व अहित ? क्या जाने कि शान्ति किस चिड़िया का नाम है ? एक छोटा घर छोड़ कर मानो एक नया घर बसा लिया है। एक गृहस्थ भी परदेश जाने लगे तो थैला लटकाये और चल दे। और एक मुनि जाने लगे तो एक ठेला गाडी की आवश्यकता पडे उसकी गृहस्थी का भार उठाने को। जहा शरीर भी परिग्रह कहा है वहा इतना आडम्बर जोडते जिसका हृदय कापता नही, वह अपने को वीतरागी कहे, निष्परिग्रही कहे, आश्चर्य है। उसे देख कर कोई हसने के सिवाय क्या करेगा ? वह गुरुओ के आदर्श पर एक कलक है गुरू नही। वह अपने को महाव्रती कहे और हम स्वीकार करे खेद है।

चलते समय जो रूढि वश यह कह रहा हो कि वह देख कर चल रहा है पर वास्तव मे दूसरो से बाते करता इधर उधर देखता चलता है, पाओ के नीचे रोदता हुआ, अनेकों छोटे छोटे जन्तुओ को। जिनके हृदय मे उन बेचारो के प्रति कोई दया नही। जा रहा है बडा तेजी से लपका हुआ। उसे इर्या समिति कहा ? विवेक शून्य वचन वाले उसे भाषा समिति कहा ? जो दातार की बाधाओ का विचार न करके भोजन ले। कुछ रूढि की बातो मात्र पर दृढ रहे, चाहे उन रूढियो को निभाने के लिए दातार

को कितना भी आरम्भ करना पडे। रूढियों वश जो दातार के समझाये जाने पर भी, वर्तमान युग के उन्नत साधनों का प्रयोग न करके लकीर का फकीर बना रहे, चाहे उसमें जीव हिंसा अधिक ही क्यों न हो। आरम्भ में स्पष्ट जीव हिंसा देखते हुए भी तथा आधुनिक वस्तुओं के मुकाबले में अशुद्धता देखते हुए जो मात्र रूढि वश हाथ से ही उन्हे बनवाने में महत्व समझे। भोजन की मात्रा का जिसे प्रमाण न हो। खाता ही चला जावे। उसे एषणा समिति कहां? जो बुद्धि पूर्वक आंखों से देख भाल कर वस्तुओं को उठाता धरता न हो, केवल पीछी को ही इधर उधर घुमाने की कुछ दिखावटी सी लौकिक क्रिया कर देता हो उसे आदान निक्षेपण समिति कहां? पांच समिति रहित वह मेरा गुरु नहीं हो सकता।

जिसको सर्दी से बचने के लिए अंगीठी की, और गर्मी से बचने के लिए बिजली के पंखो की आवश्यकता हो, वह स्पर्शन इन्द्रिय का दास मेरा गुरु कैसे हो सकता है।

स्वादिष्ट, गरिष्ट, व पौष्टिक भोजन की चाह रखने वाला, जो इस प्रकार का भोजन न मिलने पर कुछ बिगड़ बैठता हो, या भोजन छोड़ देता हो या जिसका मुख मलिन सा हो जाता हो, सस्ती वस्तुओं का त्याग कर महगी वस्तुओं को ग्रहण करता हो, वह बेचारा जिव्हा इन्द्रिय का सताया मेरा गुरु कैसे हो सकता है?

किसी व्यक्ति या पदार्थ से दुर्गन्ध आने पर बैठे हुवे या गमन करते हुवे जिसका नाक सुकड़ जाता हो, माथे पर बल पड़ जाते हों, वह नासिका इन्द्रिय का दास मेरा गुरु कैसे हो सकता है?

दातार के घर पर या मन्दिर आदि में जाकर जिसकी दृष्टि घर या मन्दिर की या अन्य वस्तुओं की सुन्दरता या असुन्दरता मे फस कर उनकी स्तुति व निन्दा करने लगता हो, वह नेत्र इन्द्रिय विजयी कहां? गऊ वत् भोजन लेने के लिये मात्र दातार के घर पर जाने वाले योगी को इतनी फुरसत कहा, कि वस्तुओं की सुन्दरता सम्बन्धी विचार करे? गऊ वत् दृष्टि मे तो चक्रवर्ती का महल व भिखारी की कुटिया समान होनी चाहिये। वह तो भोजन करते समय भी अपने को धिक्कारता ही रहता है, कि "अरे! तू कितना अशक्त है? कि भोजन बिना रहा न गया। अपने अन्तर रस को छोड़कर इस धूल के भोजन को करने चला आया। धिक्कार है तुझे।" ऐसी बात जिसमे नहीं वह योगी कहां? रंक है बेचारा। नेत्र इन्द्रियो का बन्दी।

जो अपनी स्तुति सुन कर प्रसन्न हो जाता हो, या अपनी प्रशंसा सुनने की भावना रखता हो। अपनी निन्दा सुनने की क्षमता जिसमे न हो। जो वास्तविक बात सुनना भी गवारा न करता हो। गुरु का वह यथार्थ स्वरूप स्पष्ट सुन कर जो झुंझला उठता हो। वह गुरु कहां? कर्ण इन्द्रिय का दास है बेचारा।

जो ठीक समय पर स्तुति, वन्दना व सामायिक आदि आवश्यक कर्म न करता हो। या कुछ दण्ड सा समझ कर करता हो। चित्त लगा कर न करता हो। क्रियायें करते समय मन कुछ और विचारो मे फसा रहता हो, जल्दी जल्दी उन क्रियाओं को पूरी करके कुछ अन्य ही क्रिया करने की रुचि

वाणी के प्रसार में योग दान दीजिए

यहा तक स्वाध्याय कर चुकने पर आपको अवश्य यह विश्वास हो गया होगा कि आधुनिक युग मे, आधुनिक ढग से वैज्ञानिक की भाँति, अत्यन्त सरल भाषा मे, जीवन विज्ञान के रूप मे अध्यात्म प्रदर्शन का यह उपाय ही विश्व शान्ति की स्थापना तथा वाणी का प्रसार करने मे समर्थ हो सकता है। आगम भाषा या पुरानी रूढियो के आधार पर इस लक्ष्य की पूर्ति आज के युग मे असम्भव है। आधुनिक बुद्धि युक्ति व अनुभव को स्वीकार करती है, आगम को नही। अतः विद्वज्जनों, प्रचारको, त्यागियो, प्रकाशन सस्थाओ, दानी महानुभावो व अपने पाठको से सानुरोध प्रार्थना है कि पुराने ढङ्ग को बदल कर मार्ग प्रचार के इस ढङ्ग को अपनाये, इस ढङ्ग की ट्रेनिंग ले। ब्र० जिनेन्द्र कुमार की सेवाये इस कार्य के लिये हर समय उपलब्ध हो सकती हैं। पुराने ढङ्ग के साहित्य निर्माण तथा अन्य प्रतिष्ठाओ आदि की दिशा से धन व परिश्रम की बचत करके इस दिशा मे लगाये, तो अवश्य ही एक दिन रामा कृष्ण मिशन से भी अधिक वाणी के मिशन का विश्व मे प्रकाश होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करे। इसका परिचय देकर अपने मित्रो से अनुरोध करे कि इस ग्रन्थ को जीवन साथी के रूप मे अवश्य अपने साथ रखे। चिन्ता के अन्धकार पूर्ण अवसरो मे यह उन्हे प्रकाश व शान्ति प्रदान करेगा। अपना व अपने मित्रो का पता अवश्य भेजने की कृपा करे, ताकि नि शुल्क सामायिक ट्रैक्ट आदि आप को भेजे जा सके।

रूप चन्द गार्गीय जैन

पानीपत

नय दर्पण

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद जैन वाङ्मय का बडा गम्भीर परन्तु उलझा हुआ व जटिल सिद्धान्त है। वाद-विवाद के प्रशमनार्थ, जैनागम के रहस्य को स्पर्श करणार्थ तथा वस्तु की जटिल व्यवस्था व स्वरूप के स्पष्टीकरणार्थ इस सिद्धान्त से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसे आगम का अर्थ समझने की कुञ्जी कहे तो अतिशयोक्ति न होगी। आगम मे पढ कर या आगम भाषा में पण्डितजनो के मुख से सुन कर इसको समझना एक साधारण बुद्धि के लिये अत्यन्त कठिन है।

बाल गोपाल भी इसको सरलता से समझ सके, इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ, प्रस्तुत ग्रन्थ जैसी ही वैज्ञानिक व बालक भाषा मे, इस महान सिद्धान्त का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करने के फलस्वरूप, "नय दर्पण" नाम के एक दूसरे ग्रन्थ का जन्म भी हो चुका है। शीघ्र ही प्रकाश मे आने वाला है।

आगम मे प्रवेश पाने के लिये तथा सशयो के निवारणार्थ अवश्य ही इस ग्रन्थ को खरीद कर अपने ज्ञान का विकास कीजिये, तथा इसका भी अधिक से अधिक प्रचार करने के लिये अपने मित्रो को इसका परिचय दीजिये। अभी से अपने आर्डर निम्न पते पर बुक कराइये।

लगी हो। अपने दोषो पर जिसका ध्यान ही न जाता हो, और इसलिये उन दोषो को पकड पर उनके प्रति निन्दन करना या प्रायश्चित आदि प्रतिक्रमण करना जिसके लिये असम्भव हो। हा,कुछ रूढि वश प्रतिक्रमण पाठ आदिक मात्र पढ लेता हो। या गुरु से अपने दोष कहता डरता हो। नाम मात्र शास्त्र खोल कर बैठा रहता हो, पर बाते लौकिक जनो से करता हो। उसे षट् आवश्यक क्रियाओ का पालन कहा ? वह मेरा गुरु नही हो सकता।

तथा अन्य भी बाह्य की क्रियाये जो केवल दिखाने मात्र को करता हो, या वे क्रियाये दूसरो को दिखाने मे उसे कुछ महानता सी प्रतीत होती हो। जैसे खूब भीड एकत्रित करके उनके बीच मे केश लोच करना इत्यादि। उसकी यह शारीरिक क्रियाये भी सच्ची कैसे कही जा सकती है ? अभिप्राय तो एडवरटाइज करने का है। वह गुरु नही हो सकते। जिनको कषायो पर विजय नही, विषयो के पोषण की रुचि है पाच महाव्रत नही, पाच समिति नही, छ आवश्यक नही, तथा बाह्य की क्रियाये भी जिसकी निरपेक्ष न हों, उसे तो २८ मे से एक भी मूलगुण नही, भला मेरा गुरु कैसे हो ?

१२ कालादि के बहानों का निराकरण

गुरू हमको तारने वाले है। तीर्थ है। क्या इस प्रकार के गुरू हमे तिरा सकते है ? वे बेचारे तो स्वय डूबे हुए है-विषय वासना मे। स्वय मारे हुवे है कषाय व इन्द्रियो से। आज दुर्भाग्य वश। इस प्रकार के गुरू सरीखे दीखने वाले व्यक्ति ही प्राय इस पृथ्वी पर विचरण कर रहे है। उनके इस ढोंगी रूप को देख कर आज हमारी श्रद्धा सच्चे गुरू पर से हटती जाती है। आज हमे सशय हो रहा है कि, क्या आदर्श के अनुसार वीतरागी गुरु सम्भव है ? कि क्या ऐसे सच्चे रूप का धारक गुरू होना भी सम्भव है, या कभी होता था ? आज तो पचम काल है इत्यादि।

आज गुरुओ का विरह हो रहा है। आज ज्ञानी गुरुओ की याद कर हृदय रो उठता है परन्तु उनकी उपलब्धि न होने पर भी, मै जिस किसी को भी गुरु स्वीकार कर लू ऐसा नही हो सकता ? "पचम काल के अन्त तक गुरुओ का सद्भाव बताया है, और आज तो जैसे कैसे भी है, यही दिखाई देते है। अत इन्ही को गुरु स्वीकार कर लू।" ऐसा नही हो सकता। आज हस दिखते नही तो बगुलो को तो कोई हस नही स्वीकार कर लेता ? गुरू तो गुरू ही रहेगा। भले वर्तमान मे उपलब्ध हो कि न हो। उपलब्धि गुरु की पहिचान नही। गुरु का आदर्श बहुत ऊ चा होता है। जब कभी भी होगा वैसा ही होगा। गुरु का जातिया भिन्न भिन्न नही होती।

सहनन हीन होने से भी गुरु का आदर्श हीन नही हो जाता। भले ही तपश्चरणादि मे अन्तर पड जाये, अधिक उपवास न कर सके, वनो मे न रह सके, आतापन योगादि ग्रहण न कर सके, परीषह सहन न कर सके, उनसे बचने का प्रयास भी करे, पर मूल लक्ष्य वीतरागता तथा २८ मूल गुण उसमे तो कोई अन्तर नही पड सकता। जैसे श्रावक जैसे मुनि यह बहाना भी ठीक नही है। क्योकि श्रावक अपने को दोषी जानता है। वह स्पष्ट कहता है कि 'मै सच्चा श्रावक नही हूँ, पापी हूँ।' पर आज का मुनि तो यह कह रहा है कि 'मै सच्चा मुनि हूँ।' अपने को स्पष्ट चोर स्वीकार करने वाले चोर से सफेद पोश चोर बहुत भयानक होता है। गुरु बना है अपने हित के लिये, दूसरे को दिखाने के लिये नही। यदि श्रावक अपने आदर्श से गिर जाये तो इसका यह अर्थ नही कि गुरू अपना हित छोड कर अहित का

मार्ग पकड ले। गुरु बनना कोई व्यापार नही है। कोई अपराधी बने तो मै भी अपराध करने लगू, यह न्याय नही।

तब तो यह अर्थ हुआ कि द्रव्यलिंगी मुनि वन्दन क्रिया जाने योग्य नही ? ऐसा नही है भाई ! जिनको आगम मे द्रव्यलिंगी मुनि कहा गया है, वह बाह्य मे वीतरागी हुआ करते है। उन्हे क्रोधादि कषाय नही होती। विषय वासना नही होती। पंच महाव्रत व समिति पूरी पूरी पालते है। इन्द्रियो पर उनका पूर्ण अधिकार है। षट् आवश्यक क्रियाओ मे कोई दोष बाहर मे नही दीख सकता। केश लु चनादि क्रियाओ मे भी कोई दोष लगने नही पाता। आप स्वय यह परीक्षा नही कर सकते कि यह अयथार्थ है कि यथार्थ। अर्थात् द्रव्यलिंगी है कि भाव लिंगी। केवल सर्वज्ञ ही जानते है उनके अन्तरग दोष को। हमारे लिये तो वह यथार्थ ही है। जब परीक्षा कर लेने पर भी दोष न दीख सके तो अयथार्थ कैसे कहे ? अन्तरग के सूक्ष्म परिणाम को जांचने की शक्ति मुझ मे नही। दूसरे उसमे पूरे वीतरागता के दर्शन हो रहे है, जिससे कि हमे प्रयोजन है। व्यक्ति कोई पूज्य नही होता। हमारा आदर्श या लक्ष्य ही पूज्य होता है। जहा वीतरागता नही अर्थात् जिसमे निर्दोष २८ मूल गुण नही वह तो द्रव्यलिंगी भी कहा नही गया है। प्रवचन करते समय द्रव्यलिगी की बात आये तब, यह बात किसे कही जा रही है, यह न समझ कर अपने दोष पर तो दृष्टि न डाले, और थोपने जाये वही दोष-किसी दूसरे पर, तो वह मुनि अपना अनिष्ट कर रहा है तथा दूसरो का भी। ऐसा मुनि तो केवल करुणा का पात्र है।

इन बहानो के द्वारा इन रको का पोषण मत कर भाई ! इससे मेरे यथार्थ गुरुओ को, कुन्द कुन्द प्रभु व समन्त भद्र स्वामि व शुभ चन्द्राचार्य देव आदि को लाँछन लगता है। अन्य लोक क्या समझेगा, कि वे भी ऐसे ही गुरु होगे जैसे का कि तू पोषण कर रहा है ? वे भी तो पचम काल व हीन सहनन मे ही हुवे है ? अपने आदर्श गुरुओ की निन्दा मै कैसे सुन सकू गा ? आपने क्या कथा नही सुनी है, उस सेठ की कथा जो गुरु निन्दा के भय से कुष्ठी गुरू को सुन्दर व निर्मल शरीर वाला कहते हुवे भी न हिचकिचाया। उस गृहस्थ को झूठ बोलना स्वीकार था, पर गुरू निन्दा सहन न था। क्या आप अपने गुरू को ससार मे रागी सुनना चाहते है ? क्या आपका हृदय नही काप जायेगा ऐसा-सुन कर ?

हमे गुरू को अगीकार करना है। अगुरू को नही। पचम काल है सहनन हीन है, यह बात स्वीकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नही, कि वह पूर्वोक्त प्रकार राग करने की प्रेरणा देते है। हो सकता है कि इन कारणो वश वह वन मे न रह सके। न सही मन्दिर मे रहिये। परन्तु मन्दिर में रह करके भी एकान्तता का त्याग करके, जन सम्पर्क मे आ, इधर उधर की भोजन आदि सम्बन्धी बातो मे समय गवाने के लिये तो पचम काल नही कहता ? सहनन की हीनता अधिक तपश्चरण, अधिक उपवासादि नही करने देती, यह तो माना, परन्तु स्वादिष्ट व पौष्टिक भोजन करने के लिये तो प्रेरणा नही करती। यह तो नही कहती कि गृहस्थ पर चाहे कितना भी भार पडे, जिस किस प्रकार भी तू अपने शरीर का पोषण कर, जिस किस प्रकार भी अपने भोग सम्बन्धी स्वार्थ की सिद्धि कर। एक बार के मुनि के आहार पर १५) रुपये लग जाये और गृहस्थ के बच्चो को चाहे महीनो तक दूध भी न मिले, यह तो हीन सहनन नही कहती। गुरू को इतना निर्दयी तो नही बना देती। गुरू है तो ऐसा भोजन कदापि न लेगा। कुत्ता बैठा हो तब भी, यह समझ कर कि कुत्ते का पेट सम्भवत. कट जाये भोजन नही लेते, तो क्या बच्चो को बिलखता देख कर भोजन ले लेगे ? ऐसा नही हो सकता। ऐसा भोजन लेने

वाला अहिंसक कैसा ? वह तो महान हिंसक है। हा धनवान या समर्थ दातार के यहा कदाचित् ऐसा भी ले ले तब कोई बात नही। हीन सहनन वश बाह्य क्रियाओ मे कदाचित् दोष आ जाना सम्भव है पर अभिप्राय मे नही।

ऐसी स्थूल बातो की परीक्षा तो हम कर ही सकते है। इतने मूढ तो नही है, कि इन बातो को पहिचानते न हों। हमारा अन्तष्करण बराबर इन सब बातो को पकडता है। कोई ऐसा नही जो यह कुछ न जानता हो, पर ढक देता है उसे किसी अदृष्ट भय के कारण। आप सिंह की सन्तान है, वीर है, निर्भय है। किस का भय है ? उनके शाप आदि से भय खा कर कर्तव्य न भूलिये। उन्हे नमस्कार न कीजिये। इसका यह भी अर्थ न समझना कि उनसे द्वेष कीजिये। नही नगर मे रहने वाले अन्य सामान्य व्यक्तियो वत् ही समझिये। जिन से प्रेम है न घृणा।

१३

—: स्वाध्याय :—

दिनाक २२ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ३९

१—स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन, २—स्वाध्याय का अर्थ, ३—स्वाध्याय में विनय का महत्व, ४—शास्त्र परीक्षा, ५—अभिप्राव वश अनेको शास्त्र, ६—शास्त्र परीक्षा का उपाय, ७—सच्चे शास्त्रों में भी प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक।

अहो ! मुझ जैसे अन्धो को घर बैठे ही समस्त विश्व का साक्षात्कार कराने वाली जिन वाणी का उपकार। यदि यह न होती तो आज इतनी निकृष्ट परिस्थिति मे जब कि देव दिखाई देते है न गुरु, मुझे शान्ति की बात कौन सुनाता ? शान्ति मार्ग के अन्तर्गत आज स्वाध्याय की बात चलती है।

१ स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन

शान्ति प्राप्ति की सिद्धि के अर्थ आवश्यकता इस बात की है कि जिस किस प्रकार भी अभिलाषा प्रवर्धक विकल्पो का, भले कुछ देर के लिए सही, सवरण कर दिया जाये। प्रशमन कर दिया जाये। उपाय निकला यह कि सारी जीवन चर्या मे आध या पौन घण्टा समय का अवकाश निकाल कर, उतने समय मात्र के लिये गृहस्थ के वातावरण को विल्कुल भूलने, तथा शान्ति का स्मरण करने का प्रयत्न कीजिये। मन्दिर मे आकर देव दर्शन या पूजन कीजिये अथवा गुरू की शरण मे जाकर उनकी उपासना कीजिये। परन्तु विचार करने पर यह बात ध्यान मे आये बिना न रहेगी, कि इन कामो मे मै कितनी देर सलग्न रह सकू गा ? स्वतन्त्र रूप में अपने हृदय से निकाल निकाल कर कब तक उद्गार प्रगट करता रहूगा ? सम्भवत चार पाच दिन तक क्रम बना रहे और फिर वह उद्गार सरीखे दीखने वाले भाव शब्द मात्र ही रह जाये और मन अपना काम करता रहे-गृहस्थी मे घूमने का। तात्पर्य यह कि शान्ति के दर्शनो मे चित अटकाने का काम, इस प्रथम भूमिका मे अधिक देर तक किया जाना बहुत कठिन है। इस लिये इन कामो के अतिरिक्त कोई और काम ऐसा ढू ढना होगा कि जिसमे बहुत अधिक देर तक भी उपयोग को अटकाया जा सके, और इतना अटकाया जा सके कि शान्ति की बातो के अतिरिक्त इसे अन्यत्र जाने को अवकाश ही न मिले। सौभाग्य वश एक ऐसा उपाय निकल ही आया और वह है स्वाध्याय।

दूसरा प्रयोजन यह भी है, कि भले देव व गुरू मे शान्ति के दर्शन कर पाया हूँ, पर इस शान्ति से विल्कुल अपरिचित मुझ को शब्दो के विना कौन यह बताये, कि इसकी प्राप्ति अमुक प्रकार होनी सम्भव है ? नमूना अपना स्वरूप बता सकता है पर अपने बनाने का उपाय नही। मुझ को तो अशान्त

से शान्त बनना है। और बडे विकट वातावरण मे रहते हुए बनना है। क्या क्या प्रक्रियाये करू, जीवन को कैसे ढालू, जो इस प्रयोजन की सिद्धि हो ? ठीक है कि देव दर्शन व गुरू उपासना भी इस मार्ग मे बडी सहायक प्रक्रियाये है। परन्तु मन्दिर के समय से बचे जीवन के इतने लम्बे काल मे क्या करू ? क्या वैसे ही वर्तन करता रहू, जैसे कि अब कर रहा हू ? ऐसा ही करता रहूगा तो प्रात देव व गुरू के दर्शनो से प्राप्त हुई शान्ति कितनी देर टिक सकेगी ? और जीवन के चौबीस घण्टे अत्यन्त तीव्र व्यग्रता मे बिताये जाने के कारण, मन्दिर मे प्रवेश करते समय, तत्सम्बन्धी विकल्पो के दृढ सस्कारो का त्याग, थोड़ी देर के लिये भी कैसे कर सकूगा ? अत' कुछ ऐसी बाते भी अवश्य होनी चाहिये, जिनको इस वर्तमान परिस्थिति मे रहते हुए भी, मै अपने चौबीस घण्टो के जीवन मे किञ्चित् उतार सकू, और विकल्पो की तीव्रता मे तनिक मन्दता ला सकू। कौन बताये यह बाते मुझे ?

घबरा नही जिज्ञासु ! वह देख सामने से आती हुई प्रकाश की एक रेखा अब भी तुझे बुला रही है-अपनी ओर। चल वहा चल। कुछ प्रकाश मिलेगा, जिसकी सहायता से तू अपने जीवन को पढ सके कि क्या कुछ और कहना है-तुझे। ओह। यह तो वाणी है, सरस्वती देवी है। कितना शान्त है इसका स्वरूप। अहो ! जिसके दर्शन मात्र से ही इतनी तृप्ति हो गई, उसकी बाते सुनने से तो कितना बडा कल्याण हो जायेगा ? कृपा कीजिये माता ! मुझे मार्ग दर्शाइये। देव व गुरू दर्शन से आने वाली क्षणिक शान्ति ने मेरे चित्त मे अब यह लग्न उत्पन्न कर दी है, कि जिस किस प्रकार भी इसमे अधिकाधिक वृद्धि करू। अब गृहस्थ सम्बन्धी व्यग्रताये साक्षात रूप से मुझ को दाह उत्पन्न करती हुई प्रतीत होने लगी है। मेरी रक्षा करो माता।

२ स्वाध्याय का अर्थ स्वाध्याय का अर्थ है स्व+अध्याय या स्व अध्ययन, अर्थात् निज शान्ति स्वरूप का अध्ययन, या दर्शन। इसलिये वास्तव मे तो देव दर्शन व गुरू उपासना मे भी यही कार्य सिद्ध होने के कारण वह दोनो कार्य भी स्वाध्याय कहे जा सकते है, परन्तु अधिक देर तक विकल्पो से बच कर किंचित् शान्ति मे स्थिति पाने के अर्थ यह तीसरा कार्य अधिक उपयोगी है। अत मुख्यता से स्वाध्याय इस तीसरी प्रक्रिया का नाम है। इसमे समावेश पाता है उपदेश-मौखिक या लिखित।

यद्यपि देव से भी कुछ मौन उपदेश प्राप्त हुआ, पर उसका क्रम, अधिक देर तक न चल सका। गुरू के द्वारा भी मौखिक उपदेश दिया गया, जिससे महान कल्याण हुआ। जी चाहा कि निरन्तर इस अमृत का पान करता रहू। जितनी देर तक उपदेश सुनता रहा, जैसा कि यहा प्रवचन सुनते हुए आपको प्रतीत होता है, मानो मै सब कुछ भूल गया हू। जीवन मे एक उत्साह सा आता हुआ प्रतीत होता रहा। कुछ प्रेरणा मिलती रही। परन्तु कहा है मेरा इतना सौभाग्य कि गुरू प्रतिदिन मुझ को मिलते ही रहे ? आज मिले और कल नही। रमते जोगी है। वन वन विचरते है। क्या जाने किधर निकल जाये और फिर मेरे लिये वही अन्धकार। और आज तो समस्या ही दूसरी है। एक दिन को भी गुरू का सम्पर्क होना सम्भव प्रतीत नही होता। गुरू ही दिखाई नही देते। जहा दर्शन की ही सम्भावना नही वहा उपदेश कैसा ? और इस प्रकार रह गया मै कोरा का कोरा, असमन्जस मे पडा, बगलें झांकता और विचारता कि क्या करू, कैसे रक्षा करू-इन दुष्ट विकल्पो से।

सौभाग्य वश सरस्वती माता ने आशा दिलाई, और वह देख अब भी कितने प्रेम से बुला रही है-तुझे अपनी ओर । अब कोई चिन्ता नही । आश्रय मिल गया । ऐसा कि चाहे कितनी ही देर सुनता रहे उपदेश । चाहे जितना समय बिता दे । विकल्पो को प्रवेश पाने का अवकाश ही न मिले । जो हर समय तेरे पास है, कही बन आदि मे जाने की भी आवश्यकता नही । अर्थात् गुरुओ का ही लिखित उपदेश आगम या शास्त्र । जितनी देर चाहे पढ । जितनी बार चाहे पढ । जब चाहे उसे विचार जहा चाहे उसे विचार, जैसी अवस्था मे चाहे विचार । और विशेपता यह कि वही गुरु की बात । वही प्रतिध्वनि । मानो साक्षात गुरु ही बोल रहे हो- सामने बैठे । गहन से गहन, गम्भीर से गम्भीर समस्याओ का अत्यन्त सहल उपाय बता देने मे समर्थ, यह आगम ही वास्तव मे सरस्वती है । शान्ति मे स्नान कराने के लिए अन्तर मल शोषण के लिए यही यर्थाथ गगा है । विकल्पो से मेरी रक्षा करने के कारण यही माता है ।

स्वाध्याय का अर्थ शास्त्र का पढना मात्र ही नही है । वलिक उसका अर्थ है, जिस किस प्रकार भी शान्ति मार्ग के उपदेश का रहस्यार्थ ग्रहण करना व उसमे इस अत्यन्त चचल मन को अटकाना । इसलिए विशेप ज्ञानी या उपयुक्त वक्ता के मुख से वह रहस्य सुनना, विशेप स्पष्टीकरण के अर्थ शकाये उठाना, प्रश्न कर करके समाधान करना, अवधारित अर्थ को एकान्त मे पुन चिन्तवन करना या विचारना, जो कुछ समझा उसकी परम्परा या आमनाय से मिलान करके परीक्षा करना कि ठीक ही समझा हू कि कही भूल है तो पक्षपात रहित हो सुधार करने का प्रयत्न करना । जो निर्णय किया उसका उपदेश अन्य को देना, या जो समझा है उसको लिखना, यह सब ही स्वाध्याय है । कोई पढना जाने या न जाने, उपदेश देना जाने या न जाने किसी न किसी प्रकार स्वाध्याय अवश्य कर सकता है और मार्ग का निर्णय कर हित उपजा सकता है ।

३ स्वाध्याय में विनय का महत्व देव गुरु की भान्ति स्वाध्याय मे भी विनय व बहुमान अत्यन्त आवश्यक है । विनय रहित सुना या पढा बेकार है । गुरु व वाणी के प्रति बहुमान न हो तो कोई भी बात सीखी नही जा सकती । मुझे केवल पढ कर स्वाध्याय की रूढि ही पूरी नही करनी है बल्कि कुछ हित की बात सीखनी है । स्कूल के गुरु की विनय न करे, तो क्यो सीखे ? इसीलिए आज के विद्यार्थी स्कूल से उतना कुछ सीख कर नही निकलते जितना कि पहले के विद्यार्थी सीख कर निकला करते थे । आज गुरु की विनय युवको मे उतनी ही रह गई है । रावण मृत्यु शय्या पर पडा था कि भगवान राम ने लक्ष्मण से कहा "भाई ! जाओ इस अन्तिम समय मे रावण से कुछ सीख लो । जीवन मे तुम्हारे काम आयेगा । वह बडा अनुभवी व पडित है । नही सीखोगे तो समस्त विद्याये उसके साथ ही चली जायेगी ।" लक्ष्मण गया और रावण के सिराहने खडा होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया । उसे मौन देख कर निराश वापिस लौट आया और राम से बोला कि "भगवन ! वह बडा अभिमानी है, बोलता नही ।" राम बोले "भूलता है, लक्ष्मण ! मानी वह नही तू है । स्वभाव मे ही तू उद्दण्ड है । तूने अवश्य उद्दण्डता दिखाई होगी । कैसे बोले ? तुझे अगर कुछ सीखना है तो गुरु बन कर नही शिष्य बन कर सीखना होगा । जाओ ! उसके चरणो मे बैठ कर विनय पूर्वक विनती करो । उसे गुरु स्वीकार करो ।" लक्ष्मण की आखे खुल गई । गया, और अबकी बार उसे निराश लौटना न पड़ा ।

बस इसी प्रकार शास्त्र को पुस्तक मात्र न देख कर साक्षात् गुरु के रूप मे देखो । बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार प्रतिमा मे जीवित देव के दर्शन किये थे । शास्त्र जड नही है वह साक्षाद् बोल

कर मेरा हित दर्शा रहा है। पद पद पर ठोकरो से बचा रहा है। गहन से गहन ग्रन्थियो को सुलझा रहा है। अहो! इसका उपकार, न जानी, न देखी, न अनुभवी अत्यन्त रहस्य मयी उस सूक्ष्म बात को मानो हथेली पर रख कर ही साक्षात् दर्शा रही हो। उसकी शरण कितनी शीतलता प्रदायक है। अतुल प्रकाश है। उसकी विनय अत्यन्त आवश्यक है। बिना नहाये व हाथ धोये उसे छूने मे बिना शुद्ध वस्त्र पहने उसे हाथ लगाने मे उसकी अविनय है। शुद्धता व अशुद्धता के विवेक रहित, जिस किस स्थान मे भी बैठ कर उसे उपन्यास की भान्ति पढने मे उसकी अविनय है। उसे उठाते व धरते समय अत्यन्त विनय से साष्टाग नमस्कार किये बिना उद्दण्डता से सामने जाकर बैठ जाने मे उसकी अविनय है। स्थान एकान्त व शुद्ध होना चाहिये। मन्दिर ही उसके लिये सर्वोत्तम स्थान है। घर पर भी यदि पढे तो किसी एकान्त कमरे मे ही पढे, जहा जूते आदि न आते हो। जिस किस समय मे पढना भी योग्य नही। जब अन्य विकल्पो से किञ्चित् मुक्ति मिले तो पढना योग्य है। रूढि पूरी करने मात्र को एक दो लकीर इधर उधर से जैसे तैसे पढ कर जल्दी जल्दी भागने का अभिप्राय रखते हुवे पढना, पढना नही दण्ड है। बिना स्पष्ट उच्चारण किये या बिना अर्थ समझे पढना भी पढना नही रूढि है। इस प्रकार पढने से इसकी अविनय है। अत सर्व बातों का विचार करके अपने लिये अत्यन्त कल्याणकारी समझते हुवे कुछ जीवन मे उतारने योग्य उपयोगी बाते सीखने पर ही, इसके पढने से या सुनने से लाभ हो सकता है। केवल पढने वालो के लिये तो यह कुछ पत्रो मात्र का ढेर है, और कुछ नही। जैसी दृष्टि से देखे वैसा ही कुछ सीख ले।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि 'स्वाध्याय' मन्दिर की चार दिवारी के अन्दर ही अन्दर हो सकना सम्भव है, बाहर नही। जो कुछ पढ़ा या सुना है उसका चिन्तवन हम कही भी बैठकर कर सकते है। कैसी ही अवस्था मे कर सकते है। किसी भी समय मे कर सकते है। और इसलिये स्वाध्याय चौबीस घण्टे की जा सकती है। यद्यपि इस प्रकार मन के द्वारा देव व गुरू के दर्शन भी सर्वत्र व सर्वदा किये जा सकते हैं। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसमे अधिक देर स्थिति नही रह सकती। शास्त्र मे पढे या सुने तत्वो सम्बन्धी विचारना मे, तत्सम्बन्धी तर्क वितर्क मे, हम कई कई घण्टे बिता सकते हैं। यही है स्वाध्याय का महत्व और इसीलिये यह इस मार्ग मे बहुत आवश्यक है ?

दिनाक २२ सितम्बर १९५९

प्रवचन न० ४०

४ शास्त्र परीक्षा

हे मातेश्वरी सरस्वती! अब अपने इस बालक को अनाथ न रहने दो। तुम्हारी अवहेलना करके अनाथ बना दर दर की ठोकरे खाता रहा। अब अपनी गोद मे स्थान दो। स्वाध्याय का प्रकरण है। इसका प्रयोजन, इसका अर्थ व इसके प्रति विनय की बात आ चुकी। अब विचारना यह है कि कौन से शास्त्र स्वाध्याय करने योग्य है। प्रारम्भ से ही बिना परीक्षा किये अन्ध विश्वासी बन कर, मैंने किसी भी बात को आज तक नही अपनाया। मै वैज्ञानिक बनकर निकला हूँ। मै खोजी बनकर निकला हूँ। बिना 'क्या' और 'क्यो' किये किसी भी बात को स्वीकार करने को तैयार नही। देव व गुरू को बिना परीक्षा किये मैने स्वीकार न किया, तो शास्त्र को ही कैसे कर लू ?

५ अभिप्राय वश अनेकों

देव व गुरू वत यहा भी हम नियम नही बना सकते, कि अमुक ही सच्चा शास्त्र है। क्योकि भिन्न भिन्न अभिप्रायो के आधार पर आज अनेको शास्त्र या पुस्तके या साहित्य लोक मे दिखाई दे रहे हैं। किसी को भी सर्वथा झूठा नही कहा जा सकता और किसी को भी सर्वथा सच्चा नही कहा जा सकता। सच्चे व झूठे की पहिचान अभिप्राय पर से होती है। डाक्टरी सम्बन्धी जानकारी का अभिप्राय रखने वाले के लिए तो डाक्टरी सम्बन्धी साहित्य सच्चा और सब झूठ। एन्जीनियरिङ्ग पढने की अभिलाषा रखने वाले के लिए एन्जीनियरिङ्ग का साहित्य सच्चा और सब झूठा। और इसी प्रकार जो भी विषय पढने या सीखनेका अभिप्राय हो,तत् सम्बन्धी ही साहित्य सच्चा कहा जा सकताहै उसके अतिरिक्त अन्य नही परन्तु यहां हम किसे सच्चा शास्त्र व साहित्य स्वीकार करे ? बस तो वही सिद्धान्त लागू करो, और पूछो अपने मन से कि क्या सीखना है ? प्रकरण चलता है शान्ति का। यहा सब आये है शान्ति की खोज करने के लिये, धर्म कमाने के लिए नही। अत शान्ति विषयक साहित्य ही हमारे लिए सच्चा साहित्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त लोक का बडे से बडा शास्त्र झूठा है।

६ शास्त्र परीक्षा का उपाय

परीक्षा करने का उपाय निकल ही आया। शान्ति पथ दर्शाने वाली वाणी ही सच्ची वाणी हो सकती है। लौकिक प्रयोजन दर्शाने वाली या शरीर पोषण की बाते बताने वाली नही। अब कुछ बुद्धि का प्रयोग करना है, जिस प्रकार देव व गुरु के सम्बन्ध मे करते आये हैं। क्योकि दुर्भाग्य वश आज बहुत बडा शास्त्र हमारे सामने है। और सर्व ही शान्ति पथ दर्शाने का दावा करते है। सब के ऊपर शान्ति पथ की मोहर लगी है। सब को साक्षात् भगवान से आया हुआ माना जा रहा है। और मजे की बात यह है कि एक शान्ति को दर्शाने वाले होते हुए भी परस्पर वह एक दूसरे का विरोध कर रहे है। एक दूसरे से मानो लड रहे है। बडी विकट समस्या है। किस को सच्चा मानू ? पढने बैठता हूँ तो प्रत्येक मे ही कुछ न कुछ बाते अवश्य शान्ति प्रदान करती प्रतीत होती है, परन्तु आगे जाकर कुछ अन्य बाते और आ जाती है जो या तो शान्ति मे बाधक है या इस विषय से उनका कोई सम्बन्ध ही नही होता। और आगे जाता हूँ तो अरे ! वहा तो द्वेष का नग्न नृत्य ही देखने मे आता है ! पढने को ही जी नही करता। किसी का खण्डन और किसी का मण्डन।

अहो ! यह वीतराग वाणी का ही प्रताप है, जिससे कि मुझे यह प्रकाश मिला है कि भाई ! हर साहित्य मे जो बाते तुझे शान्ति प्रद प्रतीत हो, समझ लो कि वह सच्ची है। अथवा विचार करके तर्क व अनुभव के द्वारा जो सच्ची दिखाई देती हो, मान लो कि वह सच्ची है। भले ही वह किसी भी साहित्य मे लिखी हो। सब शान्ति प्रद व सच्ची बाते एक सच्ची वाणी के ही अश है। जो किन्ही ज्ञानियो ने अपने अनुभव के आधार पर लिखी है। यह बात अवश्य है कि अधिकतर साहित्य ऐसा है कि जिनमे आदि से अन्त तक का पूर्ण मार्ग न दर्शा कर उस मार्ग का एक खण्ड मात्र दर्शाया है। इसका कारण यही है कि उसका रचियता शान्ति को तो पकड़ पाया, पर उसे पूर्ण करने से पहले ही उसे काल के मुख मे जाना पडा, और उसकी बात अधूरी ही रह गई। कुछ साहित्य ऐसा भी है कि जिसमे इस अधूरी बात के साथ साथ कुछ अन्य बातो का अथवा कुछ अप्रयोजनीय बातो का मिश्रण भी दिखाई देता है। तनिक सा विचार करने पर यह पैवन्द स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वह साहित्य वह है जो कि मूल रचयिताओ की कृति न होकर उनके पीछे आने वाले किन्ही व्यक्तियो ने लिखा है। अधूरी बात सीख लेने के कारण, इनको उसकी पूर्ति के अर्थ, कुछ बाते अपनी कल्पना के आधार पर, बिना उसके सच्चे व झूठे पने का अनुभव किये, इस मूल साहित्य मे मिलानी पड़ी, और वह साहित्य खिचडी बन गया।

जैनेन्द्र कोष
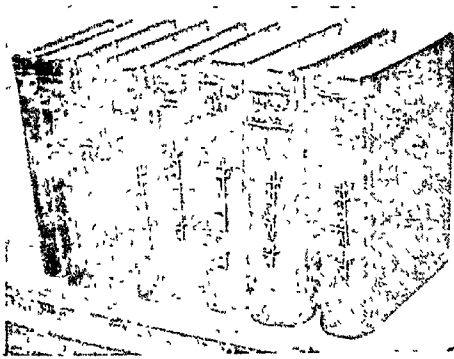
जैनेन्द्र कोष जैन जगत मे अपनी जाति की प्रथम कृति है। ऐनसाइक्लोपीडिया या लॉ डाइजैस्ट वत् (Encyclopedea or Law Digest वत्) इसमे जैनागम के समस्त मूल सैद्धान्तिक शब्दो व विषयो का वर्णानुक्रम मे सकलन किया गया है। कोई भी सैद्धान्तिक शब्द या आगम प्रणीत किसी भी विषय सम्बन्धी कोई शका ऐसी नही जिसका अर्थ व उत्तर विस्तार सहित इसमे न मिले। कोई विषय पढ कर भूल गया हो तो भी इस कोष मे खोज कर एक दृष्टि मात्र मे स्मरण किया जा सकता है।

सैंकडो ग्रथो का प्रतिनिधित्व करने वाली यह कृति अपने अन्दर परिपूर्ण है। एक ही स्थान पर, एक विषय के सम्बध मे, भिन्न भिन्न आचार्यो द्वारा कथित, अनेको शास्त्र वाक्यो के उदाहरण आपको इस कोष मे मिल सकते है। स्वाध्याय प्रेमी जन या आगम के खोजी विद्वान इसकी सहायता से एक क्षण मे वडी वडी समस्याये समझ व सुलझा सकते हैं, और इस प्रकार अपने बहु मूल्य समय की भारी वचत कर सकते है। करणानुयोग के गहन विषयो की ओघ आदेश सर्व प्ररूपणाओ को कोष्ठको मे भर कर सागर को गागर मे समा दिया गया है। इस कोष के आठ मोटे मोटे वाल्यूम हैं जैसा कि ऊपर के चित्र से विदित है।

इस कृति के विना आपका साहित्य सग्रह अपूर्ण है। यद्यपि अभी हस्त लिखित ही है, पर यदि आज से ही अपनी पूछताछ या आर्डर भेज कर प्रोत्साहन प्रदान करे तो इसे प्रकाश मे लाया जा सकता है। छप जाने के पश्चात् इस सारे कोष का मूल्य अनुमानत १५०) पड़ेगा। प्रकाशन का कार्य भी धीरे धीरे कई वर्ष मे पूरा होगा। प्रत्येक वर्ष एक वाल्यूम निकाला जा सकेगा, अत १५०) एक दम खर्च करना न पडेगा।

प्रेमलता जैन ग्रन्थ माला

इन्द्र भवन-तुको गज, इन्दौर

स्वाध्याय क्रम

स्वाध्याय से प्रेम होते हुए भी स्वाध्याय क्रम से अपरिचित रहने के कारण जो भी ग्रन्थ आगे आया वही पढ लिया। इसी कारण स्वाध्याय करते हुए भी इसका फल प्राप्त न हो सका अर्थात् सिद्धांत समझ मे न आ सका। स्वाध्याय प्रेमियो की यह कठिनाई दूर करने के अर्थ अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार निम्न मे स्वाध्याय का कुछ क्रम दर्शाया गया है, अर्थात् किसी प्राथमिक को कौनसा ग्रन्थ पहले पढना चाहिये और कौनसा पीछे ऐसा क्रम निर्धारित किया गया है। सर्व साधारण-जन के लिये ही यह क्रम है, अन्य अभ्यस्त जन के लिये नही, ऐसा स्वय समझ लेना।

क्रम नं० १	क्रम नं० २	क्रम नं० ३
१ शान्ति पथ प्रदर्शन	६ प्रश्नोत्तर माला (सोनगढ)	१२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
२ मोक्ष मार्ग प्रकाशक	७ नय विवरण	१३ परमात्म प्रकाश
३ सर्वार्थ सिद्धि	८ वृहद् द्रव्य संग्रह	१४ ज्ञानार्णव
४ पद्म पुराण	९ पंचास्ति-काय	१५ कार्तिकेयानुप्रेक्षा
५ धन्य कुमार चारित्र	१० प्रवचन सार	१६ समाधि शतक
	११ समय सार	१७ रत्न करण्ड श्रावकाचार

इस क्रम से धैर्य व साहस पूर्वक यदि आगमाभ्यास किया जाये तो मेरे विचार मे साधारण से साधारण व्यक्ति भी कुछ वर्षों मे ही आगम के अर्थ को समझने के योग्य हो जायेगा। यह ध्यान अवश्य रहे कि शास्त्र को जल्दी समाप्त करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। सब ही शास्त्रो को और मुख्यत क्रम नं० १ व क्रम नं० २ वालो को लगातार कम से कम तीन बार अवश्य ही पढना चाहिए। एक बार पढ कर छोड देना तो कदाचित् भी योग्य नही। इस क्रम मे स्वाध्याय प्रारम्भ करे अवश्य ही आपकी जिज्ञासा शांत होगी।

—ब्र० जिनेन्द्र

उनके भी पीछे आने वालो ने कुछ अपने स्वार्थ वश बहुत सी बातें मिला दी। और आगे चल कर वह स्वार्थ बदल गया द्वेष मे। जिसके कारण आ मिला उस साहित्य मे खण्डन मण्डन का विष।

यह तो हुई साहित्य के इतिहास की कुछ रूप रेखा, पर इतना जानने मात्र से तो साहित्य के सच्चे व झूठे पने की परीक्षा करने मे समर्थ न हो सका। परीक्षा का कोई उपाय होना चाहिये। सो विचार करने पर ऐसा उपाय निकल भी आया। देख भाई! शास्त्र तो बेचारे जड़ है, वह तो स्वयं बोल नही सकते। उसके अन्दर तो कुछ शब्दो का सग्रह है। और इन शब्दो मे छिपा है वक्ता का कोई अभिप्राय। बस यदि वक्ता की परीक्षा हो जाये तो उसके वाक्यो की भी परीक्षा हो गई मानो। शब्दो की प्रमाणिकता वक्ता की प्रमाणिकता के आधार पर होती है। जैसा कि पहले श्रद्धा सम्बन्धी उस पथिक के दृष्टान्त मे बता दिया गया है। देखिये कोई ग्राहक आकर आपसे कहने लगे कि यह वस्तु अमुक दुकान पर यह भावो मिल रही है यदि आपको इस भाव देनी हो तो दो। बताइये, क्या आप विश्वास कर लेगे उसकी बात पर ? नही करेगे। क्या कारण ? एक तो यह कि स्पष्ट झूठ दिखाई दे रहा है। जितने मे आपको घर भी नही पडी उतने मे वह उसे कैसे बेच सकता है ? परन्तु हो सकता है कि भाव गिर गया हो, ऐसे सशय को दूर कर देता है उस ग्राहक का अपना स्वार्थ "यदि इस भाव लगानी है तो दे दो।" और यदि वही बात मै आपको जाकर कहूँ तो ? आप अवश्य स्वीकार कर लेगे, क्योकि न मुझे आपसे मोल लेनी थी न बेचनी थी। जैसा उस दुकान पर सुन कर आया था आपसे कह दिया। आपके घर उतने मे पडी है कि न पडी है मुझे उससे क्या मतलब ? अत वक्ता की प्रमाणिकता से ही वचन की प्रमाणिकता होती देखी जाती है। और वक्ता की परीक्षा उसकी स्वार्थता व निःस्वार्थता पर से की जा सकती है।

तात्पर्य यह कि इस वीतरागता व शान्ति के मार्ग मे वीतरागी द्वारा लिखा शास्त्र ही प्रमाणिक शास्त्र कहा जा सकता है। रागी द्वेषी द्वारा लिखा गया नही। रचयिता के अभाव मे कैसे जाने कि वह वीतरागी था कि रागी ? यह बात शास्त्र पढ़ कर जानी जा सकती है। उन वाक्यो का झुकाव किस ओर जा रहा है, किसी निजी स्वार्थ का पोषण तो करता प्रतीत नही होता है ? सर्वसत्व कल्याण की भावना प्रतिध्वनित हो रही है या नही ? उन वाक्यों मे माधुर्य है या कटुता ? उन वाक्यो मे किसी की ओर आक्षेप तो नही किया जा रहा है ? एक ही बात को पोषण करने के लिये उस विषय के अङ्ग भूत अन्य बात का निषेध तो नही किया जा रहा है ? कही उनमे कोई लौकिक अभिप्राय तो दिखाई नही दे रहा है ? कही किसी को अशान्ति उत्पन्न करने वाली या पीडा पहुँचाने वाली बात तो नही कही जा रही है। आगे कुछ लिख कर स्वयं उस बात का निषेध तो नहीं कर रहा है अथवा उस अपनी ही बात का निराकरण या विरोध करने की बात तो नहीं लिख रहा है ? कुछ असम्भव बाते तो नही लिखी है ? इत्यादि अनेक बाते पढ़ कर वक्ता की प्रमाणिकता का निर्णय किया जा सकता है। उपरोक्त तथा इसी जाति के यदि दोष वक्तव्य मे दिखाई दें, तो समझ लो कि वक्ता प्रमाणिक नहीं।

इतना ही नही और भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है। क्योकि जहाँ मिश्रित अभिप्राय पड़ा हो वहा विपरीतता की परीक्षा करनी कुछ कठिन पडती है। अत भले ही सारे शास्त्र मे

निर्दोष बातें भरी पडी हो, परन्तु कही एक भी कोई दूषित बात दिखाई दे तो समझ लो कि उन सर्व निर्दोष बातो का भी कोई मूल्य नही। यहा ऐसी शका नही करनी चाहिये कि "भले दूपित बात को स्वीकार न करो पर निर्दोप बात का निषेध क्यो करते हो ? सो भाई ! इसके अन्दर निर्दोप बात का निषेध करने का अभिप्राय नही है। वक्ता का निषेध करने का अभिप्राय है। जैसा कि पहले दृष्टान्त मे बताया गया है। एक ही बात दो व्यक्तियो के मुख से सुन कर ग्राहक के मुख से निकला हुआ वही वाक्य झूठा माना गया और मेरे मुख से निकला हुआ वही वाक्य सच्चा माना गया। कोई व्यक्ति कभी माता को माता कहता है। और कभी माता को स्त्री भी कह देता हो तो क्या कहेगे आप उसे ? यह नशे मे है। इसकी कोई भी बात ठीक नही माता को माता भी बेहोशी मे कह रहा है। उसे कुछ पता नही, माता कौन और स्त्री कौन ? यही न कहोगे ? बस इसी प्रकार ९९ बातें ठीक कह कर एक बात भी विपरीत कह रहा हो तो उसकी ९९ बाते भी ठीक नही है। या तो किसी दूसरे की नकल करके कही है। या बिना समझे बूझे यो ही सुन सुना कर कह दी है। सम्भवत आगे चल कर कोई ऐसी बात भी कह दे कि जो मेरे लिये अहितकारी हो। और उस समय प्रमाद वश मै उसकी परीक्षा न करू तो मेरा अहित हो जायेगा, इसलिये इसकी सारी ही बाते मान्य नही हैं।

अथवा जिस प्रकार कोई दुकानदार सच्चा व्यवहार करके पहले अपनी साख जमा लेता है और पीछे लोगो का रुपया मार कर भाग जाता है। उसी प्रकार स्वार्थी वक्ता पहले बहुत सी सच्ची व शान्ति की बाते बता कर अपना विश्वास जमा लेता है और पीछे अपने स्वार्थ की बात कह कर अपना अभिप्राय सिद्ध कर लेता है। पढने वाले का हित हो कि अहित इस बात को उसे चिन्ता नही। इसलिये ऐसे वक्ता की कोई भी बात स्वीकार करने योग्य नही। भले शान्ति की क्यो न हो। वही बात यदि किसी दूसरे प्रमाणिक शास्त्र मे लिखी हुई पायें तो विश्वास करने योग्य है। अत शास्त्र की परीक्षा का उपाय यही है कि पूरे के पूरे शास्त्र मे हित की बात के अतिरिक्त अन्य बाते किञ्चित् भी नही होनी चाहिये। एक भी बात यदि अहित या स्वार्थ की हो तो सारा शास्त्र ही पढने योग्य नही।

७ सच्चे शास्त्रों में प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक

शास्त्र की परीक्षा ठीक प्रकार से कर लेने के पश्चात् अब यहा आकर भी कुछ अड़चन हो जाती है कि प्रमाणिक पुरुषो द्वारा लिखे गये शास्त्र भी मुख्यत चार कोटियो मे विभाजित किये गये है। कुछ शास्त्र तो शान्त पथ के गामियो के जीवन चरित्र दर्शा कर कोई आदर्श उपस्थित कर रहे है। अर्थात् आदर्श पुरुपो की कथाओ का निरूपण करते है। उनको कथानुयोग या प्रथमानुयोग कहा जाता है। इनमे प्राथमिक जनो को शान्ति पथ की ओर आकर्षित करने का अभिप्राय लिया गया है। इसलिये शृङ्गार रस आदि अलकारो का बहुत प्रयोग किया गया है। कुछ ऐसे है जिनमे अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से प्ररुपण किया गया है। तथा अत्यन्त परोक्ष व सूक्ष्म बात अर्थात् कार्माण शरीर व उसके बनने व बिछुडने सम्बन्धी, या द्वीप समुद्रो आदि सम्बन्धी कुछ कथन है। इसे करणानुयोग कहते है। कुछ ऐसे है जिनमे वस्तु का अनुभवात्मक स्वरूप दर्शाया है। स्व व पर मे विवेक कराया है। सुख व दु ख का सच्चा स्वरूप दर्शाया है। तर्क व बुद्धि से उसकी अनेक प्रकार से सिद्धि करते हुए वैज्ञानिक ढङ्ग से विवेचन किया है। उसे द्रव्यानुयोग कहते है। और कुछ ऐसे है जो हमे हमारा कर्तव्य व अकर्तव्य बता रहे हैं। अपने जीवन को किस प्रकार शान्ति के साचे मे ढालना चाहिये, यह बता रहे है। इसे चरणानुयोग कहते हैं।

यद्यपि यह चारो ही प्रमाणिक है। परन्तु इस वर्तमान भूमिका मे क्या चारों ही पढे जाने योग्य है ? नही भाई ! इनमे से पहले दो इस अवस्था मे तेरे लिये उपयोगी नही। क्योकि प्राथमिक कोटिसे तो तू निकल चुका है। तभी तो यहा बैठा सुन रहा है-इतनी रुचि से। इसलिये प्रथमानुयोग वर्तमान मे तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय रूप नही। दूसरे अभी तक तो तू स्थूल बातों तक का निर्णय नही कर सका, सुक्ष्म को कैसे जान सकेगा ? अत्यन्त परोक्ष बातो को, जैसे कर्म व द्वीप समुद्रो को अभी जान कर क्या करेगा ? और सूक्ष्म दृष्टि बने बिना वह तेरी समझ मे भी क्या आयेगी ? अत: करणानुयोग भी वर्तमान दशा मे तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय नही। यहाँ ऐसा न समझ लेना कि इनके पढने का निषेध किया जा रहा है। निषेध का अभिप्राय नही है। थोडे से थोडे समय मे अधिक कल्याण कैसे प्राप्त हो, यह अभिप्राय है। कुछ अनुभव व स्थूल सिद्धान्तो का निर्णय हो जाने के पश्चात् करणानुयोग महान उपकारी सिद्ध होगा। "किसी को बैंगन बायले, किसी को बैंगन पच।" अर्थात् जो करणानुयोग तेरे लिये प्रयोजनीय नही है, वही किसी अन्य के लिये जिसक दृष्टि मज चुकी है अत्यन्त उपकारी है। तथा जो आज तेरे लिये प्रयोजनीय नही है वही कल तेरे लिये उपकारी सिद्ध होगा।

परन्तु बात यह चलती है कि इस वर्तमान स्थिति मे कौन से शास्त्र की स्वाध्याय करू ? बस तो वस्तु स्वरूप दर्शक द्रव्यानुयोग से स्व पर भेद की बात जानने के साथ साथ, चरणानुयोग से कर्तव्य अकर्तव्य पहिचानने, तथा अपने जीवन को शान्ति की ओर ढालने सम्बन्धी वात जाननी चाहिये। अत यह दोनो द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग इस दशा मे तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय है। चरणानुयोग की भी दो धाराये है। एक अन्तरग मे वैराग्य उत्पन्न करने वाली, तथा दूसरी इस जीवन मे बाहर का त्याग रूप कुछ प्रेरणा देने वाली। इन दोनों मे से भी पहले चरणानुयोग की वैराग्य उत्पन्न कराने वाली धारा विशेष प्रयोजनीय है। किञ्चित् वैराग्य उत्पन्न हो जाने के पश्चात् व्रतादि का उपदेश देने वाली धारा महान उपकारी है।

इस कथन पर से स्वय अपनी भूमिका को पहिचान कर इन चारो मे से यथा योग्य रूप मे किसी भी शास्त्र का मनन करना तेरा परम कर्तव्य है। शान्ति पथ के संवर प्रकरण मे यह तीसरा पग है।

२४

—: संयम सामान्य :—

दिनाक २४ सितम्बर १६५६

प्रवचन नं० ४१

१—संयम का सर्व अङ्गो में एकत्व, २—सयम का अर्थ, ३—पूर्ण सयम का आदर्श स्वरूप।

शान्ति की खोज मे आगे बढने वाले पथिक को क्रमश· इसकी प्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। वह उपाय तो अत्यन्त सरल है, जो इस गृहस्थ अवस्था मे रहते हुवे भी अपनाया जाना शक्य है। जिसके लिये गृहस्थ छोड कर तुरन्त साधु हो जाने की आवश्यकता नही। इसलिये इस मार्ग से भय न खा। जो मार्ग बताया जा रहा है वह कठिन भी नही है। कोमल है। क्योकि इसका आशिक रूप से भी अनुधारण करने वाले को तत्क्षण सहभावी शान्ति का वेदन अवश्य होने लगता है। वह अलौकिक शान्ति जो कि पहले प्रकरणो मे कुछ सकेतो द्वारा बताई जा चुकी है, उस शान्ति के रसास्वादन मे इस मार्ग की कठिनाइया वास्तव मे कठिनाइयाँ प्रतीत नही होती जिस प्रकार धन के लोभ से प्रगटी धनोपार्जन की रुचि मे व्यापार की कठिनाइयां वास्तव मे कठिनाइयां भासती नही।

१ सयम का सर्व अङ्गों में एकत्व इस मार्ग के गृहस्थ योग्य कुछ अगो मे से तीन अग-देव दर्शन, गुरु उपासना व स्वाध्याय बताये जा चुके हैं। अब चौथे अग सयम का प्रकरण चलता है। मार्ग के इन पृथक पृथक करके बताये जाने वाले अगो का यह अर्थ नही कि जीवन मे भी यह पृथक पृथक प्रगट हो। अर्थात् जब देव दर्शन हो तब गुरु उपासनादि अन्य अगो का जीवन मे अभाव हो। और जब सयम पालन करता हुआ हो तो देव दर्शनादि का जीवन मे अभाव हो। यह चारो तथा आगे बताये जाने वाले जितने भी अग है वह सब शरीर के हाथ पाव आदि अगों वत् एक गृहस्थ जीवन मे युगपत प्रगट होने चाहिये, व होते हैं। युगपत होने पर ही उस गृहस्थ का जीवन शान्ति का मार्ग रूप बन जाता है। पृथक पृथक रहने पर वास्तव मे वह मार्ग नही, और न ही उसे जीवन के अङ्ग रूप स्वीकार किया जा सकता है। वह तो बन्दर की नकल मात्र बन कर रह जायेंगे, जिनका कोई मूल्य नही। किसी अन्य धर्मो की देखम देखी बिना समझे, तथा उन उन अगो मे बिना शान्ति का दर्शन किये, यह सर्व अङ्ग शून्य मात्र है। निष्फल है। क्योकि शान्ति पथ की प्राप्ति के लिये अपनाये गये यह सर्व अङ्ग यदि तत्क्षण शान्ति का वेदन न करा सके, तो फल के अभाव मे इन सर्व अङ्गो को निष्फल ही तो कहेगे ?

२ सयम का अर्थ सयम अर्थात् 'सं'+'यम'। 'स' अर्थात् सम्यक प्रकार, 'यम' अर्थात् यमन करना, दमन करना, दबाना। सम्यक् प्रकार दबा देना-व्याकुलता उत्पादक विकल्पो को, जो कि विषय भोगो के दृढ़

संस्कारो वश या कर्तव्य विहीनता वश प्रतिक्षण नवीन नवीन रूप धारण करके मेरे अन्तष्करण मे प्रवेश पाते या आस्रवते हुए मुझे अशान्त व विह्वल बनाये रहते है। शान्ति के उपासक को और चाहिये ही क्या ? विकल्पो का पूर्णतया अभाव ही तो अभीष्ट है। और विकल्पो के आस्रवन का निरोध ही सवर है। अत सयम सवर का ही एक अङ्ग है। पूर्ण सयम के प्रतीक तो है देव व गुरु जिनकी भक्ति व उपासना की बात चल चुकी है। जिनके दर्शनो से मैने शान्त का स्वरूप समझा। उस शान्ति का जो कि सयम की अविनाभावी है। पूर्ण सयम अर्थात् सकल्प विकल्प समूह के पूर्णतया अभाव मे ही तो पूर्ण शान्ति का निवास है। इस बात पर विश्वास कराने तथा उस सयम के प्रति बहुमान उत्पन्न कराने के लिये ही तो देव दर्शन व गुरु उपासना का अन्तरभाव सवर के प्रकरण मे किया गया है। उनसे मुझे सयम धारण करने की शिक्षा व प्रेरणा जो मिलती है ? अत पूर्व मे बताये गये देव दर्शन व गुरु उपासना का फल जीवन को सयमित बनाने मे ही निहित है। उस प्रकार से जिस प्रकार से कि उन सयमी गुरुओ द्वारा प्रणीत आगम मे बताया गया है। अर्थात् स्वाध्याय से उसी संयम धारण करने की जिज्ञासा को प्रोत्साहना तथा सयम धारण करने के मार्ग का ज्ञान कराया गया है। उस सयम के लिये, जिसको कि स्वय अपने जीवन मे लाकर उन गुरुओ ने यह सिद्ध कर दिया, कि इसका पालना अशक्य नही है, और इसका पालन ही है शान्ति। उन्होने तभी उपदेश दिया जब कि अपने जीवन की प्रयोगशाला मे प्रयोग करके उसके फल का निर्णय उन्होने कर लिया।

इस सयम को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक वह भाग जिसके द्वारा मै अपनी इन्द्रिय विषयो सम्बन्धी लोलुपता व आसक्तता का सम्यक् प्रकार दमन कर सकू अर्थात् इन्द्रिय संयम, और दूसरा वह जिसके द्वारा इस जीवन मे अपनी शान्ति की रक्षा करने के साथ साथ, दूसरे प्राणियो के प्रति भी मै कर्तव्य निष्ठ बना रहूँ, और उन कुटिल संस्कारो का सम्यक् प्रकार दमन करने मे समर्थ हो सकू जो कि मुझे कर्तव्य विहीन बनाये हुवे है, जिनके कारण मै स्वय मनुष्यता को भूल कर अपने साथी अन्य छोटे बडे प्राणियो के साथ सम्भवत पशुओ से भी अधिक नीचा राक्षसी व्यवहार कर रहा हूँ, और फिर भी अपने को मनुष्य कहने का गर्व करता हूँ। अर्थात् प्राण सयम।

३ पूर्ण सयम का आदर्श स्वरूप

सयम के उपरोक्त दो भागो मे से पहले इन्द्रिय सयम की बात चलती है। मेरे आदर्श स्वरूप देव गुरु तो पूर्णतया इन्द्रिय विजयी बन चुके हैं। जैसा कि उनके जीवन से साक्षात् अनुभव करने मे आता है। शरीर अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय की रक्षा करने, इसे गर्मी, सर्दी, बरसात, मच्छर मक्खी आदि की बाधाओ से बचाने का अब किञ्चित् मात्र भी विकल्प उनमे शेष नही रहा है। जिसकी घोषणा कि उनके शरीर की नग्नता कर रही है। इस नग्न अवस्थाओ मे भी बिना किसी आश्रय के केवल आकाश की छत के नीचे, बीहड वन मे, अथवा भयानक शमशानो मे, सर्दी की तुषार बरसाती रातो के बीच, उनकी निश्चल व निर्भीक ध्यानस्थ अवस्था, उनके पूर्ण स्पर्शन इन्द्रिय विजेता पने का विश्वास दिला रही है। गर्मी की आग बरसाती दोपहर मे तप्त बालू पर खुले जाज्वल्यमान आकाश के नीचे, धारा हुआ उनका आतापन योग, शरीर पर से उनकी अतीव निर्ममता का प्रतीक है। आज दिशाये ही उनका वस्त्र है। इसके अतिरिक्त और कृत्रिम वस्त्र की उन्हे आवश्यकता नही। स्पर्शन सम्बन्धी मैथुन भाव पर उनकी जय घोषणा करने वाली उनकी निर्विकृत शान्त आभा मुझे और भी इस नग्न रूप पर मोहित किये ले रही है।

महीनो महीनो के उपवास के पश्चात् भी, आहार लेने की भावना जागृत हो जाने पर, आकुल व आसक्त चित्त से गृद्धता सहित आहार की ओर दृष्टि नही होना तथा अन्तराय या कोई भी बाधा आ जाने पर शान्ति पूर्वक आहार जल का त्याग करके पुन उनका बन को लौट आना उनकी जिह्वा इन्द्रिय पर पूर्ण विजय का प्रदर्शन कर रहा है। आहार लेते समय भी स्वादिष्ट व अस्वादिष्ट मे, नमक सहित व नमक रहित मे, मीठे या खट्टे मे, चिकने या रूखे मे, गर्म या ठण्डे मे, उनकी मुखाकृति का एकी भाव उनकी अन्तर साम्यता व रस निरपेक्षता की घोषणा करता हुआ, उन्हे जिह्वा इन्द्रिय विजयी सिद्ध कर रहा है। रोम रोम को पुलकित कर देने वाला सर्व सत्व कल्याण की करुणापूर्ण भावनाओ से निकला, उनका हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वा इन्द्रिय विजयी होने का विश्वास दिला रहा है।

विष्टा के पास से गुजरते हुवे भी उनकी मुखाकृति की सरलता व शान्तता का निर्भङ्ग रहना, किसी कुष्टी आदि ग्लानि मयी शरीर धारी को देख कर भी उनकी आख का दूसरी ओर न घूमना, तथा किसी उद्यान के निकट से जाते या वहा बैठे हुए वहा आने वाली धीमी धीमी सुगन्धि की ओर उनके चित्त का आकर्षित न होना, मुखाकृति पर किसी सन्तोष विशेष की आकृति का न दीखना, उनके पूर्ण नासिका इन्द्रिय विजयी पने को सिद्ध करता है। दुर्गन्धि व सुगन्धि मे साम्य भाव उनकी पूर्ण वीतरागता व शान्ति के रसास्वादन का प्रतीक है, जिसके कारण कि उन दोनो मे उन्हे भेद ही भासता नही।

तीखे कटाक्ष करती, शृङ्गारित रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर युवतियो के सामने आ जाने पर भी, विकृत दृष्टि से उधर न लखाना, अथवा महा भयानक कोई विकराल रूप दीख पडने पर भी उनकी आभा मे कोई अन्तर न पड़ना, आहारार्थ चक्रवर्ती के महल मे या भिखारी की कुटिया मे प्रवेश करते उनका गौ वत् समान ही भाव मे स्थिति पाना, उनके पूर्ण नेत्र इन्द्रिय विजयी होने की घोषणा कर रहा है। तथा निन्दा व स्तुति दोनो में समान रहने वाली उनकी सम बुद्धि, निन्दक व वन्दक दोनो के लिये समान रूप से प्रगट होने वाली कल्याण की भावना, व दोनो के लिये मुख से एक शान्त मुस्कान के साथ निकला हुआ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद सूचक वाक्य, उनके पूर्ण कर्णेन्द्रिय विजयी होने का द्योतक है। इन सबके अतिरिक्त स्वर्ण व काँच में, दु ख व सुख मे, हानि व लाभ मे, रहने वाली उनकी साम्यता व निर्लोभता व निष्कपटता उनके पूर्ण निष्परिग्रही पने का, पूर्ण त्यागी पने का आदर्श उपस्थित करता है। शत्रु व मित्र मे समानता उनकी क्षमा को, तथा अनेको गुणो व चमत्कारिक ऋद्धियो या शक्ति विशेषो के होते हुए भी उन्हे प्रयोग में न लाना, उनकी निरभिमानता व क्षमता का द्योतक है। कहा तक कहे, वह देव गुरु जिनको कि मैने आदर्श रूप से स्वीकार किया है, स्पष्टत पूर्ण सयमी है। पूर्ण इन्द्रिय विजयी है। पूर्ण कषाय विजयी है।

आज सौभाग्य वश उनकी शरण में आकार क्या मै खाली लौट जाऊ? जैसा कि अनादि काल से करता आया हूँ? नही, अव तक भूला तो भूला, अव वही भूल पुन न दोहराऊगा। इस अवसर को अव न खोऊगा। इस अवसर की महान दुर्लभता को मै अव जान पाया हूँ। प्रभु! मुझे शक्ति प्रदान करे, कि मैं भी आप के समान सयमी वन कर शान्त जीवन बना सकू, ऐसा ही जैसा कि आपका है। आपकी भाति ही अभिप्राय मे साम्यता को स्थान दे सकू। सुनता हूँ कि जो आप की शरण मे आता है वह आप सरीखा ही वन जाता है। धनिक का धनिक पना भी किस काम का जो याचक को अपने समान

न बना ले ? आप आदर्श हैं। क्या मुझ पर दया न करेंगे ? क्या मुझ को न उभारेंगे ? माना कि मैं अपराधी हूँ। परन्तु आप अपराधियो का ही तो उद्धार करने वाले है। निरपराधियो को आपकी क्या आवश्यकता ? हे अधमोद्धारक ! अब सही नही जाती व्याकुलता की मार। मेरी रक्षा कीजिये।

परन्तु भो चेतन ! क्या इस प्रकार की अनुनय विनय, प्रार्थना व स्तुति तथा याचना मात्र से काम चल जायेगा ? प्रभु ने तो दया कर दी, अपने जीवन के आदर्श के आधार पर तुझे तेरा जीवनादर्श दर्शा दिया। अब जीवन को उद्यम पूर्वक वैसे साचे मे ढालना तो तेरा काम है। यह काम तो प्रभु न करेंगे। अत अत्यन्त हितकारी इस सयम को अब शीघ्रातिशीघ्र जीवन मे उतारने का प्रयत्न कर। साहसी बन। आगे बढ। कायरता छोड। बाधाओ से मत घबरा। तूने वीर को आदर्श माना है। तू भी वीर बन। यदि भविष्यत् मे अमुक परिस्थिति हो गई 'तो' ? यह घातक 'तो' ही वास्तव मे तेरे जीवन की कायरता है। इसे त्याग। प्रभु का आश्रय लिया है तो विश्वास कर। तेरे जीवन मे इस 'तो' के लिये कोई भी समय न आयेगा।

अरे ! यह चिन्ता, यह असमजस कैसा ? हा हा ठीक है। एक दम वैसा हुआ नही जा सकता, क्योकि शक्ति की हीनता वश और पूर्व सस्कारो वश इतनी बाधाओ का तेरे द्वारा सहा जाना वर्तमान मे अशक्य है। परन्तु पूर्णतया वैसा ही बनने के लिये तो वर्तमान मे नही कहा जा रहा। वैसा बनने का प्रयत्न करने के लिए ही तो कहा है। इस प्रयत्न मे छिपी है इस मार्ग की सरलता व शक्यता। घबराने व डरने की आवश्यकता नही। बार बार रस्सी के गुजरने से पत्थर भी कट जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे जीवन को इस ओर झुकाने से क्या एक दिन वह आदर्श के अनुरूप न बन जायेगा ? भले समय अधिक लग जाये। इस बात की चिन्ता नही, परन्तु कर सही। एक बार प्रारम्भ कर। पूर्णता के लक्ष्य से, पूर्णता के अभिप्राय से धीरे धीरे आगे चल। अर्थात् शक्ति का सतुलन करता हुआ, परन्तु शक्ति को न छिपाता हुआ क्रमश थोडा थोडा काबू विषयो पर पाने से एक दिन तू भी पूर्ण इन्द्रिय विजयी हो जायेगा।

२५

—: इन्द्रिय संयम :—

दिनाक २६ सितम्बर १९५९

प्रवचन न० ४२

१—इन्द्रिय विषयों के दो भाग, २—इन्द्रिय विषय का अर्थ, ३—स्पर्शनेन्द्रिय संयम, ४—अन्तरंग तथा बाह्य त्याग, ५—जिव्हा इन्द्रिय संयम, ६—नासिका इन्द्रिय सयम, ७—चक्षु इन्द्रिय संयम, ८—कर्णेन्द्रिय संयम, ९—मनो इन्द्रिय संयम।

१ इन्द्रिय विषयों के दो भाग

धीरे धीरे अपने जीवन को सयमित बनाने की बात चलती है। इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ मुझे विश्लेषण द्वारा अपने विषयो को दो भागो मे विभाजित करना होगा। एक आवश्यक भाग अर्थात् Necessities और दूसरा अनावश्यक भाग अर्थात् Luxuries। शरीर पर या कुटुम्बादि पर अर्थात् मेरी गृहस्थी पर किसी भी प्रकार की बाधा, तीव्र राग वश व शक्ति की हीनता वश, आज मुझ से सहन न हो सकने के कारण, भले आज आवश्यक विषयो को अर्थात् Necessities को त्यागने मे या उनसे उपेक्षा करने मे मै अपने को समर्थ न पाऊं, परन्तु अनावश्यक विषयो अर्थात् Luxuries को त्यागने मे मै आज भी समर्थ हूँ। क्योकि इसके त्याग से मेरे शरीर मे या गृहस्थी मे कोई बाधा आनी सम्भव नही। यदि ऐसा अभिप्राय बन जाये तो अवश्य ही इन्द्रिय विषयो के उस बड़े भाग्य से मै बच जाऊ, जो मेरे जीवन मे अधिक भार रूप है। जिसके कारण मुझे अधिक व्याकुलता हो रही है, जिसके कारण कि मैं अपना विवेक भी भूला बैठा हूँ, जिसके कारण कि मै हित को अहित और अहित को हित मान रहा हूँ, और इस प्रकार विकल्पो के एक बडे समूह को जीत लेने के कारण मै पूर्ण रूपेण न सही, परन्तु आशिक रूप से अवश्य इन्द्रिय विजयी बन जाऊ गा।

२ इन्द्रिय विषय का अर्थ

परन्तु यहां इतना समझ लेना आवश्यक है कि इन्द्रिय शब्द से यहां शरीर मे दीखने वाले यह कुछ नेत्रादि चिन्ह मात्र नही है, बल्कि है मेरे अन्दर का वह अभिप्राय जिसके कारण कि न मालूम क्यो आप ही आप, उन नेत्रादि इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जाने गये पदार्थो व विषयो की ओर रुचि पूर्वक मैं झुक जाता हूँ। जिसके कारण कि उन उन पदार्थो व विषयों का उन उन इन्द्रियो से ग्रहण करते समय मुझ मे स्वत ही कुछ कुछ मिठास सा वर्तने लगता है, कुछ कुछ आनन्द सा आने लगता है, और इस प्रकार का भाव आ जाने पर जिनके पुन पुन ग्रहण की इच्छा अन्तरग मे जागृत हो जाती है, "अहा! यह तो बहुत स्वादिष्ट है, ऐसा ही और भी लाकर देना", कुछ ऐसा सा भाव ही वास्तव मे यहा इन्द्रिय शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। ऊपर कहे जाने वाले

अनावश्यक विषयों का ग्रहण तो सर्वत' उन्ही भावो के आधार पर होता है, परन्तु आवश्यक विषयो के ग्रहण का आधार वहुत अशो मे है-सहन शक्ति की कमी, तथा थोडे अशो मे है वह उपरोक्त विशेष झुकाव का भाव। इच्छाओ को भडकाने के कारणभूत इस विशेष झुकाव वाले भाव का निषेध ही प्रथम अवस्था मे त्याज्य है। क्योकि उसके त्याग से मेरी शान्ति मे बाधक इच्छाओ का एक बडे अग मे निराकरण हो जाता है। और इसलिये क्रमश सयम धारण के प्रकरण मे इस कारण से भी पहले अनावश्यक विषयो के त्याग का उपदेश दिया गया है। मुझे पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा का अभिप्राय लेकर चलना है। अत इस शान्ति मे जो भी बात अधिक बाधा पहुँचाती प्रतीत होती हो उसे पहले ही मार्ग से हटा देना आवश्यक है।

३ स्पर्शनेन्द्रिय सयम

उदाहरण रूप मे स्पर्शन इन्द्रिय को लीजिये। इसके दो विषय है। एक गर्मी का भान करते हुवे सुखी दु खी होना, और दूसरा कोमल, कठोर, चिकनी व रूखी वस्तुओ को स्पर्श करके सुखी दु.खी होना। इस इन्द्रिय सम्बन्धी इन दो विषयो मे से पहला विषय इस अल्प गृहस्थ भूमिका के लिये आवश्यक है, क्योकि गर्मी के दिनो में गर्मी और सर्दी के दिनो मे सर्दी को सहन करने मे मै असमर्थ हूँ। उस उस समय यदि उनसे शीतादि उपचारो व पवनादि के द्वारा तथा वस्त्रादि के द्वारा इस इन्द्रिय की रक्षा न करू तो सहन शक्ति की हीनता के कारण व्याकुल हो जाता हूँ। इसलिये यद्यपि पूर्ण आदर्श की दृष्टि मे वह भी त्याज्य है, फिर भी इस भूमिका मे इसका त्याग भले न करू, भले वस्त्रादि पहनू, शीतादि उपचार करू, पवन को प्रयोग मे लाऊ। परन्तु भो चेतन! सुन्दर कीमती, सिल्की व ऊनी वस्त्र, जरी के वस्त्र, जेवर तथा अन्य भी इसी प्रकार की कोमल व शरीर को सजाने के अभिप्राय से ग्रहण की गई वस्तुये, और शरीर को मल मल कर धोने के लिये साबुन, व इसे चिकना बनाने के लिये तेल का मर्दन, तथा इसी प्रकार के अन्य भी प्रयोग यदि त्याग दिये जायें, तो विचार तो सही कि तेरी गृहस्थी मे इससे क्या बाधा पडेगी? या तुझको किस पीडा का वेदन होगा, जिसको कि तू न सह सकेगा? कुछ भी तो नही। ये विषय तो सर्वत अनावश्यक ही है। इनके त्याग से बाधा होनी तो दूर रही, वहुत सी बाधाओ का प्रतीकार हो जायेगा।

किस प्रकार सो ही बताता हूँ। आज से ३० वर्ष पूर्व का अपने पूर्वजो का जीवन हमे याद है, जिनके पास होते थे गर्मी सर्दी से बचने के लिये २-४ गिनती के वस्त्र। न ट्रङ्क थे न सन्दूक। एक जोड़ा धोया और एक पहन लिया। तीसरे का काम नही। या कही विशेष अवसरो पर जाने आने के लिये किसी ने रखा तो एक जोडा, और बस इतना ही पर्याप्त था। न कोई साबुन जानता था न शरीर पर मलने के लिये तेल। जेवर थे पर ठोस। जब चाहो बेच लो और पूरे दाम वना लो। नुकसान का कुछ काम नही। फलितार्थ जीवन हल्का तथा सन्तोषी था। आवश्यकताये व चिन्ताये कम, धनोपार्जन के प्रति की लालायितता कम, निज हित अर्थात् धर्म साधन के लिये या मित्रो मे वैठ कर कुछ हस वोल कर मनोरजन करने के लिये काफी समय।

और आज का जीवन भी हमारे सामने है, जब घर मे ट्रक सन्दूको का ढेर, एक के ऊपर एक लदे हुवे, उनमे से प्रत्येक ठसा ठस सूती व ऊनी व रेशमी तथा जरी के कीमती वस्त्रो से भरा हुआ। उस पर भी विशेष अवसरो पर कही जाते समय जब ट्रङ्क खोल कर देखा जाता है, तो कई दर्जन

कमीजो का ढेर बाहर निकाल लेने पर भी सन्तोष नही। क्योकि कोई योग्य कमीज ही नही है। कोई योग्य कोट ही नहो है। एक भी दृष्टि मे नही जमता। दर्जनो होते हुवे भी एक नही है। शरीर को मल मल कर नहलाने के लिने अनेक भाति के साबुन। इनको चिकना चुपडा बनाने के लिये अनेक जाति के पाऊडर, क्रीम, फिक्सर, सुर्खी, तेल और न मालूम क्या क्या? एक भरी हुई पूरी आलमारी का सामान, परन्तु फिर भी अभी कमी है-अमुक वस्तु की। बाजार मे तो उपलब्ध है न नित नयी ढङ्ग की नाना प्रकार की वस्तुये? जेवर है परन्तु कागज, जिनमे स्वर्ण का मूल्यात्मक अश का नाम नही। काच ही काच। और कहा जाता है स्वर्ण का जेवर। बेचने जाओ तो सम्भवत मूल्य का आठवा भाग भी न मिल सके। फलितार्थ, जीवन स्वय एक भार, जिसमे है एक व्याकुलता व कलकलाहट भुंझलाहट व कलह, असीम आवश्यकताये, असीम तृष्णाये। 'यह भी चाहिये' 'यह भी चाहिये' 'और ला-और ला' की पुकार से व्यग्रचित, चिन्ताओ की दाह, धनोपार्जन मे लालायितता। निज हित अर्थात् धर्म साधन के लिये या मित्रो मे मनोरजन करने के लिये एक सैकिण्ड का भी अवकाश नही, घर मे बीवी बच्चो से हसने के लिये, बोलने का अवकाश नही, माता पिता को सात्वना देने का अवकाश नही, खाना खाने का अवकाश नही, भागते दौडते कुछ खाया कुछ नही, यहा तक कि सोने को भी अवकाश नही, कभी ४ घण्टे सोये कभी २ घण्टे सोये, सोये सोये न सोये न सोये। प्रतिदिन यात्रा, कभी मोटर मे कभी रेल में। कहां तक बताया जाये? सब ही जानते है। क्या यही है जीवन का सार? क्या इसलिये ही बन कर आये है मनुष्य? इससे अच्छा तो तिर्यञ्च ही रहते तो अच्छा था, जिसे कुछ जुगाली करने को तो अवसर मिल जाता है।

आश्चर्य है कि इतना कुछ होने पर भी अपने को सुखी मानू, और विषयो के और और अधिक ग्रहण मे ग्रस्त होने का प्रयत्न करू। सम्भल चेतन सम्भल! सौभाग्य वश तुझे वह प्रकाश मिल रहा है जिसमे यदि आँख खोल कर देखे तो इस विषैले विषय रूपी सर्पो से जिनको अन्धकार मे तू चिकने चिकने सुन्दर हार समझता रहा, अवश्य सावधान हो जाये। और अपने जीवन मे इन अनावश्यक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी विषयो से अवश्य अपनी रक्षा करे। वास्तव मे स्पर्शन इन्द्रिय की रक्षा के लिये इतनी आवश्यकता नही है, जितनी कि उस अन्तरग मिठास के उस विशेष भाव के पोषने के लिये है। आज वस्त्रादि शरीर ढापने के लिये नही है, बल्कि है शरीर को सजाने के लिये। तथा इसी प्रकार अन्य यथा योग्य वस्तुये भी।

क्या कहा? साबुन तो आवश्यक वस्तु है? नही! यदि ऐसा होता तो उन पूर्वजो के जीवन मे तुझे अवश्य दिखाई देता। अपने स्वार्थ वश प्रचार करने वाली साबुन व टायलैट कम्पनियो के बहकावे मे मत आ। जल से स्नान कर रगड कर शरीर को किसी सूखे वस्त्र से पोछ लेना ही इसे साफ रखने को पर्याप्त है। इसमे प्राकृतिक चिकनाई है। तेल द्वारा कृत्रिम चिकनाई की इस पर आवश्यकता नही। और सर्दी मे कदाचित् कुछ रूक्षता दिखाई भी दे तो दीखने दे, तेरा क्या मांगती है? हां यदि कुछ असह्य खुजली आदि प्रतीत होती हो, तो अवश्य तेल का प्रयोग कुछ लाभदायक सिद्ध हो सकेगा और उस समय वह अनावश्यक न रह कर आवश्यक विषय की कोटि मे आ जायेगा।

४ अन्तरंग व बाह्य सयम — अन्तरग अभिप्राय को टालने को कहा है न? बाहर मे त्यागने से क्या लाभ? अरे प्रभु! दया कर अपने ऊपर। तू स्वय यह प्रश्न करके सन्तोष नही पा रहा है। फिर भी,

आश्चर्य है कि प्रश्न कर रहा है। क्या वाहर का गहरण विना अन्तरग के अभिप्राय के सम्भव है ? क्या विना अन्तरग भुकाव के ही इतना व्यग्रचित्त बना हुआ अपनी शान्ति का बलिदान कर रहा है ? नही, नही, ऐसा न कह। वाह्य का गहरण अतरग अभिप्राय का लक्षरण है। यह हो सकना सम्भव है कि वाहर का त्याग हो जाये पर अतरग का अभिप्राय न छूटे, पर ऐसा होना असम्भव है कि अन्तरग अभिप्राय छूट जाने पर वाहर न छूटे। अत अन्तरग त्याग पर मुख्यता से जोर दिया जा रहा है। इसका अभिप्राय वाहर का गहरण नही है।

हर क्रिया के मुख्य दो अङ्ग है। एक अतरग व दूसरा वाह्य जैसा कि पहले देव व गुरु उपासना मे बताया जा चुका है। दोनो अग अविनाभावी रूप से साथ साथ चलते है। यहा भी अतरग की क्रिया है, उन उन वस्तुओ के प्रति भुकाव का त्याग और तत्फल स्वरूप वाह्य क्रिया है उन उन अनावश्यक वस्तुओ का त्याग। यद्यपि आवश्यक वस्तुओ के भाग मे से भी मिठास लेने के अर्थ रूप अतरग रूप भाव का त्याग हो जाता है,परन्तु शक्ति के अभाव के कारण शरीर की रक्षार्थ वाह्य विषय का त्याग नही होता। यह वात कुछ अटपटी सी लग रही होगी, पर वास्तव मे ऐसी नही है। शान्ति के उपासक को वीतरागता के प्रति गमन करने मे उत्साह वर्तता है। उसे स्वभावत ही उन उन विषयो मे से मिठास आना वन्द हो जाता है। वह अव उसे कुछ जञ्जाल सी भासने लग जाती है। ऐसा स्वभाव है।

दिनाक २७ सितम्बर १६५६

प्रवचन न० ४३

शान्ति की खोज मे सलग्न पथिक को शान्ति मे वाधक विकल्पो मे निषेधार्थ जीवन को यथा शक्ति सयमित बनाने की प्रेरणा की जा रही है। सयम के प्रथम अङ्ग इन्द्रिय सयम के अन्तर्गत स्पर्शन इन्द्रिय सम्वन्धी सयम की वात हो चुकी। अब चलती है जिह्वादि शेष इन्द्रियो को सयमित करने की वात।

५ जिव्हा इन्द्रिय सयम

स्पर्शन इन्द्रिय वत् जिह्वा इन्द्रिय के विषयो को भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक आवश्यक भाग और दूसरा अनावश्यक भाग। आवश्यक व अनावश्यक की व्याख्या स्पर्शन इन्द्रिय सम्वन्धी प्रकरण में की जा चुकी है। आवश्यक भाग मे आता है क्षुधा शमनार्थ किये गए भोजन को चवा कर अन्दर ढकेलना, तथा घर के व्यक्तियो से या व्यापारादि उद्योगो मे ग्राहको से तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियो से योग्य सभाषण करना, अथवा अपने सम्पर्क मे आने वाले अन्य साधारण व असाधारण व्यक्तियो से योग्य सभाषण करना। और अनावश्यक भाग मे आता है उस किये गये भोजन के स्वाद मे या अन्य स्वादिष्ट मिष्टान्न या चाट आदिक पदार्थो मे आसक्ति का होना, और निष्कारण द्वेष या प्रमाद वश किसी की निन्दा या चुगली करना, गाली या व्यग के वचन कहना, अपनी प्रशसा करना इत्यादि।

स्पर्शनेन्द्रिय वत् यहा भी यद्यपि आवश्यक सभापण व भोजन ग्रहण की क्रियाओ का वर्तमान मे त्याग करना शक्ति के बाहर की बात होने के कारण भले उसका त्याग न हो सके, परन्तु उपरोक्त अनावश्यक भाग का त्याग करने मे तो गृहस्थ जीवन की दैनिक चर्या मे कोई बाधा नही आती। फिर भी इसके त्याग के प्रति क्यो उत्साह नही करता ? तनिक विचार करके देखे तो पता चले बिना न रहेगा, कि इस प्रकार की आसक्तता के कारण तुझे समय समय प्रति कितनी जाति के सकल्प विकल्प उत्पन्न हो होकर व्याकुल बना रहे है ? अनुकूल स्वाद न मिलने पर क्रोध के कारण तू किस प्रकार स्वय अपने स्वरूप को साक्षात् जलता हुआ अनुभव करता है ? एक ही वस्तु मे अनेक स्वाद उत्पन्न करने के लिए तुझे कितना कुछ करना पडता है ? तथा इसके कारण तेरे दैनिक बजट पर कितना भार पडा हुआ है ? जिसकी पूर्ति कि तू अपना सारा समय धनोपार्जन के अर्थ लगा देने पर भी कर नही पाता। क्या कभी विचारा है, कि आज के तेरे लिये स्वय तेरे जीवन को भार बना देने वाली, यह स्वाद की आसक्तता पूर्ण भावना, तेरी शान्ति को कितनी बाधा पहुँचा रही है ? इसके त्याग से तेरे शरीर को या गृहस्थी को बाधा पहुँचाने का तो कोई प्रश्न ही नही तुझे बडा लाभ होगा- यह बात विचारणीय है। आर्थिक दृष्टि से व स्वास्थ्य की दृष्टि से। आर्थिक दृष्टि से इसके त्याग के कारण अवश्यमेव ही तेरे दैनिक खर्चे मे बहुत बडी कमी आ जायेगी। सम्भवत क्षुधा निवृत्ति के लिये होने वाला तेरा खर्च स्वादार्थ होने वाले खर्च का तीसरा भाग भी न हो। जिसके फल स्वरूप उसकी पूर्ति की जो चिन्ता आज तुझे लगी रहती है उससे तुझे मुक्ति मिलेगी, और धनोपार्जन से कुछ समय का अवकाश पाकर तू शान्ति की उपासना कर सकेगा। स्वास्थ की दृष्टि से भी इस स्वाद की भावना से दबाया गया तू अनेको बार जानते बूझते भी किन्ही ऐसे पदार्थो का सेवन कर जाता है, जिनके कारण पीछे से अनेको रोग या कष्ट उत्पन्न हो जाते है। उनसे रक्षा करने के लिए भी इस पर काबू पाना श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त निन्दनीय सम्भाषण व पर निन्दा मे तेरा कितना समय व्यर्थ चला जा रहा है, क्या कभी विचार किया है इस पर ? इस क्रिया से तुझको कौन सा लौकिक व अलौकिक लाभ है ? अलौकिक रीति से भी हानि, इसलिये कि इसके कारण ही अनेक व्यक्ति तेरे शत्रु बन बैठते है। और तुझे बाधा पहुँचाने मे कदाचित् सफल भी हो जाते है। तथा अलौकिक हानि इसलिये कि इसके कारण प्रोत्साहित तेरा अन्तर द्वेष, स्वय तेरे अन्दर दाह उत्पन्न कर के तेरी शान्ति को जला डालता है। अत इस वर्तमान गृहस्थ दशा मे रहते हुवे भी यदि स्वाद के प्रति अपनी आसक्तता का त्याग करने के लिए बाजार की मिठाई चाट आदिक का त्याग करके या घर पर भी स्वादिष्ट वस्तुयें बनवाने का यथा सम्भव त्याग करके, अथवा किसी के साथ भी अयोग्य, अश्लील व निन्दनीय सम्भाषण का त्याग करके, तू एक देश रूप से जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी सयम धारण कर सकता है। यहा भी स्पर्शन इन्द्रिय सयम वत् अन्तरङ्ग अभिप्राय की प्रधानता जानना। इससे अवश्य ही तुझको शान्ति की आशिक प्राप्ति होती प्रतीत होगी।

६ नासिका इन्द्रिय सयम

और अब लीजिये तीसरी नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी सयम की बात। इसके विषय को भी आवश्यक व अनावश्यक अङ्गो मे विभाजित करने पर, श्वास लेने की प्रवृति रूप एक आवश्यक अङ्ग तथा सुगन्धि दुर्गन्धि के प्रति राग व घृणा भाव रूप अनावश्यक अग, ये दो बाते विचारणीय हो जाती है। श्वास लेना भले त्यागा न जा सके, परन्तु दूसरा विषय त्याग देने पर शरीर

को या गृहस्थी को कोई क्षति नही होती। वास्तव मे देखा जाये तो दुर्गन्धि व सुगन्धि नाम की दो सत्ताये ही कही नही है प्रत्येक भौतिक पदार्थ मे कोई न कोई गन्ध तो अवश्य ही है, पर वह सुगन्धि है या दुर्गन्धि इस बात का निर्णय कौन करे ? जो तुझे अच्छी लगे सो सुगन्धि, जो न रुचे सो दुर्गन्धि, इसी प्रकार अपनी रुचि के अनुसार किसी भी गन्ध मे 'सु', व 'दु', उपसर्ग लगा देना क्या.' न्याय सगत है ? पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने का तुझको यह अधिकार है ही कहा ? अत वास्तव मे तो तुझे किसी भी गन्ध के आने पर 'सु', व 'दु' का अथवा अच्छी व बुरी का भाव ला कर, राग द्वेष जनक व्याकुलता उत्पन्न करके, अपनी शाति को घातना नही चाहिये। दोनो मे ही साम्यता रहनी चाहिये। जैसे कि पहले देव व गुरु के आदर्श जीवन मे देख आया हू। परन्तु फिर भी अपनी शक्ति का सतुलन करने पर, मुझे ऐसा लगता है कि प्रयत्न करने पर भी सम्भवत दुर्गन्धि आने पर मेरा नाक सुकडे बिना न रह सकेगा। क्योकि उसके प्रति घृणा के कुछ दृढ सस्कार ही ऐसे पडे हुए है। खैर यदि ऐसा है तो भले दुर्गन्धि के प्रति की ग्लानि वर्तमान मे न छूटे, परन्तु सुगन्धि के प्रति का झुकाव छोडने मे तो तेरे गृहस्थ जीवन मे या दैनिक चर्या मे कोई बाधा नही पड सकती। बल्कि इसके त्याग से तो तुझको लौकिक व अलौकिक दोनो प्रकार का लाभ ही होगा। आर्थिक दृष्टि से तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से।

आर्थिक दृष्टि से देखने पर तो इस विषय पर काबू पा लेने के पश्चात्, पाऊडर, क्रीम, वैसलीन, सैन्ट आदि अनेको ऐसे बेकार पदार्थो की कोई आवश्यकता न रह जायेगी, जिनमे कि तेरी आय का एक बडा भाग व्यय हो जाता है। और इस प्रकार तेरे व्यय मे न्यूनता हो जाने के पश्चात् स्वभावत ही धनोपार्जन सम्बन्धी तेरा भार कुछ कम हो जायेगा। और तत्सम्बन्धी चिन्ताओ से निवृति के कारण कुछ समय बचा सकेगा। इस प्रकार शान्ति की उपासना के मार्ग. पर सुलभता से अग्रसर होने का अवसर प्राप्त कर सकेगा। तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से देखने पर उन उपरोक्त पदार्थो के कारण उत्पन्न होने वाले बालो का सफेद हो जाना, व नजला तथा अन्य भी कई इसी प्रकार के रोगो से मुक्त हो सकेगा। अत पूर्णतया न सही परन्तु सुगन्धि के प्रति का राग भाव छोड़ कर इस विषय का भी एक देश त्यागी तू अवश्य बन सकता है।

७ चक्षु इन्द्रिय सयम

अब देखिये नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी विषय को। जिसका काम है देखना। राग भाव से व द्वेष भाव से, जैसे कुटुम्बी जनो को व किसी शत्रु को। निर्विकार भाव से व विकृत भाव से, जैसे अपनी माता को व किसी अन्य सुन्दर स्त्री को। करुणा भाव से व क्रूर भाव से, जैसे अपने रोगीले पुत्र को व सर्पादिक को। प्रेम से व भय से, जैसे स्व स्त्री को व सिंह को। बहुमान से व मनोरजन से, जैसे देव गुरु को व धार्मिक उत्सवो को, तथा सिनेमा आदिक को। तथा अन्य भी अनेको विरोधी अभिप्रायो से देखना इन सर्व अभिप्रायो मे राग से, निर्विकार भाव से, करुणा से व प्रेम से व बहुमान इत्यादिक भावो से देखे बिना वर्तमान अवस्था मे चलता प्रतीत नही होता। न सही। परन्तु द्वेष भाव से, विकृत भाव से, क्रूर भाव से, भय से तथा मनोरजन आदि के भावो से देखने का त्याग तो सहल ही कर सकता है, और इन दृष्टियो के त्याग से, तेरी दैनिक चर्या मे बाधा आने की बजाये लौकिक व अलौकिक दोनो रीति से कुछ सुन्दरता ही आयेगी। लोक मे होने वाले अयश से बचेगा। यह है लौकिक सुन्दरता। सिनेमा आदि मनोरजन मात्र के साधनो से मिलती है नि शुल्क शिक्षा सर्व खोटी बानो की व्यसनो की। देश मे प्रचलित डाके मारने के नये नये ढग, जेब कतरी, व्यभिचार सेवन, मद्य व मास सेवन, नये नये शृङ्गार व फैशन, इन सब के प्रचार केन्द्र वास्तव मे यह सिनेमा आदि ही तो है। अत.

इनको देखने का त्याग करने से अनेको व्यसनो से अपनी रक्षा, व इन भावो से उत्पन्न होने वाले अन्तर दाह मे निज शान्ति की रक्षा-है अलौकिक सुन्दरता। इसके अतिरिक्त विकारी भाव से उत्पन्न होने वाली कपाय से प्रेरित अन्य जो वेश्यागमनादि महान अपराध, उनसे भी तो बचा रहेगा। तथा इस प्रकार इन अपराधो के कारण होने वाले व्यर्थ के धन व्यय की चिन्ता से मुक्ति, अर्थात् धनोपार्जन सम्बन्धी भारसे छुटकारा। और अन्य भी अनेक लाभ। अत यदि पूर्ण नही तो आंशिक रूपसे अवश्य आज भी इस नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी उपरोक्त अनावश्यक अग को छोड कर सयमी बन सकता है।

८ कर्णेन्द्रिय सयम अब लीजिये पाँचवी कर्ण इन्द्रिय की बात। गृहस्थ व व्यापार सम्बन्ध मे, व निज धार्मिक क्षेत्र मे, कुटुम्ब वालो की, ग्राहको की, अथवा गुरु जनो या उपदेशको की बाते सुनना या धार्मिक भजन सुनना तो आवश्यक अग होने के कारण छोडा नही जा सकता। परन्तु सिनेमा के अश्लील गाने सुनने का त्याग करने से तुझे क्या बाधा पडेगी ? इसमे तो निहित है तेरा लाभ। सिनेमा पर होने वाले तथा रेडियो, ग्रामोफोन आदि पर होने वाले, व्यर्थ के व्यय से बचेगा, और इस प्रकार धनोपार्जन सम्बन्धी भार हल्का पडेगा। जो समय इन कार्यो मे व्यर्थ जाता है वह समय बच जायेगा-तेरे पास, जिसे तू उपयोग मे ला सकेगा निज हितार्थ।

इसके अतिरिक्त कर्ण इन्द्रिय का एक और भी विषय है। बडा भयानक परन्तु वह ऊपर से देखने मे सुन्दर। जिस सुन्दरता से आकर्पित होकर, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, धार्मिक क्षेत्र मे आगे बढे हुये व्यक्ति विशेष भी धोखा खाये बिना नही रहते, और ऐसी पटखनी खाते है कि चारो खाने चित्त नीचे आते है, और उस खाई मे जा पड़ते है जहा से वह कब निकल सकेगे, यह कौन जाने ? वह विषय है निज प्रशसा के शब्द सुन कर उसके प्रति का मिठास व झुकाव। शान्ति के उपासक को इस दुष्ट विषय से पद पद पर सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। इस विषय की विकराल दाढ का चबीना बने हुवे व्रत सयमादि जार जार रोते देखे जाते है। अभी से ही, इस अल्प अवस्था से ही, इसके प्रति सावधान रहने का अभ्यास करना होगा। नही तो आगे जाकर अवश्यमेव इस विषय से परास्त होना पडेगा। शान्ति पथ की यह सबसे बडी बाधा है।

९ मनो-निग्रह सयम पाचो इन्द्रिय की बात हो चुकी, परन्तु इन पाचो के अधिपति मन की बात शेष रह गई। वह मन जिससे कि इन पाचो को प्रेरणा मिल रही है, जिसके बल पर पाचो का बल है, जिनके जीवित रहने पर पाचो जीवित है, तथा जिसकी मृत्यु से पाचो की मृत्यु है। इस मन का कोई एक निश्चित विषय नही है। पाचो ही इन्द्रियो के विषय इसके विषय है। जिस प्रकार पहले देव पूजा व गुरु उपासना व स्वाध्याय के प्रकरण मे बताया जा चुका है तथा स्पर्शनेन्द्रिय दमन सम्बन्धी विषय के साथ भी बताया जा चुका है, प्रत्येक क्रिया के दो अग है। जो सदा साथ साथ रहते है। एक अन्तरग और दूसरा बाह्य अग। यहाँ भी अर्थात् इन्द्रिय सयम के प्रकरण मे भी वही बात है। प्रत्येक इन्द्रिय का बाह्य विषय तो है उन उन पदार्थो का ग्रहण, और अन्तरग विषय है, उनके ग्रहण होने पर अतरग मे उत्पन्न होने वाली मिठास, रुचि व झुकाव, जो कि मुझे आगे आगे पुन. पुन अधिक अधिक उन उन विषयो के ग्रहण की प्रेरणा देता है। तथा अत्यत आसक्त व गृद्ध बना कर मुझे उनके उपभोग मे ऐसा फसा देता है कि उनसे छूटने का भाव भी मेरे अन्दर उत्पन्न न होने पावे, हिताहित का विवेक भी जाता

रहे। इन सर्व इन्द्रियो के विषय मिल कर एक मन इन्द्रिय का विषय बन जाता है। अत इस मन को काबू करने के लिये, पांचो इन्द्रिय सम्बधी अनावश्यक व आवश्यक दोनो ही बिषयो के प्रति का झुकाव अतरङ्ग मे न होने देने के लिये सावधानी वर्तनी आवश्यक है। इस प्रयास से भी गृहस्थ सम्बंधी किसी चर्या मे वाधा आना सम्भव नही। इसके अतिरिक्त भी आगे आगे के प्रकरणो मे आने वाली सर्व ही अंतरङ्ग क्रियाये मन का विषय है। उन सर्व ही अतरङ्ग क्रियाओ का यथा योग्य त्याग विवेक पूर्वक सावधानी के साथ निर्बाध रीति से जीवन मे उतारने का नाम ही मनो इद्रिय सयम है। इसको वश मे करने पर यह सब इद्रिये सहल ही वश मे आ जायेगी। इस प्रथम भूमिका मे इस ही को मुख्यत वश मे करने की बात चलती है।

२६

—: प्राण संयम :—

दिनांक २८ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४४

१—दश प्राण, २—जीवों के भेद प्रभेद, ३—स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि, ४—पाच पाप निर्देश, ५—हिंसा, ६—असत्य, ७—चोरी, ८—अब्रह्म, ९—परिग्रह, १०—प्राण पीडन के १२९६० अङ्ग, ११—हिंसा का व्यापक अर्थ, १२—सकल व देश प्राण संयम, १३—कर्तव्य अकर्तव्य निर्देश, १४—वर्तमान जीवन का चित्रण, १५—विवेक हीनता, १६—उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार, १७—अहिंसा कायरता नहीं, १८—अहिंसा में लौकिक वीरत्व, १९—विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय २०—अहिंसा में अलौकिक वीरत्व, २१—विरोधी हिंसा का पात्र, २२—क्रूर जन्तु शत्रु नहीं, २३—सयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं, २४—सर्व सत्व एकत्व, तथा सर्वसत्व मैत्री व प्रेमी।

१ दश प्राण

शान्ति प्राप्ति के उपाय के रूप संवर के अर्थ, अर्थात् विकल्पो के प्रशमनार्थ सवर के चौथे अग सयम का कथन चलता है। इसके भी दो अग वताये थे। एक इन्द्रिय सयम और दूसरा प्राण सयम। इन्द्रिय सयम की वात हो चुकी है। अब प्राण सयम की वात चलती है। प्राण सयम अर्थात् अपने जीवन की हर प्रवृति मे सावधानी रखना, कि उसके द्वारा किसी के प्राण न पीडे जाये, वाधित न हों। यहा प्राण शब्द का अर्थ भी समझ लेना योग्य है। प्राण दश भेदो मे विभाजित किया जा सकता है। प्राणी की छूकर जानने की शक्ति अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, चख कर जानने की शक्ति अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय, सू घ कर जानने की शक्ति अर्थात् नासिका इन्द्रिय, देख कर जानने की शक्ति अर्थात् नेत्र इन्द्रिय, या चक्षु इन्द्रिय, तथा सुन कर जानने की शक्ति अर्थात् कर्णेन्द्रिय। विचारने की शक्ति अर्थात् मनो वल, वोलने की शक्ति अर्थात् वचन वल, व शरीर को हिलाने डुलाने की शक्ति अर्थात् काय वल, इस शरीर के एक निश्चित समय तक रहने की शक्ति अर्थात् आयु, तथा श्वास लेने की शक्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास। इस प्रकार कुल पाच इन्द्रिय, तीन वल, आयु व श्वासोच्छ्वास, यह दश शक्तिये जीव के प्राण कहलाते है। मेरी किसी भी प्रवृति से किसी भी प्राणी के इन दश प्राणो मे से कोई एक भी प्राण विनाश को प्राप्त न हो, अथवा तनिक भी वाधित न हो, ऐसी सावधानी का नाम है प्राण सयम।

२ जीवों के भेद प्रभेद

प्राण सयम पालन करने के लिये मुझे इन प्राणो के धारी प्राणियो अर्थात् जीवो के भेद प्रभेद जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि विना उनकी जाति के जाने मै किन के प्रति सावधानी वर्तू गा? वर्तमान मे यद्यपि मैं लोक मे पाये जाने वाले प्राणियो की मनुष्य, गाय, कबूतर,

मछली आदि अनेक जातियो से परिचित हू, फिर भी सर्व जातियो को मै जानता हूँ, ऐसा नही है। प्राणियो को जानने की मेरी दृष्टि बहुत स्थूल है। उसमे सूक्ष्म प्राण धारी आते नही। उनकी पहिचान करने के लिये मुझे यह जानना चाहिये कि उपरोक्त दश के दश प्राणो का धारण करने वाला ही जीव हो ऐसा नियम नही। इनमे से कुछ प्राणो को धारण करने वाले तथा अन्य प्राणो को धारण न करने वाले जीव भी लोक मे है। कुछ केवल ४ ही प्राणो को धारण करते है, कुछ ६ को, कुछ ७ को, कुछ ८ को, कुछ ९ को और कुछ दशो को। और इस प्रकार प्राण धारण की अपेक्षा जीवो के ६ भेद हो जाते है।

वे जीव जिनमे केवल छू कर जानने की ही शक्ति है, मात्र स्पर्शन इन्द्रिय को धारण करने वाले एकेन्द्रिय जीव है। उनको ४ प्राण है। एक स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल, आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जीव जिनमे छू कर जानने के साथ साथ चख कर जानने की शक्ति भी है, वे ६ प्राण के धारी दो इन्द्रिय जीव है। उनके है दो इन्द्रिय, स्पर्शन व जिह्वा, दो बल काय व वचन। क्योकि जिह्वा का विषय चखना व बोलना दोनो हैं। आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जिनमे उपरोक्त दो शक्यिो के अतिरिक्त एक तीसरी सूघ कर जानने की शक्ति भी है। वे है सात प्राणो के धारी तीन इन्द्रिय जीव। इनकी उपरोक्त ६ इन्द्रियो मे नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी सातवा प्राण और बढ गया है। इसी प्रकार नेत्र सहित चार इन्द्रिय वाले जोवो मे आठ प्राण, और कर्ण सहित पाच इन्द्रिय वाले जीवो मे नौ प्राण होते है। क्योकि उनमे उपरोक्त सात के अतिरिक्त भी एक नेत्र इन्द्रिय और दूसरी कर्ण इन्द्रिय प्रगट हो गई है। इन पाच इन्द्रिय के धारी जीवो के आगे भी कुछ ऐसे जीव है जिनको एक शक्ति विचारने की प्रगट हो गई है। अर्थात् उपरोक्त नौ प्राणो मे मनो बल रूप प्राण की जिनमे और वृद्धि हो गई है। वे है दश प्राण के धारी जीव।

इन सर्व भेदो को दृष्टान्तो द्वारा समझाते है। प्राण के धारी एक इन्दिय जीवो मे है पृथ्वी, पत्थर, कोयला, लोहा, सोना, ताँबा तथा अन्य खनिज पदार्थ, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, अर्थात् घास, फूस, फूल, पत्ता, वृक्ष, कोपल व फल सब्जी आदि। ६ प्राणो के धारी दो इन्द्रिय जीवो के दृष्टान्त है रीग कर चलने वाले कुछ कीडे गेडवे आदि। ७ प्राण के धारी तीन इन्द्रिय जीवो के दृष्टान्त है छोटे छोटे अनेको पावो पर चलने वाले चीटे, कान सलाई, कान खजूरे आदि। ८ प्राणो के धारी चार इन्द्रिय जीवो के दृष्टान्त है उडने वाले छोटे जन्तु, मच्छर, मक्खी, भवरा, भिर्ड, ततैया आदि। ९ प्राणो के धारी पाँच इन्द्रिय जीवो के दृष्टान्त है कुछ विशेष जाति के सर्प, मछली आदि व कुछ विशेष जाति के पशु, पक्षी आदि जो कुछ कम देखने मे आते है, क्योकि जितने भी देखने मे आते हैं उनके अधिक मनो बल के धारी १० प्राणो वाले जीव हैं। और दश प्राणो के धारी मन वाले पञ्चेन्द्रिय अर्थात् सज्ञी जीवो मे है मनुष्य, गाय, बकरी, तोता, कबूतर, सर्प, नेवला, मगर मच्छ, मेडक आदि। इनमे भी ऊपर ४ प्राण के धारी जीवो मे बताई जाने वाली वनस्पति दो प्रकार की हैं। एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। स्थूल वनस्पति तो वही हरित काय है जो नित्य प्रयोग मे आ रही है तथा जिसके दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके है। पर सूक्ष्म वनस्पति वह है जो इस वायु मण्डल के कण कण पर अनन्तो की सख्या मे बैठी हुई है। उसे निगोद जीव कहते है। इनकी आयु बहुत अल्प होती है इसी लिये एक सांस लेने मे जितनी देर लगती है उतनी देर मे यह १८ बार जन्म मरण धारण करते है। इस जन्म मरण की तीव्रता के कारण

ही वेदो मे इनको "जायस्व म्रियस्व" का नाम दिया गया है। जो अन्वर्थक है। यह सूक्ष्म जीव तो किसी प्रकार भी, यहा तक कि किसी माइक्रोस्कोप के द्वारा भी, हमको दिखाई देने असम्भव है ही, परन्तु अन्य जीवो मे भी कुछ, विशेषतया १, २, ३ व ४ इन्द्रिय जीव बड़ी व छोटी दोनो प्रकार की अवगाहना मे पाये जाते है। वडी अवगाहना अर्थात् बडे शरीर के धारी ये जीव तो साधारणतया हमारी नेत्र इन्द्रिय के विषय बन सकते है, परन्तु अत्यन्त छोटी अवगाहना के धारी ये जीव माइक्रोस्कोप के बिना नही देखे जा सकते। साधारणतया आख से दीखने वाले जीवो मे भी कुछ इतने छोटे होते है कि वडे ध्यान से देखने से ही दीख पाते है। सुई की नोक या बाल के अग्र भाग से भी बारीक ऐसे जीव कभी कभी शरीर पर काटते हुवे अवश्य प्रतीत होते है।

आज का मानव जीवो के इन सर्व भेद प्रभेदो मे से एक मनुष्य को ही जीव मानता है अन्य को नही। आज बकरी आदि तक को भी वह अपनी भोग की वस्तु समझता है। उनके भी प्राण है, उनको भी पीडा होती होगी, इस बात का उसे भान नही है। इससे आगे भी यदि वढा तो मनुष्य व गाय दो को ही जीव मानने लगा, अन्य को नही। यदि बकरी आदि को जीव स्वीकार भी किया तो गाय की अपेक्षा उसमे प्राणो की कुछ कमी देखते हुए। और यही कारण है कि आज जहा मानव रक्षा के लिये प्रत्येक देश मे शक्ति शाली राज्य स्थापित हैं वहां अन्य जीवो की रक्षा के लिये कोई समाज नही है। अधिक से अधिक कही दिखाई भी दी तो गऊ रक्षक समाज पर आकर बस हो गई। इससे भी आगे कोई वढा तो पशु, पक्षी को जीव की कोटि से गिन लिया। इन बेचारे मक्खी, मच्छर, चीटी, भिर्ड, सर्प, बिच्छु, मेडक, मछली आदि की बात पूछने वाला यहां कोई नही है। फिर भी यदि समझाने बुझाने पर कोई और कुछ आगे वढे भी, तो प्रत्यक्ष मे चलते फिरते दीखने वाले इन स्थूल दो इन्द्रिय तक के जीवो को भले जीव स्वीकार कर ले परन्तु माइक्रोस्कोप से दीखने वाले छोटे शरीर के धारी उस ही जाति के जीवों को, तथा पांच भेद रूप पृथ्वी से वनस्पति पर्यन्त तक के एकेन्द्रिय जीवो को जीव कौन स्वीकार करता है ? इनको जीव कहना उनको दृष्टि मे मानो कुछ कपोल कल्पना सी लगती है। परन्तु ऐसा नही है। अपनी स्थूल दृष्टि के कारण ही वह ऐसा कहता है। भाई ! तू आया है शान्ति की खोज मे। तू उन जीवो की अपेक्षा भिन्न रुचि लेकर आया है। अत प्रत्यक्ष ज्ञानियो द्वारा जानी गई इस सम्पूर्ण जीव राशि को स्वीकार कर। क्योकि ऐसा स्वीकार किए विना, तू अपने जीवन को सयमित न बना सकेगा। यदि केवल स्थूल चलते फिरते जीवो के सम्बन्ध मे सयमित बनाया भी, तो आगे जाकर पूर्ण सयमित न हो सकेगा। इन सूक्ष्म व एकेन्द्रिय प्राणियो को बाधा न पहुँचाने का विवेक तुझ में जागृत न हो सकेगा। अविवेक के रहते शान्ति की पूर्णता कैसे कर सकेगा ?

३ स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति, इन पांचों को स्थूल दृष्टि से देखने पर चैतन्य तत्व ग्रहण यद्यपि नही होता, जड़ वत् से भासते है। परन्तु इन पाचो मे से वनस्पति शरीर धारी प्राणियो के सम्बन्ध में कुछ सूक्ष्म विचार करने से उनके प्राणधारी होने का विश्वास इस अल्प परोक्ष ज्ञान से भी हो सकना सम्भव है। तथा आज के विज्ञान ने भी उनमे प्राणों को स्वीकार किया है। तू भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा वनस्पति मे प्राणो के चिन्ह देख सकता है। देख योग्याहार जल आदि के न मिलने पर वह भी बेचारे कुम्हला जाते हैं। पीड़ा को न सह सकने के कारण वेहोश हो जाते है, और आहार मिल जाने पर पुन सचेत हो जाते हैं, और प्रसन्न होकर नाच उठते है। कुछ विशेष जाति की

यद्यपि अन्य चार मे इस प्रकार स्पष्ट रीति से प्राणो की सिद्धि नही होती, जैसी कि वनस्पति मे, परन्तु फिर भी खानो में पडे सर्व ही खनिज पदार्थो के शरीरो की वृद्धि का होना, वहा इनके अन्दर जीवन को या प्राणो को दर्शा रहा है तथा खान मे से निकल जाने पर वृद्धि का रुक जाना, उनकी मृत्यु को या प्राणो के निकल जाने को दर्शा रहा है। क्योकि खान मे पडे पत्थर की भाति यह अब बढता दिखाई नही देता। बाढ के समय जल का, व तूफान के समय वायु का और पवन से ताड़ित होकर अग्नि का प्रत्यक्ष दीखने वाला प्रकोप जिसके सामने मनुष्य की शक्ति हार मानती है, उन पदार्थो मे जीवन का द्योतक है, प्राणो को सिद्ध करता है। और प्रत्यक्ष ज्ञानियो ने तो प्रत्यक्ष हो उनमे प्राणो को देखा है। इन सबको सुख दुख का वेदन करते हुये जाना है। जैसे कि कुछ व्यक्ति वर्तमान मे भी वृक्षो के हाव भाव व हिलने जुलने से उनकी अन्तरग पीडा या हर्ष के भावो को पहिचानने मे समर्थ है। अत विश्वास कर कि इन पाचो ही जाति के एकेन्द्रिय जीवो मे प्राण है। उन्हे भी सुख दुख का वेदन होता है। उनमे भी कुछ इच्छाये या आकाक्षाये छिपी है। माइक्रोस्कोप से दीखने वाले दो इन्द्रिय आदि जीव प्रत्यक्ष ही चलते फिरते दिखाई देते है, और एकेन्द्रित जीव बेक्टीरिया आदि बढते हुये दिखाई देते है। विशेष प्रक्रियाओ के प्रयोग के आधीन प्रयोगशालाओ मे ४ या ५ दिनो मे ही उनका वृद्धि गत रूप कदाचित कुछ झाडियो के रूप मे ऊपर भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है। तथा सौभाग्यवश आज के विज्ञान ने भी उनको प्राण धारी स्वीकार किया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण जीव राशि को प्राणो की अपेक्षा विभाजित करने पर, मै उन्हे, ४, ६, ७, ८, ९, १० प्रकार मे कह सकता हूँ। इन्द्रियो की अपेक्षा भी विभाजन करने पर, एकेन्द्रिय, दोयन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पाच इन्द्रिय असज्ञि या मन रहित, और पाच इन्द्रिय सज्ञी या मन सहित, इस भाति ६ प्रकार के कह सकता हूँ। एक स्थान पर स्थित रहने के कारण तथा भय खाकर भी अपनी रक्षा करने के लिये इधर उधर भागने का प्रयत्न न करने के कारण पाँचो प्रकार के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति जीवो को स्थावर तथा अपनी रक्षार्थ इधर उधर भागते देखे जाने वाले दो इन्द्रिय से सज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो को त्रस। इस प्रकार स्थावर व जगम केवल इन दो कोटियो मे

भी इन सर्व का समावेश कर सकता हूँ । तथा पाच भिन्न भिन्न जाति के शरीरो मे पाये जाने वाले मास अस्थि रहित शरीर वाले स्थावर, और रक्त मास अस्थि आदि से निर्मित एक जाति के ही छोटे वडे शरीरो मे पाये जाने वाले त्रस, इस प्रकार शरीरो की जातियो की अपेक्षा सर्व जीव राशि को ६ प्रकार की कह सकता हूँ । पृथ्वी आदि पाच काय धारी व त्रसकायधारी ।

दिनाङ्क २६ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४५

शान्ति के अर्थ जीवन मे प्राण सयम धारने के लिये जीवो के भेद प्रभेदो का कुछ अनुमान कल करा दिया गया । उन सब के प्राणो की रक्षा करने का अपनी ओर से पद पद पर विवेक रखना प्राण सयम कहलाता है । अब मुझे यह देखना है कि इन सबको मेरी किस किस प्रकार की प्रवृति से पीडा पहुँचती है । ताकि उन उन प्रवृतियो का जीवन मे से शोध कर सकू ।

४ पाच पाप निर्देश

अपनी सर्व प्रवृतियो को प्राण पीडा की अपेक्षा मै पाच कोटियो मे विभाजित कर सकता हूँ । हिंसा के द्वारा, असत्य के द्वारा, चोरी करने के द्वारा, व्यभिचार सेवन के द्वारा, और सचय या Hoarding के द्वारा । इसी का नाम परिग्रह भी है । इन्हे आगम मे पांच पाप कह कर भी बताया गया है । प्राणियो को पीडा के कारण होने से यह पाचो जाति की मेरी प्रवृति पाप रूप है ही, इसमे क्या सशय है ? अब पृथक पृथक इन पाचो पापो का विश्लेषण करता हूँ । तनिक ध्यान देना, क्योकि इस विश्लेषण पर से यह बात ध्यान मे आये विना न रहेगी कि अपनी जिन प्रवृतियों को मै न्याय सगत माना करता हू वे भी अन्याय रूप है, पाप रूप हैं। मुझे सर्व प्रवृतियो से बचना है। अपने जीवन को सकोच कर केवल निज शान्ति मे केन्द्रित करना है। भोग विलास का यह मार्ग नही है ।

५ हिंसा

स्थूल पशु पक्षी व मनुष्यो को तो बाध कर, पिजरे मे बन्द करके, या कैदखाने मे डाल कर, अथवा उनका सर्वत वध करके, अथवा किसी एक इन्दिय या शरीर के अगोपाग को काट कर, छेद कर या भेद कर, अधिक भार लाद कर या उनकी शक्ति से अधिक या अधिक समय काम लेकर, अथवा क्रोध वश, द्वेष वश या प्रमाद वश उनको आहार पानी न देकर या कम देकर या समय पर न देकर, अथवा हिंसक पशु पाल कर, मैं पीडा पहुँचाया करता हूँ। तथा छोटे शरीर धारी, चीटी, पतग आदि जीवो को विवेक हीनता वश या प्रमाद वश या अज्ञान वश मेरे द्वारा पीडा हो रही है । गमनागमन मे सावधानी न रखने के कारण, पृथ्वी पर बराबर देखते हुवे जीवो को बचा बचा कर पग न रखने के कारण, वस्तुओ को उठाते व धरते समय यह न देखने के कारण, कि जहा रख रहा हूँ, या जहा से पकड कर उठा रहा हू, वहा कोई छोटा सा जीव भी बैठा हो सकता है, देख भाल कर भोजन न करने के कारण, अथवा रात्रि को अन्धकार मे चन्द्रमा व बिजली के प्रकाश मे भोजन करने के कारण, जिसमे कि रात्रि को सचार करने वाले छोटे जीव जन्तु या तो दिखाई ही न दे और प्रकाश मे दिखाई भी दे तो भोजन मे पड कर मेरा ग्रास वन जाने से रोका न जा सके । इनके अतिरिक्त भी छोटे व वडे दोनो शरीर के धारी, मनुष्यो से वनस्पति पर्यन्त तक के जीवो को यथा योग्य रूप मे, मन के द्वारा खोटे विकल्प उत्पन्न करके, अथवा वचनो द्वारा, कटु व व्यगादि रूप वचन बोल कर कष्ट पहुँचाता हू । प्राणो से मार कर ही नही वल्कि दशो प्राणो अर्थात् स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियो को, मन को, वचन को व शरीर को काटने छाटने से, या उनके विषयो की प्राप्ति मे बाधा डालने से, किसी को स्वासोच्छ्वास रोक कर या अन्य प्रकार बाधित करके भी, इन्हे मै कष्ट

पहुँचाता हूँ। इन सब प्रकार की तथा अन्य भी अनेको प्रवृतियो के द्वारा जो मै स्थावर जगम प्राणियो को शारीरिक पीडा पहुँचाया करता हू, उसे हिसा रूप प्रवृति कहते है।

६ असत्य क्रोध वश कहे जाने वाले कटु व तीखे या गाली के शब्द, द्वेष वश कहे जाने वाले व्यगात्मक शब्द, लोभ वश कहे जाने वाले छल कपट भरे शब्द, हसी ठट्ठे वश कहे जाने वाले कुछ अनिष्टकारी शब्द, मान वश किसी पद के योग्य नही है, ऐसे शब्द। इस प्रकार के शब्द बोल कर मै किसी के अन्तष्करण मे दाह उपजाता हूँ। स्पष्ट अनिष्टकारी, सफेद भूठ बोल कर, चुगली के या निन्दा के, अनिष्टकारी या खुशामद के शब्द बोल कर, भूठे कागज व दस्तावेज आदि बना कर, किसी की धरोहर मेरे पास रखी हो और उसका स्वामी उसे भूल गया हो या पूरी याद न रख पाया हो और लेने आवे तो कमती मागता हो, या उस समय उसे पूरी याद दिलाने मे चुप खेच कर, किसी का रहस्य स्वय उसके द्वारा बताया हुआ अथवा अपने आप ही किन्ही अन्य साधनो से या उसकी मुखाकृति आदि भावो पर से जाना हुआ किसी पर प्रगट करके, इसी प्रकार के अन्य वचन सम्बन्धित अनेको विकल्पो से मै किसी के अन्तर प्राणो को अर्थात् मानसिक प्राणो को पीडा पहुँचाता हूँ। इस प्रवृति का नाम असत्य प्रवृति है। यहा असत्य का अर्थ केवल भूठ बोलना नही, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन वास्तव मे असत्य है। सत्य भी वचन यदि अहितकारी है या कटु है वह यहा असत्य को कोटि मे समभा जाता है।

७ चोरी विभिन्न जाति के प्राणियो ने अपनी आवश्यकतानुसार पदार्थों का जो सचय किया हुआ है, वह वह पदार्थ उन उन प्राणियो का धन है। इस धन को भी जीव के बाह्य प्राण कहा जाता है क्योकि इसमे तनिक सी बाधा आना भी यह प्राणी सहन नही कर सकता और कदाचित कदाचित तो इस धन के लिये अपने उपरोक्त दश प्राणो का भी यह कोई मूल्य न गिनते हुवे स्वय आत्म-हत्या तक कर लेता है। यहा धन शब्द का अर्थ रुपया पैसा मात्र तक नही, बल्कि जैसा कि ऊपर बताया गया है प्राणियो का निज निज योग्य पदार्थ सचय है। इस धन का अपहरण करके, अथवा कुछ देर के लिये छोडे गये शून्य किसो आवास आदि मे ठहर कर, अथवा सबका स्वामित्व जहा हो ऐसी धर्मशाला आदि स्थानो मे आवश्यकता से अधिक स्थान रोक कर, या अपने रोके हुवे स्थान मे दूसरे को आने की आज्ञा न देकर, अथवा बिना किसी के दिये या देने की अन्तरङ्ग से भावना किये किसी अपने अपरिचित मित्र की कोई भी वस्तु को यह कहते हुवे लेकर, "कि यह तो मुझे अच्छी लगती है, मै ले लू।" क्योकि शर्म लिहाज के मारे वह यदि वाहर से इन्कार नही कर सकता तो इसका यह अर्थ नही कि वह इस वस्तु का विरह स्वीकार करता है, अथवा बिना दाता के भोजन ग्रहण करके, या अयोग्य आहार ग्रहण करके, अथवा साधर्मी जनो से वादविवाद के द्वारा उनकी शान्ति का अपहरण करके, मै जीवो के मानसिक प्राणो का अपहरण करता हूँ। स्थूल व प्रसिद्ध चोरो करके, चोरी का माल लेकर चोरी करने सम्वन्धित उपाय अन्य को वता कर, चोरी करने के उपयुक्त हथियार बना कर या दूसरे किसी को देकर, चोर को आश्रय देकर, राज्य नियम के विरुद्ध काम करके, या टैक्स या रेल आदि का किराया, वचा कर, कमती बढ़ती बाट, गज आदि तोलने व मापने के यन्त्र रख कर, किसी चालाकी से कम तोल कर या माप कर, अधिक मूल्य की वस्तु मे कम मूल्य की वस्तु मिला कर, आज्ञा से अधिक सवारी मोटर मे वैठा कर, चोर बाजार मे माल वेच कर, इत्यादि अनेक ढङ्गो से भी मै प्राणियो को पीड़ा दे रहा हू। मेरी इस जाति की प्रवृति का नाम चोरी है।

८ अब्रह्म　　साक्षात् स्त्री सभोग के अतिरिक्त, स्त्री पुरुष सयोग सम्बन्धि बाते सुनने व कहने मे आसक्त होकर, या तिर्यञ्चो का सभोग देख कर, या शरीर के विशेष मनोहर अगोपाग की ओर दृष्टिपात करके, पूर्व मे की गई मैथुन क्रियाओं को स्मरण करके, गरिष्ट व तामसिक भोजन करके, शरीर का ऐसा श्रृङ्गार करके जिसमे कि दूसरे का चित्त आकर्षित हो जाये, मैं सदा व्यभिचार सेवन करता हूँ। तथा दूसरो के पुत्र पुत्रियो के सम्बन्ध मिलवा कर, विवाहित या अविवाहित व्यभिचारी या सुशील स्त्रियों के घर पर जाकर, या एकान्त मे उनसे वचनालाप करके, या अपने शरीर के अग विशेषो का पुन. पुन. स्पर्श करके, अथवा अन्तरङ्ग मे काम वासना उत्पन्न करके, तथा अन्य भी अनेको ढगो से मैं व्यभिचार सेवन किया करता हूँ। मेरी इस प्रवृति का नाम अब्रह्म, कुशील सेवन या व्यभिचार है। इस प्रवृति के द्वारा असख्यात छोटे छोटे कीटाणुओ को पीडा पहुंचाने के अतिरिक्त मैं उन उन स्त्रियो व उनके स्वामियो या माता पिताओ के हृदय को भी अतीव वेदना पहुँचाता हूँ।

९ परिग्रह　　आवश्यकता से अधिक धन धान्य, कपड़ा व जेवर, वर्तन व खेत तथा जायदाद, पशु, दास, दासी, आदि रख कर, अथवा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करके, या अच्छे न लगने वाले पदार्थो से द्वेष करते हुवे उन्हे दूर करने की इच्छा करके, भी मै अनेको प्राणियो को पीडा पहुँचा रहा हूँ। मेरी इस प्रवृति का नाम है परिग्रह भाव। इसका सविस्तार विवेचन आगे के किसी प्रकरण मे आयेगा। (देखो प्रवचन नं० ५०-५१, दिनाक ४-५ अक्तूबर १९५९)

१० प्राण पीडन के १२९६० भंग　　इस प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, व परिग्रह इन पाच प्रकार की मेरी प्रवृतियों से नित्य ही इस विश्व के प्राणी किसी न किसी रूप मे बाधित व पीडित हो रहे है। और मुझे यह खबर भी लगने नही पाती कि मै कुछ अनर्थ किये जा रहा हूँ-अपने लिये व दूसरो के लिये। इतना ही नही यह पाचो ही पाप मै मन के द्वारा अर्थात् केवल उन प्रवृतियो सम्बन्धी विकल्प मन मे उठा कर, वचन के द्वारा अर्थात् इन प्रवृतियों के अनुरूप वचन बोल कर, और काय के द्वारा अर्थात् अपने शरीर से साक्षात् इन क्रियाओ मे प्रवृत होकर, कर रहा हूँ। और आश्चर्य है कि मै फिर भी बेखबर हूँ। इतना ही नही मन वचन काय के द्वारा इन क्रियाओ को मै स्वय करता हूँ, कभी दूसरो से कह कर या शरीर द्वारा इशारा करके कराता हूं या दूसरो को करता देख कर मन ही मन या वचनों के द्वारा भी या शरीर के हाव भाव के द्वारा भी प्रसन्न होकर अनुमोदन करता हूँ। और फिर भी मुझे यह पता नही कि मैं क्या कर रहा हूँ। मन वचन काय इन तीनों के द्वारा करने से, इन तीनो के द्वारा कराने से, तथा इन तीनो के द्वारा अनुमोदन करने से, मेरी प्रवृति के नौ भंग बन जाते है। इन नौ भगो के आश्रय से मै उन पांच प्रकार की प्रवृतियो सम्बन्धी कुछ प्रयत्न करता हूँ। इन्ही नौ के आश्रय से उस प्रयत्न की सिद्धि मे सहायक सामग्री विशेष को जुटाता हूं, तथा उन्ही नौ विकल्पों से उन प्रवृतियो मे जुट जाता हूँ। इस प्रकार नौ के २७ भग बन जाते हैं। इन २७ भंगो के आश्रय पर मै क्रोधावेग के कारण उन पाच पापों मे प्रवृति करता हूँ। मान कषाय के आवेग के कारण प्रवृति करता हूँ, माया कषाय से दबा हुआ प्रवृति करता हूँ? लोभ कषाय के आधीन होकर प्रवृति करता हूं। इस प्रकार मेरी अनर्थ सब पांचो प्रवृतियो मे से प्रत्येक के १०८ भग हो जाते है। अर्थात् पांचो पापो के कुल ५४० भग हो जाते हैं। यह सर्व ५४० भग कभी मनोरञ्जन के अर्थ संकल्प पूर्वक विना किसी गृहस्थ सम्बन्धी विशेष प्रयोजन के करता हूँ, कभी घर बार सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओ की पूर्ति के अर्थ अर्थात् खाने बनाने या घर की सफाई के अर्थ करता हूँ, कभी कारोबार या उद्योग धन्धो के अर्थ करता हूँ, और कभी अपनी

तथा अपने कुटुम्ब की या अपनी सम्पत्ति की वा अपने देश की रक्षार्थ किसी शत्रु आदि के विरोध के कारण करता हूँ। अत इन ५४० प्रवृतियो के ही सकल्पी, उद्योगी, आरम्भी व विरोधी यह चार चार भेद हो जाने से, मेरी अनिष्ट व प्राण पीडा कारक प्रवृतियों के २१६० भग हो जाते है। यह २१६० भग प्राणो के ६ भेदो के आधार पर पृथक पृथक लागू करने से १२९६० भग बन जाते है।

११ हिंसा का व्यापक अर्थ — वास्तव मे हिंसा या अहिंसा के दो शब्द जो आज प्राय सुनने मे आ रहे है, व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किये जाने योग्य है। किसी प्राणी को जान से मार देना तो हिंसा और उसे जान से न मार देना मात्र अहिसा ऐसा नही है। इसका बड़ा व्यापक अर्थ है। इसलिये उपरोक्त सर्व १२९६० प्राण पीडा के भग तथा अन्य भी सम्भव अनेको विकल्प, जिनके द्वारा किसी भी प्राणी को शारीरिक, वाचसिक व मानसिक पीडा व बाधा हो, हिंसा मे समावेश पा जाते है। सूक्ष्म रूप से देखने पर जो कार्य अहिंसात्मक दिखाई देते है उनमे भी किसी न किसी रूप मे हिसा पडी है। दृष्टान्त के रूप मे मै प्रयत्न पूर्वक चला जाता हूँ और कुछ पक्षी वहा बैठे हो जिनको मेरे निकट आ जाने से कुछ भय प्रतीत हो 'और वहा से उड जाये तो उस मार्ग पर उन कबूतरो के निकट मेरा जाना हिंसा होगा। चीटी प्राणो की रक्षार्थ उसे मार्ग मे से हटा कर एक ओर सरका देना भी हिसा है। क्योकि ऐसा करने से सम्भवत उसके उस आन्तरिक अभिप्राय को धक्का पहुँचा है, जिसको लिये हुए वह अमुक दिशा मे जा रही थी। इत्यादि अनेको प्रकार से हिंसा का व्यापक अर्थ है। कहाँ तक कहा जाये, और याद भी कैसे रहेगे-इतने विकल्प ? अत एक छोटी सी पहिचान बताता हूँ-यह जानने की कि कौन क्रिया हिंसात्मक है और कौन अहिंसात्मक है। अपनी प्रत्येक क्रिया को इस कसौटी पर कस कर देखने के द्वारा बड़ी सरलता से हिंसा व अहिसा की परीक्षा हो जायेगी। जो कुछ भी दूसरे किसी की अपने प्रति होने वाली क्रिया आपको अरुचिकर हो, बस वह क्रिया हिंसात्मक है, और जो रुचिकर हो सो अहिंसात्मक। अर्थात् मै कोई भी ऐसी क्रिया किसी छोटे या बडे जीव के प्रति न करू जो स्वय मुझे अपने प्रति पीड़ा प्रदायक हो।

१२ सकल व देश प्राण संयम — ऐसी सर्व हिंसात्मक प्रवृतियो का अपने जीवन से पूर्णतया निरोध करने का नाम पूर्ण प्राण सयम या सकल प्राण सयम है। वह मुनियो व साधुओ को होता है। आंशिक रूप से यथा शक्ति निरोध का नाम एक देश प्राण सयम है। भले ही पूर्णतया मै इन सब प्रवृतियो से मुक्त होने की वर्तमान मे क्षमता न देखता हूँ, परन्तु शक्ति अनुसार इन सर्व १२९६० विकल्पो मे से कुछ भगो का पूर्ण त्याग और कुछ का एक देश या अल्प त्याग करने को इस अवस्था मे भी अवश्य समर्थ हूँ।

दिनाक ३० सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४६

१३ कर्तव्य अकर्तव्य निर्देश — शान्ति के बाधक विकल्पों से बचने के लिये सवर प्रकरण मे सवर के अन्तर्गत प्राण संयम की बात चलती है। अर्थात् दूसरे प्राणियो के प्रति मेरा क्या कर्तव्य है और मै किस रूप मे कर्तव्य विहीन बना हुआ इस लोक मे विचरण कर रहा हूँ। दूसरो की शान्ति की अवहेलना

करता हुआ स्वय अशान्त बना हुआ हूँ। मेरी किसी भी प्रवृति के द्वारा किसी भी वडे या छोटे प्राणी को वाधा नही पहुँचनी चाहिये। ऐसी सावधानी वर्तना मेरा कर्तव्य है, इसी का नाम प्राण सयम है। परन्तु कुछ आलस वश, कुछ प्रमाद वश, कुछ मनोरञ्जन वश, और कुछ परिस्थिति वश मैने इस कर्तव्य की परवाह न की। सदा निरर्गल प्रवृति से चलते मुझको केवल एक वात को ही चिन्ता रही, कि जिस किस प्रकार भी पञ्चेन्द्रिय विषय की पूर्ति द्वारा मेरा भोग विलास अक्षुण्ण बना रहे, चाहे अन्य जीव मेरे पडोसी मरे या जीयें, रोये या हसे।

१४ वर्तमान जीवन का चित्रण सम्भल भगवत् सम्भल ! तेरे जीवन का कुछ लक्ष्य है। उसे समझ। चिन्ताओ का भार लिये प्रात ही बिस्तर से उठना, दो चार लोटे पानी के जल्दी से शरीर पर डाल, उल्टे सीधे कपडे पहन मोटरकार पर सवार हो किसी एक दिशा को चल देना-घर मे बीवी वच्चो तथा माता पिता को एक निराशा की उलझन मे छोड़ कर। कुछ घण्टो मे जल्दी जल्दी कभी इधर दौड और कभी उधर, आगे आगे दौड और पीछे पीछे छोड करता लगभग ३० मील का चक्कर लगा लिया। दस दफतरो मे स्वय जाकर हो आये, ३० से टेलीफोन पर बात करली, और दोपहर को खाना खाने के समय लौट आये घर पर कुटुम्बियो के चेहरे पर सतोष की धीमी सी रेखा खेचते। खाना खाने बैठे दो, चार टुकडे खाये, टेलीफोन की घण्टी बजी और खाना बीच मे ही छोड भागे। पुन वही मोटरकार वही सडक वही दफतर। और घरमे बीवी बच्चे व माता पिता पुन उदास। बिना खाये ही चले जो गये आप। दिन भर की दौड धूप से थके मादे लौटे घर पर, रात्रि को ६ बजे विलकुल सोने के समय। न बीवी से बात न बच्चे से हसी, न माता पिता को सात्वना के दो शब्द, सो गये। सो क्या गये रात विता दी चिन्ताओ मे, कि कल को यह करना और वह करना है। प्रात हो गई। पुन वही चक्र।

सोच तो सही कि क्या यही है मानव जीवन का सार ? क्या यही है तेरा भोग और विलास ? जो पुरुषार्थ तू सुख के लिये कर रहा है उससे उल्टा दु खी हो रहा है। अधिकाधिक जाल मे फसता जा रहा है। अन्य जीवो के सम्बन्ध मे अपना कर्तव्य विचारने की तो बात ही नही, तुझे तो अपने कुटुम्ब के प्रति भी अपना कर्तव्य सम्भवत याद नही रहा। चिन्ता सागर मे डूबा तू चला जा रहा है-किस ओर तुझे स्वय खबर नही। सम्भल ! सम्भल ! तुझे गुरु देव प्रकाश दे रहे है। आख खोल कर देख। कर्तव्य हीन बन कर तो देख लिया। निकली चिन्ताये व व्यग्रताये। अब कुछ समय को कर्तव्य परायण भी बन कर देख। यदि अच्छा लगे तो बने रहना, नही तो छोड देना। जबरी नही है। करुणा पूर्ण प्रेरणा है।

१५ विवेक हीनता हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार व परिग्रह के १२९६० कुल भगो के द्वारा जीवो के प्राणो को रोदता मै चला जा रहा हूं-किस ओर मुझे स्वय खबर नही। अव्वल तो उनकी पीडा मेरे उपयोग मे ही नही आती, और आवे भी तो इतना कह कर सन्तोष कर लेता हूँ, कि क्यो आये ये प्राणी मेरे मार्ग मे ? या यह कह कर सन्तोष कर लेता हू, कि मैं तो गृहस्थी हूं, इस सबके विना मेरा काम न चलेगा। या यह कह कर अपनी निरर्गलता को पोषण कर लेता हूं कि यदि सर्व ही जगत सयमी बन जाये तो जगत का व्यवहार कैसे चले ? जगत का व्यवहार चलाना भी तो किसी का कर्तव्य है ही। बस वह कर्तव्य पूरा कर रहा हूं। या यह कह कर अपना स्वार्थ पुष्ट कर लेता हूँ। कि यह सर्व सृष्टि मेरे भोग के लिये

ही तो बनी है, इत्यादि । अनेको घातक अभिप्राय, जिनके द्वारा साक्षात् मेरा अहित हो रहा है। मै अशान्ति के सागर मे डूबा जा रहा हू। परन्तु बेखबर हू।

भगवन्! छोड दे निर्विवेक विकल्पो को, एक क्षण के लिये। मेरे लिये नही, शान्ति की प्राप्ति के लिये। अन्य जीवो मे और तुझ मे बडा अन्तर है। अन्य क्षुद्र जीवो मे तो ज्ञान नही। इसी बेचारे लिये आ जातेहै मार्ग मे। भूख जो सताती है उन्हे। आहार की खोजमे निकल आते है, इस ओर बेचारे, अन्धे की भाति। यदि बैठे रहते अपने निश्चित स्थान पर तो, तू ही बता, कौन देता खाना उन्हे? जिस प्रकार तुझे खाने की चिन्ता है इसी प्रकार उन्हे भी तो अपने उदर पोषण की चिन्ता है। वह भी तो तुझ वत् प्राणी ही है। पर तुझे तो ज्ञान मिला है। बुद्धि मिली है। साधन मिले है। अन्धा मार्ग पर चला आता है और तुम भी उसी मार्ग पर चले जाते हो, तो बताओ तो सही कि बचना किस का कर्तव्य है? अन्धे का या तुम्हारा? उस बेचारे के नेत्र नही, बचेगे कैसे? बचना तो तेरा ही कर्तव्य है। आख वाला, ज्ञान वाला जो ठहरा तू। तुझे ज्ञान, बुद्धि व साधन इसीलिये तो मिले है, कि तू अपनी रक्षा कर और दूसरो की भी। इन ज्ञानादि का मिलना तभी तो सार्थक है, जब कि इनका उपयुक्त प्रयोग हो। अन्यथा तुझे कौन कहेगा ज्ञानी। तथा इस ज्ञान से तेरा हित भी क्या होगा?

कितना अच्छा हो? कि तेरा सकल जगत के सयमी बनने का विकल्प पूरा हो जाये। यद्यपि यह बात असम्भव है, क्योकि वर्तमान मे जीवन के लिये अत्यन्त उत्तम समझा जाने वाला ऐन्जीनियरिंग लाइन का ग्रहण सर्व सम्मत के लिये आकर्षित होते हुये भी क्या यह सम्भव है कि सर्व ही एन्जीनियर बन जाये? परन्तु यदि झूठी कल्पना इस प्रकार की बना कर यह फर्ज भी कर लिया जावे, कि सर्व जगत सयमी बन गया, तो इससे अच्छी बात ही क्या है? जगत व्यवहार चलता रहे, इस बात की आवश्यकता ही क्या है? तथा तुझको इस जगत व्यवहार को चलाने का ठेकेदार किसने बनाया? सर्व जगत सयमी हो जाये तो न हो इच्छाये, न हो चिन्ताये, न हो दौड़ धूप, न हो द्वेष, न हो घृणा, न हो युद्ध, न हो एटम बम। हो केवल इस शान्ति का प्रसार इस धरातल पर। मानो यही मोक्ष स्थान है। वैकुण्ठ है। इससे उत्तम बात क्या हो सकती है? क्या उपरोक्त इन चिन्ताओ आदि का अभाव भी नही भाता तुझे? तेरे इस झूठे विलास ने तेरी इस बुद्धि को भी ढक दिया है। विचार तो सही? तू स्वय निश्चित होना चाहता है और जगत का निश्चित होना तुझे भाता नही, तो कैसे पायेगा निश्चिन्तता-तू स्वय?

१६ उद्योगी व आरम्भी हिंसा मे यत्नाचार

ठीक है तू गृहस्थी है, पूर्णतया इन सर्व १२६६० विकल्पो का त्याग करके तुझे वर्तमान मे न चल सकेगा, क्योकि इतनी शक्ति ही नही है-तुझ मे। परन्तु सुन कर ही घबरा जाना पुरुषार्थी का काम नही। यह कायरता है। तू वीर गुरुओ की सन्तान है, जिन्होने उस शत्रु को परास्त किया है जिससे बडे बडे चक्रवर्ती सम्राट भी हार मान गये, जिन्होने अनन्त विकल्पों का नाश किया और अत्यन्त निर्मल शान्ति मे स्थिरता धर गये। तुझे शक्ति से अधिक करने के लिये नही कहा जा रहा है। जितना कहेगे उतनी शक्ति अब भी तेरे अन्दर अवश्य है। प्राणो के

बाधा कारक उपरोक्त १२९६० विकल्पो को पूर्णतया भले त्याग न सके, परन्तु इनमें से कुछ विकल्पों को त्यागने मे तू अब भी समर्थ है।

जैसे कि, आरम्भी, उद्योगी व विरोधी सम्बन्ध मे लागू होने वाले जो सम्भव विकल्प है उनको अवश्य तू वर्तमान परिस्थितिमे निज शरीर व कुटुम्ब और सम्पत्ति आदि के मोहवश तथा शक्ति की हीनता वश नही त्याग सकता। परन्तु क्या निष्प्रयोजन व केवल मनोरञ्जन के अर्थ होने वाली अपनी प्रवृति के यथा योग्य भगो को भी नही त्याग सकता? अर्थात् शिकार खेलने के, या हिंसक जन्तु कुत्ते आदि के पालने आदि के त्याग के द्वारा कुछ परोक्ष (Indirect) रूप मे तू अनेको मूक पशु, पक्षियों के प्राणों को पीडा पहुँचाने से अपने को क्या नही रोक सकता? क्या ऐसा करने से तेरे शरीर को या गृहस्थी को कोई भी बाधा होनी सम्भव है?

तू शान्ति का खोजी बन कर निकला है। दूसरों के सुख व शान्ति की चिताओ पर अपनी शान्ति का प्रासाद बनाने का प्रयत्न न कर। क्योकि कितने दिन टिका रहेगा वह प्रासाद? इस प्रासाद मे तू निर्भय न रह सकेगा। अत संकल्प द्वारा बिना प्रयोजन के तुझे ३२४० के ३२४० पूर्वोक्त विकल्पो द्वारा प्राण पीड़न का त्याग कर ही देना चाहिये। तथा शेष रही उद्योगी व आरम्भी व विरोधी हिंसाओ मे भी तुझे निरगलता का त्याग करके उस दिशा मे भी अपने को सयमी बनाना चाहिये। उद्योगादिक की उन उन क्रियाओ मे होने वाली हिंसा से गृहस्थ मे रहते हुवे तू सर्वत: नही बच सकता, परन्तु उन उन क्रियाओ मे यत्नाचार व विवेक रख कर तू बहुत अधिक हिंसा से बच सकता है। जैसा कि अन्नादि शोधन करके उनमे से निकली जीव राशि को यदि मार्ग मे न डाल कर किसी कोने मे डाले तो वे उतनी जल्दी तथा रोंदे जाकर तो मरेंगे ही नही, परन्तु इसके अतिरिक्त भी सम्भवत उनमे से कुछ ऐसे हो, जो कही इधर उधर छिप कर अपनी पूरी आयु पर्यन्त जीवित रह सके। कोमल झाड़ू का प्रयोग करने से भी तू काफी हिंसा से बच सकता है। ऐसा करने से तूने उनकी शान्ति का सत्कार अवश्य किया ही किया, और इतने अश मे तू सयमी हुआ ही हुआ। जलादि वनस्पति पर्यन्त की तू पूर्ण रक्षा तो नही कर सकता, परन्तु केवल आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करने से क्या प्रमाद वश उनके होने वाले अनावश्यक व्यय से भी तू न बच सकेगा? जितने कम से कम पानी मे काम चले चला, नल को खाली खुला न छोड। रोज की आवश्यकता के अनुसार ही वनस्पति घर मे ला, फालतू नही। धड़ियो वनस्पति न सुखा। पखे को फालतू चलता हुआ न छोड। अग्नि को आवश्यकतानुसार ही जला फालतू नही। तो काफी अश में तू इन क्षुद्र व जंगम जीवो की हिंसा से बच सकता है। इसके अतिरिक्त चलते फिरते, बैठते उठते, वस्तुओ को उठाते धरते, मल मूत्रादि का त्याग करते, तथा अन्य भी दैनिक क्रियाओ को करते, यदि बराबर सावधानी रखे, कि तेरे पाओ के नीचे आकर या वस्तु के नीचे दब कर, या मल-मूत्रादि ऊपर पड़ जाने के कारण कोई क्षुद्र जन्तु बाधित तो नही हो रहा है, तो काफी अश मे तू इस उद्योगी व आरम्भी हिंसा मे भी बच सकता है, और ऐसा करने से तेरी गृहस्थी मे अथवा शारीरिक स्थिति मे भी कोई बाधा नही आती।

(अहिंसा)

दिनाक १ अक्तूबर १६५६

प्रवचन न० ४७

१७ अहिंसा कायरता नहीं

प्राण सयम की बात चलती है। उसके अन्तर्गत सकल्पी हिसा का पूर्ण त्याग और उद्योगी, आरम्भी हिसाओ मे भरसक यत्नाचार रखने के लिये कल बताया जा चुका है। अब चलती है विरोधी हिसा की बात। गृहस्थ मे रहते हुवे अपनी कुटुम्ब की व अपनी सम्पत्तिकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। ऐसा न करू तो मै कायर कहलाऊ गा, कर्तव्य विहीन कहलाऊ गा और ऐसा न करने से मेरा गृहस्थ जीवन अबाधित रूप से चल भी नही सकता। घर मे कोई चोर या डाकू मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने के लिये घुस आवे, तो मेरा कर्तव्य वहा से भाग जाना, या चुपके से जो मागे दे देना नही है। ऐसा करना कायरता है। मेरी इज्जत पर कोई आक्रमण करने आया हो अथवा मेरे आश्रित बीबी बच्चो आदि के सम्मान पर कोई हाथ डालने को सामने खडा हो तो, यह सोच कर छिप जाना, कि मुकाबला करू गा तो सम्भवत यह मारा जाये और हिंसा हो जाये, कायरता है।

इसके अतिरिक्त मेरे देश पर, उस पर जिस पर कि मै सुरक्षित रूप से निर्भय जीवन बिता रहा हूँ-स्वतन्त्रता के साथ, सम्मान के साथ , उस देश पर जिस पर कि मुझे हर सुविधा प्राप्त है, उस देश पर जिसमे रहने के कारण कि आज मै विश्व मे सभ्य मानव कहलाने का अधिकार रखता हू, उस देश पर जिसका सीना चीर कर उत्पन्न की गई सम्पत्ति का सुख पूर्वक मै उपभोग कर रहा हू, जिस पर रहते हुवे मै जो चाहे करू , जो चाहे बोलू , मुझे बाधा पहुचाने वाला कोई नही ; यदि कोई आक्रमण करने को उद्यत हुआ हो, अथवा किसी अन्य प्रकार से उसकी स्वतन्त्रता को पगु बनाने की घात लगा रहा हो, या उसकी सम्पत्ति को अनेक मायावी ढगो से लूट लेना चाहता हो, तो यह समझ कर, कि इस विरोधी का मुकाबला करने मे अनेको का लहू बह जायेगा, मै हिसक बन जाऊ गा, मु ह छिपा लेना कायरता है ।

१८ अहिसा में लौकिक वीरत्व

अहिसा या प्राण सयम कायरता का नाम नही। अहिसा वीरो का भूषण है। क्षत्रियो का धर्म है। अतुल बलधारी ही इसका पालन कर सकते है। अहिंसा के ठीक ठीक रूप से अपरिचित रहने के कारण ही आज का विश्व अहिंसा को कायरता का प्रतीक कह रहा है, इसको ही भारत देश के ह्रास का कारण कह रहा है। परन्तु क्या उसे अब भी यह विश्वास नही हुआ अहिंसा के पराक्रम का, जबकि एक इसी हथियार के द्वारा मुकाबला किया गया तोपो का, टैंको का, बमो का, तथा आधुनिक बडे बडे हथियारो का। और जीत हुई इसी के पक्ष की अर्थात भारत स्वतन्त्र हो गया, बिना रक्त की एक बूंद गिराये। सम्भवत विश्वास नही, फिर भी इसके महान पराक्रम पर।

तो देख और अनेक ढगो से अहिसा का पराक्रम। गृहस्थी पर या देश पर उपरोक्त अवसर आ पड़ने पर एक गृहस्थी अहिसक का कर्तव्य है, अपनी व अन्य की तथा देश की रक्षा

करने के लिये वाज़ी लगा दे अपनी जान की। भले शत्रु प्रबल हो पर भिड जावे उससे। अहिंसक को अपमान के जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय है। मृत्यु उसके लिये खेल है-बच्चो का। जैसे कि खिलौना लिया और टूट जाने पर दूसरा ले लिया। किस काम आयेगा फिर यह चमडे का शरीर, जो आज मेरे सम्मान की रक्षा मे भी इससे कोई सहायता न मिले। इतने दिनो से वरावर इसे पोषता चला आया हू, आज अवसर आया है इसकी परीक्षा का। मेरी सेवा का मूल्य चुकाने का। और यदि आज इसने कृतघ्नता दिखाने का प्रयत्न किया तो फिर यह मेरा कैसा ? मित्र से उसी समय तक प्रेम होता है जव तक कि उसकी कृतघ्नता प्रगट नही हो जाती। या तो आज इसे सहर्ष अपना कर्तव्य निभा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी होगी, या मेरे द्वारा इसे दण्ड भोगना होगा। दोनो दशाओं मे इसे क्षति ही उठानी होगी। दोनो दशाओ मे इसे मृत्यु का आलिगन करना होगा। परन्तु एक दशा मे होगी वीरो की मृत्यु और दुसरी दशा मे कुत्ते की मृत्यु। वता कौन सी मृत्यु स्वीकार है तुझे ? सोचने का अवकाश नही, शत्रु सामने खडा है।

यह होती हैं कुछ विचार धाराये, जो एक सच्चे अहिंसक के हृदय मे ऐसे अवसरो पर उत्पन्न हुआ करती है। क्योकि इस वात का दृढ विश्वास होता है उसे प्रत्यक्षवत्, कि वह अवाध्य व अघात्य, चिदानन्द भगवान आत्मा है। और शरीर उसका सेवक उसकी शान्ति की रक्षा करने के लिये। इसलिये वह विल्कुल निर्भय होता है। शरीर चला जायेगा तो और मिल जायेगा, पर सम्मान चला जायेगा, धर्म चला जायेगा, साहस चला जायेगा, तो फिर न मिलेगा। तो मेरे अन्तरग की सर्व सम्पत्ति ही लुट जायेगी। नही नही, यह सव कुछ उसे असह्य है। वह अपना सर्वस्व वलिदान कर सकता है एक शान्ति की रक्षा के लिये, सम्मान की रक्षा के लिये। कुत्तो वत् दूसरों के आश्रय पर जीना उसे स्वीकार नही।

और यही था भारत के वीरो का आदर्श, महाराणा प्रताप का आदर्श, शिवाजी का आदर्श, महारानी झासी का आदर्श। एक अहिंसक का हृदय जो अन्य अवसरो पर मोम होता है, ऐसे अवसरो पर पापाण से भी अधिक कठोर हो जाता है दूसरो के तनिक से कष्ट पर जो रो उठता है, ऐसे अवसरो पर सिह वृति धारण कर लेता है। जिस प्रकार कि भारत की वीर ललनाये। जो अहिंसक अन्य अवसरो पर चीटी पर भी दया करता है, ऐसे अवसरों पर अत्यन्त क्रूर हो जाता है।

१९ विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय

वात कुछ अटपटी सी लग रही होगी। अहिंसा और रक्त प्रवाह। दो विरोधी वाते कैसी ? जल व अग्नि का एक स्थान मे निवास कैसा ? सर्प व नेवले की मित्रता कैसी ? परन्तु ऐसी वात नही है। सुन भाई ! वताते हैं। तेरे अन्तर मे उत्पन्न होने वाले यह सर्व प्रश्न ठीक ही हैं। परन्तु यह तव ही तक तेरे हृदय मे स्थान पा रहे है, जव तक कि अहिंसा का यथार्थ रूप जान नही पाया। क्रियाओ मे अवश्य विरोध दीख रहा है पर अभिप्राय मे विरोध नही है। हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी। दोनो के द्वारा ही युद्ध मे मनुष्य सहार होता है। परन्तु फिर भी हिंसक क्रूर और अहिंसक दयावान ही बना रहता है। इसकी परीक्षा वाह्य की इस क्रिया पर से नही हो सकती। अन्दर का अभिप्राय पढना होगा। दोनो के अन्तर अभिप्राय मे महान अन्तर है।

हिंसक के अन्दर है आक्रमण और अहिंसक के अन्दर है केवल रक्षा। हिंसक के हृदय मे है द्वेष और अहिंसक के हृदय मे कर्तव्य। हिंसक को होता है इस नर सहार को देख कर हर्ष और

अहिंसक को होता है पश्चाताप। और इसलिये हिंसक न्याय अन्याय के विवेक से शून्य होकर प्रहार करता है, हथियार रहित पर भी, सोते हुवे पर भी, या स्त्री, बूढे व बच्चो पर भी या घायल व अपहाज पर भी। दूसरी ओर अहिंसक का हृदय ऐसे विचार मात्र से भी कापता है। किसी मूल्य पर भी यह विवेक बेचने को वह तैयार नही। उसे अपनी हार की चिन्ता नही, उसे अपनी मृत्यु की चिन्ता नही, चिन्ता है केवल न्याय व कर्तव्य की। और इस लिये कभी प्रहार नही करता, छिप कर, या हथियार रहित पर या सोते पर, या पीठ दिखा कर भागते पर या बच्चे व बूढे पर या घायल और अपहाज पर। हिंसक करता है अपनी ओर से पहल-दूसरे के घर पर जाकर, और अहिंसक करता है सामना अपने घर पर आये हुवे का। हिंसक घायल व अपहाज शत्रुओ पर करता है अट्टहास, और अहिंसक करता है उनसे मित्र वत् प्रेम। क्योकि उसने युद्ध किया था केवल इस अभिप्राय से कि उसके सम्मान की रक्षा हो जाये, द्वेष से नही। और प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर अर्थात् रक्षा हो जाने पर, वह शत्रु आता है उसकी दृष्टि मे एक सामान्य दुखी जीव वत्, जिसका हृदय दुखी है-अपनी हार पर। जो लज्जित सा कुछ दबा सा जा रहा है-स्वय।

और इसलिये पुन वही करुणा, पुन वही प्रेम जो इस अवसर से पहले उस जीव पर था-उसे। शान्त सम्भाषण के द्वारा प्रयत्न करता है-उसे सात्वना देने का। युद्ध के पश्चात् वह स्वय करता है घायलो की सेवा, और हिंसक मारता है उनको ठोकर। हिंसक के हृदय मे है वदले की भावना और अहिंसक के हृदय मे है क्षमा। यह है दोनों क्रियाओ मे अन्तर, जो अन्तरग अभिप्राय विशेष वश ही होना सम्भव है। और इस अभिप्राय मे अन्तर के कारण ही, एक है हिंसक और दूसरा है अहिंसक।

इस अभिप्राय पूर्वक बाहर मे विरोधी हिसा करने वाला गृहस्थ वास्तव मे अन्तरग से हिंसा करता ही नही, और इसलिये उसके प्राण सयम मे बाधा आती ही नही-इससे। अत विरोधी हिसा को यदि आवश्यक समझता है—अपने लिये-इस परिस्थिति मे, तो भी अभिप्राय मे तो कुछ परिवर्तन कर ही सकता है। उससे तो कोई बाधा नही आती तेरी गृहस्थी को या तेरे शरीर को।

२० अहिंसा मे अलौकिक वीरत्व

यह तो अहिसा का है लौकिक वीरत्व एक गृहस्थी के लिये। परन्तु अहिंसक का एक अलौकिक वीरत्व भी है। वह वीरत्व जो एक योगी के जीवन मे होता है। जिससे सम्भवत आप परिचित न हो। वह वीरत्व जिसके सामने बडे बडे सम्राट भी नत मस्तक हो जाते है। ऊपर कही गई है लौकिक शत्रु को जीतने की बात, और यहा है अलौकिक शत्रु को जीतने की बात। उस शत्रु को जीतने की बात जिसके आगे बडे बडे योद्धा भी हार मान जाते है।

गृहस्थ दशा मे अहिसा की साधना का अभ्यास करते करते आज उस योगी का क्रम वृद्धि के शिखर पर पहुँच चुका है। उसकी शान्ति निश्चित हो चुकी है-सुमेरु की भांति। अब लोक की बडे से बड़ी बाधा भी उसकी शान्ति मे विघ्न डालने मे असमर्थ है। अब उसका कर्तव्य बदल चुका है, क्योकि उसका शरीर बदल चुका है। उसकी सम्पत्ति बदल चुकी है उसका कुटुम्ब बदल चुका है उसका देश बदल चुका है। आज शाति उसका शरीर है, निर्विकल्पता उसकी सम्पत्ति है स्वतन्त्रता, निरपेक्षता,

उपेक्षा, वीतरागता, मधुरता, मैत्री व उल्लास उसका कुटुम्ब है। शांति ही उसका देश है। भौतिक सम्पत्ति आदि का तो उस बनवासी नग्न दिगम्बर साधु को प्रत्यक्ष ही त्याग हो चुका है। शरीर तक भी आज उसकी दृष्टि मे उसका नही। इसकी बाधा भी आज उसकी बाधा नही। गृहस्थ दशा मे समझे जाने वाले वह चोर, डाकू, अथवा कोई विदेशी आक्रमण करने वाला राज्य उसकी दृष्टि मे शत्रु नही। क्योकि उसकी सम्पत्ति को हरन करने मे वह चोर, डाकू समर्थ नही है। अथवा उसके शांति राज्य पर विदेशी राजा आक्रमण करने को समर्थ नही है। उसके शान्ति रूपी शरीर पर चलने के लिए बाहर मे कोई हथियार ही नही है। अत बाहर के मनुष्य कृत, पशु पक्षी कृत, मक्खी मच्छर कृत, गर्मी सर्दी आदि प्रकृति कृत, बडे से बडा उपसर्ग या भय भी उसके मुख मण्डल पर फैली उस मधुर मुस्कान को भेदने मे असमर्थ है। और तो कुछ उसके पास है ही नही, जिसे उससे छीन लिया जाये। एक शरीर है, वह भी अलौकिक। इस शरीर के भी तिल तिल खण्ड करने को तैयार हो कोई, इसे कोल्हू मे पेलने के लिये उद्यत हुआ हो कोई, इसे जीवित भस्म कर देने का भात्र लेकर आया हो कोई, उसे कुत्तों के द्वारा नुचवा डालने के लिये उस पर दही छिड़कता हो कोई, उसे दिवार मे चिनने लगा हो कोई, परन्तु उसे क्या ? अपने द्वेष की आग जिस वस्तु पर जिस शरीर पर बुझाई जा रही है, वह उसका है ही नही अब, उससे ममत्व है ही नही जब, फिर उस विद्वेषी के प्रति इस योगी को द्वेष क्यो हो, घृणा क्यो हो, क्रोध क्यो हो, इससे मुकाबला करने की भावना क्यों हो, यह बेचारा रंक स्वय नही जानता कि इस योगी के पास क्या है, जिसको छीनने से इसे कष्ट हो सकेगा। उसको तो दिखाई देता है यह चमडे का शरीर, जिसे बाधा पहुंचने पर स्वय उसे बाधा प्रतीत होती है। उसी तुला में तोलता है आज वह इस परम योगेश्वर की सम्पत्ति को, शान्ति को। और यदि पता भी हो तो इसके छीनने मे बिल्कुल असमर्थ है। और इसलिये क्यो समझे वह योगी शत्रु उसे ? वह तो बेचारा है रक द्वेष की अन्तर दाह से स्वयं जला जा रहा है। अत. स्वय है बहुत दुखी। वह तो है उस योगी की करुणा का पात्र, विरोध का नही। उसके लिये भी उस योगी के मुख से निकलता है कल्याणात्मक आशीर्वाद, जैसे एक भक्त के प्रति।

अपनी शान्ति को बाधा पहुँचा सकता है उसका अन्तर का सस्कार, यदि वह कदाचित् विकल्प व भय उठाने मे समर्थ हो जाये तो। परन्तु कैसे हो जाये वह सफल ? उस पर काबू जो पा लिया है उस वीर ने। पद पद पर उससे सावधान जो चला जा रहा है वह वीर। और यदि वह सस्कार कदाचित आगे बढ़ने का प्रयत्न भी करे, कोई बन्दर भभकी भी दिखावे ऐसे अवसर पर, तो वह टूट पडता है उस पर, वैराग्य की १२ भावनाओ को लेकर-अपनी सर्व शक्ति से सर्व साहस से, सर्व बल से। वह सब कुछ सहन कर सकता है पर शान्ति मे विघ्न नही। उस शान्ति मे जिसकी उपासना करता वह आज यहा तक आ चुका है। जिसकी प्राप्ति के लिये उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। वह किसी मूल्य पर भी उस आदर्श मधुर मुस्कान का विरह सहन नही कर सकता।

अत उसका वीरत्व, उसका पराक्रम चलता है, उस सस्कार पर, जिसके पाले सर्व जगत पडा हुआ है। भला कौन योद्धा है जो उसे जीत सका हो ? अपने को बड़ा बली और वीर योद्धा मानने वाला भी किसी का मात्र कटु शब्द सुन लेने पर अपने अन्दर मे उठे क्रोध को दबा सकेगा क्या ? क्या किसी सुन्दर स्त्री के द्वारा फैके हुवे एक तीखे कटाक्ष बाण के प्रहार को सहन कर सकेगा ? विह्वल हो उठेगा-उसी समय वह। क्रोध के आधीन हो भूल जायेगा अपने को भी, या मैथुन-सस्कार का मारा

लगेगा तड़पने, पानी से बाहर निकाल कर डाली गई मछली वत् । और पता चल जायेगा उसे कितना बडा वीर है वह, कितना बडा योद्धा है वह। हवा खाने चला जायेगा उसका सर्व पराक्रम, उसका सर्व वीरत्व, जिस पर था उसे इतना घमण्ड। खिल्ली उडा रही होगी उस समय सामने खड़ी उसके अन्तर सस्कार की शक्ति। "कि बस! हो लिये दम खम, इतने से ही। जा चूडिया पहन कर घर में बैठ जा। यह तो बहुत छोटा सा आक्रमण था-तेरे ऊपर। इसी से ही रो पडा ? नपु सक कही का ?"

वीरत्व देखना है तो देखो उस सामने बैठे नगे धडगे योगी की ओर, जिसके शरीर की हड्डी हड्डी दीख रही है। एक थप्पड को भी सहन करने की शक्ति सम्भवत जिसमे नही है। उपरोक्त छोटी छोटी बातो से तो क्या, यदि लोक की सर्व विकारी शक्तिया भी एकत्रित होकर आ जाये, तो उसके मुख मण्डल पर फैली यह आभा, यह तेज, यह मुस्कान, यह शान्ति बाधित करने मे समर्थ न होगी। उसके अन्दर मे क्रोध या मैथुन भाव की विह्वलता उत्पन्न करने मे असमर्थ रहेगी। कहा तक गाई जाये महिमा उसके वीरत्व की। वह है पूर्ण अहिंसक। पूर्ण सयमी। हिंसा के सर्व १२९६० भगो को परास्त कर दिया है जिसने, विनष्ट कर दिया है जिसने।

दिनाक २ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ४८

२१ विरोधी हिंसा का पात्र,

शान्ति प्राप्ति के उपाय मे प्राण सयम अर्थात् अहिंसा की बात चलती है। अहिंसा का व्यापक रूप तथा उसकी अन्तर वीरता का प्रदर्शन किया जा चुका। रक्षार्थ विरोधी हिंसा यथा योग्य रूप मे करना एक वीर अहिंसक गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है। परन्तु इस विरोध का पात्र कौन है, यह बात भी यहा जाननी आवश्यक है। क्योकि यह जाने बिना, इसका विवेक किये बिना तो मै जिस किसी को भी विरोधी की कोटि मे गिनने लगू गा। जहा तनिक किसी भी मनुष्य, तिर्यञ्च, कीडे, मकोडे आदि के द्वारा मेरी रुचि के विरुद्ध कोई कार्य हुआ, कि मै समझ बैठा उसे विरोधी, और दौड पड़ा उसका नाश करने के लिये। यह तो सयम न कहलायेगा। ऐसा तो सर्व लौकिक जन ही करते है। फिर उनमें व तुझ मे, एक सयमी मे व एक असयमी मे क्या अन्तर रह जायेगा ? नही, नही ऐसा करना ठीक नही, जिस किसी को अपना शत्रु मान लेना योग्य नही। तेरी इष्टता व अनिष्टता मित्र शत्रु की पहिचान नही। बुद्धि रखने वाले मानव! कुछ विवेक उत्पन्न कर।

शत्रु व मित्र की पहिचान वास्तव मे तेरी रुचि नहीं बल्कि उन उन जीवो मे वर्तने वाला कोई अभिप्राय विशेष है। पुत्र की या मुनीम की किसी गल्ती के कारण व्यापार मे हानि हो जाने पर भी आप उन्हे अपना शत्रु नही मान लेते, परन्तु मुनीम की बेईमानी के कारण व्यापार मे हानि पड जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। डाक्टर के द्वारा किसी औषधि मे या आपरेशन मे आपके पुत्र की मृत्यु हो जाने पर आप उसे शत्रु नही मानते, परन्तु किसी विद्वेषी के द्वारा विष मे या हथियार

से आपके पुत्र की मृत्यु हो जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। इत्यादि। इन दृष्टान्तो पर से मित्र व शत्रु का लक्षण बना लेना यहा उपयुक्त है। "मित्र उसे कहते है जिसके अभिप्राय मे मेरा हित हो प्रेम हो। और शत्रु उसे कहते है जिसके अभिप्राय मे अहित हो द्वेष हो।" मित्र व शत्रु के अतिरिक्त एक तीसरी कोटि भी जीवो की है। और वह है उनकी जिन्हे कि मुझसे प्रेम है न द्वेष जैसे कि सर्व नगर वासी। शत्रु के उपरोक्त लक्षणो को भी कुछ और विशेषता से, कुछ और सूक्ष्मता से विचार करना योग्य है। हर वह प्राणी जिसके हृदय मे मेरे प्रति अहित की भावना हो, मेरा शत्रु नही हो सकता। क्योकि क्या विरोधी हिंसा के अन्तर्गत शत्रु से युद्ध करता वह आदर्श अहिसक उस विरोधी का शत्रु कहा जा सकता है? नही-क्योकि वह विरोधी यदि उसके सम्मान पर उसके देश पर स्वय आक्रमण न करता तो उस अहिसक के लिये वह तीसरी कोटि का एक सामान्य मनुष्य मात्र था। न था शत्रु और न था मित्र। क्या महात्मा गाँधी को अग्रेजो का शत्रु कहा जा सकता है? नही, क्योकि, "मेरे देश को छोड़ दो, और कुछ नही चाहिये मुझे तुम से", ऐसा अभिप्राय रखने वाला गांधी न उनका शत्रु था न मित्र। फलितार्थ यह निकला कि द्वेष दो प्रकार का है? एक स्वार्थ वश किया जाने वाला और एक अपनी रक्षा के अर्थ। केवल रक्षा के अर्थ किया जाने वाला द्वेष क्षणिक होता है तथा उसके पीछे पड़ी रहती है साम्यता व माध्यस्थता, जिसमे न शत्रु का भाव रहता है न मित्र का। और स्वार्थ वश किया जाने वाला द्वेष ध्रुव होता है, निष्कारण होता है। जब भी मौका देखता है तब ही निष्कारण हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यह हुई द्वेष की दो कोटिया। उपरोक्त दृष्टान्तो पर से यह सिद्ध होता है कि "रक्षार्थ क्षणिक द्वेष रखने वाला प्राणी शत्रु नही हो सकता, और स्वार्थ वश निष्कारण द्वेष रखने वाला प्राणी शत्रु है।"

२२ क्रूर जन्तु शत्रु नहीं, बस शत्रु के इस लक्षण पर से शत्रु का निर्णय कर लेने पर ही विरोधी हिंसा को गृहस्थी का कर्तव्य बताया गया है, निरर्गल हिंसा को नही। इस विवेक के अभाव मे ही आज का मानव उन सर्व जीवो को, जो किसी भी अभिप्राय से उसके शरीर को बाधा पहुँचा रहे हो, अथवा जिनसे कदाचित् बाधा पहुँचने की सम्भावना हो, अपना शत्रु मान कर जिस किस प्रकार भी उनके विनाश के उपाय किया करता है। उदाहरण के रूप मे सिह, सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया सब उसके शत्रु है क्योकि भले आज न सही पर कल उनसे अवश्य बाधा पहुँचने की सम्भावना है। और इसी कारण उस मानव का आज ऐसा अभिप्राय बन रहा है कि निष्कारण भी जहां कही उसे मिले मार डालो।

शत्रु का लक्षण घटित करने पर आपको आश्चर्य होगा कि जिसे शत्रु समझा जा रहा है वह वास्तव मे माध्यस्थ वाली तीसरी कोटि का प्राणी है; क्योकि उपरोक्त सिह आदि कभी किसी पर निष्कारण आक्रमण नही करते, और मानव निष्कारण केवल द्वेष वश उन पर आक्रमण करते है। वे प्राणी यदि मानव को बाधा पहुँचाते है तो अपनी रक्षार्थ, और मानव उन्हे मारता है तो स्वार्थ वश, द्वेष वश निरपराध। यह बात सभी जानते है कि सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया आदि बिना दबे अर्थात् बिना अपने पर उपसर्ग जाने या बिना अपने पर प्रहार हुए कभी किसी पर प्रहार नही करते। करते अवश्य है पर अपनी रक्षार्थ, केवल उस समय जबकि उसे अपने पर बाधा आती प्रतीत हो।

अब रही सिहादि उन जन्तुओ की बात जिन्हें क्रूर कहा जाता है। वहा भी यदि कुछ

गहराई से विचार करे तो पता चलेगा कि क्रूर कौन है सिंह, कि मानव जो कि उन क्रूरो के प्रति भी क्रूर है। जो उनको निष्कारण बिना अपराध के शत्रु बन बैठा है। वास्तव मे यदि देखा जाये तो जगत का सबसे अधिक क्रूर प्राणी मानव है, जिससे सर्व ही सृष्टि भय खाती है। जिसे ऐटम बमब द्वारा जगत मे प्रलय मचाते भी कोई झिझक उत्पन्न नही होती। पर स्वार्थी मानव अपने को अपराधी कैसे बताये ? दृष्टि पर चढा है स्वार्थ का चश्मा जिससे सब दिखाई देने है, शत्रु, व क्रूर।

विचारिये तो सही यदि सिंहदि क्रूर ही होते तो अपनी सन्तान का पालन कैसे करते ? कभी देखा है सिंहनी पर उछलते कूदते उसके बच्चो को, जो कभी खेचता है उसका कान और कभी चढ जाता है उसकी गर्दन पर, कभी मारता है उसकी कमर पर दात, और कभी नोचता है उसके बाल। क्या कभी क्रोध आता है सिंहनी को उसके ऊपर ? और क्रोध आवे भी क्यो ? उसे उनसे भय थोडे ही है ? वह जानती है कि इनकी यह सब क्रीड़ाये प्रेम मे भीगी हुई है। और क्या उन बच्चो को कभी भय होता है-उससे ? क्यो हो ? क्योकि उन्हे विश्वास है उस प्रेम का जो सिंहनी के हृदय मे उनके प्रति है। क्या सर्कस मे या चिडिया घर मे अपने स्वामी के प्रति दुम हिलाता सिंह देखा सुना नही आपने ? क्या जयपुर के उस राज मन्त्री की कथा भूल गये, जिसने सिंह को माँस न देकर फलाहार कराना चाहा और तीन दिन तक बराबर उन फलो को सिंह के द्वारा स्वीकार न करने पर, तीन दिन के पश्चात् स्वय उसके सामने छाती खोल कर लेट गया, इस अभिप्राय से कि यदि इसे माँस ही खाना है तो इस शरीर से अपनी क्षुधा शान्त कर ले। इस प्रकार मन्त्री के प्रेम का परिचय पाकर, मालूम है उस सिंह ने क्या किया ? तीन दिन के भूखे सिंह ने चुपके से फल खाना स्वीकार कर लिया पर मन्त्री को कुछ न कहा। जहा प्रेम है वहा क्रूरता कैसी ? हा वह क्रूर बन अवश्य जाता है जब कि उसके सम्मान पर या उसके आहार पर आक्रमण किया जा रहा हो। उसकी वह क्रूरता स्वार्थ वश नही है रक्षार्थ है।

यदि उसे मानव से इस प्रकार के आक्रमण की शका न हो तथा उसके प्रेम के प्रति उसे विश्वास उत्पन्न करा दिया जाये तो आपको आश्चर्य होगा यह सुन कर कि यह बडा मधुर है, बडा स्वामि भक्त है और बडा कृतज्ञ है। मानव कृतघ्नी हो सकता है पर वह नही। मानव अपने उपकारी को भूल कर अपने उपकारी का स्वार्थ वश अनिष्ट कर सकता है, और कर रहा है, पर उसके द्वारा ऐसा होना सम्भव नही। सिंह की प्रेम वृति के प्रति दृष्टान्त दे दिया गया। अब उसकी माध्यस्थ वृति व कृतज्ञता के दृष्टान्त भी सुनिये।

भारत वर्ष मे आज के एक विख्यात शिकारी जोरावर सिंह की आप बीती बात है, जो उसने उन कई घटनाओ मे से चुन चुन कर स्वय लिखी है, जो कि भयानक जन्तुओ मे रहते हुए उसके अनुभव मे आई है। शिकार का अत्यन्त प्रेमी वह जोरावर सिंह एक दिन वैसे ही घर से निकला और न मालूम किन विचार धाराओ मे डूबा चल पडा वन की ओर। आज उसके साथ न थी बन्दूक और न था उसका सहायक मित्र। चलते चलते घना वन आ गया। थक गया था। ठण्डी हवा के झोके आ रहे थे। वह एक वृक्ष के नीचे पड कर सो गया। कोई घण्टे भर के पश्चात् उसे नीद मे ही कोई उसकी परिचित सी गन्ध आती हुई प्रतीत हुई, साथ ही कुछ खुस खुस की आवाज भी। वह उठ बैठा

और उसके आश्चर्य का ठिकान न था। क्या सिंहनी भी इतनी माध्यस्थ हो सकती है-मानव के प्रति ? उसे स्वय विश्वास न आया, आखे मली, पुन देखा वही दृश्य। बिल्कुल निकट अपने बच्चो के साथ एक सिहनी लेटी थी। आज प्रेम था उसकी आंखो मे। निर्भीक जोरावर सिंह को भय तो क्यो होता उससे ? अभ्यस्त था उन्ही के वीच मे रहने का, परन्तु सिंहनी की आख से आख मिलते ही आज दो अश्रु प्रगट हो गये थे उसकी आखो मे, प्रेम के अश्रु। यह है सिंह की माध्यस्थता का दृष्टान्त। यदि मानव स्वय भय का कारण न बने तो सिंह उसके लिये क्रूर नही है।

हा एक दूसरी परिस्थिति और भी हो सकती है उसकी क्रूरता की। और वह है जबकि उसे भूख लगी हो। परन्तु ऐसे अवसरो पर मानव की बस्तियो से दूर घने बनो मे रहने वाला वह क्या नगरों मे आता है, मानव को अपना भोजन बनाने के लिये ? नही बल्कि मानव ही स्वयं जाता है उसकी बस्तियो मे उसे अपना भोजन बनाने के लिये। भला क्रूर कौन हुआ, मानव या सिंह ?

अब सुनिये सिंह की कृतज्ञता। यूनान के एक दास एन्ड्रयोकल्यूज का विश्व विख्यात दृष्टान्त हर किसी को पता है। सच्ची घटना है कपोल कल्पना नही। घटना है उस जमाने की जब यूनान मे दास प्रथा वडे जोरो पर थी। मनुष्य पशु वत् बाजारो मे बिकते थे, उनसे पशुओ का व्यवहार किया जाता था, और उस वेचारे को उफ करने का भी अधिकार न था। और यदि तङ्ग आकर बिना स्वामी की आज्ञा के घर से भागा तो राज्य की ओर से था उसके लिए मृत्यु दण्ड और वह भी बडी क्रूरता से। सारे नगर वासियो के सामने। एन्ड्रयोकल्यूज एक धनिक का दास था। स्वामी के व्यवहार से नङ्ग आकर घर से भागा। पुलिस के डर से राज्य मार्ग छोड कर बन की राह ली। चलते चलते बन मे प्रवेश किया। एक हृदय भेदक गर्जना उसके कान मे पडी। सहसा ही उसके पग रुके और वह घूम गया उस दिशा की ओर जिधर से कि वह पीडा मिश्रित गर्जना आ रही थी। आज उसे मृत्यु का भय न था। मृत्यु तो आनी ही है आज नही तो कल। राज्य के द्वारा दण्ड भी तो मृत्यु का ही मिलना है। फिर कर्तव्य मे भी विमुख क्यो रहूँ ? सामने देखा एक सिंह जो बार बार अपने पाव जमीन पर पटक रहा था। एन्ड्रयोकल्यूज को यह जानते देर न लगी कि उसके पाव मे असह्य पीडा हो रही है। निर्भय एन्ड्रयोकल्यूज आगे वढा। उसके हृदय मे था कर्तव्य, दया व प्रेम। सिंह ने पाव आगे कर दिया और दयालु दास ने उसके पाव से वह तीखा शूल खेंच कर फेंक दिया जो आधा उसके पजे में घुस चुका था। जिसकी पीडा से कि वह बेचैन था। सिंह ने एक नजर अपने उपकारी की ओर देखा और फिर पकडी अपनी राह।

पुलिस से वच कर कहा जाता वेचारा। पकडा गया। नगर वासी इकट्ठे किये गये। वीच में रखा था एक बहुत वडा जगला। एन्ड्रयोकल्यूज उसमे खडा अपने जीवन की शेष घडियो को निराशा पूर्वक गिन रहा था। सिंह का पिजरा लाया गया और छोड दिया उसे कटहरे मे। लोग टिकटिकी लगाये देख रहे थे। चार दिन का भूखा सिंह अब खा जायेगा इस वेचारे को और वह भी था भयभीत। सिंह तेजी से आगे बढा एक गर्जना के साथ। परन्तु हैं ? यह क्या ? क्या यह भी सम्भव है ? लोग आखें मल मल कर देखने लगे पर विश्वास करना ही पडा। निकट आकर सिंह ने कुछ सूंघा और ज्यो

का त्यों शान्त वापिस लौट गया। उसे भूखा रहना स्वीकार था पर अपने उपकारी को अपना भोज्य बनाना स्वीकार न था। एक दो मिन्ट मात्र का ही तो सम्पर्क हुआ था उस बन मे उन दोनो का। पर सिह उसको न भूल सका, उस गन्ध को जो उसे उस समय आई थी, उस मनुष्य मे से, जबकि उसने उसका काटा निकाला था। यह है सिह की कृतज्ञता का दृष्टान्त।

इसलिये भो मानव! कुछ विवेक धर। हर किसी को निष्कारण अपनी गोली का निशाना न बना। ऐसा करने का नाम विरोधी हिसा नही है। साप, बिच्छु आदि को भी निष्कारण मारना विरोधी हिसा नही है। प्रहार न करते हुए तो यह शत्रु है ही नही, परन्तु प्रहार करते हुये भी यह शत्रु कहे नही जा सकते। क्योकि उनका इस प्रकार का पुरुषार्थ रक्षार्थ होता है। सबके साथ तू प्रेम करना सीख। तू दूसरो का रक्षक बन कर आया है भक्षक बन कर नही। दूसरो की रक्षा करना ही तेरा गौरव है, नही तो तू बता कि तुझ मे और पशु मे क्या अन्तर है? निष्कारण उन्हे मारने वाले! तेरा जीवन सम्भवत उनसे भी नीचा है।

दिनाक ३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ४९

प्राण सयम अर्थात् अहिसा की बात चलती है। जिसके अन्दर अनेक प्रकार के छोटे वडे जीवो के भेद प्रभेदो का ज्ञान करके शक्ति अनुसार उनकी रक्षा करने का अभिप्राय प्रगट किया जा रहा है। प्राण घात के अनेको अभिप्रायो का प्रदर्शन करके यह विवेक उत्पन्न कराया कि प्राण सयम, अहिसा या जीव-दया व रक्षा, कितने व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हो रही है। तथा शत्रु व मित्र की पहिचान कराके विरोधी हिंसा को सीमित किया गया। सिंहादि क्रूर समझे जाने वाले, तथा सर्पादि अनिष्ट रूप समझे जाने वाले प्राणियो के प्रति भी, दया व प्रेम करने का आदेश दिया गया। और अब बताई जाती है सयम की यथार्थता।

२३ सयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं,

आज सयम को अधिकतर लोकेषणा की पुष्टि के लिये किया जा रहा है। प्रतिष्ठा के लिये, ख्याति लाभ पूजा के लिये इस को धारण करने वाले आज वडे वेग से इस ओर बढ़े चले आ रहे है। परन्तु लोक कल्याण की बात तो दूर रही, क्या उसका अपना कल्याण भी इससे हो रहा है, यह विचारणीय है? इस बात की परीक्षा है शान्ति, जो सयम का वास्तविक प्रयोजन है। यदि फल स्वरूप, सयम से इसी जीवन मे तत्क्षण शान्ति का उस उस भूमिकानुसार वेदन न हुआ तो उसका सयम निरर्थक ही रहा। ऐसे सयम से इस मार्ग मे कोई लाभ नही। सयम का अर्थ है विकल्प दमन। जो साक्षात् शान्ति स्वरूप है। इसलिये संयम की यथार्थता व अयथार्थता की परीक्षा है अन्तरङ्ग मे विकल्प दमन से, न कि वाह्य की शारीरिक क्रियाओ से।

जैसा कि देव पूजा आदि प्रकरणो मे बराबर यह बताया जा रहा है कि लौकिक व अलौकिक सर्व प्रयोजनो मे दो क्रियाये युगपत् चला करती है। एक बाह्य मे दीखने वाली शारीरिक क्रिया तथा दूसरी अन्तरङ्ग में वेदन की जाने वाली कुछ अन्तरग क्रिया। अन्तरङ्ग मे विकल्पो के आशिक अभाव अथवा शान्ति के वेदन रहित बाह्य की शारीरिक क्रिया प्रयोजन की सिद्धि करने मे असफल रहने के कारण निरर्थक है। अत. यदि कुछ पुरुषार्थ करने को उद्यत हुआ है तो उसको यथार्थ रीति से कर, जिससे कि वह किया हुआ पुरुषार्थ व्यर्थ न जाने पावे।

इन्द्रिय सयम मे इन्द्रिय विषयो का आशिक त्याग, और प्राण सयम मे यथा शक्ति अहिसा का पालन, केवल इसी अभिप्राय से होना चाहिये, कि तत् तत् विषय सम्बन्धी रागद्वेषात्मक, इष्टानिष्ट विकल्प जाल हृदय मे उत्पन्न होकर मुझे व्याकुल न बना दे। इस प्रयोजन के अर्थ ही पद पद पर इस बात की सम्भाल रख कर चलना है, कि प्रयोजन अर्थात् शान्ति का किसी अश मे भी क्या प्रवेश हो पाया है जीवन मे ? वस्तु का त्याग करने के लिए त्याग नही, बल्कि विकल्प का, इच्छा का, आसक्तता का, या उस वस्तु विशेष के प्रति अन्तरग झुकाव का, उससे वेदन होने वाली उस मिठास का, रुचि का त्याग करने के लिये त्याग है। वही सच्चा सयम है। इस प्रयोजन की सिद्धि, बिना अभिप्राय बदले नही की जा सकती। मनो इन्द्रिय सम्बन्धी सयम के प्रकरण मे भी इसी बात पर जोर दिया गया है। इन्द्रिय सयम व प्राण दोनो मे यह ही प्रमुख है। और गृहस्थी की इस अल्प भूमिका मे रहते हुए, इस अभिप्राय का अन्तरङ्ग से त्याग कर देने से, तेरे शरीर को, तेरे कुटुम्ब को, या तेरी सम्पत्ति को कोई भी बाधा होनी सम्भव नही है। ऐसा करने से तेरे अन्तर मे उत्पन्न होगा एक उत्साह, एक बल, जीवन मे एक मोड, जो धीरे धीरे तुझे सयमित बनाता हुआ ले जायेगा, विकल्प सागर के उस ओर, जहाँ शान्ति खडी तेरी राह देखती है।

२४ सर्व सत्वएकत्व, तथा सर्वसत्व मैत्री व प्रेम — अन्तरङ्ग मे प्राण सयम के अर्थ उपरोक्त सच्चा अभिप्राय बनाने के लिये, मुझे एक विशेष दृष्टि उत्पन्न करनी होगी। जिसके द्वारा देखने पर मेरे हृदय मे एक स्वाभाविक मैत्री भाव प्रगट हो जाये विश्व के सर्व छोटे बडे प्राणियो के प्रति। जिसमे होगा केवल प्रेम व भ्रातृत्व का भाव। समस्त विश्व होगा एक कुटुम्ब। जिसके द्वारा देखने पर दिखाई देगा, मुझे सर्वत्र अपना रूप। अपना ही निवास, एक अद्वैतता सी दिखाई देगी जहा।

अहो ! अलौकिक जनो की अलौकिक बाते। अनेको भिन्न भिन्न शब्दो मे उपरोक्त दृष्टि का सुन्दर चित्रण, अनेक ज्ञानी जनो ने किया है। परन्तु धिक्कार है इस साम्प्रदायिक विद्वेष को जिसने मेरे जीवन मे विष घोल कर, मेरी दृष्टि को इतना विकृत बना दिया, कि उन चित्रणों की सुन्दरता मे भी मुझे असुन्दरता दीखने लगी। उन चित्रणो मे प्रवाहित प्रेम की धारा मे भी मुझे द्वेष ही दीखने लगा, और कुछ अपनी उन विकृत साम्प्रदायिक कल्पना के आधार पर उन चित्रणो को इतनी कालिमा से पोत दिया, इतना विकृत बना दिया कि आज साधारण दृष्टि से उसको देखा जाना भी सम्भव नही है।

कितना सुन्दर है ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम वाक्य —

"ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्चि जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृध कस्य स्विद्धनम्॥"

अर्थात् इस पृथ्वी पर जो कुछ भी जगत दिखाई देता है वह सब ईश्वर का निवास स्थान है। अत हे प्राणी! तू इसे त्याग भाव से भोग, गृद्धता मत कर, क्योकि यह भोज्य वस्तुये तथा धन किसका है? कितनी सुन्दर बात है? पृथ्वी पर जो कुछ है चेतन या अचेतन, वह सब ईश्वर का निवास स्थान है। अहो! कितनी विशाल है यह दृष्टि, साम्यता की जननी। यदि सकुचित दृष्टि को छोड़, मैं भी इस समस्त विश्व को वस्तु स्वरूप की विशाल व स्वतन्त्र दृष्टि से देखू तो उपरोक्त बात की सत्यता प्रगट हो जायेगी। प्रभो! तनिक इधर आ। मत झिझक इस बात से, कि यहा इस जैन मन्दिर मे उपनिषद् की बात कैसी? उपनिषद् की नही, यह वस्तु स्वरूप की बात है। विश्व का इससे अधिक सुन्दर चित्रण हो नही सकता।

तनिक ध्यान देकर विचार कि तू कौन है? कहा कहा से आया है? कहाँ जायेगा? कैसे कैसे रूप तूने धारण किये है? कैसे कैसे रूप और तूने धारण करने हैं? आ, अब इधर आ, ज्ञान पर्वत के शिखर पर और दृष्टि डाल नीचे पड़े सर्व विश्व पर। क्या देखता है? यहा देख। दूर दूर तक फैली दिखाई देने वाली यह वृक्षो की पक्तिया। इनमे कौन निवास करता है, एक चैतन्य या कुछ और? देख पृथ्वी पर गिरते व उड़ते छोटे छोटे कीटाणु व भिर्ड आदि, इनमे कौन बास करता है? एक चैतन्य या कुछ और? देख बन मे, आकाश मे चरते यह सिह, कबूतर आदि पशु पक्षी, इनमे कौन बसता है? एक चैतन्य या कुछ और? और देख मनुष्यो की वह टोलिया, इनमे कौन बसता है? एक चैतन्य या कुछ और? इस खम्बे मे कौन बसता था पहले, एक चैतन्य या कुछ और? नये घर मे चले जाने पर आज क्या तू अपने पुराने घर को अपना कहना छोड देता है? देख इस विष्टा को देख, कौन बसता था कुछ देर पहले? एक चैतन्य या कुछ और? अब उसने छोड दिया इसे, इसलिये जड़ है यह। पर इतना होने से इसमे से इसका स्थान सर्वथा समाप्त तो नही हो गया? क्योकि नये घर मे चले जाने पर पुराने घर को अपना कहना तो छोड दिया नही जाता। और इस प्रकार यह समस्त विश्व एक चैतन्य का निवास स्थान नही दीख रहा है क्या? कुछ वर्तमान काल मे और कुछ भूतकाल मे। विचार तो सही कि तू कौन है? तू भी तो एक चैतन्य है? उनमे बसते चैतन्य मे व तुझ मे क्या अन्तर है? अत तू ही तो बसता है या बसता था इन सबमे? और इस प्रकार यह सब तेरा ही तो निवास स्थान हुआ? बस तू ही तो वह ईश्वर है, वह चैतन्य प्रभु है, वह ज्ञान ज्योति है, जिसका कि यह समस्त विश्व क्रमशः निवास स्थान रह चुका है, रह रहा है, और आगे आगे को रहता रहेगा। क्या अब भी इस जगत के सर्व पदार्थो को ईश्वर का निवास कहने मे कोई शका है-तुझे? किसी प्राणी को बाधा पहुँचाना अपने निवास को बाधा पहुँचाना है, जो मै सहन नही कर सकता। और इसी अभिप्राय का नाम तो है प्राण संयम।

अब इधर आ। देख इस विश्व का दूसरा सुन्दर चित्रण जिसमे विश्व को ईश्वर की सृष्टि बना कर दिखाया जा रहा है। ओह! कितना अच्छा है यह? इसे देख कर तो मानो मुझे अपना सारा पिछला इतिहास ही याद आ गया। वह दिन जब कि बाह्य जगत के व्याकुलता उत्पादक वातावरण से अत्यन्त भयभीत हुआ मै, घुस बैठा था एक ऐसी गुफा मे, जिसमे प्रकाश आने के लिये कोई भी मार्ग न था। था एक अत्यन्त छोटा सा सुराख, जिसमे से अत्यन्त धीमी सी, एक छोटी सी रेखा बड़ी कठिनता से प्रवेश कर रही थी। अर्थात् भय के कारण कछुए की भांति ज्ञान के सर्व द्वार बन्द करके, मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान, खुला रख कर, जल, अग्नि, वायु, व वनस्पति आदि रूपो का

सृजन करता फिरता था-मै। उस व्याकुलता से बचने के लिये, तथा शान्ति पाने के लिये। कुछ यहा रहते रहते, भय के कुछ मन्द पड़ जाने पर, इच्छा हुई दूसरा द्वार खोल कर, इस जगत की ओर स्पष्ट देखने की, और मैने सृजन किया, लट गेडवे आदि दो इन्द्रिय धारी शरीरो का। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर भय के अन्दर धीरे धीरे कमो होती चली गई। एक एक और द्वार अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये खोलता गया और सृजन करता गया तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाच इन्द्रिय मन रहित व मन सहित शरीरो का। अधिक दिन किसी भी शरीर मे रहना मेरे मन ने कभी स्वीकार न किया। नवीनता भाती थी-मुझे। और इसलिये नये नये ढग के शरीरो का सृजन करता, उनमे कुछ दिन रहता, तवियत उकता जाने पर, या सन्तुष्ट न होने के कारण, एक एक को छोडता, आज इस मनुष्य के आकार वाले शरीर मे बैठा, अपने ज्ञान के सर्व द्वारो से इस विश्व को देख रहा हूँ। यहां कुछ भी तो ऐसा दिखाई नही देता, जो या जैसा, मैने सृजन न किया हो कभी। यहा कुछ सृष्टि तो है, कि जिसको मैने सृजन किया था, पर आज उसे छोड कर चला आया हूँ-मै। और वह कहलाने लगी है जड़। और कुछ ऐसी है, जिसमे मेरी जाति के मेरे ही सगे भाई, चैतन्य प्रभु बैठे इस जगत की रचना को आश्चर्य सहित देख रहे हैं, और अनेक कल्पनाये, इसके सम्बन्ध मे बना रहे है। मै ही तो हूँ, जगत का रचियता वह ईश्वर। कौन पदार्थ ऐसा है जिसे मैने नही बनाया। यहां दीखने वाला खम्बा मेरे द्वारा उस समय बनाया गया था, जब मै पृथ्वी रूंप शरीर मे बैठा था। इस चौकी मे प्रयुक्त लकड़ी का सृजन मैने वनस्पति का शरीर धारण करके किया। यह सब मेरे मृत शरीर ही तो है। कितनी वडी महिमा है मेरी ! आज तक आखे बन्द किये रहने के कारण जिसे स्वय मै जान न पाया। किसी भी प्राणी का नाश करना, अपनी ही सृष्टि का नाश करना होगा। बस इसी अभिप्राय को तो कहते है प्राण संयम।

और भी देख यह तीसरा चित्रण जिसमे सारा जगत एक ब्रह्म दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त कुछ नही। वाह-वाह कितना सुन्दर! सो तो मै ही हूँ, जितने भी विभिन्न जाति के शरीर हैं, वह सब मेरे द्वारा सृजन किये जाने के कारण तथा मेरे निवास स्थान रहने के कारण मेरे ही तो है ? वे सब मै ही तो हूं ? भूत रूप से या वर्तमान रूप से।

इन सब मे वही तो भावनाये उठ रही है, जो मुझमे, इन सब की वही तो इच्छाये हैं, जो मेरी ? यह सब उसी के लिये तो उद्यम कर रहे है, जिसके लिए कि मै ? छोटा है कि बड़ा, कीडा है कि हाथी, वनस्पति है कि मनुष्य, सब मे शान्ति की इच्छा, आहार, मैथुन व परिग्रह की आकांक्षा, भय खाकर रक्षा करने की भावना, क्या एक सी ही नही है ? फिर इनमें और मुझमें क्या अन्तर है ? यह सब मानो मेरे अन्तष्करण का ही तो प्रतिविम्व है ? मै ही तो प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ ? इसके अतिरिक्त और दीखता भी क्या है यहा ? जिसे अपनी या अपनी भावनाओ की खबर नही ऐसे विकारी दृष्टि वाले को ही सम्भवत इन सब में और अपने में कुछ अन्तर दिखाई दे। अत वह भेद भाव, वह द्वैत भाव तो भ्रम है। और यह जड़ पदार्थ ? यह भी तो मेरा ही शरीर होने के कारण, मै ही हूं ? कौन सा पदार्थ ऐसा है, जो मुझे इस समय मे, मैं रूप दिखाई नही देता ? मनुष्य भी मै रूप, पशु पक्षी भी मै रूप, पृथ्वी आदि भी मै रूप। मेरा ही नाम तो ब्रह्म है। मै ही पूर्ण चैतन्य प्रभु हूँ। सर्वत्र मैं ही मै, ब्रह्म ही ब्रह्म ; और कुछ नही ! अहा हा ! कितना सुन्दर है रूप मेरा। सब मै ही मै कुछ नही, "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" "सर्व खल्विद ब्रह्म-तत्वमसि" एक ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नही। यह ब्रह्म निश्चय से एक ही है, और वह तू ही तो है। कितनी सुन्दर वात है। साम्यता का उच्चतम आदर्श। किसी भी

प्राणी को पीडा देना, ब्रह्म को पीडा देना है। अपने को पीडा देना है। यही अभिप्राय तो है प्राण सयम।

और भी देख यह चौथा चित्रण, जिसमे सर्व विश्व एक कुटुम्ब दर्शाया गया है। मै चैतन्य तथा यत्र तत्र जहा देखू चैतन्य। जिस शरीर मे देखू चैतन्य। मेरी जाति का मेरी बरादरी का, मेरी समाज का ही, कोई भाई चैतन्य। ज्ञान के नाते, स्वरूप के नाते इच्छाओ के नाते, सब हैं मेरे ही भाई, सब एक चैतन्य की सन्तान। और यह सब जड, उस ही चैतन्य के शरीर, उस ही के निवास। छोटे बड़े रूप मे, सब चैतन्य मेरे भाई हो तो हैं? मेरे जैसे ही तो है? अत. यह सर्व विश्व तो है एक कुटुम्ब। सबकी प्रसन्नता है मेरी प्रसन्नता, और सबकी पीड़ा है मेरी पीडा। यही अभिप्राय है प्राण संयम।

इन चारो विख्यात दृष्टियो मे कहाँ है वैमनस्य को स्थान, कहा है द्वेष को स्थान, कहां है घृणा को स्थान, कहा है क्रूरता को स्थान? जहा सर्वत्र मेरी ही सन्तान है, जहां सर्वत्र मेरा ही निवास है, वहाँ प्रेम के अतिरिक्त, और किसी बात को अवकाश नही, सर्व सत्व मे मैत्री, सर्व प्राणियो से प्रेम, सर्व मे साम्यता, जहा छोटा बडा कोई नही, कीटाणु व मनुष्य मे भेद नही। वही तो है यह महान अन्तरङ्ग अभिप्राय, जो प्राण सयम का मूल है। यह दृष्टि हो तो अहिंसा का आदर्श है। "अहिंसा परमो धर्म.", साम्यता, वीतरागता, प्रेम, शान्ति व सर्वस्व।

इस विश्व प्रेम के भाव मे से स्वत ही निकल आयेगा, एक वह भाव, जिसकी आज राष्ट्रीय दृष्टि से भी इस विश्व को बड़ी आवश्यकता है। जो अहिंसा या प्राण सयम का एक महत्व पूर्ण, अङ्ग है, विशेषत मानव समाज मे। और वह है निष्परीग्रहता, जिसका कुछ सकेत हिंसा के अनेको अङ्गो वाले प्रकरण मे आ चुका है। इस भाव का विस्तार करने की आज बडी आवश्यकता है। अतः कल से वही बात चलेगी।

२७

—: निष्परिग्रहता :—

दिनांक ४ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ५०

१—नग्नता के प्रति भक्ति, २—नग्नता के प्रति करुणा, ३—नग्नता के प्रति घृणा, ४—जीवन परिवर्तन की प्रेरणा, नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध. ६—किंचित मात्र भी परिग्रह का निषेध, ७—निष्परिग्रहता व साम्यवाद, ८—विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता, ९—निष्परिग्रहता का विश्व के प्रति उपकार, १०—निष्परिग्रहता का अर्थ, ११—आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश, १२—परिग्रह दुःख के रूप में, १३—निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है।

१ नग्नता के प्रति भक्ति

भवार्णव के संताप से विह्वल हुआ मैं, आज परम सौभाग्य से शान्ति के प्रतीक वीतरागी गुरुओं की शीतल शरण को प्राप्त करके, अपने को धन्य मानता हूं, सन्तुष्ट व कृत-कृत्य सा अनुभव करता हूँ। मानो आज मुझको गुरुओं का वह प्रसाद प्राप्त हुआ है, जिसकी खोज में कि मैं कहा कहा नहीं भटका ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व हरित काय के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की, लट, चींटी, मक्खी, गाय, कबूतर व मछली आदि के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की, अनन्त बार मनुष्यों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की, और देवों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की ; परन्तु इतना करने पर भी, जिसे मैं न पा सका। निराश सा गर्दन झुकाये चलते चलते-हैं ! यह आज अकस्मात् ही मैं कहा आ गया हू, किनको देख रहा हूँ-अपने सामने ? एक शान्त छवि को धारण किए, रोम रोम से शान्ति का संचार करते, यह कौन हैं ? एक मधुर व शान्त मुस्कान के द्वारा, मेरा हृदय मुझसे छीनने का प्रयत्न करने वाले, यह महर्षि कौन है ? धागे का एक ताना मात्र भी अपने शरीर पर न रखते हुए भी, अत्यन्त प्रसन्नचित्त, यह महात्मा कौन है ? किस देश के वासी हैं यह ? कैसा विचित्र है जीवन इनका ? कैसी आकर्षक है आभा इनकी ? यह सब स्वप्न तो नहीं है ? नहीं नहीं। पुनः पुनः आंख मल मल कर देखने पर भी यह वही तो है। यह धोखा नहीं सत्य है। परम सत्य है।

२ नग्नता के प्रति करुणा

यह है वह योगी, जो राज्य घरानों में पले हैं, जिन्होंने कभी मखमल के गद्दों से पांव नीचे न उतारा, जिनको एक चने का दाना भी बिस्तर पर पड़ा न सुहाया, जो रत्नों के प्रकाश में पले। परन्तु आज ! कुछ दुःखी से लगते हैं न तुझे ? कुछ निर्लज्ज से प्रतीत होते हैं न तुझे ? कुछ असमर्थ से दीन होते हैं न तुझे ? इस नग्न शरीर पर अग्नि बरसाती तथा वनों में दावाग्नि उत्पन्न

करती, ज्येष्ठ की लू व धूप, पोप माघ की सर्दी का बडे बडे वृक्षो को फूंक डालने मे समर्थ तुषार, बरसात का मुसलाधार पानी, सैंकडो मच्छरो के तीखे डको द्वारा एक दम किया गया आक्रमण, मक्खियो की अठखेलियो के कारण होने वाला उत्पात, और क्या नही ? इन सब प्राकृतिक प्रकोपो को सहने के कारण, अरे रे ! इनसा दुःखी आज कौन है ? शरीर पर जमी मैल बता रही है, कि वर्षो से स्नान भी सम्भवत. इनको हुआ नही। इस मैल के कारण उत्पन्न हुई खुजली से अवश्य बहुत व्याकुल हो रहे होगे यह ? घर बार के बिना इस खुले आकाश के नीचे, बीहड़ वनो मे भयानक जन्तुओ की चीत्कारो से इनको अवश्य भय लगता होगा। पेट भर खान पान के लिए भी तो इनके पास कोई साधन नही। अरे रे ! कितने दुःखी है बेचारे। चलूं इनसे पूछूं तो सही, कि क्या चाहिये इन्हे ? आज तो मै सर्व समर्थ हू। जो चाहिये सो दू गा। मै इन्हे इस दशा मे देख नही सकता। दया से मानो हृदय पिघल कर बह निकला है मेरा।

३ नग्नता के प्रति घृणा

और फिर नगे धडगे, स्त्रियो के बीच मे, इस प्रकार बैठे रहना, व नगर में बिहार करते हुए, नग्न रूप में इस प्रकार स्त्रियो के सामने से निकलना, विना स्नान के मैला कुचैला रहना, कुछ अच्छा भी तो नही लगता। कोई क्या विचारेगा। नही, नही, यह पुरुषो का अपमान है। यह मनुष्य मात्र के नाम पर कलक है। मै यह सहन न कर सकू गा। इन्हे मेरी बात माननी ही होगी, यदि इनके पास कुछ नही है, तो मै इनकी आवश्यकताओ को पूर्ण करू गा। अरे ! परन्तु इनसे यह तो पूछू, कि यह कौन हैं, और यहा खाली बैठे क्या करते है ? पुरुष का महत्व पुरुषार्थ से है। इस प्रकार ठाली बैठे रहना ही यदि इनका लक्ष्य है, तो अवश्य यह जीवन मे आवश्यक तथा योग्य व्यापार धन्धे के कर्तव्य से पराङ्मुख होकर पुरुषार्थ से घबरा कर, भागा हुआ कोई नपु सक है। इतनी कायरता ? पुरुष का रूप धारे, क्या इसे इस कायरपने से लज्जा नही आती ? तू कहाँ तक ऐसो ऐसो की सहायता करता फिरेगा ? जो अपने कर्तव्य को भूले है, वह मनुष्य तो है ही नही, पर तिर्यञ्च भी नही है। यह पृथ्वी के ऊपर भार है। देश के कलक है। इनको अवश्य कुछ न कुछ करना ही चाहिये। स्वय न करे तो भी इन्हे बलात् करना पडेगा। अपाहिज भी तो नही है। हृष्ट पुष्ट शरीर और फिर यह हालत ? आज जबकि विश्व आगे बढा जा रहा है, भारत मे ऐसे फकीरो के लिए कोई स्थान नही होना चाहिये। यह घृणा के पात्र हैं, भारत सरकार को अवश्य इनको काम पर लगाने का प्रबन्ध करना चाहिये।

४ जीवन परिवर्तन की प्रेरणा

और इसी प्रकार भक्ति-दया व घृणा के हिंडोले मे झूलते हए, तू क्या नही सोच रहा है— इनके सम्बन्ध मे ? परन्तु यह क्या ? विचार धारा मे बहते हुए स्वय को व उस मधुर मुस्कान के अलौकिक आकर्षण को, व उस महात्मा के मस्तक पर प्रगटे तेज को भूलकर, भो चेतन ! कहा जा रहा है तू ? देख एक बार पुन: उसी दृष्टि से उस शान्त छवि की ओर, और मिलान कर अपने अन्तरग से प्रगटे उस तूफान से उनके अन्तरग मे बहते हुए शान्ति सुधा सागर का। भावनाओ के आवेश मे तूने क्या २ विचारा, और व्याकुल चित से अविवेक पूर्वक क्या क्या कह डाला, परतु उधर ? वही शान्ति, वही मुस्कान, वही आकर्षण। तनिक भी तो बाधा न पडी उधर। किंचित् भी तो, झलक मात्र भी तो क्षोभ या भय की दिखाई नही देती उधर। निर्भीक, निशकित, निराकाक्ष, ग्लानिरहित, निज शान्ति मे मग्न, अधिकाधिक उधर ही झुकते हुए, वह अब भी मानो

तेरी व्यथा पर करुणा करके तुझे इस शान्ति का रसास्वादन कराने के लिए अपने जीवन से प्रेरणा दे रहे हैं कि :—

भो चेतन ! अन्तर उद्वेग को एक क्षण के लिए शान्त करके सुन तो सही, कि मै क्या कहता हूँ। यह तेरे कल्याण की बात है। शान्त चित्त करके सुनेगा, तो अवश्य तुझे कुछ अच्छी लगेगी। अपने कल्याण की बात, और अपने हित को बात, अपने सुख की बात, सुन कर कौन ऐसा है, जो उसकी अवहेलना करेगा ? अपनी शान्ति से भटका हुआ, व्याकुल चित्त मे झुंझलाहट के कारण भले ही तू अनेक इष्टानिष्ट तथा अहितकारी व संताप जनक विकल्प जाल का निर्माण करता हुआ, स्वयं उसमे उलझा जा रहा हो, परन्तु अब भी इस दशा मे भी, मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, कि उस शान्ति के प्रति तेरे चित्त मे प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ, वह आकर्षण अब तक भी विलीन नही हो पाया है। उस आकर्षण को, उस जिज्ञासा को अपने हृदय मे टटोल कर, उसके बहुमान पूर्वक एक बार तो मेरी बात सुन।

भो चेतन ! कभी भक्ति, कभी दया और कभी घृणा के जो अनेक विकल्प इस थोड़ी सी देर मे तेरे चित्त में उत्पन्न होकर, स्वय तुझे व्याकुल बना तेरी शान्ति तुझ से छीन कर ले गए, तेरे घर मे डाका डाल कर तेरा सर्वस्व हरण करके ले गए, तुझको भिखारी व दु:खी बना गए, उनका कारण तेरी ही अपनी कोई भूल है, कोई दूसरा नही। वह भूल, जिसके कारण कि तू अनादि से इसी विकल्प सागर के थपेडे सहता चला आ रहा है। आज सौभाग्य वश तुझे यह रस्ता दिखाई पड़ा, अब इसको मत छोड। उस अपनी भूल के कारण आज तुझे यह भी याद नही रहा, कि जिसको अपने सामने देख कर तू भक्तिवश नत मस्तक हो गया था,वह कोई और नही,वह है वही तेरा पुराना साथी,जिसके साथ प्रेम सहित तू खेला करता था, तथा द्वेष के वश जिसे तू चिड़ा चिड़ा कर तङ्ग किया करता था। स्पर्शन इन्द्रिय से सतप्त हो अनेको बार जिसके शरीर को तूने खड्डी पर बुना, भट्टे मे पकाया। जिह्वा इन्द्रिय की मार को न सह सकने के कारण, जिसके शरीर को अनेको बार तूने कोल्हू मे पेला, छुरी से काटा, बन्दूक की गोली से छेदा व कढ़ाई मे तला। नासिका इन्द्रिय का दास हो जिसके शरीर को तूने अनेको बार भभके में डाल कर उबाला। नेत्र इन्द्रिय के द्वारा मूर्छित हो जिसके शरीर को तूने अनेको बार भूसा भर भर कर अपने कमरे को सजाया। कर्ण इन्द्रिय से जीते गए तूने जिसके शरीर को अनेको बार जन्त्री मे को खीचा. छेदा व भेदा, तथा और भी क्या नही किया ? परन्तु घबरा नही, भय म कर, आज मैं तुझ से बदला लेने को नही आया हूँ, मेरे हृदय में अब किसी के प्रति भी द्वेष नही है। वह पहले की बातें अब मै बिल्कुल छोड चुका हूँ, मुझ पर विश्वास कर, यदि पहले की भांति द्वेषादि भाव बनाए रखे होता तो तुझे आज मुझ मे इस शान्ति के दर्शन न हो पाते, यह शान्ति ही तुझे मेरी सच्चाई की गवाही दे कर विश्वास दिलाने को पर्याप्त है। मैं किसी और देश को निवासी नही। उसी लोक का निवासी हूँ तथा था, जिसका कि तू है। तू स्वप्न नहीं देख रहा है। जो देख रहा है वह सत्य है। परम सत्य है।

"परन्तु यह महान अन्तर कैसा ?" "तू इतना शान्त और मैं वैसा का वैसा ?" तेरे

अन्तर में उत्पन्न होने वाला वह प्रश्न स्वाभाविक ही है। क्योंकि अन्तर स्पष्ट है। इस अन्तर को देख कर यदि मेरी इस शान्ति में तुझे कुछ सार दिखाई देता हो, तो तू यह पूछ, कि क्या किसी प्रकार तुझे भी यह प्राप्त हो सकती है ? हा हां अवश्य हो सकती है। ध्यान पूर्वक विचार, तेरे द्वारा बराबर हने जाने वाले तथा बाधित किये जाने वाले, नि शक्त व बलहीन तेरे साथी ने, जब उसे प्राप्त कर लिया, तो इस ऊ ची व सर्व समर्थ, तथा बुद्धि शाली, मनुष्य अवस्था मे स्थित, क्या तेरे लिए इसका प्राप्त करना कठिन है ? नही ! तेरे लिये तो बडा सहल है। मुझको तो उपाय बताने वाला भी कोई न था, और तुझको तो मैं उपाय वता रहा हूँ। वही उपाय जिसको मैंने अपने जोवन मे अपनाया था, इसी उपाय का अनु रण करके, अपने जीवन मे मेरे कहे अनुसार कुछ फेर फार कर। भूल व भ्रम को छोड, धैर्य रख, साहस कर, तथा आज ही से उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न कर। प्रत्येक जीव बराबर की समर्थ नही रखता। किसी मे शक्ति अधिक होती है। तथा किसी मे कम। यदि तुझ मे शक्ति की हीनता है, तो भी मत घबरा, बडा सहज उपाय बताऊ गा, जिनको अल्प शक्ति का धारी भी पाल सकता है। परन्तु एक बार लक्ष्य अवश्य ऐसा होने का बनाना होगा, जैसा कि मै हूँ।

लक्ष्य पूर्णता का होता है और उपाय क्रम पूर्वक। लक्ष्य एक क्षण मे कर लिया जा सकता है, परन्तु प्राप्ति शनै शनै, हीनाधिक समय मे, लक्ष्य बनाने से जीवन मे बाधा नही आती और उपाय से जीवन मे कुछ परिवर्तन लाना होगा। उपाय प्रारम्भ करने से पहले, मार्ग पर प्रथम पग रखने से पहले, लक्ष्य बना पूर्णता का, जीवन के उस आदर्श का, जिसे तू मुझ मे देख रहा है। अर्थात् सर्व सङ्ग विमुक्तता, निष्परिग्रहता, निरीहता का।

५ नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध

डर मत ! जिस नग्नता मे तुझे कष्ट व दु ख दिखाई दे रहा है, वहा दु.ख है ही नही। वहा तो है शान्ति। विकल्पो का अभाव। इच्छाओ का निरोध। चिन्ताओ से मुक्ति। शान्ति के उस मधुर आस्वाद मे, बाहर की इन तुच्छ बाधाओ की क्या गिनती ? गर्मी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी, मैल व खुजली आदि की बाधाये, उसी समय तक बाधाये है, जब तक कि, शान्ति रस का आस्वाद आता नही। तेरे हृदय मे उत्पन्न हुआ वह करुणा का भाव, तेरे लिए ठीक ही है, क्योकि उस मधुर स्वाद की अनुपस्थिति मे लौकिक जीवन की यह बाधाये स्वभावत. ही बड़ी दिखाई दिया करती है। परन्तु स्वाद के क्षण मे ऐसा नही हुआ करता। सुगन्धि मे मस्त भवरा क्या फूल के बन्द होने की बाधा को उस समय गिनता है ? प्रकाश पर लुभायमान पतग, क्या अग्नि की दाह से उस समय घबराता है ? मार खाते हुए भी क्या बिल्ली, अपने पजे मे आये हुये चूहे को छोड देती है ? मैथुन सेवन के समय, पर स्त्री गामी मनुष्य उसके स्वामी की आवाज सुन लेने पर भी, क्या उससे आने वाले भय को गिनता है ? तथा किसी सौदे मे बहुत बड़ा लाभ का समाचार आने पर तू जाने के लिए, क्या टाग की पीडा से भय खाता है ? कन्या के विवाह के अवसर पर इधर-उधर दौडते हुए तुझे सर्दी या गर्मी लगती है क्या ? तो भला इस अलौकिक आस्वाद के वेदन मे साक्षात् मग्न मुझे सर्दी-गर्मी आदि बाधाओं की क्या चिन्ता ? यहा उनका भान भी होने नही पाता। अत मुझ पर तेरा करुणा भाव निरर्थक है। तू भी इन बाधाओ से भय खाकर निष्परिग्रहता से मत डर। इसमे से तुझे सुख व शान्ति मिलेगी, दु.ख नही।

नग्नता को देख कर तेरे अन्दर जो लज्जा भाव प्रगट हुआ है, वह भी इस आस्वादन मे नि.स्सार है। नग्नता मे लज्जा को अवकाश उसी जगह है जहाँ मन के अन्दर विकार हो। मन विकृत होने पर नग्न रहने वाले को स्वय लज्जा प्रतीत होगी, और उसे देखने वाले को भी। परन्तु जहा लज्जा का स्थान शान्ति व साम्यता ने लिया, जहां जीवो मे पुरुष व स्त्रीपना देखने का भेद भी वन्द हो गया, जहा मनुष्य-तिर्यञ्च, देव व नारकी मे कोई भेद न रहा। जहां सर्वत्र निज जाति स्वरूप चैतन्य का ऐश्वर्य स्वरूप दृष्टिगत होने लगा, वहां द्वैत भाव का विनाश हुआ, स्त्री व माता का भेद मिट गया, पिता व पुत्र एक दीखने लगे, एक ब्रह्म ही मानो सर्वत्र व्यापक रूप से दीखने लगा, वहा कहां अवकाश है चित्त विकार को, तथा नग्नता सम्बन्धी लज्जा को ? और ऐसे साम्य भाव के मन्दिर, रोम रोम से शान्ति प्रवाहित करते उस निष्परिग्रहता के आदर्श स्वरूप नग्न शरीर को देख कर, देखने वाले की दृष्टि उसकी नग्नता पर जाएगी ही क्या ? वह तो दर्शन करेगा उसमें अपनी अभीष्ट शान्ति के।

एक दृष्टान्त है-भागवत पुराण का। एक ऋषि पुत्र अपने पिता से रुष्ठ हो शान्ति की खोज मे निकल भागा। पिता भी उसको पकड़ने के लिए पीछे दौडा। आगे आगे पुत्र और पीछे पीछे पिता दौडे जा रहे हैं। परन्तु पिता वृद्ध होने के कारण उसे पकड़ नही पा रहे है। पुत्र का हृदय केवल एक भाव के अतिरिक्त सर्वत शून्य है। वहा है केवल एक भाव शान्ति की पवित्र उपासना। दशो दिशाओ मे मानो उसे शान्ति ही शान्ति दिखाई दे रही है, और कुछ नही। अपनी धुन मे उसे इतनी भी होश नही कि भागते समय उसकी धोती तन से उतर कर पीछे ही रह गई है। पिता की धोती भी भागते भागते ढीली हो चुकी थी। एक नदी के किनारे जहा कुछ स्त्रिये स्नान करती थी उसकी धोती खुल गई। लज्जा सहित धोती को सम्भालते हुए उसको यह देख कर आश्चर्य हुआ, कि स्त्रियां उससे कुछ शर्मा गई थी, तथा अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न कर रही थी। क्रोध से भरे ऋषि बोले, कि निर्लज्ज ! मुझ बूढे खूसट को देख कर शर्मा रही हो, और वह पच्चीस वर्ष का युवक मेरा पुत्र बिल्कुल नग्न तुम्हारे सामने से भागा चला गया, तब तुम्हे कुछ न हुआ ? स्त्रियो ने उत्तर दिया, कि ऋषि क्रुद्ध न हूजिये, आपसे लज्जित होने का कारण स्वय आपके हृदय मे छिपा वह विकृत भाव है, जिसके आश्रय पर आपने हमारी ओर लक्ष्य करके हमारी लज्जा को ताड़ लिया, और आपके पुत्र से लज्जा न करने का कारण, उसके हृदय की वह निर्मलता थी, जिसके कारण कि वह सम्भवत. यह भी न जान पाया कि उसके अतिरिक्त यहा और भी कोई है।

दूसरे ढङ्ग से भी क्या, आपने आज से ३० वर्ष पूर्व स्वय १० वर्ष तक के नग्न बालको को उस ही अवस्था की नग्न बालिकाओ के साथ खेलते नही देखा ? उस समय उन बालक बालिकाओ को तथा आपको भी उस नग्नता को देख कर लज्जा नही आती थी ? परन्तु आज क्या ऐसा देख सकना आप गवारा कर सकते हैं ? नहो ! कारण कि १० वर्ष तक के बालकों मे भी अब विकार उत्पन्न हो चुका है। आपके हृदय भी आज उतने पवित्र नही है। तभी तो आज नव जात शिशु को भी लगोट लगाने की आवश्यकता पडती है। परन्तु जिनका हृदय इन विकृत भावो से सर्वत: पवित्र हो चुका है, तथा साम्यता का जिनके हृदय मे वास हो चुका है, उन्हे लज्जा से क्या प्रयोजन ?

तन के मैल को देख कर ग्लानि उत्पन्न होना भी तेरे मन का विकार है। जिनकी दृष्टि मे शरीर की अपवित्रता प्रत्यक्ष भासी है, उन्हे स्नान करने से क्या प्रयोजन ? विष्टा के घड़े को ऊपर से धोने से क्या लाभ ? इसका पवित्र होना तो असम्भव है। इस शरीर रूप मन्दिर की पवित्रता तो है

इसके अन्दर बैठे देव की पवित्रता से। यह सुगन्धित है उसकी सुगन्धि से। अर्थात् आत्म शान्ति, सरलता व साम्यता ही इसका वास्तविक स्नान है। जो नित्य ही इस अनुपम गंगा में स्नान करते है, उन्हे इस स्नान से क्या प्रयोजन ? तथा शरीर ही जिनके लिए परिग्रह बन चुका है, इसमे जिनको पृथकत्व भासने लगा है, यह जिनको अपने लिए कुछ भार दीखने लगा है, वह उसकी सेवा मे अपना समय व्यर्थ क्यो खोये ? स्नान के लिए जल आदि माग कर लाने आदि के विकल्प द्वारा चित्त मे अशान्ति क्यो उत्पन्न करे ? उनको तो भोजन करना भी बेगार सरीखा दीखता है। वह बराबर उस समय की प्रतीक्षा मे है, जब कि वह निराहार ही रह सके। और इसी लिए महीनो महीनो के उपवास करके भी अपनी शान्ति से विचलित नही होते। इसी प्रकार अन्य अनेको विकल्प भी खडे नही रह सकते, यदि शान्ति व वीतरागता का मूल्य समझ लिया जाए तो।

६ किञ्चित् मात्र भी परिग्रह का निषेध

"लगोटी रख ले तो क्या हर्ज होता है ? छोटी सी तो बात है ? कोई विशेष हानि भी तो नही है ?" ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। भाई ! तेरी दृष्टि शरीर को ही देख पा रही है। उस शान्ति पर वह अब तक न पहुँच सकी। यदि पहुँच पाती तो यह प्रश्न ही न होता, तू लगोटी मात्र ही को न देख कर-देखता उस लगोटी की रक्षा सम्बन्धी विकल्पो को, जो उसके होने पर चित्त मे उत्पन्न हुए बिना नही रह सकते। इस सम्बन्धी वह कथा आप सबको याद है जिसमे एक लगोटी की रक्षा के लिए, साधु महाराज को पहले बिल्ली, फिर कुत्ता, फिर बकरी और गाय बाँधने की नौबत आई, और गाय के एक खेत मे घुस जाने पर महाराज को जेल के दर्शन करने पडे। अन्य भी एक दृष्टान्त है उस साधु का जो घर घर से एक एक रोटी माग कर खाता था, तथा इसी प्रकार अपना पेट भर लिया करता था। हाथ मे ही किसी से पानी माग कर पी लेता था। परन्तु जिसे एक कटोरी रखना भी गवारा न था। एक भक्त के कहने पर उसने बहुत सस्ती सी एक एलूमोनियम की कटोरी पानी पीने के लिए स्वीकार कर ली। एक दिन सध्या के समय जगल मे जाते समय कटोरी शिवालय के बाहर पडी रह गई। जिसकी याद उसको उस समय आई जबकि शिवालय से एक मील दूर बैठा वह सध्या कर रहा था। बस फिर क्या था। सध्या सम्बन्धी शान्ति भग हो गई। उसका ध्यान ले लिया कटोरी सम्बन्धी विकल्पो ने। कोई उसे उठा ले गया 'तो' ? हाय हाय ! उसका चित्त भी उठा सध्या छोड दी और दौडा हुआ शिवालय के द्वार पर आया। कटोरी वही पडी थी। उठा और लाया। यदि कटोरी न होती तो शाति काहे को भग होती। अपनी भूल पर पछताया और कटोरी को तोड कर फेक दिया। उसी के कारण तो उसकी शान्ति भग हुई थी ना ? तो भाई ! शान्ति का मूल्य ज्ञात हो जाने पर, यह सब वस्तुये यहा तक कि लगोटी मात्र भी व्याकुलता का घर दिखाई देने लगता है। शान्ति की रक्षा के लिए वह सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार है।

दिनांक ५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ५१

जा रही है। जिसको इतने बडे महाराष्ट्र चीन ने अपनाया, जिसकी ओर कि धीरे धीरे हमारा भारत देश भी अब बढ रहा है। इतना ही नही बल्कि समस्त विश्व का अन्तष्करण आज जिसको स्वीकार कर रहा है। तथा शीघ्रातिशीघ्र जिसके प्रचार की प्रतीक्षा की जा रही है। वह दृष्टि है साम्यवाद (Communism) की, अर्थात् समान अधिकार-वाद की। शान्तिके उस पुजारी के हृदयमे, जिसको आज तू अपने आदर्श रूप मे, अपने सामने देख रहा है, तथा भ्रम वश जिसको तूने अकर्मण्य व पृथ्वी का भार मान लिया था, स्वय एक क्रान्ति उत्पन्न हुई। जिस प्रकार ४ व्यक्तियो के अपने कुटुम्ब की आवश्यकताओं को पूरी कर देने के पश्चात् ही आप अपनी आवश्यकता का विचार करते है। जिस प्रकार अपने कुटुम्ब की प्रसन्नता से ही आप अपनी प्रसन्नता मानते हो, उसके सुख मे ही अपना सुख समझते हो, तथा उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग कर भी आपको सन्तोष ही होता है; उसी प्रकार वह योगी जिसकी दृष्टि मे साम्यता ने वास किया है, सर्व ओर से निराश हुई शान्ति ने जिसका आश्रय लिया है, जिसको सर्वत्र अपना ही रूप दिखाई देता है, जिसके लिए सर्व सृष्टि एक ब्रह्म स्वरूप दिखाई देती है, जिसको सर्व प्राणी ईश्वर के आवास भासते है, जिसके लिए समस्त विश्व उसका कुटुम्व है, जिसके लिए उस कुटुम्ब मे से किसी एक की भी पीडा उसकी अपनी पीड़ा है, किसी एक का सुख भी उसका अपना सुख है, यदि वह इस विश्व के लिए अपना सर्वस्व त्याग दे तो क्या आश्चर्य है? तेरी दृष्टि सकुचित है। इसी से उसके अन्तर परिणामो का परिचय पाने मे असमर्थ है। वह विश्व का पिता है। अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओ को, विश्व की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वलिदान कर देने मे उसे प्रसन्नता ही है। क्योकि उसने यह कार्य किसी के दबाव से नही किया है। स्वय विश्व के प्रति अपने कर्तव्य को पहिचान कर किया है। भला ऐसा विश्व पिता, क्या पृथ्वी का भार हो सकता है? यह शब्द कहना तो दूर, सुनते हुए भी कलेजा कांप उठता है। जिसने विश्व के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया, वह पृथ्वी का भार नही बल्कि पृथ्वी का गर्व है। पृथ्वी के पापो का, इसके अपराधो का, व शापो का भार दूर करने वाला है।

८ विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता

आज विश्व भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर प्रगति करते हुए भी शान्ति की दृष्टि से अवनति को ओर जा रहा है। चारो ओर त्राहि त्राहि मची है। नित्य की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के योग्य पर्याप्त सामग्री के अभाव मे असन्तोष बढता जा रहा है। एक दूसरे की ओर सशित दृष्टि से, भय की दृष्टि से, देख रहा है। एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति की ओर, ललचाई ललचाई दृष्टि से देख रहा है। आकाश पर छाये हुए युद्ध के बादलो ने अन्धकार कर दिया है। विश्व जीवन व मृत्यु के झूले मे झूल रहा है। जीवन निराश सा अकेला खडा अपने दिन गिन रहा है। दूसरी ओर अट्टहास करती मृत्यु अपनी अनेको शक्तियो को साथ लिए भय का प्रसार कर रही है। जीवन भार वन चुका है। विश्व स्वय अपने लिए भार बन चुका है। कैसी दयनीय अवस्था है इसकी आज। निष्परिग्रहता ही इसका प्रतिकार है अन्य कुछ भी नही।

९ निष्परिग्रही का विश्व के प्रति उपकार

वीतरागी व शान्त मुद्रा इन योगी जनो को पृथ्वी का भार वताने वाले ओ कृतघ्नी मानव। अव भी सम्भल, यदि जीवन चाहता है तो, अपनी भूल पर पश्चाताप कर, जगत के भार को हरने वाले उन योगियो के अभाव के कारण ही वास्तव में आज जगत का भार वढ गया है। यदि अपने वचनो को वापिस लेकर, तूने पश्चाताप न किया तो अवश्य यह डूबे विना

न रहेगा। यह जगत को क्या दे रहा है ? यह प्रश्न भी बडा भयानक है। वास्तव मे वह, वह कुछ दे रहा है जो कोई नही दे सकता। सुख का उपाय। एक जीवन आदर्श। जिस पर चल कर आज का मानव तथा समस्त विश्व इस भावी मृत्यु से अपनी रक्षा कर सकता है। वह सन्देश जिसका मूल्य त्रिलोक की सम्पत्ति से भी चुकाया नही जा सकता। कोई उस उपदेश को ग्रहण न करे तो उनका क्या दोष ? दूसरा यदि उसे ग्रहण न करे तो वह भी उस मार्ग को छोड दे, यह कोई न्याय नही।

डराने के लिये यह बात कही जा रही हो, ऐसा नही है। वल्कि सिद्धान्तिक सत्य बतोयां जा रहा है। निष्परिग्रही जीवनो के साक्षात् अभाव के कारण, तथा उस आदर्श के प्रति बहुमान के स्थान पर घृणा का प्रवेश हो जाने के कारण ही, आज का मानव दूसरे के प्रति, अपने कर्तव्य से विमुख हुआ, अत्यन्त स्वार्थी बना, दूसरों की आवश्यकताओ की परवाह न करता, दूसरो की शान्ति को पद दलित करता, भूला हुआ, अपनी शान्ति की खोज करने का जो प्रयास कर रहा है क्या उसमे फल लगना सम्भव है ? कदापि नही। दूसरों की शाति को बाधित करके न कोई शांत रहा है और न रह सकेगा। लालच की वढती ज्वाला व अधिकाधिक संचय की भावना, स्वय उसको भस्म कर देगी। उस अग्नि को सन्तोष के द्वारा ही बुझाया जा सकता है, एटम बम के द्वारा नही। निष्परिग्रही आदर्श योगियों के प्रति बहुमान के न रहने के कारण ही मै अपनी मानवी सस्कृति को भूलकर राक्षसी सस्कृति को अपनाने दौड रहा हूँ। केवल शत्रुता, असन्तोष, चिन्ताये व भय ही मानो मेरा गौरव बन गया है।

भो प्राणी ! तनिक विचार तो सही कि कब तक चलेगी यह अवस्था ? तू नही तो तेरी सन्तान इसके दुष्परिणाम से बची न रह सकेगी। आज हमारी भारत सरकार भी देश मे इस असन्तोष वढते के हुए वेग की रोक थाम करने के लिए, अनेको नियम लागू करती जा रही है। यद्यपि यह नियम तुझे भले प्रतीत नही होते। क्यो हो ? सग्रह किया हुआ है न तूने। पूंजीपति जो ठहरा। तुझे क्या परवाह दूसरे की आवश्यकताओ की। तेरा हृदय इसके विरुद्ध उपद्रव मचाने के लिये प्रेरित कर रहा है तुझे। पर क्या करे साहस नही। तेरे विचार वाले देश मे है ही कितने ? धिक्कार है इस स्वार्थ को, जिसने तेरे ही भाइयो के प्रति तुझे इतना क्रूर बना दिया। अब भी सम्भल। भले कोई और न समझे तू तो समझ। तुझ को तो निष्परिग्रही गुरुओ की शरण प्राप्त हुई है। तेरे हृदय मे तो उस आदर्श के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ है। तू तो उन्हे पृथ्वी का भार कहने के लिए तैयार नही। तूने तो उनको जगत का खेवनहार स्वीकार किया है। इस आदर्श से तू तो कुछ ग्रहण कर। आदर्श का सच्चा बहुमान तो वही है, जो अपने जीवन को उस ओर झुका दे, केवल शब्दो मे कहने व पाठ पढने का नाम भक्ति व बहुमान नही है।

१० निष्परिग्रहता का अर्थ

यह आदर्श मूक भाषा मे भी तुझे निष्परिग्रहता का पाठ पढा रहा है। "परिग्रह" अर्थात् "परि+ग्रहण"। 'परि' अर्थात् समन्तात अर्थात् सर्व ओर से ग्रहण। दशो दिशाओ से, हर प्रकार से, न्याय अन्याय व योग्यायोग्य के विवेक बिना निज चैतन्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ग्रहण की भावना व इच्छा का नाम परिग्रह है। इस परिग्रह का त्याग सो निष्परिग्रह। केवल पदार्थ का नाम परिग्रह नही, बल्कि उसके ग्रहण की इच्छा का नाम परिग्रह है। ऐसा न हो तो अत्यन्त

असन्तोषी जीवन बिताने वाले निर्धन जन निष्परिग्रही कहलायेंगे। परन्तु ऐसा नही है। क्योकि यह परिग्रह निषेध वास्तव मे पदार्थों के लिए या आदर्श की नकल के लिए नही कहा जा रहा है। बल्कि उनके ग्रहण की इच्छा के निषेध के लिए कहा जा रहा है। वह भी इसलिए की यह इच्छाये ही अशान्ति व असन्तोष की जननी है ? और इनका अभाव ही सन्तोष व शान्ति है ? जिसे शान्ति के अतिरिक्त कुछ नही चाहिये, उसके हृदय मे कैसे अवकाश पा सकती है यह इच्छाये ? और इच्छाओ के अभाव मे कैसे हो सकता है सम्पत्ति का ग्रहण व सचय ?

सरकारी नियम के दबाव मे नही, बल्कि अपने हित के लिए, स्वय अत्यन्त हर्ष व उल्लास पूर्वक, इन इच्छाओ के त्याग की बात है। किसी के दबाव से किया गया त्याग वास्तव मे त्याग नही। इस परिग्रह अर्थात् सचय की इच्छा के कारण, कितने प्राणो की तुझ से अनेको प्रकार की पीडाये पहुँच रही है ? इसके आधार पर उपजे सकल्प विकल्प के जालो मे फस कर तू, क्या कुछ अनर्थ नही कर रहा है ? हिंसा का एक वडा भाग इसी इच्छा की महान उपज है। अत परिग्रह हिंसा की जननी है। यह महान हिंसा है। सयम का प्रकरण चलता है। जीवन को सयमित बनाने व हिंसा से बचने के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना सर्व सयम निर्मूल्य है।

११ आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश

अहो कैसी उल्टी बात चलती है ? लोक आते हैं प्रभु की पूजा को-इसलिए कि धर्म होगा, जिसके कारण अधिक धन मिलेगा। प्रभु पर छत्र चढाते है इसलिए कि धन मिलेगा। परन्तु यहा बतलाया जा रहा है यह, कि प्रभु का दर्शन करो इसलिए कि उसका आदर्श जीवन मे उतर जाए। जैसा निष्परिग्रही वह है वैसा ही मै भी बन जाऊं। विचित्र बात है। परन्तु आश्चर्य न कर। वही वस्तु दी जा सकती है जो कि किसी के पास हो। इस निष्परिग्रही आदर्श के पास धन है ही कहा, जो तुझे दे देगा। इससे धन की याचना करना भूल है। इसके पास है निष्परिग्रहता, वीतरागता। वह ही यह दे भी सकता है, और दे रहा है। रोम रोम से वीतरागता की किरणे फूटो पडती है , कोई लेने वाला चाहिये। तू इस परम सौभाग्य से वचित न रह। इस वर्तमान गृहस्थ दशा मे भले ही एक दम, इस आदर्श वत्, पूर्ण निष्परिग्रही बनने मे असमर्थ हो। पर धीरे धीरे त्याग का अभ्यास करते रहने से, क्या तेरे अन्दर वैसी ही शक्ति उत्पन्न न हो जाएगी ? अवश्य हो जाएगी। आवश्यक वस्तुओ का न सही, पर अनावश्यक वस्तुओ का त्याग तो सहन ही कर सकता है। और इससे तेरे गृहस्थ मे कोई बाधा भी तो नही आती। गृहस्थ को चलाने के लिये आवश्यकतानुसार धन उपार्जन का न सही, पर आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन का तो त्याग कर सकता है। और धीरे धीरे अपनी आवश्यकताओ के सकोच द्वारा उसमे भी क्रमश. कमी की जा सकती है।

१२ परिग्रह दु ख के रूप में

परिग्रहता की भावनाओ मे अन्धा हुआ तू, दूसरो के प्रति अपने कर्तव्य को भूला तो भूला, परन्तु यह भी भूल गया कि जिसके ग्रहण के पीछे तू सुख के लिये दौड़ रहा है वही तेरे लिये दु ख का कारण वन वैठा है। जिसका सचय तू अपनी रक्षा के लिए करता है, वह स्वय तेरा हनन कर रहा है। तेरी शाति का घात कर रहा है। तू साक्षात् इसमे दु.ख देखता हुआ भी नही देखता, यह महान आश्चर्य है। देख भाई ! मै दर्शाता हूं तुझे इस परिग्रह का स्पष्ट दु.ख। तनिक ध्यान दे इन सुन्दर वस्त्रो की ओर जिनको तूने शरीर की रक्षा के लिए ग्रहण किया, परन्तु जिनकी रक्षा तुझे करनी पड़ रही है। थकावट अनुभव करते रहते भी, तथा वैठने की इच्छा होते हुए भी बैठ नही सकता।

पैन्ट की क्रीज जो बिगड जाएगी। १००० रुपये की साडी पर हुआ जरी का काम जो खुसट जाएगा। आज वस्त्र तेरे लिए नही बल्कि तू वस्त्र के लिये है। क्योकि वस्त्र शरीर की रक्षा के लिये न होकर आज शरीर को सजाने के लिये है। खेद है फिर भी इस वस्त्र को तू सुख का कारण मान रहा है।

क्या कभी ध्यान किया है घर मे पडे उस अडगे की ओर, जिसकी रक्षा तू वर्षो से करता चला आ रहा है। परन्तु जो कभी तेरे उपयोग मे नही आता, दिवाली के समय घर की सफाई करते समय, जब उसका ढेर तेरी दृष्टि के सामने आता है, तो तू स्वय उसको देख कर घबरा जाता है। उसे फेक देने की इच्छा करता है। परन्तु सफाई कर लेने के पश्चात् सामान को यथा स्थान रखते समय पुन. वह अडङ्गा पूर्ववत् अपने अपने स्थान पर पहुच जाता है। और उस क्षणिक घबराहट को, जो तुझे उसे देख कर वरती थी, तू फिर भूल जाता है। तनिक विचार तो कर कि घर मे पड़ा यह सर्व वस्तुओ का ढेर, यदि एक स्थान पर लगा कर देखे, तो कितनी वस्तुए ऐसी होगी, जो तेरे नित्य प्रयोग मे आने वाली है ? यदि सर्व वस्तुए एक हजार हो तो सम्भवत ५० वस्तुए ही ऐसी मिलेगी जो नित्य प्रयोग मे आ रही हो। और कुछ १५० वस्तुए ऐसी मिलेगी जो कदाचित् प्रयोग मे आ जाती हो। परन्तु शेष ८०० वस्तुए तो ऐसी दिखाई देगी उस ढेर मे, जो कई वर्षो से काम नही आई हैं, और न ही जिनकी भविष्य मे कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। या ऐसी है जिनका तेरी दैनिक आवश्यकताओ से तो सम्बन्ध नही, परन्तु नेत्र इन्द्रिय की तृप्ति के लिए, केवल अपनी दृष्टि मे अपने कमरो को सुसज्जित बनाने मात्र के लिए रख छोडी है। कभी विचारा है-इस ओर कि इस अनावश्यक अडगे को उठाने धरने के लिए, इसकी सफाई के लिए, इसकी व्यवस्था के लिए, व इसकी रक्षा के लिये अनेको विकल्पो से गुजरते हुए, तुझे कितनी व्याकुलता होती है ? पर खेद है फिर भी तू उसे सुख का कारण मानता है।

सुख तो है इच्छा की पूर्ति मे। परन्तु क्या धन सचय करने की इच्छा कभी पूरी होनी सम्भव है ? तीन लोक की सम्पत्ति भी जिसको इच्छा मे परमाणु वत् भासती है, उसकी पूर्ति अनन्तानन्त जीवो मे विभाजित उस सीमित सम्पत्ति से कैसे हो सकेगी ? सम्पत्ति सीमित है और इच्छा असीम। इच्छा की पूर्ति के अभाव मे तू कैसे इस धन सचय से सुख प्राप्त कर सकेगा ? यह सचय तो तेरी इच्छा को और भी भडकाने वाला है और इस कारण अधिक अधिक अशान्ति व व्याकुलता का कारण है, परन्तु आश्चर्य है कि इसको ही तू सुख का कारण मान बैठा है।

१३ निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है

भो चेतन ! अधिक धनवान बनने से लाभ भी क्या है ? अधिक धनवान कौन ? क्या इस बात पर विचारा है कभी ? क्या वह, जिसका करोडो रुपया फालतू ही बैंको मे पडा है या किसी फर्म मे लगा है, या वह जिसने सर्वस्व त्याग दिया है ? विचार तो सही कि क्या बैंको आदि मे पडा या तिजोरी मे पडा वह रुपया, या स्वर्ण आदि सम्पत्ति का उसे साक्षात् कोई भोग हो रहा है ? क्या वह उसके प्रयोग मे आ रहा है ? उसका भोग तो कोई और ही कर रहा है, और सन्तोष हो रहा है इसे। क्यो ? केवल इस कारण कि इसकी बुद्धि मे इसके ज्ञान में, एक धारणा पडी है, कि अमुक स्थान पर पडा रुपया मेरा है। बस वह भोग तो रहा है केवल अपने ज्ञान में पडी उस धारणा को, और आनन्द आ रहा है उसे ऐसा, मानो वह स्वय भोग रहा हो धन को। बस इसी प्रकार यदि तू भी सर्व विश्व को अपना कुटुम्ब समझ कर, विश्व रूपी बैंक मे पडी त्रिलोक की सम्पत्ति मे यह धारणा बना ले, कि यह सब मेरी ही है, मेरा कुटुम्ब ही इसे भोग रहा है, तो क्या तुझे वैसा ही

आनन्द न आयेगा, जैसा कि उसे स्वय भोगने से ? इस प्रकार देखने से तू ही बता कि दोनों मे कौन अधिक धनवान प्रतीत होता है ? हीग लगे न फटकरी रग चोखा ही चोखा। बिना धन कमाने के विकल्पों मे फसे तथा बिना अशान्ति मे पडे तीन लोक का अधिपति बनने की बात है। और इस प्रकार वास्तव मे सर्वस्व त्यागी ही यथार्थ धनिक है। भौतिक धन का भी, तथा सन्तोष धन का भी।

वैसा बनने का लक्ष्य बना है, तो क्यो इन दो चार ठीकरो की चमक मे अन्धा हो अपनी शान्ति का गला घोट रहा है। क्यो अपना कर्तव्य भूल बैठा है ? क्यों स्व व पर प्राणो का हनन कर रहा है ? समझ, इधर आ, सन्तोष धार, जीवन की आवश्यकताओ को सीमित कर, तथा उस सीमा से अधिक सचय करने का प्रयास छोड दे। आगरे के प० बनारसी दास जी व प० सदा सुखदास जी का जीवन याद कर। वह भी गृहस्थी थे। जिन्होने शान्ति के लिए अपने ऊपर प्रसन्न हुए डिप्टी से, बजाय यह मागने के कि उसका वेतन बढा दिया जाय, यह मागा था कि उसका वेतन ८ रुपये की बजाय ६ रुपये कर दिया जाये। और काम बजाये ८ घण्टे के छ घण्टे कर दिया जाये। जिससे कि वह शेष दो घण्टे मे अपनी शान्ति की उपासना कर सके। यह उसी समय सम्भव हुआ जबकि उसकी दैनिक आवश्यकताए बहुत कम थी। उनका जीवन सीमित था। भौतिक धन से कही अधिक उनकी दृष्टि मे सन्तोष धन का मूल्य था। वैसा ही तू भी बनने का प्रयत्न कर और तू अनुभव करेगा साक्षात् रूप मे, अपने जीवन मे धीरे धीरे प्रवेश करती उस शान्ति रानी के सुगन्धित श्वास का। यदि निष्परिग्रही आदर्श की शरण मे आया है, यदि वीर प्रभु का व दिगम्बर गुरुओ का उपासक कहलाने मे अपना गौरव समझता है, तो अवश्य अपने जीवन मे उपरोक्त रीति से कुछ न कुछ सन्तोष उत्पन्न कर। सन्तोष धन ही वास्तविक धन है। यह प्रत्येक जीव के स्वामित्व मे पृथक पृथक, अपना अपना ही उत्पन्न होता है। किसी अन्य के द्वारा बटवाया नही जा सकता। अत इच्छा की पूर्ति अर्थात् अभाव हो जाने के कारण यहां ही सुख सम्भव है। तथा सोना, चादी, रुपया, पैसा, घर जायदाद, कपडा, बर्तन, तथा तागा, मोटर, पशु आदि वस्तुओ का व सजावट की वस्तुओं का परिमाण व सीमा बाध कर अपने जीवन को कुछ हल्का बना। आदर्श की शरण प्राप्ति का फल यही है।

२८

—: निर्जरा या तप :—

दिनाक ६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५२

१—तत्व पुनरावृति, २—तप का प्रयोजन, ३—तप की प्रेरणा ४—विना परीक्षा सन्तुष्टि का निषेध, ५—आंशिक तप की सम्भावना. ६—सस्कार तोडने का उपाय, ७—तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व, ८—सवर में निर्जरा, ९—सवर निर्जरा मे अन्तर, ९अ—सवर व निर्जरा में अन्तर, १०—तप की आवश्यकता क्यों, ११—तप द्वारा शक्ति मे वृद्धि, १२—तप में सफलता का क्रम, १३—सस्कारों के प्रति सावधानी, १४—गृहस्थ वातावरण में शान्ति को अवकाश, १५—एक नवीन संस्कार की आवश्यकता, १६—नवीन सस्कार का उत्पत्ति क्रम, १७—अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार, १८—नवीन सस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किञ्चित पुरुपार्थ आवश्यक, १९—कर्तव्य रूप छ क्रियाओं का निर्देश, २०—विनय, २१—वैयावृति, २२—स्वाध्याय, २३—त्याग, २४—सामायिक, २५—सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें, २६—प्रायश्चित की महत्ता व क्रम, २७—परिणामों के भेद प्रभेदों का पढना, २८—परिणाओं का हिसाव पेटा, २९—प्रायश्चित में गुरु साक्षी का महत्व ।

१ तत्व पुनरावृति बात चलती थी यहा से कि मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नही। उसको कैसे प्राप्त किया जाये, यह प्रश्न था। उत्तर मे क्रमश पिछले बहुत दिनो से अनेको प्रकरणो के द्वारा यह बताया गया, कि वास्तव मे शान्ति मुझ से कोई भिन्न पदार्थ नही है, जिसे पकड़ कर कही वाहर से लाया जाने का उद्यम किया जाये। बल्कि मै स्वय शान्ति स्वरूप हूँ। क्योकि मै जीव हूँ और शान्ति जीव का स्वभाव है। हा, यह शान्ति वास्तव मे कुछ बाधित अवश्य ही रही। इतनी कि मुझे यह भी खबर चल नही पाती कि यह मेरे अन्दर है कि बाहर किन्ही मनोरजक पदार्थों मे। इन बाधाओं को यदि दूर कर दिया जाए, तो अन्दर मे ही उस शान्ति का अनुभव हो जाएगा। यह बाधाये दूर की जानी शक्य हैं। क्योकि यह नवीन उत्पन्न की गई है,मेरा स्वभाव नही है। तथा इनको उत्पन्न करने वाला मैं स्वय हूँ। किस प्रकार ? सो बताते हैं। अपने से पृथक किन्ही वाह्य पदार्थो मे अपनी शान्ति की खोज करते रहने के कारण उन बाधाओं की उत्पत्ति होती है, क्योकि उनमे मेरी शान्ति है ही नही। वे अजीव तत्व है। उनका स्वरूप अशान्ति है। इस प्रकार किया जा चुका है जीव व अजीव तत्व का निरुपण।

उनमे से अपनी शान्ति की खोज करते हुए, किन्हो पदार्थों मे इष्टता तया किन्हो मे

अनिष्टता की कल्पनाओ के आधार पर प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाला, तथा स्पष्ट अनुभव मे आने वाला, इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट के विच्छेद सम्बन्धी विकल्प समूह, मेरे अन्तर मे चिन्ता की एक दाह सी उत्पन्न कर देता है। वस क्षण क्षण व नवीन होने वाला यह विकल्प समूह ही शान्ति का बाधक है, यह तत्व आगम भाषा मे 'आस्रव' नाम से पुकारा जाता है। जिस जाति के विकल्प आज किये है, इसी जाति के पहले भी अनन्तो वार कर चुका हूँ, जो अव तक सस्कार रूप से मेरे अन्दर पडे है। यह नवीन नवीन आस्रव रूप विकल्प, सस्कार रूप से पूर्व मे पडे हुवे उस उस जाति के विकल्पों के साथ मिल कर एकमेक होते रहते हैं। अर्थात् मेरे उस जाति के पूर्व कृत्यो का पोषण करते रहते है। और इस प्रकार निर्माण हो जाता है एक पुष्ट सस्कार का, (एक Instinct का), जो आगे आगे के मेरे जीवन मे, स्वत ही मुझे प्रेरित किया करता है-पुन पुन नवीन नवीन विकल्पो रूप उस अपराध को दोहराने के लिये। और इस चक्र मे मै सदा से अपनी शान्ति का घात करता चला आ रहा हू। इस संस्कार पोषण का नाम ही आगम मे वन्ध तत्व कहा है। इस प्रकार आस्रव व वन्ध तत्व भी पहले सविस्तार समझाया जा चुका है।

ऊपर बताये अनुसार निज शान्ति प्रगट करने के लिए इन बाधाओ को अर्थात् नवीन विकल्पो की उपज को जिस किस प्रकार भी दवाते हुए, तथा सस्कारो को धीरे धीरे वल पूर्वक नाश करते हुए, एक दिन उन सस्कारो से रहित अत्यन्त पवित्र अबाधित व शाश्वत् अपनी शान्ति मे स्थित पाया जाना शक्य है। नवीन विकल्पो के इस दमन का नाम ही 'सवर' है। और सस्कारो को धीरे धीरे काटने या झाडने का नाम है 'निर्जरा'। सस्कारो रहित मेरी पूर्ण शान्त दशा को ही आगम कारो ने मोक्ष शब्द का वाच्य वनाया है। इन सवर निर्जरा व मोक्ष तत्वो मे से सवर का प्रकरण आज पिछले कई दिनो से चल रहा है।

सवर के प्रकरण मे केवल कुछ उन साधनो का कथन किया गया है, जिनमे प्रवृत्त हो जाने से कुछ समय के लिये इस जाति के बाधक विकल्प एक वडे अश मे दव जाते है। और मै उतने समय के लिये किसी दूसरे लोक की सैर करने लगता हूँ, अर्थात् जितने समय तक देव प्रतिमा मे शान्ति व वीतरागता के दर्शन करता हुआ-अथवा गुरु के रोम रोम से व विशेषत उसकी मुखाकृति से तथा उसके जीते जागते जीवन से कुछ प्रोत्साहित सा होता हुआ, मै कुछ देर के लिए अपने को स्वय अपने उन विकारात्मक कृत्यो के लिए निन्दने लगता हूँ और मानो एक क्षण के लिए मेरा जीवन भी उसी प्रकार शान्त बन गया है ऐसा सा अनुभव करने लगता हूँ, उस प्रकार के वेदन के प्रति वहुमान उत्पन्न करता हूँ, उतने समय के लिये मैं भूल जाता हूँ अपने दैनिक जीवन को तथा उन विकल्पो को। मै होता हूँ उस समय शान्ति सुधा मे स्नान करता हुआ, किसी दूसरे लोक मे, देव व गुरु के अत्यन्त निकट। यही हालत उनकी वाणी का श्रवण करते व मनन करते अर्थात् स्वाध्याय करते हुए भी किंचित् समय के लिये होती है। और इस प्रकार मै उतने समय के लिये बाधक विकल्पो का दमन अर्थात् सवरण करने मे कुछ सफल अवश्य होता हूँ। इसलिये इस अवस्था में अत्यन्त उपादेय रूप देव पूजा, गुरु उपासना व स्वाध्याय की क्रियाये सवर है।

इसके अतिरिक्त अपने शेष जीवन मे भी, यद्यपि मुख्य नहीं फिर भी किञ्चित् मात्र

इस विकल्प समूह के तीव्र प्रकोप के प्रशमनार्थ, पाचो इन्द्रियो के विषयो मे पडी आसक्तता व मिठास के तथा अनावश्यक विषयो के त्याग, तथा आवश्यक विषयो मे आशिक अनासक्तता के द्वारा दबाते हुए अपने जीवन को सयमित बनाने का उद्यम करने की प्रेरणा दी गई है। क्योकि जितने अशो मे विषयो मे आसक्तता का अभाव हुआ, उतने अशो मे तत्सम्बन्धी विकल्पो का दमन होना अवश्यम्भावी है। इसे इन्द्रिय सयम कह कर बताया गया है। विश्व व्याप. तथा सर्व जीवो मे शान्ति के उपासक अपने सदृश ही एक चैतन्य तत्व के ग्रहण द्वारा प्रगटा, एक ऐसा भाव जिसके कारण कि दूसरे की पीडा अपनी पीडा दिखाई देने लगती है, और दूसरे को सुखी देख कर कुछ प्रसन्नता सी होती है, जन्म ले लेता है। इस भाव विशेष के कारण स्वत दूसरे को बाधा पहुँचाने या पीडा देने का तो प्रश्न ही नही, दूसरे के द्वारा या स्वय ही पीडा को प्राप्त किसी भी छोटे या बडे प्राणी को देख कर मेरा हृदय रो उठता है। इस भाव विशेप को सयम के प्रकरणो मे प्राण सयम या अहिंसा कह कर बताया गया है। क्योकि इस सयम भाव की उत्पत्ति के बिना निज शान्ति की उपासना होनी असम्भव है। अत इसके द्वारा भी द्वेष रूप, या प्रमाद रूप, या कटुता रूप तीव्र दाह जनक विकल्पो का दमन ही होता है। अत यह भी सवर है। सवर तत्व पूरा हुआ और अब चलता है निर्जरा तत्व।

२ तप का प्रयोजन सवर के इन चारो पावो-देव पूजा गुरु उपासना, स्वाध्याय व सयम को सुन व समझ लेने के पश्चात्, तथा यह निश्चय कर लेने के पश्चात्, कि इन चारो से ही किसी न किसी रूप मे बाधक विकल्पो का दमन किया जाना शक्य है, यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि बस क्या इतना ही पर्याप्त है ? नही, नही, प्राणी ! जल्दी मत कर, घबरा भी नही, सुनता रह, क्योकि विपय लम्बा है। अभी तक तो मार्ग का प्रारम्भ ही हुआ है। इस मार्ग की पूर्णता तो बहुत आगे जाकर होगी। सवर से वेखवर, विकल्प सागर मे गोते खाते जीव की तो बात नही, परन्तु जीवन मे से कुछ देर के लिए, या आशिक रूप मे आयु पर्यन्त के लिए भी, केवल इन विकल्पों का रोक देना मात्र पर्याप्त नही है। क्योकि ऐसा करने से भले वे पूर्व के सस्कार आगे को और अधिक पुष्ट न होने पावे तथा वर्तमान मे जीवन कुछ हल्की सी शान्ति लिये हुए अनुभव मे आने लगे, परन्तु पूर्व से डेरा जमाये उन सस्कारो से तो बच न पायेगा। भले ही आज के सवरण के कारण उनको कुछ निद्रा सी या बेहोशी सी आ गई हो, परन्तु तेरे तनिक भी असावधान होने पर, या यह अनुकूल वातावरण बदल जाने पर, या काल चक्र द्वारा जबरदस्ती किसी प्रतिकूल वातावरण मे फेंक दिये जाने पर, क्या यह सचेत होकर एक दम तुझ पर आक्रमण न कर बैठेंगे ? और उस समय सम्भवत उस आक्रमण को तू सह सकने मे असमर्थ होगा, और बह जायेगा पुन उनके द्वारा प्रेरित उसी पहली रौ मे। शत्रु का बीज नाश कर देना ही नीति है। जिस प्रकार कि एक कुशा घास के पाव मे चुभ जाने पर चाणक्य ने उस सारी जङ्गल की कुशा घास का बीज नाश कर दिया था। उसी प्रकार जब तक एक भी सस्कार शेष है, तुझे सन्तोष नही करना चाहिये। बराबर उनके उच्छेद का उद्यम करते रहना चाहिये। थोडा थोडा या अधिक अधिक।

जिस प्रकार कोई राजा अपने शत्रुओ से सावधान होकर उन्हे पराजित करने के लिए, भले पहले उस दल को छेडने की बजाय, जो कुछ छिपा छिपा सा दूर से ही प्रहार करता हो-उस दल का पहले सामना करता है, जो बिल्कुल उसके नगर मे प्रवेश कर गया हो। परन्तु उसे परास्त कर लेने के पश्चात् वह चैन से नही बैठ जाता। बल्कि तुरन्त ही उस छिप कर प्रहार करने वाले शत्रु की ओर

दौडता है ? तथा उन्हें ललकार ललकार कर गुफाओ से वाहर निकालता है। और एक एक का विनाश करता हुआ, तव तक चैन नही लेता, जव तक कि ऐसी अवस्था मे न पहुँच जाए कि उसकी ललकार सुनने वाला कोई न रहे। उसी प्रकार शान्ति नगर का राजा यह भगवान आत्मा आस्रव तथा वन्ध तत्वो से अर्थात् नवीन नवीन विकल्पो व पूर्व सस्कारो से सावधान होकर, उन्हे पराजित करने के लिए-भले पहले सस्कारो को छोडने की वजाय-नवीन विकल्पो को परास्त करे, अर्थात् सवरण करे। परन्तु सवरण करने पर भी वह चैन से नही वैठ जाता, सन्तुष्ट नही होता। वल्कि तुरन्त ही उन संस्कारो पर दौडता है। और क्रम क्रम से एक एक को ललकार कर उससे युद्ध ठानता है। तव तक चैन नही लेता जव तक कि उनका मूलोच्छेदन न कर दे।

तथा जिस प्रकार नवीन जल प्रवेश के मार्ग को रोक देने मात्र से, जोहड़ मे भरे गन्दे पानी के कीटाणुओ से सम्भावित, रोग प्रसार का भय दूर नही हो जाता, वल्कि भय मुक्त होने के लिए इस सम्पूर्ण जल को सूर्य किरणो द्वारा सुखाना आवश्यक है। उसी प्रकार नवीन विकल्पो के प्रवेश को रोक देने मात्र से, अन्तरग मे पडे सस्कारो से सम्भावित विकल्पो के प्रसार का भय दूर नही हो जाता, वल्कि विकल्प मुक्त होने के लिये इन सम्पूर्ण सस्कारो का, अन्तर दृढता, वल व साहस के द्वारा विनाश करना आवश्यक है।

और यह वात आप सवके अनुभव मे भी आ रही है। मन्दिर के अनुकूल वातावरण मे प्रात की इस गुरु वाणी का श्रवण करते हुए, एक घण्टे के लिये भले ही कुछ शान्ति सी, कुछ हल्कापन सा, कुछ अनोखा सा प्रतीत होने लगता है। कि अरे! क्या रखा है इस गृहस्थ जजाल मे, जिस किस प्रकार भी वस अव इसे छोड दे। इतनी तीव्र जिज्ञासा भी कदाचित् उत्पन्न हुई होगी, कि यदि गुरुदेव होते तो अवश्य उनकी शरण को छोड अव मैं घर न जाता। परन्तु मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण मे गये, और वही हाल। कहाँ गई शाति और कहा गये वह विचार, कुछ पता नही चलता ? वही विकल्प जाल, वही अशान्ति। कौन शक्ति है जो मेरी विना इच्छा के मुझे धकेल कर यह सब कुछ करने पर वाध्य करती है ? वास्तव मे अनादि के पडे वे दुष्ट सस्कार अर्थात् वन्ध ही वह शक्ति है जिससे मुझे विकल्प करने की प्रेरणा मिल रही है। इन सस्कारो के प्रति वल व साहस धार कर युद्ध ठानना ही योग्य है। तू वीर की सन्तान है, स्वय वीर वन। इस अध्यात्मिक युद्ध से मत डरना।

देते। क्योकि जानते है कि इस प्रकाश की एक किरण भी यदि हृदय मे प्रवेश पा गई, तो लेने के देने पड गई जायेगे। और इस कारण भय व प्रलोभन के अनेको विकल्पो से कभी भी प्राणी को अवकाश लेने नही देते।

आज जो तुझे यह स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है इसे केवल अपना सौभाग्य समझ। सम्भवत इस अवसर पर आकर इन सस्कारो को कुछ ऊघ आ गई थी, तभी तो यह वातावरण तेरे द्वारा प्राप्त किया जाना सम्भव हो सका है। आज यह सस्कार स्वय अपनी भूल पर पछता रहे है। देख कितने सहमे हुये से प्रतीत हो रहे है आज यह। इनका विरोधी वह प्रकाश, जो प्रवेश कर गया है तेरे अन्दर, उसी से भयभीत है। अब इनको सन्देह हो रहा है-स्वय जीवन का। सोच रहे है यह कि कही यह घर छोडने की नौबत न आ जाये। परन्तु इनके पास वडा सैन्य बल है, घबराये हुए भी यह आसानी से निकलने को तैयार नही। आज यह सामने न आकर छुप छुप कर प्रहार करने की चिन्ता मे है। गाफिल मत होना : जीवन मे जितना समय शेष है, इसे युद्ध स्थल मे लगा देना। यदि वर्तमान मे ही, इस भव मे ही, इनको परास्त न कर सको तो भी कोई चिन्ता नही। इनके बल को आप अवश्य क्षति पहुँचाने में आज भी समर्थ है। यदि आज युद्ध प्रारम्भ कर दिया तो आगे आगे के भवो मे भी तेरी इस ज्ञान किरण को यह छीन न सकेंगे। और इस प्रकार तेरा युद्ध वाधित न हो सकेगा। तीन चार भवो मे बराबर युद्ध को चालू रखते हुये, एक दिन तू इनको पूर्णत परास्त कर देगा। और अबाध शाश्वत् व विकल्प मुक्त शान्ति रानी को बरेगा।

सस्कारो को ललकार ललकार कर इनसे ठाना जाने वाला यह युद्ध ही आगम परिभाषा मे तप कहलाता है। जो कि शान्ति प्राप्ति के मार्ग मे तेरा पाँचवा पग है। अर्थात् निर्जरा तत्व। इसमे बहुत अधिक बल लगाने की आवश्यकता है। और इसी लिये इस तत्व को वडे पराक्रमी व निर्भीक योगी जन ही मुख्यत धारण किया करते है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि इसको तू आंशिक रूप में भी धारण नही कर सकता। तू इतना नपु सक नही है। जितना वल लौकिक कार्यों मे लगाता है, यहां भी लगा। शक्ति को छिपाने के लिये बहाना न बना। यह तेरे हित की वात है।

४ बिना परीक्षा सन्तुष्टि का निषेध

सस्कारो को ललकारने का तात्पर्य है प्रतिकूल वातावरण मे जाकर साधना करना, अब तक की गई साधना की परीक्षा करना। यदि कमी रही है तो दूर करना। जैसा कि पहले बताया जा चुका है। (देखो अध्याय नं० २१ प्रकरण नं० २५) प्राथमिक को मार्ग का प्रारम्भ अर्थात् अपनी साधना अनुकूल वातावरण मे रह कर करनी चाहिये, परन्तु उस वातावरण मे रहते हुये विकल्पो या तीव्र कषायो आदि का दमन हो जाने पर सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिये। क्योकि इनका वास्तविक दमन तभी माना जा सकता है जब कि प्रतिकूल वातावरण मे भी यह उभरने न पावे। यद्यपि साधना का प्रारम्भ प्रतिकूल वातावरण मे नही किया जा सकता, परन्तु अनुकूल वातावरण मे साधना का कुछ फल प्राप्त कर लेने पर, शक्ति मे कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है। बस इस बल के आधार पर अब प्रतिकूल वातावरण मे जाकर उस साधना को परीक्षा करना ही तप है। किसी व्यक्ति को क्रोध उसी समय तो आता है जबकि सामने कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो। यदि विरोधी की अनुपस्थिति मे क्रोध न आने का नाम शान्त चित्तता है, तो लोक में सभी शान्त चित्त कहलायेंगे।

क्योकि कौन ऐसा है जो घर मे बैठा दिवारो से लडता हो, या निष्कारण ही किसी राहगीर से छेड़ छाड करता हो।

एक घटना है पूज्य वर्णी जी के जीवन की। एक दिन वर्णी जी अपनी माता चिरोंजा वाई से कहने लगे, "माता ! मै अब बहुत शान्त हो गया हू।" माता जानती थी कि यह इनका भ्रम था, परन्तु जब तक सिद्ध न कर दे, कैसे कह सकती थी ? अत बोली कि बहुत अच्छी वात है वेटा। और परीक्षा के लिए अवसर की परीक्षा करती रही। अवसर आ गया। एक दिन खीर की चाह हुई वर्णी जी को। माता से स्वीकृति ली, दूध आदि का प्रबन्ध किया, तथा प्रसन्न थे कि आज खीर मिलेगी खाने को। माता ने खीर बनाई, पर साथ मे मलहडी भी अर्थात् छाछ मे चावल उवाल कर नमकीन खीर भी। खाने बैठे तो परोस दी मलहडी। उतावली मे अत्यन्त आसक्तता पूर्वक खाने को वर्णी जी ने हाथ बढाया तो माता बोली "बेटा ! जरा ठण्डी करके खाना, कही मुह न जल जाये। गरम है यह।' पर वर्णी जी को कहा था अवकाश उसे ठण्डी करने के लिये। उतकण्ठा थी तीव्र। पहला चमचा मुह मे डाला। पर है। यह क्या ? यह कैसी खीर ? इतनी मेहनत की, दूध लाया, प्रतीक्षा की घडिया गिनी और यह खीर ? क्रोध आ गया माता पर। थाली फेंक कर मारी। और लगे चलने। माता सब कुछ देखती तो थी ही वोली "कहा जाते हो ? कहती न थी कि ठण्डी करके खाना। लो और परोसती हूँ अब की वार गरम न खाना। और अब की बार परोसी खीर। खाकर चित्त प्रसन्न हो गया-वर्णी जी का। पर वह फेंकी हुई थाली अब भी उनकी शान्ति की खिल्ली उडा रही थी, माता बोली "तुम तो शांत हो गये थे वेटा।" और अब सम्भले वह। "भूल गया था माता। क्षमा करना ! वास्तव मे शांति अभी दूर है।" बस इस प्रकार अपनी साधना की सफलता तब समझो जब कि प्रतिकूल साधनो के उपस्थित हो जाने पर भी शाति मे भङ्ग न पडे। इस प्रयोजन के लिये किया जाता है तप। जिसमे जानबूझ कर, प्रतिकूल ~~[illegible]~~ साधनों को निमन्त्रित किया जाता है, प्रतिकूल वातावरण मे प्रवेश किया जाता है, और वहा जाकर भी इस बात की सावधानी रखी जाती है कि शाति से विचलित न होने पाऊ। कदाचित् अन्तरङ्ग मे क्षोभ आदि प्रगट होने भी लगे, तो उसे अन्दर मे ही दवाने का प्रयत्न किया जाता है। और इस प्रकार अभ्यास करते हुये एक समय वह आ जाता है कि स्वत भी कभी ऐसी प्रतिकूलताये आ पड़े, तो शान्ति निर्बाध रहे, मस्तक पर वल न पडे, मुस्कराहट भग न हो। बस अब जानो कि प्रतिकूलता सम्बन्धी सस्कार टूट चुका है। इसी प्रकार सर्व जाति के सस्कारो के साथ युद्ध करके वल पूर्वक उनकी प्रलय करने का नाम तप है।

दिनाक ७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५२

५ आशिक तप की सम्भावना

तप शब्द सुन कर कुछ डर सा लगता होगा तुझे। परन्तु डर मत। योगियो के द्वारा किये जाने वाले महान तपश्चरण की वात नही कर रहे है यहा। केवल तप के उतने मात्र अंश की वात है, जिससे तुझे किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट का वेदन करना न पड़ेगा। जिसे तू

बडी सरलता से वर्तमान के गृहस्थ जीवन मे भी उतार सकता है। तप का मुख्य अङ्ग तो साधु सम्बन्धी निर्जरा अर्थात् तप के प्रकरण मे बताया जाएगा। वह मुख्यतया योगियों के जीवन मे ही देखा जाता है। तप करने के लिए वास्तव मे बडे बल की आवश्यकता है। और सम्भवत वह बल आज मुझ मे नही है। परन्तु इतना बल अवश्य है कि तप के यहा बताये जाने वाले अङ्ग को तू धारण कर सके। तप की वृद्धि को प्राप्त, योगी जनो को भी उस बल का स्वामित्व एक दम प्राप्त नही हुआ था। बल्कि तेरी जैसी ही अवस्था से इस अल्प शक्ति के योग्य तप को धारण कर करके ही उन्होने धीरे धीरे बल को बढाया था। इसी प्रकार बल के बढ जाने पर उस उत्कृष्ट तप को धारण करके योगी कहलाये है। तू भी अपने योग्य तप को धारण करने के प्रति कुछ उल्लास उत्पन्न कर। इससे तुझे महान लाभ होगा। जो स्वय तेरे अनुभव में आयेगा, और कुछ महीनो मे यह देख कर तू आश्चर्य करेगा, कि तेरे जीवन में एक अन्तर आ रहा है-एक महान अन्तर-जमीन आसमान का अन्तर-रात दिन का अन्तर। एक परिवर्तन आ रहा है, जिसने तुझे किसी अन्ध कूप से निकाल कर सूर्य के प्रकाश में ला खडा किया है।

६ सस्कार तोडने का उपाय शांति प्राप्ति की दिशा में पूर्व सस्कार को तोडने के लिए, तप के द्वारा वर्तमान अल्प स्थिति मे अपनाई जाने वाली, उन क्रिया विशेषो को बताने से पहले इस स्थान पर यह बतला देना आवश्यक है कि किसी भी अच्छे या बुरे लौकिक सस्कार को बनाने का क्रम बताया जा चुका है (देखो अध्याय नं० १६ प्रकरण न० ४) बस उससे उल्टा क्रम सस्कार तोडने का होना चाहिये। यद्यपि सस्कार तोडने के इस क्रम को आप सब जानते है, क्योकि यह आपके अनुभव मे आया हुआ है, परन्तु विश्लेषण न कर सकने के कारण वह जाना हुआ भी न जाने के समान है। क्योकि बिना विश्लेषण किये एक दीखने वाली क्रिया के क्रमिक अङ्गो के भान बिना नवीन रूप से उस क्रिया का प्रारम्भ करके उसके अन्तिम फल को प्राप्त करना असम्भव है। मै आपको यहां कोई नई बात बताने वाला नही हूँ। यह बात वही है जिसे आप सब जानते है। अन्तर केवल इतना ही है कि आप विश्लेषण रहित जानते हैं, और मैं उसी का विश्लेषण करके दिखा रहा हू।

बन्ध तत्व मे संस्कार को बनाने के क्रम का विश्लेषण करते हुये यद्यपि चोर का दृष्टात दिया गया है। परन्तु सुलभता से समझाया जा सके, इस प्रयोजन से यहां गाली के सस्कार को तोडने का दृष्टॉत दिया जा रहा है। आपकी दृष्टि से बहुत से व्यक्ति ऐसे गुजरे होगे, जो हर बात में किसी गाली रूप अश्लील वचन का प्रयोग कर जाते हैं, पर स्वय यह नही जान पाते कि उन्होने कोई भी अयोग्य वचन कहा है। एक लम्बे अभ्यास वश आज वह क्रिया उनकी अबुद्धि पूर्वक की कोटि मे जा चुकी है। इसी को लोक मे तकिया कलाम कह कर पुकारा जाता है। स्वय न जान पाने की बात तो रही दूर, आपके द्वारा सकेत करने पर भी उन्हे आपकी बात पर विश्वास नही आता, और कह बैठते है कि, "नही, नही! मैने तो कोई अश्लील वचन नहीं कहा है। इतना पुष्ट हो गया है उनका वह सस्कार कि उनके विवेक को सर्वत ढक डाला है। दोष करके भी उसका स्वीकार करने को तैयार होते नही-वह। दृष्टात मे उनके सस्कार को तोडने का क्रम बताया है। इनको तोडने के लिये साधक को उत्तरोत्तर अनेको वृद्धिरूप स्थितियो मे से गुजरना पडेगा।

पहली स्थिति तो वह अविवेक पूर्णता का ऊपर कही हुई स्थिति है, जहा कि उनको

दोष का स्वीकार ही नही होता । यह तो है पुरुषार्थ हीनता की स्थिति । इसलिये इसका समावेश तो अभीष्ट मार्ग मे हो ही न सकेगा । हा, इससे आगे की दूसरी स्थिति से मार्ग प्रारम्भ होता है । जबकि आपके सुझाने पर वह विचारने लगे कि, "ठीक हो होगा, गाली अवश्य मेरे मु ह से निकली होगी, नही तो यह मुझे क्यो टोकते । इनको मुझ से कोई द्वेष थोडे ही है । और इस प्रकार आपके कहने पर केवल विश्वास के आधार पर अपने अपराध को स्वीकार कर ले ।

इससे आगे तीसरी स्थिति वह है । जबकि कदाचित् कदाचित् अपने मु ह से निकली गाली पर स्वत ही उसका उपयोग चला जाने पर, वह पहले का अन्धविश्वास निर्णय की कोटि को स्पर्शने लगे, अर्थात उसे यह भान होने लगे, कि हा, " गाली निकलती तो अवश्य है । मेरे मित्र ठीक ही कहा करते हैं ।।" चोथी स्थिति वह है जब कि उसको अपने मु ह से निकली उस गाली की अनिष्टता का भान होने लगे कि " तेरी यह आदत अच्छी नही है । सभ्य व्यक्तियो को यह शोभा नही देती, इसे अवश्य त्यागना चाहिये" । अर्थात अब अपराध सम्बधी निन्दा व उसे छोडने की तीव्र जिज्ञासा उसमे जागृत हो जाए । पाचवी स्थिति वह है कि आपके द्वारा सावधान किये जाने पर तत्क्षण ही वह उसके मु ह से निकला शब्द उसके उपयोग मे आ जाए, और अन्तरग मे अपने उस कृत्य पर पछताने लगे । छठी स्थिति वह है जब कि बिना आप की सहायता के स्वत ही कह चुकने के पश्चात, उसे भान होने लगे कि वह शब्द उसके मु ह से निकल चुका है । तथा अपने उस कृत्य पर पछताने लगे । यहा उसकी यह क्रिया अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आ चुकी है । सातवी स्थिति वह है जब कि आधा शब्द निकला है और आधा शब्द निकलने को ही था, कि उसने उसे बल पूर्वक रोक लिया । तथा हो चुकने वाले आधे कृत्य पर वह अन्दर ही अन्दर अपनी निन्दा कर रहा है । आठवी स्थिति वह है जबकि अन्दर मे बोलने के प्रति अभी प्रयत्न या चचलता हुई ही थी कि उसे इसका पता चल जाता है और वही उसे दबा देता है । बाहर मे बिल्कुल प्रगट होने नही देता, और अन्तर मे भी क्यो प्रगट हुआ उसकी चिन्ता करने लगता है । और नवमी स्थिति वह है जब कि अन्दर मे वह चचलता होनी ही बन्द हो जाती है । बस अब उस का वह सस्कार टूटा जानो ।

गाली का सस्कार तोडने का एक लम्बे समय तक चलने वाला वह पुरुषार्थ, विश्लेषण द्वारा नौ कोटियो मे विभाजित करके दर्शाया गया । इस का यह अर्थ नही कि सर्वत्र नौ ही कोटिया बनाने की आवश्यकता है । तत्व को समझने से मतलब है । यहा ऊपर की नौ स्थितियो मे हम स्पष्ट देख रहे हैं कि प्रत्येक आगे आगे की स्थिति अभीष्ट की सिद्धि मे पहली पहली से कुछ ऊची है । क्योकि आगे आगे सस्कार की शक्ति में कुछ हानि देखी जाती है । यदि ऐसा न हुआ होता तो पुरुषार्थ का आगे बढ कर अन्तिम फल को प्राप्त कर लेना असम्भव था । बस जितने अश मे, प्रति स्थिति, सस्कार की शक्ति मे क्षति आई है, उतने अश में उस संस्कार की निर्जरा है । पूर्ण क्षति का नाम पूर्ण निर्जरा या सस्कार से मुक्ति है । क्रोध के सस्कार को तोडने का भी यही नियम है । अर्थात किसी भी दूषित सस्कार को तोड़ने का यही क्रम है । (१) अपराध का स्वीकार (२)अपराध का अनुभव (३) उसे तोडने की जिज्ञासा व उस कृत्य की निन्दा (४) किसी अन्य की सहायता से उसका अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आना तथा तत्सम्बन्धी पछतावा करना (५) बिना किसी की सहायता के बुद्धि की कोटि मे आना तथा अपने कृत्य पर अपने को धिक्कारना (६) आधा अपराध होने पर आधे को रोक लेना और पछताना (७) सम्पूर्ण

को बाहर प्रगट होने से रोक लेना तथा अन्तर में उठे तत्सम्बधी विकल्प को धिक्कारना (८) अपराध सम्बधी अन्तर जल्प को भी रोक लेना।

७ तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व

बस यही क्रम है, उन पुष्ट सस्कारो को तोडने का जिनके कारण मै अपनी इच्छा के बिना भी अपने अतिरिक्त अन्य चेतन व अचेतन पदार्थो में इष्टता अनिष्टता कर बैठता हूँ और व्यकुलता जनक विकल्प जाल मे फसकर अशान्त हो जाता हूं। परन्तु उपरोक्त दृष्टान्त पर से यह बात भली भाति सिद्ध हो जाती है कि उपरोक्त क्रम सम्बन्धी पुरुषार्थ प्रतिकूल वातावरण मे ही हो सकता है, अनुकूल वातावरण मे नही। क्या घर के एकान्त कमरे मे बैठ कर गाली के सस्कार को तोडने का प्रयत्न किया जा सकता है। जहां कोई दूसरा व्यक्ति ही न हो और बोलने का अवसर ही न मिले तो कैसे चलेगा उस का पुरुषार्थ कैसे पहुंचेगा ऊपर ऊपर की स्थिति मे वहा गाली का शब्द ही न होगा, किस को लायेगा बुद्धि की कोटि मे ? किसके प्रति करेगा पश्चाता ? अर्थात क्रम चलना असम्भव हो जायेगा। यह क्रम तभी चल सकता है जब कि उसके सामने कोई अन्य व्यक्ति हो, जिस से बात करने का अवसर उसे प्राप्त हो, और गाली का शब्द उसके मुह से निकलता हुआ हो।

इसी प्रकार उन उन पदार्थों मे इष्टता अनिष्टता सम्बन्धी संस्कार भी तभी तोडे जाने सम्भव है। जबकि वह पदार्थ इन्द्रियो के विषय बन रहे हो, और विकल्प उठ रहे हों। मन्दिर में बैठ कर यह सस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ किया नही जा सकता। क्योकि जहा पदार्थ भी नही और विकल्प भी नही, वहा किसको बुद्धि की कोटि मे लायेगा ? किस के प्रति करेगा पश्चाताप ? अपने किस कृत्य को धिक्कारेगा ? अर्थात् घर गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण मे रह कर ही यह पुरुषार्थ किया जाना सम्भव है। और वह वातावरण सहज ही आपको प्राप्त है।

८ सवर में निर्जरा

परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मन्दिर मे आने से व सवर अधिकार में बताई गई चार विशेष क्रियाओ से उस पुरुषार्थ की बिल्कुल सिद्धि नही होती। कुछ अशमे यह देव पूजा, गुरु उपासना स्वाध्याय व सयम की सवर के अ ग रूप क्रियाओ से भी इन सस्कारो की क्षति होती है। और उसे आप सब अनुभव कर रहे है। क्योकि यदि ऐसा न हुआ होता तो आप आज उपरोक्त क्रम की चौथी कोटि मे बैठे हुए न होते। अर्थात इस प्रवचन द्वारा प्रे रित हो कर अपने अपने दोषो का स्वीकार अपने जीवन मे उन का अनुभव उन के प्रति घृणा उन को तोडने की जिज्ञासा तथा यहां बताए जाने पर उन दोषो की उपयोग मे पकड व उन के प्रति निंदा, जो इस समय आपके हृदय मे उथल पुथल मचा रही है, कदापि प्रगट न हो सकती।

९ संवर निर्जरा में अन्तर

अत यह बात स्वीकार्य है कि जहा सवर होता है वहाँ निर्जरा भी अवश्य होती है। जहा कुछ समय के लिए अनुकूल वातावरण मे रह कर विकल्पो के दबाने का पुरुषार्थ होता है। वहा सस्कार भी अवश्य क्षीण होते है। परन्तु यहा है प्रकरण निर्जरा की मुख्यता से, अर्थात् सस्कार के प्राबल्य के विच्छेद की मुख्यता से, जो सस्कार कि प्रतिकूल वातावरण मे मुझे सब

कुछ भुला देना है, सुने व सीखे सब पर पानी फेर देता है। तो फिर संवर व निर्जरा मे अन्तर ही क्या रहा ? दोनो एक ही तो है ? नही ऐसा नही है। दोनो मे होने वाला पुरुषार्थ यद्यपि एक ही जाति का है, अर्थात विकल्प के रोकने का ही है। तथापि सवर अनुकूल वातावरण मे रह कर विकल्पो के दवाने का नाम है और निर्जरा प्रतिकूल वातावरणमे रहकर विकल्पों को उत्पन्न ही न होने देने के प्रयत्न का, अर्थात् उत्पन्न होते हुए विकल्पो को उपरोक्त क्रम से रोकने का नाम है। यही इन दोनो मे अन्तर है। सवर मे भी पुरुषार्थ लगाना होता है, वुद्धि पूर्वक कुछ करना होता है, और निर्जरा मे भी। परन्तु सवर मे थोडे वल से भी काम चल जाता है। निर्जरा मे अधिक वल की आवश्यकता है। क्योकि अनुकूल वातावरण की अपेक्षा प्रतिकूल वातावरण मे रह कर कोई काम करना अधिक कठिन है।

अनुकूल वातावरण मे रह कर सवर के साथ साथ होने वाली निर्जरा करने का वल तो हमारे अन्दर है ही। परन्तु प्रतिकूल वातावरण अर्थात गृहस्थी मे रह कर निर्जरा करने के अर्थात सस्कारो की शक्ति अधिकाधिक क्षीण करने के वल से भी आज सौभाग्य वश हम शून्य नही हैं। उसको न छिपा कर वर्तमान मे उस का इस दिशा मे प्रयोग करना कर्तव्य है।

दिनांक ८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५४

९ब संवर व निर्जरा में अन्तर

शान्ति प्राप्ति के मार्ग मे उन सस्कारो को तोडने की वात चलती है, जिनसे प्रेरित होकर [illegible] न चाहते हुए भी मै विकल्प सागर मे गोते खाने लगता हूँ, और व्याकुल हो जाता हूँ। जिसके कारण मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ सम्वन्धी विकल्प समूह मुझे घेर लेता है, और भुला देता है सब सुना व देखा। अर्थात् वातावरण वदला और मै वहा। मन्दिर के अनुकूल वातावरण मे जिस [illegible] प्रकार उद्यम करके, जिन विकल्पो से कुछ समय के लिए किञ्चित् मात्र मुक्ति प्राप्त की थी, गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण मे वही विकल्प अपने पराक्रम द्वारा मुझे वह वात याद करने तक का अवसर आने नही देते इसलिए मेरा कर्तव्य हो जाता है, कुछ पुरुपार्थ और करने का, और अधिक वल लगाने का, प्रतिकूल वातावरण मे रहते हुए।

अनुकूलताओ मे किये गए पुरुपार्थ की अपेक्षा प्रतिकूलताओ मे किये गए पुरुपार्थ मे स्वाभाविक रीति से ही अधिक वल की आवश्यकता होती है। यह वात सिद्ध करने की आवश्यकता नही [illegible] प्रत्यक्ष को प्रमाण नही चाहिये, पूर्वजो की छोडी सम्पत्ति के स्वामित्व मे व्यापार करने के लिए जितना पुरुपार्थ लगाना होता है उससे सैकडो गुणा पुरुपार्थ खाली हाथ व्यापार करने के लिए [illegible] है, यह वात सब के अनुभव मे आई है। वस यही है अन्तर सवर व निर्जरा या तप मे। सवर मे अनुकूल वातावरण मे रहने के कारण कम वल की आवश्यकता होती है। और तप मे प्रतिकूल [illegible] अधिक [illegible]। यद्यपि दोनो दशाओ मे की जाने वाली क्रियायें लगभग समान ही है। [illegible] कार्य भी उतना ही होगा, यह सिद्धान्त है। अत अधिक वल के प्रयोग के [illegible] उन क्रियाओं मे होने वाली निर्जरा अर्थात् सस्कारो की शक्ति मे क्षति अधिक है।

और कम बल प्रयोग के कारण संवर रूप उन क्रियाओ से होने वाली निर्जरा कम है। यही है दोनो मे अन्तर।

१० तप की आवश्यकता क्यो

जब सवर से ही निर्जरा का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। भले थोडा ही सही, तो तप के द्वारा निर्जरा करने की क्या आवश्यकता ? ठीक है भाई ! परन्तु तूने इतना न सोचा कि सस्कार है अनादि काल के पुष्ट किये हुए बडे प्रबल, और उनकी क्षति के लिये मेरे पास समय है थोडा। केवल मनुष्य आयु मात्र। इसलिए जब तक इनकी क्षति वेग के साथ न होगी, तब तक इतने कम समय मे ही उनसे मुक्ति मिलना असम्भव है। अगले भव मे कौन जाने यह ज्ञान और यह उत्साह मिले कि न मिले। परन्तु यदि इसी भव मे इनकी शक्ति को तप द्वारा अत्यन्त क्षीण कर दिया जायेगा, और अपनी शक्ति मे वृद्धि कर ली जायेगी, तो अगले भव मे भी यह मेरे मार्ग मे बाधा डालने मे समर्थ न हो सकेंगे। यही कारण है कि इस मार्ग मे तप अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी बात यह भी तो है,कि वर्तमान मे ही प्रतिकूल वातावरण मे जाकर जिस व्याकुलता का वेदन मुझे करना पडता है, उससे भी तो किसी अश मे बच जाऊगा मै। और वर्तमान का ही मेरा सम्पूर्ण जीवन शान्ति मय बन जाएगा। इस बात को सिद्धि क्या उस समय तक सम्भव है, जब तक कि उस प्रतिकूल वातावरण मे रह कर भी मै कुछ उद्यम न करू, उस अशान्ति से बचने का- ? बस इस उद्यम का नाम ही तो तप है।

११ तप द्वारा शक्ति में वृद्धि

सस्कारों की क्षति का क्रम कल बताया जा चुका है। तप द्वारा उनकी क्रमिक क्षति होते हुए, जीव किस गति से और कैसे भावो से आगे बढता है। आज यह बात बतानी है। हम यह देखते है कि प्रारम्भिक दशा मे किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते हुए प्राणी को कुछ झिझक सी कुछ भय सा हुआ करता है। लौकिक कार्य मे या अलौकिक कार्य मे, सब मे यह बात देखने मे आती है। आस्रव व बन्ध प्रकरण मे चोरी के कार्य सम्बन्धी दृष्टान्त दिया था। वहा भी प्रारम्भ मे चोरी करने वाले उस बालक के हृदय का चित्रण किया था और दिखाया था, कि उस समय कितना भय था उसमे। ज्यो ज्यो वह इस कार्य मे अभ्यस्त होता गया, इसमे हानि होती गई, चोरी के प्रति उसका साहस बढता गया, और एक दिन वह पूरा चोर बन गया।

यहा भी एक व्यापारी का दृष्टान्त ले लीजिये। पहले दिन ही जब किसी व्यापारी पुत्र को देशावर जाने को कहा जाता है माल लाने के लिए, तो कैसी होती है उसके हृदय की स्थिति, सब जानते है। कुछ झिझक सी, कुछ भय सा, "कैसे करूगा सौदा, कहा भोजन करूगा ? प्रबन्ध बने कि न बने ? और भाव मे लुट गया तो ?" खैर जाना तो पडेगा ही। व्यापार प्रारम्भ जो करना है। पहले सौदे मे नुकसान भी रहा तो क्या हुआ ? इससे कुछ सीख जाऊगा। धन हानि भले हो जाए पर अभ्यास लाभ तो हो ही जाएगा "इत्यादि विकल्पो के जाल मे उलझा वह चल देता है माल खरीदने। अपनी ओर से पूरी चतुराई दिखाता है कि किसी सौदे मे नया होने के कारण लुट न ज ए। माल ले आता है। यदि दूसरो की अपेक्षा कुछ ज्यादा दाम दे भी आया हो, तो कोई चिंता नही। पहला अवसर ही तो था। दूसरी बार जायेगा तो यह गलती न करेगा और इसलिए दूसरी बार झिझक व भय नही होना। होता है तो कम। अब की बार होता है उ॰के साथ कुछ उत्साह, कुछ पहली बार के तजुर्बे का, अतः इस

वार धोखा नही खाता। खाता है तो पहले से कम। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर तीसरी व चौथी वार अधिक अधिक उत्साह के साथ जाता है। और एक दिन कुशल व्यापारी वन जाता है।

अलौकिक कार्य सम्वन्धी दृष्टांत में भी यही क्रम है। उपवास करने मे डर लगता है किसी को, अनन्त चौदस आई, उसके साथियो ने उपवास रखा, उसे भी प्रेरणा की गई कि उपवास रखे। परन्तु डरता है, "कैसे रखू, आज तक उपवास करके देखा नही कैसा लगता होगा ? भूख तो सतावेगी ही ? कैसे सहन करु गा ? नही, नही ! मुझ से न होगा।" और अगले ही क्षण कुछ उत्साह के साथ "अरे ! इतना क्यों डरता है। यह छोटे छोटे वच्चे भी तो करते है। क्या तू इनसे भी गया वीता है ? और फिर थोड़ी वाधा हुई भी तो क्या हो जाएगा ? एक ही दिन की तो वात है। सहन कर लीजियो, मरेगा तो नही ?" इत्यादि अनेकों भय पूर्ण विकल्पो में उलझा साहस करके धर ही लेता है-उपवास। कुछ थोड़ी वाधा हुई तो अवश्य, परन्तु इतनी नही जितनी कि वह सोचता था। फलत. "अरे ! कोई अधिक कठिन तो नहीं है। दिन वीत गया शास्त्रादि सुनने में। पूजादि कार्य क्रम में खाना खाने के प्रति त ध्यान ही कब आया ? आया भी तो अत्यन्त अल्प। योही घवराता था। अव मत घवराना। प्रति वर्ष उपवास करना।" इन विचारो के साथ एक उत्साह उत्पन्न हो गया उसमे, और अव प्रतिवर्ष क्रमश. अधिक अधिक उत्साह के साथ उपवास करता है और एक रोज वच्चों का खेल वन जाता है यह उपवास उसके लिए।

किसी क्रिया करने के क्रम का व उससे प्राप्त फल के क्रम का विश्लेषण करके वना लिया जाता है, एक सिद्धान्त, जिसे किसी भी तत्सम्वन्धी दिशा में लागू करने से, (Apply करने से), निकाला जा सकता है एक नवीन आविष्कार और यही है आज के वैज्ञानिक मार्ग का मूल। एक फिलास्फर किसी भी प्रत्यक्ष व अनुभूत विषय पर से उसके क्रम का विश्लेषण करता है, 'क्या' और 'क्यो' के द्वारा और वना डालता है एक सिद्धात। जिसको वैज्ञानिक लागू करता है अपनी कल्पनाओं की दिशा मे और वना डालता है एक आश्चर्यकारी पदार्थ। यह मार्ग भी वैज्ञानिक मार्ग है। अन्तर है केवल इतना कि वह भौतिक विज्ञान है और यह अध्यात्मिक।

वस तो एक फिलास्फर की भांति उपरोक्त दृष्टांतों पर से मुझे किसी एक सिद्धान्त का निर्माण कर लेना चाहिये, जिसको कि अपने अभीष्ट संस्कारों के विनाश रूप मे, मैं लागू कर सकू। दृष्टान्तो पर से यह स्पष्ट है कि (१) किसी भी कार्य के प्रारम्भ में होती है एक झिझक, भय व कायरता (२) एक वार अन्य से प्रेरित होकर जवरदस्ती कुछ कष्ट सह कर भी यदि प्रवृति कर भी ली जाये-उस ओर, तो वह झिझक हो जाती है कुछ कम, और उसके स्थान पर आ जाता है कुछ साहस, कुछ उत्साह। (३) ज्यो ज्यो पुन. पुन. दोहराता है-उस कार्य को, साहस व उत्साह में उत्तरोत्तर होती है वृद्धि, और भय होता है उत्तरोत्तर कम। एक दिन हो जाता है पूर्ण अभ्यस्त और निर्भय।

वस तप में भी इसी प्रकार समझना। (१) प्रतिकूल वातावरण में रहने के कारण शान्ति का उद्यम न कर नही सकता, इस प्रकार का भय है आज। (२) गुरु के उपदेश व जीवन से प्रेरित होकर करू कुछ उद्यम, तो भले अधिक सफलता न मिले पर झिझक हो जायेगी कुछ कम, साहस मे हो जायेगी

कुछ वृद्धि। (३) पुन पुन उस नवीन उपार्जित साहस को लेकर उत्तरोत्तर अधिक अधिक उत्साह के साथ करूंगा इस दिशा मे उद्यम, तो साहस व अन्तर बल मे होगी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा झिझक मे हानि। और (४) एक दिन होऊंगा मै भी उस योगी की दशा मे जिसका बल अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो चुका है, जिसके कारण कि अनेको शारीरिक क्षुधा, तृषा, गर्मी, सर्दी, मच्छर, मक्खी आदि के तिर्यञ्च कृत, प्रकृति कृत अथवा मनुष्य कृत उपसर्ग आ पडने पर भी, इसकी शाति मे बाधा नही पडती। उसके मुख पर विकसित मुस्कराहट भङ्ग नही होती। उसके अन्तर में पीड़ा वेदन सम्बन्धी अनिष्ट आर्तध्यान उत्पन्न नही होता। वह बराबर रहता है अपनी शांति में मग्न। परन्तु ऐसी अवस्था आयेगी क्रम पूर्वक चलने से ही। एक दम वैसा बनने का प्रयत्न करू गा तो फल होगा उल्टा पीडा होगी, उससे आर्तध्यान और उससे कुगति। हर एक कार्य ज्ञान के आधार पर करना चाहिये। नकल करके नही।

१२ तप में सफलता का क्रम

'उस क्रम का प्रारम्भिक पद क्या है, जिसे मै वर्तमान मे अपने जीवन मे घटित कर सकू ?' यह प्रश्न है। सुन भाई ! उसे ही बताते है, सयम के प्रकरण मे विशेषत. सयम के अन्तर्गत इन्द्रियो के विषयो के व जीव हिंसा के दो दो भाग किये गये है। एक वह भाग जिसको त्यागने से मेरे शरीर को, मेरी गृहस्थी को तथा मेरे धनोपार्जन को धक्का लगता है। तथा दूसरा वह भाग, जिस को त्याग देने पर उपरोक्त तीनो बातोमे कुछ बाधा नही आती। बाधा है तो केवल अन्तरग की कुछ आसक्तता मे व प्रमाद मे। इसी प्रकार यहा भी तप सम्बन्धी प्रकरण में भी, प्रतिकूल वातावरण के कीजिये-दो भाग एक भाग है क्षुधा, तृषा, गर्मी, सर्दी, गृहत्याग, एकान्त वास, आतापन योग आदि सम्बन्धी वातावरण, जिसे मै वर्तमान मे सहन नही कर सकता। ऐसे वातावरण में पुरुषार्थ करना तो रहा दूर, मै जाने का साहस भी नही कर सकता। इस प्रकार के वातावरण मे जा कर पुरुपार्थ कर सकते हैं केवल योगी जन, जिन का बल अभ्यास करते करते आज वृद्धि को प्राप्त हो चुका है। दूसरा भाग है वह जो घर मे, बाल बच्चो मे खेलते, दुकान पर व्यापार करते, तथा भोजन करते आदि समयो में हुआ करता है। इस में रह कर मै योग्य पुरुषार्थ बराबर कर सकता हूँ, बिना शरीर को या गृहस्थी को या व्यापार को बाधा पहुँचाये।

अब यह प्रश्न होता है कि इस वातावरण में रह कर किया जाने वाला वह पुरुषार्थ क्या है जो मुझे वर्तमान मे करना चाहिये ? सो भी सुन। बहुत सरल है वह। देख यदि दुकान पर बैठे बैठे ही कुछ कुछ अन्तरालो के पश्चात, इस प्रातःकाल की मन्दिर में अनुभव हुई कुछ बातो को याद करने का प्रयत्न करे, तो क्या याद न आयेगी ? और इन को याद करने मात्र से तुझे क्या कुछ बाधा पहुँचेगी ? ग्राहक आ जाये तो उससे बात कीजिये। छोड दीजिये उस याद करने सम्बन्धी बात को। पर जब ग्राहक चला जाये और कुछ खाली बैठे हो, उस समय बजाय इधर उधर की बाते करने या विचारने के, यह विचार भी तो कर सकते हो कि 'अरे फिर भूल गया सुबह वाली बात, क्या सुन रहा था सुबह वहां? कैसी शान्ति सी प्रतीत हो रही थी वहा ? इत्यादि।" बस यही वह पुरुषार्थ है जिस की ओर कि सकेत किया जा रहा है।

इस पुरुषार्थ मे तेरे किसी भी बहाने को अवकाश न मिलेगा। साहस बटोर, कुछ उद्यम कर, पामरता त्याग। यह तेरे कल्याण की बात है। ऐसी भावना करते समय अवश्य तुझे कुछ शान्ति का

वेदन होगा,जिसके फल स्वरूप इस भावना के प्रति अगले अगले अवसरो मे उत्तरोत्तर बढा हुआ बहुमान व झुकाव उत्पन्न होगा, जिज्ञासा मे उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। याद करने का उत्साह भी उत्तरोत्तर बढेगा ? और इसी कारण सस्कारो की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जायेगी। भावना करने का अन्तराल उत्तरोत्तर कम होता जायेगा, पहले दो घण्टे के पश्चात् ऐसा-समय आता था, फिर एक घण्टे, फिर आगे जाकर आध घण्टे के पश्चात्, और इसी प्रकार आगे भी। भावना की विशुद्धि उत्तरोत्तर बढती जायेगी। और एक समय आयेगा जबकि तू बाहर मे ग्राहक को सौदा तोलता होगा और अन्तरङ्ग मे शान्ति मे स्नान करता होगा। इसी दशा का नाम है भोग भोगते भी वैरागी, जैसा कि अनेको ज्ञानियो ने बताया है।

दिनाक ६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७५

१३ सस्कारों के प्रति सावधानी

तप का प्रकरण चलता है। अर्थात् उन सस्कारो के विनाश की या निर्जरा की बात चलती है, जो कि मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करते ही, मेरे अन्दर मेरी बिना इच्छा के भी कुछ ऐसे विकल्प उत्पन्न कर देते है, जिनमें ग्रस्त होकर मै व्याकुल हो उठता हू। इस रागात्मक वातावरण रूपी पवन को प्राप्त हो जो भड़क उठते है और मेरे अन्दर चिन्ताओ की अतीव दाह उत्पन्न करके मुझे भस्म करने लगते है। धन्य है आज का अवसर कि मुझे यह तो खबर चली, कि गृहस्थी मे उठने वाले विकल्प भी कोई वस्तु है। जिसे मै नही चाहता और यदि कोई उपाय हो तो हर मूल्य पर इनसे बचने को तैयार हूँ। इससे पहले तो किसी अन्धकार वश, बुद्धि के किसी विकार वश, मुझे इस दाह मे भी कुछ मिठास सी ही प्रतीत होती थी, और किसी मूल्य पर भी मै इससे छूटना नही चाहता था। एक महान अन्तर पड़ गया है आज मेरे अभिप्राय मे। चूम ले इस अभिप्राय को। बहुमान प्रगट कर इसके प्रति, हर प्रकार रक्षा कर इसकी। यहाँ अनेको चोर है इस अभिप्राय के, इस जिज्ञासा के, देख कही निकल न जाये तेरी तिजोरी से यह-तीन लोक की सम्पत्ति से भी अधिक मूल्यवान जिज्ञासा।

यह सब किसका प्रसाद है ? कहा से आई यह मेरे अन्दर ? यह सब है उन गुरुओ का प्रसाद, उस वीतराग वाणी का प्रसाद, जिनकी उपासना कि मै सवर के अर्थ में पहले कर चुका हूँ। कितना महान फल मिला है मुझे उस उपासना का, बिल्कुल प्रत्यक्ष तथा आज ही। कल की प्रतीक्षा करने की भी आवश्यकता न पडी। यह है उस निर्जरा का प्रताप, जो सवर के साथ साथ धीमे धीमे हुई है। गुरुओ का प्रसाद प्राप्त करके आज मुझसे अधिक सौभाग्यशाली कौन होगा ? अत्यन्त मूल्यवान इस शांति की जिज्ञासा को प्राप्त करके मुझसे अधिक धनवान कौन होगा ?

१४ गृहस्थ वातावरण में भी शान्ति के पुरुषार्थ को अवकाश

यद्यपि मन्दिर के अनुकूल वातावरण में रहते हुए मैं उस शान्ति का तनिक वेदन कर आया हूँ, परन्तु गृहस्थी के उस वातावरण मे आकर जबकि मैं घर होता हूँ, बीवी बच्चों से बातें करता या भोजन करता होता हूँ, दुकान पर ग्राहक से बाते करता, या माल बेचता या खरीदता होता हूँ, दफतर में अपने स्वामी से सलाह करता या अपने आधीन को कुछ आज्ञा देता होता हूँ मोटर या रेल मे यात्रा करता होता हूं, मार्ग मे गमन

करता होता हूँ तब वह शान्ति कहाँ चली जाती है ? मै नही जानता। वहां रहते हुए भी उसको कैसे स्थायी रखी जा सके, और विशेषतया ऐसी स्थिति मे, जब कि मै उस उपरोक्त वातारण को अनिष्ट जानते हुए भी, तथा उसको छोडना चाहते हुए भी, छोडने मे समर्थ नही हूँ अथवा जब कि मै उस प्रकार की कठिन तपस्या करने को समर्थ नही हू, जैसा कि योगी जन करते है। वह कौन सा तप है जो मै ऐसी स्थिति मे रहते हुए भी कर सकू और किंचित् मात्र अपने जीवन मे सफल हो सकू।

निराश मत हो प्रभु ! भय भी मत कर। तुझे वह सब योगियो वाला, क्षुधादि बाधाओ को जीतने वाला, तप करने को नही कहा जाएगा। कुछ ऐसा तप बताया जायेगा। जो तू सुविधा पूर्वक कर सकेगा। केवल शक्ति को न छिपा कर वैसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है जिससे कि तेरी गृहस्थी को, तेरी सम्पत्ति या तेरे शरीर को भी कोई बाधा न होगी।

देख उस गृहस्थी वातावरण का विश्लेषण करके मुझे यह बता, कि क्या उसमे बीतने वाला तेरा सारा का सारा समय किसी आवश्यक कार्य करने मे ही व्यतीत होता है, या बीच बीच मे कभी ऐसे अन्तराल भी आ जाते है, जब कि तू न बीबी बच्चो से बाते करता हो, न ग्राहक से, अर्थात् कोई भी आवश्यक कार्य न करता हो ? बिल्कुल खालो या तो बैठा हो, या अकेला कही चला जा रहा हो, या लेटा हुआ हो। ओह ! ऐसे अवसर तो एक दो नही अनेको आते है, सारे दिन मे। कोई छोटा होता है और कोई बड़ा, अर्थात् कभी अन्तराल ५ मिण्ट का होता है और कभी घण्टों का भी।

भला यह तो बता कि तू क्या काम किया करता है इन अन्तरालो मे ? कुछ विशेष कार्य नही, केवल कुछ कल्पनाए, कुछ चितायें इस जाति की जो तुझे व्याकुलता के वेग मे बहा कर ले जाती हैं। भाव घट गया है माल का (५००००) पचास हजार का माल पड़ा है घर में। क्या होगा ? कोई आशंका सी ? यदि यह सत्य हो गई, "तो ?" ब्लड प्रैशर का रोग बता दिया है डाक्टर ने। बडा भयानक है यह। हार्ट फेल करने का कारण। एक आशका सी ? यह सत्य हो गई "तो ?" और इसी प्रकार की अनेको निराधार कल्पनाये, जिन का आधार है केवल अनुमान व सशय। और यदि कोई सौभाग्य वश आ कर बीच मे टोक दे मुझे, अर्थात मेरे उपयोग को इधर से हटा कर खीच ले अपनी ओर तो मै बडा ही कुछ प्रसन्न सा हो जाता हू। अच्छा ही हुआ यह ग्राहक आ गया। क्या अच्छा होता कि हर समय ही ग्राहक खडे रहते मेरे पास, और मुझे ऐसी कल्पनाये करने का अवसर ही न मिल पाता। अर्थात् करता हूँ इस आशका जनित "तो" सम्बन्धी चिन्ताये, जिन के न आने को ही अपना सौभाग्य मानता है।

तब तो बहुत सरल हो गया तेरे लिये किसी आवश्यक काय को छोड़ने की या उस मे बाधा डालने की आवश्यकता नही। केवल उन फालतू वाले अतरालो का दुरुपयोग न करके सदुपयोग कर। किस प्रकार,सो सुन। यह पहले बताया जा चुका है कि अभिप्राय या लक्ष्य पूर्णता का होता है परंतु अभिप्राय के साथ साथ कार्य भी पूर्ण हो जाय यह नियम नही। हां यह नियम अवश्य है, कि कार्य करने के प्रति पुरुषार्थ अवश्य प्रारम्भ किया जाता है-यदि उपाय सबधी कुछ जानकारी हो तो। तुझ मे भी इस वातावरण

में रहते रहते शान्त रहने का सच्चा व दृढ अभिप्राय तो बन चुका है। और जीवन में उस अभिप्राय की किञ्चित् मात्र पूर्ति के पुरुषार्थ करने को भी उद्यत हुआ है। परन्तु उपाय का भान न होने के कारण तेरा यह अभिप्राय कुछ बेकार सा ही पड़ा है। ले तो वही उपाय बताते हैं।

१५ एक नवीन संस्कार की आवश्यकता किसी शत्रु का विनाश करने के लिये, नीतिज्ञ व्यक्ति उसके मुकाबले मे उसके अन्य शत्रु को भड़का कर खड़ा कर दिया करते हैं, और इस प्रकार बिना स्वयं आफ़त मे पड़े अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लिया करते हैं। बस तू भी यदि बिना उपसर्गादि सहे इन सस्कारों का विनाश करना चाहता है तो, इनके सामने ही किसी इनके विरोधी अन्य संस्कार को लाकर खड़ा कर दे, अर्थात प्रयत्न कर कि तेरे अन्दर एक नवीन जाति का कोई विशेष शुभ संस्कार उत्पन्न हो जाये, जिस का झुकाव हर समय शान्ति के अभिप्राय को प्रेरित करना हो, जिस प्रकार कि वर्तमान सस्कारों का झुकाव भोगो आदि सम्बन्धी अभिप्राय को प्रेरित करना रहा करता है।

१६ नवीन संस्कार का उत्पत्ति क्रम किसी भी संस्कार को उत्पन्न करने का उपाय आस्रव बन्ध तत्व प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। बस वही प्रयोग इस अभीष्ट सस्कार को उत्पन्न करने के लिए भी लागू करना है। वैज्ञानिक ढंग यही है किसी कार्य को करने का, कि अनुभूत कार्य का विश्लेषण करके "वह किस प्रकार तथा किस क्रम से करने मे आया है।" यह जाना जाये, और उस क्रम को एक सिद्धान्तिक रूप दे दिया जाये, हर कार्य पर लागू करने के लिए। पूर्व संस्कार को उत्पन्न करने के क्रम में बताया गया था, बुद्धि पूर्वक की कोटि से प्रारम्भ करके उसका अबुद्धि पूर्वक की कोटि मे चले जाना। यहां भी यह नवीन सस्कार पहले पहले बुद्धि पूर्वक बल लगा कर प्रारम्भ करना होगा, और इस बुद्धि के प्रयोग को तब तक चालू रखते रहना होगा जब तक दृढ व पुष्ट हो कर वह अबुद्धि की कोटि में न चला जाये।

क्या है यह बुद्धि का प्रयोग, यही अब बताता हूं। मैं जीवन मे कुछ ऐसा प्रयत्न रखूं कि भले ही काम के अवसरो में न सही, परन्तु उन फालतू अवसरों मे तो मुझे वह बात जो प्रात.काल मन्दिर मे देखी थी, सुनी थी, विचारी थी, व धारी थी, उपयोग मे आ ही जाये। अर्थात् उन अवसरों मे यदि कल्पनाये ही करनी हैं तो बजाए उपरोक्त कल्पनाओ के, कुछ अन्य जाति की कल्पना क्यो न करूं। उस जाति की कल्पनाए, जिससे कि वह अवसर उतने अपने काल के लिए स्वयं सुन्दर बन जाये, शान्त बन जाये, तथा अगले अवसरों को भी वैसा बनने की प्रेरणा दे। और इस प्रकार उन फालतू अवसरों को उपयोगी बना लूं। यह ठीक है कि पहले पहले उन सर्व ही फालतू अवसरों को उपयोगी बनाने मे मैं सम्भवत. सफल न हो पाऊं, परन्तु यदि प्रयत्न करूं तो क्या यह भी सम्भव नही, कि उन सर्व अवसरो में से कोई एक या दो अवसर कदाचित् कदाचित् मै उपयोगी बना सकूं ? ऐसा हो जाना अवश्य सम्भव है। उपयोगी बने हुये उस अवसर मे, स्वभावतः ही अनुभव में आई कोई अलौकिक शान्ति, मेरे पूर्व के अभिप्राय को और पुष्ट कर देगी। कल के प्रवचन मे बताये अनुसार विरोधी संस्कार को किञ्चित् क्षति पहुँचायेगी। सफलता के प्रति मेरे अन्दर में पडे संशय को दूर कर देगी कुछ साहस में वृद्धि करेगी। और मैं और और उद्यमी बन कर शेष रहे अन्य अवसरों मे भी, उन बातो को उपयोग मे लाने का प्रयत्न करूंगा। तथा एक दिन सफल हो जाऊंगा उन सर्व फालतू अवसरो को उपयोगी बनाने मे।

इतने पर ही बस न होगा। इस बात का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नही, कि उत्पन्न हुई उस शान्ति से प्रेरित होकर यह मेरा पुरुषार्थ बराबर आगे बढ़ता चला जायेगा-इस दिशा मे-कि धीरे धीरे उन उपयुक्त अवसरो की गिनती मे वृद्धि होने लगे, और अब कदाचित् कदाचित् ग्राहक आदि से बाते करते या अन्य कोई आवश्यक कार्य करते हुए भी थोडी देर के लिए, मेरे उपयोग मे वह बात आ जाये। केवल बुद्धि पूर्वक का पुरुषार्थ ही नही, पूर्व का अभ्यास भी अबुद्धि पूर्वक इस कार्य मे मेरी सहायता करता रहेगा। आगे आगे उपयोगी अवसरो की गिनती मे ही वृद्धि न होगी, वल्कि उनके काल मे भी बराबर वृद्धि होती चली जायेगी। और इस प्रकार बराबर दो दिशाओं मे वृद्धि होते होते, एक दिन ऐसा आ जायेगा, जब कि यह सर्व अवसर मिल कर एक धार बन जायेगे। अर्थात् उस प्रकार का उपयोग बराबर अन्दर मे बना रहेगा। चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, नहाते, सोते, हर समय ही वह उपयोग अन्दर मे छिपा हुआ, कुछ हल्की हल्की चुटकियां लिया करेगा। मैं बाहर में तो सौदा तोलता हुआ हूँगा ग्राहक को, और अन्दर मे वेदन करता हूँगा उन हल्की हल्की चुटकियों का। अब वह बात उस वातावरण मे भी मै भूल न पाऊगा, जैसा कि पहले हो जाया करता था, और यही तो था मेरा प्रयोजन, जिसकी सिद्धि क्रम पर चलने से हो गई।

१७ अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार जिस प्रकार अभ्यस्त हो जाने के पश्चात् कोई बुद्धि पूर्वक का विशेष पुरुषार्थ उस दिशा मे करना नही पड़ता है, वह कार्य थोडे से इशारे मात्र मे ही स्वय चलता रहता है। जिस प्रकार बडे परिश्रम से बुद्धि पूर्वक पद विक्षेप का अभ्यास करने वाला बालक अभ्यस्त हो जाने पर मात्र थोडे से इशारे से दौड़ने तक लगता है। उसे अपनी बुद्धि को विशेषतया उस दिशा में लगाने की आवश्यकता नही होती। पाँव से चलते हुए भी वह बुद्धि से कुछ और और विचारने का ही काम लिया करता है। इसी प्रकार उपरोक्त अभ्यस्त दशा हो जाने पर उस साधक गृहस्थ की बुद्धि भले ही बाहर मे किसी और दिशा का कार्य करती रहे, पर अन्तरङ्ग का वह प्रयोजनीभूत कार्य अबुद्धि पूर्वक की कोटि मे आकर एक सस्कार का रूप धारण कर चुका है वह सस्कार जो कि पूर्व अनेको संस्कारो को परास्त करने मे समर्थ है। जिसका विश्वास हो जाता है उस महान अन्तर की प्रतीति से, जो हमारे पूर्व की अशान्ति व वर्तमान की किञ्चित् शान्ति के बीच साक्षात् अनुभव मे आ रहा है।

१८ नवीन सस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किंचित् पुरुषार्थ अबुद्धि पूर्वक का तात्पर्य यहा यह न समझ बैठना कि बिना किसी भी पुरुषार्थ के वह अवस्था बराबर बनी रहेगी, नही कुछ पुरुषार्थ अवश्य लगाना होगा। उस धारा को बराबर प्रवाहित करने के लिये। यह बात अवश्य है कि उस पुरुषार्थ में लगाये जाने वाला बल प्रारम्भ मे लगाये जाने वाले बल से बहुत कम है। जिस प्रकार कि लोटे में पानी भर कर उसमे डोरी बाँध कर घुमाएं तो, पहले चक्कर मे झटका देते समय कुछ अधिक बल लगाना पड़ता है। और सावधानी पूर्वक लगाना पडेगा, कि कही पानी बिखर न जाये, परन्तु एक चक्कर खा लेने के पश्चात् आगे भी उसे घुमाता रखने के लिये भले ही उतना बल व उतनी सावधानी न रखे। परन्तु प्रत्येक चक्कर के साथ अगुली का एक धीमा सा सकेत तो देना ही पडेगा। कार्य प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् उसे चालू रखने के लिए जो यह थोडा सा बल लगाना पडता है। इसे आज के वैज्ञानिक इञ्जीनियर एक्सीलिरेशन (Acceleration) के नाम से कहते है। तथा गणित के द्वारा

भी व लोग इस प्रक्रिया विशेष मे प्रयुक्त बल को (Acceleration Power को) प्रारम्भ में प्रयुक्त बल की (Starting Power की) अपेक्षा कई गुणी हीन सिद्ध कर रहे है। मोटर स्टार्ट(Start) करते समय सैकिंड गीयर(Second Gear) पर चलाया जाता है। और एक बार चलने के पश्चात् अन्तिम गीयर पर डाल दी जाती है। फस्ट या सैकिण्ड गीयर पर उसकी गति भी धीमी होती है और पट्रोल भी अधिक खाती है, और अन्तिम गीयर पर उसकी गति भी तीव्र हो जाती है और पट्रोल भी बहुत कम खाती है। अर्थात् आरम्भ मे अधिक बल लगा कर भी कम काम कर पाती है। और चालू हो जाने के पश्चात् कम बल लगाने से भी अधिक काम कर पाती है। यही वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र लागू हुआ जानना।

दिनाक १० अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ५९

१९ कर्तव्य रूप छ क्रियाओं का निर्देश, अनादि काल से पुष्ट हुए उन दुष्ट संस्कारो को, जो कि मेरे न चाहे भी मुझे उन गृहस्थ के वातावरण मे जाने पर, मानो जबरदस्ती खीच कर व्याकुलता के सागर मे धकेल देते है, उसे नाश करने के उपाय, अर्थात् निर्जरा के उपाय तप का प्रकरण है। इस अल्प भूमिका मे रहते हुए, किस प्रकार यथा योग्य तप किया जाना सम्भव है? और किस प्रकार, क्यो, और किस क्रम से, वह वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, खण्डित रूप से एक धारा रूप बना जाता है। तथा किस प्रकार मेरे अन्दर शान्ति अकुर उगता है, व साहस तथा बल मे वृद्धि करता है। यह बाते कल के प्रकरण मे चल चुकी है। आज वह प्रक्रिया विशेष चलती है जिनको कि जीवन के पूर्व सकेतित खाली अवसरो मे मुझे अपने जीवन का प्रयोग क्षेत्र बनाना है। वह प्रक्रिया बाह्य मे नही अन्तरङ्ग मे ही करनी होगी, केवल चिन्ताओ मे, केवल नवीन जाति की कुछ कल्पनाओ मे करनी होगी। क्योकि बाह्य क्रिया करने की शक्ति वर्तमान मे मुझ में नही है। इस प्रक्रिया को छ भागो मे बाटा जा सकता है। (१) विनय, (२) वैयावृत्य, (३) स्वाध्याय, (४) त्याग, (५) सामायिक, (६) प्रायश्चित। क्रम पूर्वक उन छ बातो को बताते हैं।

२० विनय प्रात काल मन्दिर मे दर्शन करते समय और गुरु की प्रत्यक्ष व परोक्ष भक्ति करते समय, जिस शान्ति के दर्शन किये थे, उनमे जिस वीतरागता का दर्शन किया था, उनमे से जिस मुस्कराहट का वह मधुर शान्ति बरसाती आकृति का प्रवेश हुआ था-मेरे हृदय में, जिस साम्यता का सचार देखा था उनके अन्तस्थल मे, निन्दक व वन्दक में समानता का जो विचित्र भाव देखा था उनके जीवन मे, जिसके कारण दीखती थी उनमे निश्चलता, निश्चितता व निर्विकल्पता, जिसके कारण वह रही थी मानो शान्ति की शीतल गङ्गा, जिसके कारण हो रही थी मानो समस्त विश्व पर शान्ति सुधा की वर्षा, ऐसी ही उनकी शान्ति के दर्शन करने का मै प्रयत्न करू-उन प्रतिकूल वातावरण मे पडे खाली अवसरो मे। और तत्क्षण स्वय वेदन में आने वाली शान्ति के प्रति उत्पन्न करू एक उत्कण्ठा जिसके कारण कि उत्पन्न हो जाये मेरे अन्दर एक क्षणिक कृत कृत्यता, और फल स्वरूप उसके प्रति का व उन देव व गुरु का स्वाभाविक तीव्र बहुमान, भक्ति व विनय। इस प्रक्रिया का नाम है "विनय तप"। यथार्थ विनय तप तो होता है गुरुओ को, उन योगियो का जीवन ही इन सर्व गुणो मयी बन गया है। परन्तु आशिक

रूप से तथा कुछ क्षणो के लिये ऐसे विचारो मे निमग्न होने के कारण, उस समय मेरा जीवन भी रङ्गा जायेगा उसी रङ्ग मे। इसलिए इसका नाम तप कहने मे अतिशयोक्ति न होगी।

२१ वैयावृति तप इस प्रकार क्षणिक शान्ति का वेदन अपने जीवन मे कर लेने के पश्चात्, जब मै सस्कारो के द्वारा प्रेरित किया गया च्युत हो जाऊगा-इस अवस्था से, तो क्या होगी मेरी दशा, यह बात अनुमान मे आ जाती है। एक उस पक्षी वत् जो जा रहा हो आकाश मे ऊची ऊची उडाने भरता, और किसी व्याध के तीर से घायल हुआ, गिर पडे पृथ्वी पर फडफडाता हुआ। अवकाश पाकर पुन वही उद्यम, पुनः वही शान्ति की उडान, और फिर सस्कारो के द्वारा घायल। और इसी प्रकार बार बार गिरा दिया जाकर भी, मेरा पुरुषार्थ रहेगा पुन पुन. उसी अवस्था को प्राप्त करने का, और यह क्रिया कृत्रिम न होगी बल्कि स्वाभाविक होगी जिसे उस रसास्वादन के द्वारा प्रेरणा मिलती रहेगी। इस प्रकार शान्ति और अशान्ति के भूले मे भूलते मेरा प्रयत्न बराबर यह रहेगा कि वहा से च्युत न होने पाऊ, अधिक से अधिक देर वहा ठहर सकू। इस पुरुषार्थ का नाम ही अपनी वैयावृत्ति व अपनी सेवा है, जो अशान्ति रूपी रोग से अपनी रक्षा करने के लिए, अथवा रोग आ पडने पर उसे दूर करने के लिए मुझे स्वभावत होगी ही। इस प्रकार की वैयावृति तो होती है वास्तव मे योगी जनो को, जिन पर संस्कार का जोर चलना ही बन्द हो गया है, जो कि उस शाति से च्युत ही नही होते। परन्तु उन्ही का प्रतिबिम्ब होने के कारण मेरा यह पुरुषार्थ भी वैयावृति नाम का तप है। अपने जीवन मे इस जाति की वैयावृति हो जाने पर, क्या मै स्वभावत. ही उन दूसरे जीवो को शान्ति से च्युत होते हुए व तड़फते हुए देख सकू गा, जिनको पूर्ण रूपेण व आँशिक रूपेण उसका रसास्वाद हो रहा हो? क्या मुझसे यह सहन हो सकेगा? उनको देखकर यदि मेरे हृदय मे स्वाभाविक तड़फन न हो जाये तो उसका यह अर्थ होगा कि मुझे शान्ति के प्रति आन्तरिक बहुमान नही है। अत उनको अर्थात् मुनि को, उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य श्रावक को, अथवा उस गृहस्थ को जिसे निज स्वरूप की शान्ति रूप अवस्था का साक्षात्कार हुआ है, ऐसी अवस्था मे देख कर स्वभावत ही मेरे अन्दर एक तड़फ उत्पन्न हो जायेगी-जिसके कारण, इस अभिप्राय से, कि जिस किस प्रकार भी इसकी दुर्लभ शान्ति पुन. उसे लौट आये, मै जुट जाऊ गा उसकी बाह्य व अभ्यन्तर सेवा मे, बाह्य से अपने शरीर द्वारा या धन द्वारा उसके शरीर की सेवा, रोग का प्रतिकार आदि, अथवा उसकी आर्थिक स्थिति के सुधार सम्बन्धी और अभ्यन्तर से उपदेश आदि देकर पुन. उसमे धैर्य व साहस उत्पन्न कराने सम्बन्धी। और यह कहलाएगी पर की वैयावृति।

२२ स्वाध्याय तप प्रात. मन्दिर मे बैठ कर स्वाध्याय मे जो पढा था, अथवा प्रवचन मे जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बाते जो विषद रीति से समझ मे न आ पाई, आपको उन अपने खाली अवसरो मे विचारनी चाहिये कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है? उस वाक्य व शब्द का आपकी शान्ति की सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है? यदि कुछ नही तो वास्तव मे अर्थ ही ठीक नही हुआ। शास्त्र में लिखा एक एक शब्द शान्ति का द्योतक है। उसको ठीक रीति से समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्ग मे अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वय बोल कर बता नही सकता। उसमे लिखे शब्द अवश्य सकेत कर रहे है, किसी ऐसी दिशा मे, जिधर आपकी शान्ति का निवास है। उस दिशा का अनुमान लगाना तथा उस अनुमान की परीक्षा अनुभव के आधार पर करना आपका काम है। अथवा कुछ ऐसी भी बातों का जो विशद रूप से समझ मे आ गई थी, बहुमान पूर्वक व हृदय के उस दिशा मे बहाव पूर्वक

विचारना चाहिये। इनके अतिरिक्त किसी जिज्ञासु को उन समझे हुए अर्थों का ठीक रीति से कल्याण भावना पूर्वक उपदेश देने को भी स्वाध्याय नाम का तप कहते हैं। क्योकि यह प्रक्रिया प्रतिकूल वातावरण मे रह कर आश्रय रहित की जा रही है। यथार्थ स्वाध्याय तप तो योगियो को ही होता है। जो जीवन के प्रति क्षण निज शान्ति के वेदन रूप स्व-अध्ययन ही किया करते है। परन्तु उतने मात्र अवसर के लिए आपको भी उसी भाव का आंशिक वेदन हो जाने के कारण, आपकी अल्प भूमिका मे यह स्वाध्याय नाम का तप ही कहलायेगा। (स्वाध्याय का विशेष स्वरूप देखो अध्याय नं० २३ में)

२३ त्याग तप चौथा तप व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग नाम का तप है। यथार्थ व्युत्सर्ग तो योगियो को ही होता है, जिन्होने इस गृहस्थ के सर्व जंजालों से मुह मोड लिया है। यहां तक कि साथ साथ रहने वाले इस शरीर से भी अन्तरङ्ग मे नाता तोड दिया है, इस पर अनेको बाधाये, क्षुधादि की, या मनुष्य कृत, तिर्यञ्च कृत, देव कृत, प्रकृति कृत, उपसर्गो की आ पडने पर भी, जो कुछ परवाह नहीं करते। धीर वीर बने अपने आन्तरिक सुख मे बराबर मग्न रहते हैं। परन्तु इस अल्प भूमिका मे यह तप एक गृहस्थी को भी होता है। इन्द्रिय सयम के प्रकरण मे बताये अनुसार यथा योग्य विषयो के त्याग के अतिरिक्त (देखो अध्याय न० २५) वह त्याग करता है दान के रूप मे, जिसकी बात आगे आगे आ जाएगी दान के प्रकरण मे।

२४ सामायिक तप और पाचवे तप का नाम है सामायिक। सामायिक का स्वरूप जरा स्पष्ट रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि इसके सम्बन्ध मे बहुत भ्रम है, और यह मेरी इस शान्ति प्राप्ति की मूल बात है। जो कुछ भी किया जा रहा है या बताया जा रहा है या जिसका अब तक अभ्यास कराया गया है, सब इसकी सिद्धि के लिये। यही वह पुरुषार्थ है जो तत्क्षण शान्ति प्रदायक है। सामायिक अर्थात् समता, राग द्वेषादि मिश्रित विकल्पो का अभाव, शान्ति मे स्थिति, वीतरागता। इस लक्ष्ण के अन्तरग मे प्रगट हुए बिना कोई भी धार्मिक बाह्य कार्य सामायिक नही कही जा सकती, और इस प्रयोजन के अन्तरङ्ग मे प्रगट होने पर लौकिक कार्य भी सामायिक कही जाती है।

बड़ी विचित्र बात सुन रहे है। आज तक तो ऐसा सुनते रहे कि मन्दिर मे बैठ कर, शरीर को निश्चित करके, हाथ मे माला ले, अथवा अगुलियो पर, १०८ बार क्रमश गिनते हुए मुख से णमोकार मन्त्र का उच्चारण धीरे धीरे कर देने से जो जाप किया, या कोई भक्तामर आदि का पाठ किया, वही सामायिक है। इसके अतिरिक्त और क्या ? आपको आश्चर्य होगा, जबकि बड़ी निर्भीकता से इसको सामायिक न कह कर ढोग कहा जायेगा। परन्तु घबराइये नही सामायिक का यथार्थ स्वरूप सुन कर तर्क पूर्वक इस बात की सत्यता का अनुमान भली भाति लगा सकोगे।

उपरोक्त वक्तव्य का यह अर्थ नही कि णमोकार मन्त्र उच्चारण का या भक्तामर आदि के पाठो का निषेध किया जा रहा है। बल्कि यहा तो सामायिक का प्रकरण है। यदि इन क्रियाओ से भी सामायिक का प्रयोजन साम्यता व शान्ति सिद्ध हो जाये, तो बेशक यह क्रियाये भी सामायिक की कोटि में गिनी जायेगी। और कोई ज्ञानी व अनुभवी जन इन्ही क्रियाओ के रूप मे सच्ची सामायिक करते भी हैं। उसका निषेध नही है। निषेध है उस क्रिया का जो कि अन्तरङ्ग प्रयोजन से निरपेक्ष बरत

रही है। कुछ अभ्यस्त बन जाने के कारण यह मन्त्र व पाठोच्चारण वास्तव मे आज सस्कार की कोटि मे जा चुके है। इनको उच्चारण करते समय बुद्धि का प्रयोग करने की आवश्यकता नही पडती। यह क्रिया कुछ मैकेनिक (Mechanic) सी हो गई है, अर्थात् मन कही भी घूमता रहे, कैसे भी विकल्पो का निर्माण करता रहे, परन्तु ग्रामोफोन के रिकार्ड वत् मुह अपना काम करता ही रहेगा, और हाथ अपना। मुझे स्वय को इतना भी पता न चल पायेगा, कि किस प्रयोजन को लेकर मै यहाँ बैठा हूँ। अन्तरग घूमता है राग द्वेष के ससार मे और बाह्य मे यह बगले जैसा रूप। भला ढोंग न कहे तो क्या कहे इसे ? यह क्रिया जब कभी पहले करनी प्रारम्भ की थी, तब तो बुद्धि की कोटि मे रह कर ही की थी, परन्तु तब तो इसका यथार्थ प्रयोग किया नही, और अब जबकि स्वय वह अबुद्धि की कोटि मे जा चुकी है। बुद्धि लगा कर भी मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर नही सकती यह, अत· वेकार है।

तो सामायिक किस प्रकार की जाये ? यह प्रश्न है। लीजिये, छोड़ दीजिये इस मैकेनिक प्रक्रिया को या किसी भी रटे हुए पाठ आदि के आश्रय व उच्चारण को, और स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उठाइये कुछ विचार अपने अन्तरग मे, गद्य मे या पद्य या मात्र अपने जल्प मे। देखिये कितना पुरुषार्थ करना पडेगा आपको इस क्रिया मे। बुद्धि या उपयोग का कार्य एक दिशा मे चल सकना सम्भव होने के कारण इस प्रक्रिया के करते हुए आपके मन को जबरदस्ती उन विचारो मे ही केन्द्रित रहना पडेगा। वह अपनी इच्छा से इधर उधर न भाग सकेगा। फलतः लौकिक रीति के मेरे तेरे आदि विकल्प रुक जायेंगे। वीतरागता, निर्विकल्पता, व शान्ति का वेदन होने लगेगा। बस हो गई सामायिक के प्रयोजन की सिद्धि। अत बुद्धि पूर्वक कुछ विशेष जाति के विचार या विकल्प उत्पन्न करने का नाम ही सामायिक है।

२५ सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें

वे विचार क्या हैं जो इस अवसर पर उत्पन्न किये जाये ? सुन ! बताते है ? वास्तव मे तो किसी भी पदार्थ सम्बन्धी यहा तक कि धन सम्पत्ति अथवा शरीर कुटुम्ब सम्बन्धी भी विचार, यदि मेरे-तेरे, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र अच्छा-बुरा आदि कल्पनाओ से रहित हो, तो इस प्रक्रिया मे इष्ट हैं। ज्ञान धारा मे रगी सर्व विचारणाये सामायिक रूप है और कर्म धारा मे रगी णमोकार मन्त्र की जाप तक भी सामायिक नही कही जा सकती (ज्ञान व कर्म धाराके लिए देखो अधिकार नं० १७ प्रकरण नं० ५) क्योकि पदार्थ का जानना अनिष्ट नही, अपराध नही, अशान्ति का कारण नही, यह कल्पनाये ही अपराध हैं, अशान्ति की कारण हैं। परन्तु सम्भवत इस प्रथम भूमिका मे अभ्यास न होने के कारण उन पदार्थो सम्बन्धी विचार की उत्पत्ति के साथ साथ वे कल्पनाये भी उत्पन्न हुए विना न रह सकेंगी। अत उनके विचार करने के लिये आपको कहा न जायेगा। इतनी शक्ति योगी व अधिक अभ्यस्त जनो को ही प्राप्त है कि रागोत्पाद पदार्थो सम्बन्धी विचार करते हुए भी वे रागात्मक विकल्प उत्पन्न न होने दे। केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र रूप से उन्हे जाने।

कूप मण्डूक बन कर यह उपरोक्त विचार नही किये जा सकते। इनके लिए कुछ सर्व व्यापक दृष्टि, विश्व प्रसारित दृष्टि करनी होगी। जैसे कि धन के सम्बन्ध मे विचार करते समय एक गृहस्थी अपनी आर्थिक परिस्थिति, (Economy) जो कि केवल ५ व्यक्तियो तक सीमित है, के आधार

पर ही अपनी हानि लाभ का भाव बनाता है। इन ५ व्यक्तियों में यह धन रहे या यह ही इसका भोग करे तो सार्थक हुआ. परन्तु इन ५ से बाहर अन्य कोई इसका भोग करे तो कुछ नुकसान हुआ। शोक का व द्वेष का कारण हुआ। जवाहर लाल इसी बात को देश की अर्थ व्यवस्था के आधार पर विचारता है। भले आपको टोटा पड़े या लाभ हो जाये, आप रोवे या हंसे, यदि धन देश में ही रहते हुये आपके पास से मेरे पास आ गया तो कोई नुकसान नही हुआ, परन्तु यदि अमेरिका को भेजना पड़े तो बड़ा नुकसान हुआ। द्वेष तथा शोक का कारण होगा। और यदि एक विश्व दृष्टि इस बात का विचार करे तो व्यक्ति रोवे या हसे, किसी देश से आये या किसी देश से निकले, परन्तु कोई हानि होती न लाभ। विश्व का ही है और विश्व मे ही रहा। स्थान परिवर्तन मात्र से विश्व मे कोई हानि नही पड़ी। द्वेष व शोक को अवकाश ही न रहा और इसी कारण विश्व प्रसारित दृष्टि के द्वारा देखने वाला पदार्थों को देखता है एक अजायबघर मे रखी वस्तुओ वत्, केवल ज्ञाता दृष्टा बन कर। परन्तु सकुचित दृष्टि वाला देखता है उन्ही वस्तुओं को दुकानो व अपने घर मे सजी वस्तुओ वत्, उनके ग्रहण व भोग की भावना सहित, रागी द्वेषी होकर। अत. विश्व दृष्टि का उन्ही पदार्थो सम्बन्धी विचार करना सामायिक है, और संकुचित दृष्टि का वही विचार रागात्मक।

१—इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों विचार हैं, जिनमे राग की उत्पत्ति को अवकाश नही। परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब कि मेरी दृष्टि या तो अत्यन्त संकुचित हो जहां कि मुझे मेरी शान्ति या स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई ही न दे। और या हो अत्यन्त विस्तृत जहां युगपत् समस्त विश्व दिखाई दे। मध्यवर्ती सब दृष्टियां रागात्मक हैं। यहां दृष्टि का तात्पर्य श्रुत ज्ञानात्मक विचार दृष्टि है, केवल ज्ञानात्मक न समझना। संकुचित दृष्टि में तो "मैं एक अकेला, सर्व विकल्पों तथा चार कोटि के पर पदार्थो से रहित, ज्ञान ज्योति भगवान आत्मा, यह यहां अनुभव मे बैठा साक्षात् दीख रहा हूं" इस प्रकार के विचार की सहभावी अलौकिक शान्ति में तन्मयता हो जाती है। यह ही एक विचार है दूसरा नही।

२—विस्तृत दृष्टि में किये जाने वाले अनेको विचार है, उन्हें बताता हूं। पहला विचार आज्ञा विषय कहलाता है। अर्थात् आज तक जीवादि तत्व सम्बन्धी बाते सुन व समझ कर जो हिताहित सम्बन्धी विवेक बुद्धि प्रगट हुई, उसके अवधारण पूर्वक, संवर निर्जरा प्रकरण मे बताये अनुसार किञ्चित् उद्यम करने के कारण प्रगटी जो शान्ति, उसके साथ जोड़ बैठाते हुये गुरु की जीवादि तत्वों सम्बन्धी देशना का विचार। जैसे "मैं चैतन्य हूँ, भूल कर आज तक शरीर को मैं माना, नवीन नवीन विकल्प उत्पन्न करके रागात्मक संस्कार बांधे, और व्याकुल बना रहा। आज सौभाग्य से गुरु देव की देशना प्राप्त हुई, कर्तव्य अकर्तव्य जाना, हिताहित पहिचाना। देव पूजादि संवर सम्बन्धी व विनयादि निर्जरा सम्बन्धी कुछ उद्यम जीवन मे प्रगट किया। फलत: कुछ शान्ति मिली, जिसे पाकर आज मैं कृत्य कृत्य हुआ जाता हूँ, यह सब गुरुदेव की देशना का ही तो प्रताप है।" और इसी प्रकार के बहुमान सम्बन्धी विचार आज्ञा विषय कहलाते हैं।

३—दूसरा उपाय विषय नाम का विचार है। इसमे यह विचारा जाता है कि आज तक मैं कितना अभागा रहा कि शान्ति के दर्शन भी न कर पाया? मेरा अभाव तो कभी हुआ न था.

चला तो अनादि काल से ही आ रहा हूँ, परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज तक इसकी ओर की जिज्ञासा ही मेरे अन्दर हुई नही। कितना अभागा था मै ? और यह सर्व जगत भी इसी हालत मे पडा है। कितने दु खी है यह सर्व जगत के प्राणी, बेचारे को यह भी पता नही कि वह दु खी है कि सुखी। बेहोश पडे है मानो, कितने अभागे है बेचारे ? इत्यादि।

३—तीसरा विपाक विषय नाम का विचार है इसमे यह विचारा जाता है "कि कितने दुष्ट तथा प्रबल है यह सस्कार, कि जिनके पाले पडे आज तक मुझे हित की बुद्धि ही नही उपजी। तथा यह सर्व जगत के प्राणी भी तो उसके आधीन हुए नाच रहे है आज। पर सावधान रहने की आवश्यकता है इनके प्रहार से। इनको जडमूल से उखाडना ही मेरा कर्तव्य है। आज मुझको प्रकाश मिला है गुरुदेव से। अब इन्हे छोडना ही पडेगा मेरा देश। इनके एक बच्चे को भी आज्ञा न मिलेगी यहा रहने की। आज तक इसके परतत्र रहा, पर अब न रहूँगा। इत्यादि।

४—चौथा है सस्थान विषय नाम का विचार। इसका बहुत अधिक विस्तार है, अर्हंत देव के, व सिद्ध प्रभु के शान्त चैतन्य व अमूर्तिक आकार का विचार करते हुए, तथा गुरु देव की शान्ति मे स्नान करती आकृति को सामने रखते हुए, पच परमेष्ठी का स्मरण व चितवन। शब्दो मात्र का नही बल्कि गुणो का। या गुणो सहित उनके वाचक शब्दो का। गुणो मे भी शरीर के गुणो का नही बल्कि चैतन्य के वीतरागता, साम्यता व शान्ति आदि गुणो का। यह भी सस्थान विषय है। अथवा विनय तप मे बताया गया विचार भी इसी मे समावेश पा सकता है।

विशाल दृष्टि के अन्तर्गत भी अनेको विचार है। सृष्टि का सुन्दर चित्रण जैसा कि प्राण सयम के अन्तर्गत चार प्रकार से करने मे आया है। *(देखो अध्याय न० २६ प्रकरण न० २४)* समस्त विश्व को ईश्वर के अर्थात् मेरे निवास स्थान के रूप मे विचारना, सर्व विश्व को ईश्वर के अर्थात् मेरे द्वारा सृजन की हुई ईश्वरीय सृष्टि के रूप मे देखना, सर्व विश्व को एक ब्रह्म अर्थात् एक चैतन्य या सर्वत्र 'मै' के रूप मे देखना, इनके अतिरिक्त समस्त विश्व को एक अजायबघर के रूप मे देखना जहा अनेको चित्र विचित्र जड व चैतन्य पदार्थ, अनेको पृथ्वीए किस सुन्दरता के साथ सजाई गई है। एक प्रदेश पर की सुन्दर रचना को देखना, सर्व पदार्थ हैं, है और है। सदा से स्थित। स्थित रहते हुए भी किस प्रकार से अठखेलिया कर रहे है। जैसे सागर मे मछली। कभी रूप बदल कर तथा कभी स्थान बदल कर। इस प्रकार वस्तु के उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप को देखना।

और भी विश्व को देखना एक अपने विराट रूप मे, मेरे द्वारा सृजन की गई यह सृष्टि जिसका चित्रण प्राण सयम के अन्तर्गत करने मे आया है मानो मेरे अन्दर से निकल निकल कर मुझ मे ही समाई जा रही है, क्योकि जितने भी यह रूप दिखाई दे रहे है यहा, यह सर्व मेरी ही तो अवस्थाये है। मेरे द्वारा अनेको बार धारण की गई है-भूतकाल मे, तथा सम्भवत अनेको बार धारण करनी पडे भविष्यत् काल मे। अपनी रुचि के अनुसार मै इनका निर्माण करता व संहार करता चला आ रहा हूं, अथवा उस ही मे उनमज्जन व निमज्जन करती जल कल्लोलो से कल्लोलित यह कोई महान सागर है, जहा उत्पत्ति व विनाश होते हुये भी न कुछ उत्पन्न हो रहा है न विनाश। यह [illegible] जी के द्वारा

अर्जुन को गीता मे दर्शाया गया 'मेरा' अर्थात् 'मैं' का स्वरूप। लोक गीता मे कथित 'मै' का अर्थ कृष्ण समझ कर भूल खा बैठते है। वह बेचारे यह नही जानते कि अध्यात्म भाषा मे 'मै' का प्रयोग होता है, उस अर्थ मे जिसमे कि मै स्वय पिछले दो महीने से कर रहा हू। अर्थात् सर्व प्राणियो मे अपना अपना "अह प्रत्यय"। सर्व प्राणियो मे से उठने वाली अपनी अपनी "मै" ऐसी पुकार। और इस प्रकार गीता का वह विराट रूप तथा ईश्वर के निवासादि अनेको चित्रण कृष्ण जी का नही, बल्कि है सबका, प्रत्येक प्राणी का अपना अपना, चैतन्य सामान्य का रूप, अर्थात् मेरा रूप। अपने सम्पूर्ण अनादि काल से अब तक के जीवन को, अपने सामने फैला कर एक दम देखू तो सही, इसके अतिरिक्त दिखाई भी क्या देगा ? अनेक रूपो का निर्माण व उसी मे लीनता। और मै अब भी ज्यो का त्यो। चैतन्य का चैतन्य। शान्ति का पुञ्ज।

और भी अनेको विचार इसी जाति के किये जा सकते है। मन्दिर या किसी एकान्त स्थान मे जाकर, एक निश्चित समय के लिए, तथा जीवन के उन फालतू अवसरो मे। यह है सामायिक का स्वरूप। साम्यता व शान्ति की जननी सामायिक है-इस मार्ग का प्रमुख द्वार तथा परम कर्तव्य। जिसके द्वारा गृहस्थी मे कोई बाधा पडे बिना भी मै कहीं से कही पहुँच सकता हूँ।

दिनाक ११ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ५७

अशान्ति की ओर खीचने वाले अनादि के पुष्ट दुष्ट सस्कारो को तोडने की बात चलती है। बाहर मे कुछ नही करना है। करना है सब कुछ अन्तरङ्ग मे, अपने परिणामो मे, अपने विचारो मे। और इतना मै इस गृहस्थ दशा मे भी कर सकता हू। देव, गुरु व अपनी शान्ति के प्रति विनय, स्वय या दूसरा कोई शान्ति से च्युत हो जावे तो पुन वही स्थित करना या कराना रूप वैयावृत्ति, शान्ति के अर्थ या विकल्पो से उपयोग को घुमाने के अर्थ शास्त्र मे या प्रवचन मे सुने सिद्धातो का अर्थ-मनन चिन्तन रूप स्वाध्याय, और अनेको विचारणाओ व कल्पनाओ के आधार पर की जाने वाली साम्यता की जननी सामायिक, इन चार की बात चल चुकी।

करेगा ? तेरे हित की बात है, अवश्य कर । कब तक हाय रुपया, हाय रुपया करता रहेगा ? अपनी निधि को सम्भालने का अवसर आया है । साहस ठान और उठ ।

इस पाचवी बात को नाम है पश्चाताप । लौकिक गाली के सस्कार को तोडने के क्रम मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि सस्कार को तोडने के लिये तीन बातो की आवश्यकता है । अपराध का स्वीकार, उसे दूर करने की सच्ची जिज्ञासा, तथा अपने कृत्य पर पश्चाताप । गुरुओ के समझाने से अपराध का स्वीकार आपको हुआ हैं, उसे दूर करने की जिज्ञासा भी है । बस अब पश्चाताप की कमी है । यहा पश्चाताप का अर्थ है अपने किये हुए किसी राग द्वेषोत्पादक कार्य के प्रति अपने को धिक्कारना । "मैने यह कार्य किया क्यो ?" इस प्रकार अपनी निन्दा करना । "मै वडा कृतघ्नी हूँ ।" इत्यादि प्रकार आत्म ग्लानि करना । "कब करू गा इसे दूर", इस प्रकार ग्रहण करना । जान बूझ कर अपराध करके "Sorry" कहने का तात्पर्य नही है । यह आत्मग्लानि स्वाभाविक होनी चाहिये । वैसी ही जैसी कि माता को अपने पुत्र को पीटने पर उत्पन्न होती है ।

अपराधो के प्रति सावधान बने रहने के लिये पद पद पर इस पश्चाताप या आत्म-ग्लानि को बनाये रखने की आवश्यकता है । इस बात का अभ्यास करना होगा । इस अभ्यास करने के लिए तीन बातो को ध्यान मे रखना चाहिये । पहले तो अपने परिणामो को पढने का अभ्यास, दूसरे दिन भर मे उत्पन्न हुए विभिन्न परिणामो का हिसाब पेटा, तीसरे गुरु की साक्षी मे उनके प्रति का निन्दन ।

२७ परिणामों के भेद प्रभेदों का पढना

परिणामो को पढने के सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है, कि मुख्यत जीव के परिणाम ग्यारह जातियो मे विभाजित किये जा सकते है, क्रोध भाव, अभिमान भाव, मायाचारी का भाव, लोभ का भाव, हसी ठट्ठे का भाव, भोगो आदि के प्रति आसक्तता का भाव, अरुचिकर पदार्थो मे अदेखसका सा भाव, या शोक करने का भाव, या प्रसन्न होने का भाव, भय खाने का भाव, किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थो के प्रति ग्लानि का भाव, मैथुन का भाव । इन सर्व परिणामो मे, क्रोध, लोभ, मान व माया के परिणामो का कुछ स्वरूप तो आगे दश लक्षण धर्म के प्रकरण मे आने वाला है । (देखो अध्याय न० ३३) । आसक्तता अनासक्तता सरल है तथा इन्द्रिय सयम के अन्तर्गत पचेन्द्रिय विषयो को वताते समय इनका कुछ सकेत किया भी जा चुका है ? (देखो अध्याय न० २५) हसी, शोक, भय, मैथुन के भाव सर्व परिचित है । ग्लानि भाव विष्ठा आदिक पदार्थो मे घृणा रूप से तथा जीवो मे दोष ग्रहण रूप से जानने मे आता है (इसका कथन पीछे सम्यक्त्व के अगों की व्याख्या करते हुए निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत किया जायेगा । देखो अध्याय न० ४६) वह सर्व ही परिणाम राग व द्वेष मे गर्भित हो जाते है । इन दोनो मे भी प्रत्येक के दो दो भेद हो जाते है । शुभ राग, अशुभ राग, अशुभ द्वेष, शुभ द्वेष । गुणी जनो के प्रति का या दुखियो के प्रति का सेवा भाव रूप राग शुभ है, शराब आदि पदार्थो के प्रति का या हिंसक पशु व मनुष्यो के प्रति का राग अशुभ है । इसी प्रकार मानादि के प्रति का द्वेष शुभ है और गुणी व अन्य किसी जीव के प्रति का द्वेष अशुभ है इत्यादि । जैसे क्रोध, मान, अरति, शोक, भय व ग्लानि ये वह तो द्वेष भाव है और माया, लोभ, हास्य आसक्तता, और मैथुन भाव यह सब राग भाव है । सर्व जीवन मे सूक्ष्म रूप से या स्थूल रूप से इन दो राग द्वेष भावों का ही नृत्य हो रहा है । कुछ परिणाम, तो बुद्धि लगाने पर जाने जा सकते हैं, कि ये राग रूप हैं या द्वेष रूप, तथा इन

भेदो मे भी क्रोध रूप है या मान रूप इत्यादि, अथवा शुभ है कि अशुभ। ऐसे परिणाम स्थूल कहलाते है। और वे परिणाम जिनका आपकी बुद्धि के द्वारा विश्लेपण किया जाना शक्य न हो, यहा सूक्ष्म कहे जा रहे है। परिणाम उत्पन्न हो जाने पर उसका उपरोक्त प्रकार विश्लेपण करके उसकी जाति को जानने का नाम ही परिणामो का पढना है।

२८ परिणामों का हिसाव पेटा

जिस प्रकार एक व्यापारी साझ को वैठ कर दिन मे हुए लेन देन के हिसाव का खाता मिलाता है। "प्रात. उठा था, अमुक स्थान पर गया था, वहां अमुक मद्दे इतना खर्च किया था, फिर वहा गया था, यह खर्च किया था, फिर दुकान खोली, अमुक ग्राहक को इतना माल इस भाव दिया इतनी उधार रही, दोपहर को मगते को एक पैसा दिया।" इत्यादि प्रकार से एक एक पाई को याद कर करके रोकड़ मे चढाता है, और अन्त मे वाकी निकाल देता है। इस प्रकार आज के लाभ व हानि का अनुमान कर लेता है। उसी प्रकार प्रात से उठ कर अमुक अमुक स्थान पर जाते हुए, अमुक अमुक व्यक्तियो के सम्पर्क मे आते हुए, क्रम पूर्वक जो कुछ भी राग रूप व द्वेष रूप, शुभ व अशुभ परिणाम हुए, उनका साझ को वैठ कर पेटा मिडाना दूसरी आवश्यकता है। यद्यपि सर्व परिणामों का पेटा मिडाया जाना प्रारम्भ मे सम्भव न हो सकेगा। सूक्ष्म परिणाम पकड मे न आने के कारण, तथा उस उस परिणाम को उस समय पकड मे न आने के कारण, और साझ पडे भूल जाने के कारण। फिर भी जितने कुछ भी याद आ सकें खूब बुद्धि लगा कर याद करना चाहिए।

२६ प्रायश्चित मे गुरु साक्षी का महत्व

तीसरी आवश्यकता है गुरु। यद्यपि यह उपरोक्त कार्य आप अपनी दुकान या मकान पर अकेले वैठ कर भी कर सकते हो, परन्तु किसी के सामने दोपो को कहने व उनके प्रति आत्म ग्लानि का भाव प्रगटने की महत्ता है। क्योकि ऐसा करने से शीघ्र ही वह दोष दूर हो जाता है। इसका कारण भी यह है कि किसी के सामने दोष स्वीकार करने मे अधिक वल की आवश्यकता पडती है। जो सब विचार सकते है। जिसकी निन्दा की है, उसी से जाकर स्वयं कहना कि मैंने आज तेरी निन्दा की थी, वहुत कठिन है, अपेक्षा इसके कि घर मे वैठ कर विचारा जाये कि आज मैने अमुक की निन्दा करके वहुत बुरा किया। अत उपरोक्त कार्य किसी वीतरागी गुरु की साक्षी पूर्वक करना अधिक उपयोगी है। साधारण व्यक्ति के सामने करना भी योग्य नही, क्योकि ऐसा करने से उस रागी मनुष्य के द्वारा तेरी निन्दा जगत मे फैल जाएगी। जिसे तू सहन न कर सकने के कारण सम्भवत ऊपर उठने की वजाय नीचे गिर जाये।

दुर्भाग्य वश ऐसे वीतरागी गुरुओ का सम्पर्क प्राप्त नही है। तव भी मन्दिर मे विराजमान अन्तरग से चैतन्य रूप मे दीखने वाले और वाह्य में जड़ ऐसे देव आज भी सौभाग्य वश हमे प्राप्त है। अत यह उपरोक्त कार्य प्रतिदिन साझ को मन्दिर मे जाकर देव की साक्षी पूर्वक करना चाहिये। अकेले मे करने की अपेक्षा देव की साक्षी में करने से भी वडा भारी अन्तर पड़ता है। जैसे कि स्वत ली प्रतिज्ञा कदाचित् भङ्ग हो जाती है, पर देव की साक्षी मे ली प्रतिज्ञा भग नही होने पाती। प्रात की भांति साझ को भी कम से कम १५ मिन्ट इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ निकालने चाहिये। पहले के प्रकरणो मे वताई गई इतनी क्रियाओ मे यह क्रिया सब से अधिक प्रमुख है।

यह क्रिया साँझ को तो अवश्य ही करनी चाहिये, प्रात को भी करे तो बहुत अच्छा है। परन्तु प्रात मात्र मे कर लेना पर्याप्त नही, क्योकि दिन गुजरे हुए परिणामो का साझ को याद आ जाना कदाचित् सम्भव है, पर रात बीत जाने पर प्रात को उनका याद आना प्रारम्भिक को सम्भव नही।

और इस प्रकार विनय, वैयावृति, स्वाध्याय, त्याग, सामायिक व पश्चाताप इन छ कार्यो को जीवन मे यथार्थ रीतिया उन खाली अवसरो मे तथा मन्दिर आदिक एकान्त स्थानो मे करने का बराबर प्रयास करना व इसके अभ्यास को बराबर बढाते रहना, सस्कारो को तोडने का उपाय अर्थात् निर्जरा का उपाय तप है।

२६

—: दान :—

दिनाक १२ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ५८

१—सर्व पदार्थों में दान शक्ति, २—दान के भेद प्रभेद, ३—पात्र के भेद प्रभेद, ४—स्व पर हित की मुख्यता, ५—दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय, ६—दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक।

१ सर्व पदार्थों में दान शक्ति

शान्ति पथ गामी को बाधक संस्कारो से मुक्ति पाने का क्रमिक सहल उपाय बताया जा रहा है। उसके अन्तर्गत तप का प्रकरण पूरा हुआ और अब चलता है दान का प्रकरण। वास्तव मे दान का अन्तर्भाव भी व्युत्सर्ग या त्याग नाम के तप मे हो जाता है। और इसलिए दान भी एक तप है, परन्तु सर्व साधारण व्यक्तियो के लिए इसकी बहुत महत्ता होने के कारण इसका पृथक निर्देश किया गया है।

दान का तात्पर्य है देना। हमे विचार इस बात का करना है कि हम आज किसी को कुछ दे रहे है या नहीं? तथा इस दान को हमारा कर्तव्य क्यो बताया जा रहा है? यह दो प्रश्न है प्रथम प्रश्न पर विचार करते हुये यह बात प्रतीत होती है कि धनादि कोई बाह्य सामग्री देने के अतिरिक्त मै प्रति क्षण कुछ और भी दे रहा हूँ-इस लोक को। मै ही क्या इस लोक के सर्व पदार्थ ही दे रहे है-कुछ न कुछ। पदार्थो का परस्पर का यह दान प्रदान बराबर चल रहा है। जीव ही क्या जड़ भी दे रहे है कुछ। देखिये इस घडी की सूई अभी साढे सात पर आई, और हमारे चित्त को कुछ उतावल सी देने लगी। 'उपदेश का समय आ गया' यह सूचना देने लगी। देखो भगवान की जड प्रतिमा हमको शान्ति दे रही है। देखो सुभाष का चित्र हमे साहस दे रहा है। देखो यह विष्टा हमे घृणा दे रही है। देखो यह शब्द जो मै बोल रहा हू, कुछ सन्तोष दे रहे है। देखो मानसिह डाकू हमे दूर बैठा भी भय दे रहा है। वन मे विराजे वीतरागी गुरु हमको ही नही बल्कि समस्त विश्व को शान्ति व सन्तोष दे रहे हैं। उनका अभाव हो जाने के कारण ही उनके द्वारा दिया जाने वाला दान बन्द हो गया है, विश्व असन्तुष्ट हो गया है। और एटम बम का जन्म हुआ है। संशय और भ्रम के झूले मे झूलते जगत को आज शान्ति का दान देने वाले वीतरागी गुरुओ की बहुत आवश्यकता है। किस किस का नाम लेकर बताए प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ दे रहा है। शान्ति या अशान्ति, भय या अभय।

मैं भी इसी प्रकार कुछ दे रहा हूँ। किसी एक दो व्यक्ति को नही बल्कि सर्व विश्व को। वास्तविक दान तो वीतरागी गुरु ही दे सकते है, जो कुछ न देते हुए भी सब कुछ दे रहे है। जिसका मूल्य तीन लोक की सम्पदा भी चुका नही सकती। एक हाथ से नही बल्कि रोम रोम से दे रहे है। एक व्यक्ति को नही बल्कि सर्व विश्व को दे रहे है। तिर्यञ्चो व वनस्पति तक को दे रहे है। शान्ति का दान-अपने जीवन से। मै भी तो उन्ही की सन्तान हूँ, उन्ही के पथ पर चल रहा हूँ, मुझे भी वही कुछ देना चाहिए, जो वह दे रहे है। अर्थात् मेरा जीवन भी ऐसे साचे मे ढल जाना चाहिये, कि जिनसे सर्व विश्व को नही तो मेरे सम्पर्क मे आने वाले छोटे बडे प्राणियो को तो, अधिक नही तो कम शान्ति अवश्य मिले। यह है वास्तविक अन्तरङ्ग तथा आदर्श धन जो कि स्वत ही प्रतिक्षण दिया जाना सम्भव है, यदि पूर्व कथित रूप से अपने जीवन का निर्माण करे।

२ दान के भेद प्रभेद अब लीजिये बाह्य दान। लोक विख्यात दान। अर्थात् धनादि वस्तुओ का निज पर कल्याणार्थ व्युत्सर्ग या त्याग करना। इस लक्षणमे धनका त्याग एक आवश्यक अग है। पर "निज पर कल्याणार्थ" इस विशेषण के बिना वह निरर्थक है। हम सब धन का दान तो नित्य कर रहे है। उनमे कोई कमी नही है। और सम्भवत इस समाज मे होने वाली दान की प्रवृत्ति अन्य सर्व समाजो से अधिक हो। परन्तु क्या निज पर कल्याण वाला विशेषण उसमे घटित किया जा सकता है, यह देखना है। यदि यह घटित नही होता तो वह दिया दिलाया भी बेकार है।

व्यक्तियो को भी यथा योग्य दान देने का वह निषेध नही करता और देता भी है, पर जितना मूल्य असाधारण व्यक्ति को देने का है उतना उसे देने का नही। क्यो स्व पर हित को वह शान्ति की तुला मे तोलता है।

४ स्व पर हित की मुख्यता

उपरोक्त चारो प्रकार का दान धन के रूप मे या परिश्रम के रूप मे दिया जा सकता है। दोनो का समान मूल्य है। उपरोक्त चारो प्रकार का दान अभिप्रायो की विभिन्नता के कारण अनेक प्रयोजनो से दिया जा रहा है। साधारण पात्रो को केवल साधारण करुणा के अर्थ, अर्थात् शारीरिक पीडा से उनकी रक्षा के निमित्त दिया जाता है। या ज्ञान दान के द्वारा उनका लौकिक गृहस्थ जीवन कुछ उज्जवल व सुखमय बनाने के निमित्त दिया जाता है। यहा उनके लौकिक दु ख की निवृति तो पर हित हुआ और उसका यह अभिप्राय कि वह स्वय अपना गृहस्थ जीवन सुखी रखना चाहता है स्वहित हुआ। यदि अपने दु खी जीवन के प्रति वेदना न होती तो दूसरे का दु ख दूर करने का भाव न आता। तथा असाधारण पात्रो को दिया जाता है। असाधारण करुणा के अर्थ, अर्थात् उनकी उस पारमार्थिक शांति के अर्थ जो बडे परिश्रम व सौभाग्य से उनको प्राप्त हुई है, और तनिक सी ठेस लगने पर खण्डित हो सकती है। यहा उन असाधारण जीवो के प्रति शाँति भावना तो पर हित की भावना हुई, और स्वय शाति प्राप्ति का या प्राप्त शाँति क रक्षा का वह अभिप्राय जिसके कारण कि उनके प्रति उसको स्वाभाविक करुणा उत्पन्न हुई है, स्व हित का अभिप्राय है क्योकि ऐसे अभिप्राय के अभाव मे उसे उन जीवो की शाति मे बाधा पडते हुए भी कोई दु ख न होगा।

५ दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय

उपरोक्त चारो दानो को देने वाले व्यक्ति अर्थात् दातार भी पात्रो वत् दो प्रकार के है। एक साधारण और एक असाधारण। स्वभावत साधारण दातार का झुकाव भी साधारण करुणा के प्रति अधिक रहेगा और असाधारण दातार का झुकाव असाधारण करुणा के प्रति। इसका कारण उनके अन्तरंग अभिप्रायो की विभिन्नता ही है। साधारण दातारो का स्व व पर हित साधारण ही है, असाधारण पात्रो का असाधारण। जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है।

साधारण दातार देता है शारीरिक सुख के लिये, और असाधारण देता है आत्मिक सुख के लिये। साधारण देता है विषय भोगो की प्राप्ति की इच्छा से, और असाधारण देता है शान्ति प्राप्ति की इच्छा से, साधारण देता है धन लाभ के लिये, असाधारण देता है धन त्याग के लिए। साधारण देता है रागी बन कर, और असाधारण देता है उदासीन बन कर। साधारण देता है अन्य का उपकारी बन कर और असाधारण देता है निज कर्तव्य समझ कर। साधारण देता है पर कल्याण के लिए, और असाधारण देता है स्व कल्याण के लिये। साधारण देता है लोक प्रशसा पाने के लिए और असाधारण देता है निज दोष से निवृति पाने के लिये। इस प्रकार दोनो के अभिप्रायो मे महान अन्तर है। और इसी लिये इनके फलो मे भी महान अन्तर है। साधारण का फल परम्परा मे धन व स्वर्गादि लाभ है और असाधारण का फल केवल शान्ति।

अब हमे यह विचारना है कि हमे कौन सा फल चाहिए, ताकि अपने लिए दान के अभिप्राय का कोई निर्णय किया जा सके। हम शाति के उपासक बने है। अत नि सशय शाति के अतिरिक्त कुछ नही चाहिये हमे। तब तो अवश्य ही हमे दान देते हुये साधारण अभिप्रायो का त्याग करके

असाधारण अभिप्राय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा ऐसी वस्तु का दान देना चाहिये, जिसका फल शांति हो भोग विलास नही।

अभिप्राय सुधारने के सम्बन्ध मे यद्यपि ऊपर बताया जा चुका है, परन्तु एक और बडा दोष है जो आज के दातारो मे देखा जा रहा है। उसके प्रति सावधान करा देना आवश्यक है। वह दोष है लोकेषणा। आज के युग मे यद्यपि दान काफी दिया जाता है पर उसमे एक ही भाव मुख्यतः छिपा रहता है। और वह यह कि इस दान के द्वारा मेरा नाम, मेरे पिता, पितामह का नाम, मेरी स्त्री व माता का नाम चिरस्थायी बना रहे। और लोगो के हृदय मे यह अकित हो जाये, कि मै बड़ा दानी हूं धनाढ्य हूँ और धर्मात्मा हू। यह अभिप्राय शाँति के उपासक के लिए विष है। उसमे अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। भो पुरुषार्थी ! विचार तो कर, कि क्या करेगा इस नाम को लेकर ? इसे खायेगा या बिछायेगा ? लौकिक व अलौकिक दोनो रीति से इसका लाभ ही क्या है ? एक कषाय का पोषण है अर्थात् दान देने मे लाभ की बजाय हानि हो रही है। राग का सस्कार काटने के लिये दान दिया था, और कर बैठा राग का पोषण अर्थात् दिया दिलाया खत्ते मे डाल दिया, विचारिये तो सही बाजार मे रुपया दिया और अपनी आवश्यकतानुसार माल ले लिया। मैने क्या लिया ? क्या इसका नाम दान है ? नही यह तो सौदा है। इसमे किसी की क्या पीरी ? इसी प्रकार दान पैसे का दिया और हाथ की हाथ प्रशसा थैले मे डलवा कर घर ले आया। बताइये तो सही कि क्या दिया ? क्या इसी का नाम दान है ? नही यह तो सौदा है इसमे किसी की क्या पीरी ? प्रभु ! सम्भल। और इन दुष्ट सस्कारो से अपनी रक्षा कर।

६ दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक

अब लीजिये दूसरी बात। दान कैसी वस्तु का दिया जाये। इस विषय पर विचारने से भी बडी भारी भूल का पता चलता है। किसी भूखे को या शांति के उपासक को क्षुधा निवृति या शांति की रक्षा के निमित दिया जाने वाला आहार भी कदाचित् लौकिक व अलौकिक दृष्टि से सार्थक है। क्योकि इसमें स्व पर हित निहित है। इसी प्रकार औषध व उपाश्रय या वस्त्रो आदि का दान भी लौकिक व अलौकिक दोनो दृष्टियो से सार्थक है। परन्तु आज के युग का सर्वोत्तम समझा जाने वाला यह आधुनिक ज्ञान का दान कहा तक सार्थक है, यह विचारणीय है।

लौकिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञान एक दिशा मे सार्थक है और दूसरी दिशा मे हानिकारक दिखाई दे रहा है। सार्थक इस अर्थ मे कि उससे गृहस्थ जीवन मे बड़ी प्रगति मिलती है। उसके अभाव मे एक गृहस्थ का जीवन एक जगली के जीवन वत् ही रह जाता है। और हानिकारक इस अर्थ मे कि उसकी उपज है स्वार्थ व विलास, आवश्यकताओ की बाढ व चिंताओ का साम्राज्य, दया व सहानुभूति का ह्रास और क्रूरता का विकास, धर्म व शांति का अनादर और एटम बम का उत्पादन। और अलौकिक दृष्टि से देखने पर तो किसी भी प्रकार सार्थक दीखता ही नही। सब दोष ही दोष। क्योकि यहा तो किसी भी बात के खरे खोटे पने की कसौटी शांति है। जिसकी कि स्पष्ट शब्दो मे उस ज्ञान के द्वारा अवहेलना की जाती है। अपमान किया जाता है। भला विचारिये तो सही कि ज्ञान का यह विकट रूप किस प्रकार सर्वोत्तम दान कहा जा सकता है ? यह सर्वोत्तम दान अवश्य था, लेकिन उस समय जब कि इसकी साथ साथ अध्यात्म के प्रवेश को भी अवकाश था। उसके अभाव में सर्वोत्तम कहने का तो कोई प्रश्न ही नही, सम्भवत इसे दान भी न कहा जा सके, क्योकि इसमे स्व व पर हित का स्वाभाविक विशेषण लागू नही होता। यहाँ यह न समझिये कि इस आधुनिक ज्ञान का निषेध किया जा रहा है।

बल्कि यह समझिये कि इसमें सुधार करने की प्रेरणा की जा रही है। तथा अध्यात्म की अवहेलना के मुकाबले मे इसकी अवहेलना करने को कहा जा रहा है।

सौभाग्य से अध्यात्म शिक्षण केन्द्र भी आज हमको उपलब्ध है। जिनके प्रति दिया गया दान सबसे अधिक निकृष्ट समझा जाता है। वह है मन्दिर व शास्त्र भण्डार आदि। जहां के छात्रो की सख्या भले कम हो, परन्तु उस शिक्षण मे जो वहां से मिलती है, लौकिक व पारमार्थिक दोनों दृष्टियो से स्व पर हित का विशेषण घटित होता है। क्योकि वहां से स्व व पर को एक मात्र शांति की शिक्षा मिलती है, जो सर्व लोक को कल्याणकारी है। अत: सर्व निकृष्ट समझा जाने वाला यह मन्दिर प्रतिमा आदि के निर्माण का दान वास्तव मे सर्वोत्तम है। अभिप्राय ठीक बनाकर, योग्य स्थान में, योग्य पात्र को, योग्य दान देना, वट बीज वत्, शांति के महान फल का कारण है। अत: भो शांति के उपासको! कुछ विवेक बुद्धि बना कर न्याय से कमाई इस सम्पत्ति को योग्य दान के द्वारा शांति मार्ग में कुछ सार्थक बना डालो, नही तो सब यही छोड़ जाना होगा।

VII संवर निर्जरा

(वैरागी सम्बन्धी)

३०

—: वैराग्य :—

दिनांक १३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५९

१—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार, २—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का वेदन, ३—वैराग्य का बल अभ्यास ।

१ वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार

शान्ति का उपासक गृहस्थ उपरोक्त प्रकरणों में बताये विस्तार के अनुसार, अपने जीवन को इस नवीन दिशा की ओर घुमा कर, नये साचे मे ढालने का अभ्यास करते हुए, कुछ ही वर्षो में एक नई उमङ्ग, एक नए उल्लास का अनुभव करने लगता है। एक जागृति सी तथा एक प्रकाश सा अन्तरग मे प्रगट भासने लगता है। जिसके उजाले मे आज वह इस योग्य हो जाता है कि अपने वातावरण मे छिपी हुई उस अशान्ति को स्पष्ट देख पाये। यद्यपि पहले से भी किंचित् मात्र किसी विश्वास के आधार पर उसमे उसे अशान्ति का भान हुआ करता था, परन्तु इस दिशा में अभ्यस्त हो जाने, तथा उसके फल स्वरूप शांति मे वृद्धि हो जाने तथा साथ साथ अन्तरग मे कुछ दृढता व शक्ति के सचार का अनुभव हो जाने पर, आज जिस जजाल रूप से इसे देखने लगता है, उस प्रकार से पहले कभी देख न पाया था, विचार करते समय कुछ कुछ हटाव सा अवश्य वर्ता करता था। पर उस भोग विषयक सामग्री का साक्षात्कार हो जाने पर उस हटाव को भूल कर वह जाया करता था-उसकी रौ मे। इतने वर्षो के अभ्यास के कारण आज इतनी विशेषता उत्पन्न हो जाती है, कि उनके साक्षात्कार के अवसरों मे भी उसका वही भाव बना रहता है, जो कि विचारणा के अवसरो मे उसने बुद्धिपूर्वक बनाया था। अर्थात् सस्कार निर्माण के पूर्व कथित क्रमानुसार इस हटाव का बुद्धि पूर्वक प्रारम्भ किया गया सस्कार आज अबुद्धि की कोटि मे प्रवेश कर जाता है। और पूर्व मे पडे हुए शान्ति के घातक सस्कारों के साथ युद्ध करने के लिए उन्हे ललकारने लगता है। यह ललकार ही उस बल की परीक्षा है। जिसके सम्बन्ध मे कि कहा जा रहा है।

२ वैराग्य का प्रेरक शांति का वेदन

इतने तीर्थंकर व अन्य वीतरागी व योगी जन समस्त राज पाट व देवों वत् की विभूति को छोड़ कर वन को चले गये। क्या आकर्षण था उस वन में? क्यो छोड़ा उस

आकर्षक तथा मधुर सामग्री को, जिसको छोड़ने की बात तो रही दूर, जिसके त्याग सम्बन्धी बात भी आज मुझको सुहाती नही। अन्तरग मे तो उसके प्रति की मिठास पड़ी है। भले ही गुरु जनो के कहने पर मै यह कहने लग गया हूँ कि इस सम्पत्ति मे सुख नही दु.ख है। पर क्या अन्तरग मे इसके प्रति का इस प्रकार का भाव उठता प्रतीत होता है? नही अन्तरग मे तो उसके प्रति की मिठास पड़ी है। अन्तरंग मे तो यह बात सुन रहा हूं कि इनके भोगने मे आनन्द है। बड़ी आकर्षक है यह। बड़ी मधुर तथा सुन्दर। यह देखिये मेरा ड्राइङ्ग रूम कितना सुन्दर सजा हुआ है। दिवारो पर ईरानी कालीन टगे है। यत्र तत्र काशमीर की कारीगरी व काष्ट का आर्ट टगा हुआ है। मानो प्रकृति को समेट लाया है इस कमरे मे। फर्श पर बिछे इस मोटे गुदगुदे भारतीय कालीन ने मानो कोमल कोमल घास हो बिछा दी है इस कमरे मे। और यह सुन्दर सोफा सैट मानों राज्य सिंहासन की भी खिल्ली उड़ा रहा है। इधर रखा है चाइना आर्ट। और न जाने क्या क्या? कितना आकर्षक है यह? मुझे गर्व होता है अपने किसी मित्र को इसमे बिठा कर। कैसे कह सकते है कि इसमे दु.ख है? नहीं नही, यह तो योगियो की बातें हैं। मेरे लिये तो यही सुखदायक है, कृत्रिम रूप से इसमे दुःख व अशान्ति देखने का प्रयत्न करते हुये भी स्वाभाविक रूप से तो इसमे सुख व शान्ति सी ही भासती है। कैसे त्यागू इसे?

"इनके क्या कहने। यह तो महान आत्माए है। तीर्थंकर देव है। छोड कर चल दिये। कष्ट सह सह कर ही तो कर्मों को खिपाएगे। तपश्चरण के बिना मुक्ति किसे मिली है? उस मुक्ति की साधना के लिये इतनी आकर्षक व सुख प्रद सामग्री को भी छोड़ कर चल दिये। धन्य है वह।" कुछ ऐसी आवाजे उठा करती हैं-भावुकता वश। बस, यह आवाजे ही इस बात की परीक्षा है कि मै भले शब्दों मे योगी जनो को महान कहूँ या सुखी, पर उन्हें अन्तरग से दु.खी ही समझता हूँ। कोई भी सुख का साधन नही उनके पास। कैसे हो सकते है वह सुखी? हां, भविष्य मे मोक्ष जाकर हो जाये तो हो जाये; परन्तु अब तो दु खी ही हैं बेचारे'

नही प्रभु! भूलता है वास्तव मे यह जो उपरोक्त आवाजे अपने अन्दर से उठती सुनाई दे रही है, उनका कारण केवल यही है कि उस अलौकिक चौथी कोटि की शान्ति का साक्षात्कार अभी कर नही पाया। इसी से नाम मात्र की उस शांति के प्रति अन्तरग से बहुमान व उल्लास जागृत नही हुआ है जिसके अभाव मे वह पहला विषय सुख ही सुख भासा करता है। उस ही की महिमा गाया करता है। उन योगियो की दशा तुझ से कुछ भिन्न प्रकार की हैं। उन्होने केवल भावुकता वश, किसी मोक्ष की या किसी भावी काल्पनिक सुख की अभिलाषा वश यह महान त्याग किया हो, ऐसा नही है। किसी बाहर के दवाव या भय वश, या किसी लोकेषणा वश त्याग किया हो ऐसा भी नहीं है। एक शक्ति है जो अन्तरंग से उन्हें प्रेरणा दे रही है। उनके अन्दर एक उल्लास सा, एक उत्साह सा उत्पन्न कर रही है-यह बात करने के लिए। और वह शक्ति है शान्ति का उत्तरोत्तर अधिकाधिक वेदन, उसमे तृप्ति व उसके प्रति का बहुमान। भला एक भिखारी को जिसके पल्ले एक सूखी ज्वार की रोटी बधी है। यदि आप पेट भर खीर परोस दे तो क्या वह ज्वार की रोटी खायेगा? क्या उसे फैंक न देगा? बस तो अलौकिक शाति के अत्यन्त मधुर व सुगन्धित व्यञ्जन के अनुभव मे क्या उसके हृदय में इस धूल का मूल्य रह जायेगा? क्या इसे भोगेगा? क्या इसे त्याग न देगा? क्या उसके त्यागने में दु.ख होगा क्यो?

किसी भावी सुख के, या मोक्ष नाम के किसी पदार्थ के, या सर्वज्ञता के, लालच से छोड देता हो उसे, यह भी असम्भव है। क्योकि भविष्य के सुख की आशा के आधार पर वर्तमान का सुख छोड़ना मूर्खता है। मूर्खता क्या, छोडा ही नही जा सकता। "कल को दिवाली है। वडे वडे स्वादिष्ट व्यञ्जन खाने को मिलेगे।" इस इच्छा के कारण क्या कोई भी ऐसा है जो आज का भोजन छोड दे ? "तुम्हारी सेवा से मै बहुत प्रसन्न हुआ। यह महल मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम्ही ले लेना। लो वसीयत किये देता हूँ।" किसी सेठ के ऐसा कहने पर, क्या कोई भिखारी भी अपनी कुटिया मे तुरत आग लगा देने को तैयार है ? चलो तुम्हे बी० ए० की डिग्री दिला देता हूँ, परन्तु आज सोना न होगा।" ऐसा सुन कर क्या कोई भी सोना त्याग देगा ? वे कोई दूसरे देश के वासी या कोई अलौकिक जन हो, और त्याग करना उनके गले मढ दिया गया हो, क्योकि मुक्त बनने का सर्टीफिकेट प्राप्त कर चुके हैं, इस लिये त्यागना पडता है उन्हे, ऐसा भी नही है। क्योकि बाह्य मे तो ऐसी शक्ति कोई दिखाई नही देती, और अन्तरंग से इस प्रकार छूटना सम्भव नही है, जिस प्रकार किसी राजा की आज्ञा मात्र से कोई अपना घर छोड़ने को तैयार नही। हाथ का एक छोड़ कर वृक्ष पर के दो की इच्छा करना बुद्धि-मानों का काम नही। और फिर तीर्थंकर प्रभु ? वह तो कभी ऐसी मूर्खता कर ही नही सकते ? गृहस्थ मे रहते रहते हुये ही उन्हे किसी अनोखी शान्ति का वेदन होने लगता है-पूर्व अभ्यास वश। जिस शान्ति के अलौकिक आकर्षण के सामने इस बाह्य राज्य आदि सम्पदा का तेज मन्द ही नही पड जाता, वल्कि कटु लगने लगता है, वह सब वातावरण अन्दर से कोई जजाल सा दीखने लगता है। वह साक्षात् कुछ ऐसा भासने लगता है कि मानों काटने को दौड़ रहा हो। बस इसी शक्ति की प्रेरणा पर आधारित है उनका त्याग।

३ वैराग्य का वल अभ्यास

तीर्थंकर व महात्मा होने के कारण वह किसी दूसरे देश के वासी हो, दूसरी जाति के हो, ऐसा भी नही है। मेरे ही चैतन्य देश के वासी तथा मेरी ही जाति के है। जो काम वह कर सकते है वह मै भी कर सकता हू। परन्तु उनके त्याग को देख कर मुझे जो घवराहट होती है, उसका कारण यही है कि मै यह समझ बैठता हूँ, कि उन्होने अकस्मात् ही इतना वडा साहस कर लिया है, क्योकि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उनका केवल वर्तमान भव ही देख पाता हूँ। इस वर्तमान के साहस के साथ, भूतकाल में अर्थात् पूर्व भवो में किया गया कितना अभ्यास है वह नही देख पाता। यह बिल्कुल मुझ जैसे गृहस्थ थे कभी, और सम्भवतः मुझ से भी हीन अवस्था मे थे-अपने पूर्व भवो मे। वहा से ही इन्होने धीरे धीरे अन्तरङ्ग मे विरक्तता उत्पन्न करके, अभ्यास प्रारम्भ किया था। आज वह जो अकस्मात् त्याग करता दिखाई दे रहा है वही सिद्धहस्त जीव है। अत भाई! तू भी मत डर। साहस करके यदि ऊपर के प्रकरणो अनुसार धैर्य पूर्वक अभ्यास करना प्रारम्भ करे, तो अपने भविष्यत् मे, अपने आने वाले भवो मे अवश्य ही तू भी अकस्मात् त्याग करने की शक्ति को उत्पन्न कर लेगा। कटटी को उठाते उठाते भैंस उठाई जा सकती है, इसी से अभ्यास की इस मार्ग में वड़ी महत्ता है। पर इसका यह अर्थ नही कि "भविष्य मे कर लू गा। आज के निकृष्ट काल तथा हीन सहनन मे तो करना ही सम्भव नही", ऐसे विचारो द्वारा शक्ति को छिपाया जाये। यदि आज कुछ न करेगा तो भविष्य मे भी कुछ न कर सकेगा, भले संहनन वढ जावे पर उसका प्रयोग तो अधोगति में जाने के प्रति ही होगा।

इस प्रकार अन्तरंग से विषय भोगो सम्बन्धी सामग्री के प्रति यदि विरक्तता करता

हुआ साहस पूर्वक धीरे धीरे उनका त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तथा प्राण संयम में कथित हिंसा के विकल्पो (अध्याय नं० २६) का भी त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तो एक दिन ऐसा आयेगा, कि तेरे मन की वह घुण्डी खुल जाये, जो दृढता पूर्वक त्याग करने का साहस तुझ मे उत्पन्न होने नही देती। अर्थात् उन्ही क्रियाओ को व्रत रूप से तुझे अगीकार करने नही देती, व्रत अर्थात् उन उन बातों से अन्तरग मे विरक्तता, उदासीनता व हटाव तथा बाह्य मे उनके प्रति प्रवृति करने मे ब्रेक लगाने का प्रयत्न। जब तक अन्तरग से वह घुण्डी या ग्रन्थी नही खुलती तब तक भले ही अभ्यास रूप से सब कुछ भी त्याग कर दे, व्रती नही कहला सकता। और व्रत के बिना आगे बढा नही जा सकता। सो ही आगे दर्शाता हूँ।

३१

—: व्रत व शल्य :—

दिनाक २४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ६०

१—शल्य का स्वरूप, २—अणुव्रती, ३—योगियों का पराक्रम, ४—परीषह जय, ५—महाव्रती, ६—गृहस्थी को व्रतों व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन।

१ शल्य का स्वरूप व्रत धारण करने मे बाधक शल्य की बात चलती थी, वह घुण्डी या शल्य क्या है ? इसको स्पष्ट करता हूँ, देखिये आज तक आपने मांस खाकर नही देखा। आगे भी खाने की सम्भावना नही। परन्तु उसको त्यागने के लिये कहा जाये तो अनेको विकल्प सामने आकर खडे हो जाते है। यदि कल को बीमार हो जाऊं और डाक्टर बतादे मांस खाना तो ? व्रत आज तक धारण किया नही, अत. यदि भङ्ग हो गया तो ? और इसी प्रकार अन्य सर्व विषय सम्बन्धी त्याग की बात आ पड़ने पर यह 'तो' का भाव बिना किसी के बताये अन्तरग मे उत्पन्न हो जाता है। और मेरा कार्य रोक लेता है। मुझे प्रतिज्ञा लेने या व्रत धारण करने को आज्ञा नही देता। यह 'तो' ही वह ग्रन्थी है, जिसका नाम आगम भाषा मे शल्य है।

यद्यपि छोटी सी बात दीखती है, परन्तु देखिये कितनी घातक है कि व्रत लेकर आगे बढ़ने ही नही देती। त्याग रहते हुए भी त्याग करने नही देती, यही तो अन्तर है एक व्रती गृहस्थ व अव्रती गृहस्थ में। परन्तु अभ्यास करते करते जब यह विश्वास हो जाता है कि इतने दिन तक इस विषय का प्रयोग जीवन मे नही किया। कोई विशेष बाधा तो आई नही, और यदि थोड़ी बहुत आई भी तो उसको जीतने मे सफल रहा। फिर यदि इस त्याग को व्रत रूप से ग्रहण करले तो कोई कठिनाई न आयेगी। तब एक साहस उत्पन्न होगा, और अन्तरंग की 'तो' को उल्लङ्घ कर उसी अभ्यास रूप त्याग को व्रत की कोटि मे ले आयेगा। व्रती को भी अव्रती बनाये रखने वाली इस ग्रन्थी को तोडने में बड़े बल की आवश्यकता है। वह बल जिसके प्रगट हो जाने पर कि उसमे इतनी दृढ़ता आ जाती है कि प्राण जाये तो जाये, लोक की सारी बाधाये व पीडाये एकत्रित होकर आ जाये, तो भले आ जाये, इस दिशा विशेष मे कदापि प्रवृति न करूं गा। देखिये कितना महान अन्तर पड गया है इस एक छोटी सी घुण्डी के खुलने से। इसी लिए थोडा भी त्याग करने वाला नि शल्य व्रती है। और बहुत अधिक त्याग रखने वाला भी शल्यवान अव्रती है।

२ अणुव्रती अव्रती से इस प्रकार अभ्यास वश व्रती की कोटि में आकर गृहस्थ अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य व धन सचय त्याग इन पांच व्रतो को आशिक रूप से ग्रहण कर लेता है अर्थात् अहिंसा के सर्व भेदो मे से चलने फिरने वाले जीवो की पीड़ा सम्बन्धी यथा योग्य हिंसा, झूठ,चोरी व्यभिचार व धन संचय का क्रम से त्याग करने लगता है। अर्थात् पहले संकल्प पूर्वक हिंसा के विकल्पो के त्याग का व्रत लेता है, फिर विरोधी सम्बन्धी का भी व्रत ले लेता है, और फिर क्रम से उद्योगी सम्बन्धी व आरम्भी सम्बन्धी हिंसा के त्याग का भी व्रत ले लेता है। रुपये पैसे का, घर, दुकान व जमीन का, सोना चांदी का, कपडे जेवर का, बर्तन व फर्नीचर का, और भी सर्व परिग्रह का परिमाण बाध लेता है। अर्थात् "अमुक अमुक वस्तु इससे अधिक न रखू गा। प्रति दिन इतने समय से अधिक व्यापार न करू गा। इतने क्षेत्र से बाहर व्यापार करू गा न कराऊगा। चिट्ठी पत्री भी न लिखू गा। प्रतिदिन इतने से अधिक न कमाऊगा प्रति रुपया इतने से अधिक नफा न कमाऊगा।" इत्यादि। और इस प्रकार विषय भोगो की लालसा व दैनिक आवश्यकताये कम हो जाने के कारण, बडा सन्तोषी जीवन बिताने लगता है। यहा इस गृहस्थ का नाम अणुव्रती या श्रावक रख दिया जाता है।

यहां भी वह रुकता नही। बराबर बढे चले जाता है-पूर्णता पर लक्ष्य रख कर। अधिक अधिक उपवास करने का अभ्यास करके क्षुधादि बाधाओ को किञ्चित् जीत लेता है। अधिक अधिक समय सामायिक या आत्म चिन्तन मे लगाता हुआ, अन्य प्राकृतिक बाधाओ को भी किंचित् जीत लेता है। भोगो सम्बन्धी नित्य प्रयोग मे आने वाली खाद्य व अन्य सामग्री के ग्रहण की सीमा को संकोचता हुआ, इन्द्रियो को भी किंचित् जीत लेता है। पर-स्त्री का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्व-स्त्री का भी त्याग करके मैथुन को भी जीत लेता है। उद्योग को पूर्णतया छोड़ देता है। परिग्रह तथा घर बार छोड़ कर मन्दिर मे रहने लगता है। अन्य लोगो से बात करनी भी बहुत कम कर देता है। तथा रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग, सचित पदार्थो के ग्रहण का त्याग आदि अनेकों व्रत और भी धारण कर लेता है। यहा तक कि अभ्यास बढता बढता ऐसी अवस्था मे पहुँच जाता है, जबकि पहनने के लिये एक लगोटी और ओढने के लिए एक चादर से अधिक कुछ भी पास नही रखता। पैसे को छूना भी पाप समझता है। माता पिता आदि से कोई नाता नही रखता, अर्थात् मुनि वत् हो जाता है। इस दशा मे वह श्रावक की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यहा भी नही रुकता। और आगे बढता है। क्योकि लक्ष्य पूर्णता पर है। उससे कम पर सन्तोष आने वाला नही है। बल बहुत बढ चुका है। शरीर को भी हट जाने के लिए ललकारता है। परन्तु जब यह देखता है कि यह पीछा छोडने को तैयार नही, तो अन्तरग से स्वयं इसे त्याग देता है, अर्थात् इसे कह देता है कि देख मै शान्ति पथ पर बहुत आगे बढा जा रहा हूँ। गर्मी, सर्दी, मच्छर व भूख प्यास आदि की अनेकों बाधाये आयेगी। ऐसे अवसरों पर अब पहले के समान मै तेरी सेवा न करू गा। अब मै तेरा सेवक नही। तुझे मेरा सेवक बन कर रहना होगा।

३ योगियों का पराक्रम देखिये तो योगियो की वीरता। इसी से तो यह मार्ग वीरो व क्षत्रियो का है, भोगो मे आसक्त, तथा उन योगियो को कायर बताने वाले कायर जनों का नही। किस का साहस है इस प्रकार शरीर को दास बनाने का। इस वीरता को प्राप्त वह श्रावक लंगोटी व चादर भी छोड़ देता है और निर्भीक सिंह वृति को धार कर ग्राम ग्राम विचरण करने लगता है। बिल्कुल

अपरिचित वातावरण मे जाकर रहता है, शरीर पर क्षुधादि की बाधाये आये तो उनको गिनता नही। धन्य है वह योगी।

यदि कदाचित् क्षुधा की तीव्र वेदना इतनी बढ जाये कि पूर्ण वीरता की कुछ कमी के कारण, अपनी शान्ति को स्थिर रखने मे अपने को समर्थ न पाये, तो इस शान्ति की रक्षार्थ इस शरीर को रिश्वत देने अर्थात् आहार देने के लिये कदाचित् तैयार भी हो जाता है। तो भी विवेक को हाथ से जाने नही देता। याचना का भाव चित्त मे नही लाता। केवल चुपचाप चला जाता है गली मोहल्लो मे या घर की किसी ड्योढी मे भी। मुख से कुछ नही कहता। यदि स्वत ही किसी गृहस्थ को उनका शान्त स्वरूप देख कर उनके प्रति कुछ भक्ति उमड आवे और "उनको आहार देने से मै कृतार्थ हो जाऊगा। आज मेरा जीवन सफल हो जायेगा। मै आज धन्य हूँ कि इस शान्त मूर्ति ने मुझ अधम का स्थान पवित्र किया।" कुछ इस प्रकार के भाव अन्तरग मे उत्पन्न हो जावे। और आकर उनसे प्रार्थना करे कि प्रभु! आहार ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिये। तब ही उस गृहस्थ के यहा आहार ग्रहण करते है अन्यथा नही। उसके हाव भाव से तथा उसके वचनालाप से यदि इस बात का भास हो जाये कि यह गृहस्थ किसी लोभ वश, या किसी श्राप आदि के भय वश, या समाज मे मान हानि वश, मुझे आहार देना चाहता है। तो कदापि ग्रहण नही करता।

कहा तक वर्णन करू उन योगियो की महिमा। देखिये उनकी करुणा बुद्धि। एक महीने का भूखा हो तो भी, यदि उस गृहस्थ के द्वार पर कोई कुत्ता आदि जन्तु या कोई फकीर आदि भोजन की आशा लेकर खडा हुआ दिखाई दे जाये, तो तुरत लौट आते है उसके द्वार से। यह विचार कर कि मेरे कारण सम्भवत यह गृहस्थ इन बेचारो को भोजन न दे। इनको पीडा पहुँचा कर मै भोजन करू यह कदापि नही हो सकता। इसके अतिरिक्त भी यदि यह अनुमान मे आ जाये कि उसके कारण गृहस्थ को कोई भी ऐसी वस्तु विशेष जुटानी पडी है जो स्वय वह आज प्रयोग मे लाने वाला न था, या यह भोजन उसके लिए ही विशेपतया बनाया गया प्रतीत होता हे, तो भी बिना खाये लौट आते है उसके द्वार से। इतना ही नही बल्कि भोजन देख कर यह अनुमान मे आ जाये कि कोई भी पदार्थ इसकी रसोई मे ऐसा बना हुआ है जिसमे त्रस जीव का घात अवश्य हुआ होगा तो भी बिना खाये लौट आते है तथा और भी यदि खाते खाते बीच मे कोई मरा हुआ छोटा जीव जन्तु आदि या बाल आदि कोई शरीर का अग पडा दिखाई दे जाये तो भी बीच मे ही भोजन छोड कर चले आते है। क्योकि वह जानते है कि इस प्रकार का अयोग्य भोजन लेने से उनकी शान्ति की रक्षा न हो सकेगी, बल्कि परिणामो मे कुछ विकार आ जाएगा। शान्ति का उपासक किसी मूल्य पर भी शान्ति मे बाधा डालने को तैयार नही।

४ परीषह जय कोटि जिह्वा भी उन महर्षियो की महिमा व सामर्थ्य का बखान करने मे समर्थ नही है। बालो को अपने ही हाथो से नोच कर फैक देते है। इसलिए कि कही इस शरीर के प्रति फिर मुझे ममत्व उत्पन्न न हो जाये। कभी कभी सर्दी की कडकडाती रातो मे खुले आकाश के नीचे नदी किनारे जा ध्यान धरते हैं। कभी कभी अग्नि बरसाते सूर्य की किरणो के नीचे ज्येष्ठ की गर्मी मे पर्वत की चोटी पर जा योग धरते है। कभी कभी बरसात की मूसलाधार वर्षा मे वृक्ष के नीचे जा आत्म मग्न होकर निज शांति का आस्वादन करने लगते है। कितने भी मच्छर काटे उन्हे परवाह नही। केवल इसलिए कि कही यह शरीर उच्छृखल न हो जाये। कितना पराक्रम है ऐसे महावीरो का।

शारीरिक ही नही मानसिक बाधाओ को भी जो तुच्छ मात्र समझते हैं। किसी को भी कभी श्राप नही देते, भले ही उनको गाली देता हो, या उनका तिरस्कार करता हो, या उन्हे मारने को उद्यत हुआ हो। अनेको ऋद्धिया व दैवी शक्तिया होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए बडे बडे उपसर्गों पीडाओ को दूर करने का कभी प्रयत्न नही करते। ज्ञान आदि अपने गुणो की वृद्धि न हो पाई हो, तो भी केवल एक शाति मात्र के उपासक वे योगी कभी इस बात की चिन्ता नही करते. कि "देखो अमुक व्यक्ति तो बिना तपश्चरण किये या अल्प मात्र तपश्चरण करके भी कितना अधिक विद्वान है। कितने चमत्कार दिखाता है। और इतना तपस्वी व धैर्यवान होते हुए भी मुझे कोई भी शक्ति चमत्कार दिखाने की उत्पन्न न हुई। उसे तो भविष्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो गया है। पर मुझे अब तक भी नही हुआ है। इसकी तो ख्याति फैल रही है, पर मेरा कोई नाम भी नही लेता।" सर्व के प्रति सर्वदा कल्याण की भावना ही उत्पन्न हुआ करती है-ऐसे योगियो के भीतर। तथा अन्य भी बहुत कुछ। मै तो कहने मे असमर्थ हूं। ऐसे परम पवित्र पूर्ण त्यागी, यहा तक कि शरीर के भी त्यागी, अत्यन्त पराक्रमी वे नग्न दिगम्बर साधु महाव्रती कहलाते है। क्योकि उनको व्रतो की पूर्णता उपलब्ध है।

५ महाव्रती वे चलने फिरने वाले जीवो के प्रति ही नही बल्कि पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवो के प्रति भी दया रखते है। उन्हे भी अपने किसी कार्य से बाधा होने नही देते। कदापि भी अमिष्ट व अहितकारी शब्द उनके मुख से निकलता ही नही। मिट्टी मात्र का ग्रहण भी बिना दिये करते नही। स्त्री के साये से भी दूर रहते है। वस्त्र का ताना मात्र भी जिनके पास नही है। भोजन भी खडे होकर केवल दिन मे एक बार अपने हाथ मे रखवा कर खा लेते है। फिर पानी भी पीने का विकल्प आने नही देते। इत्यादि अनेको गुण प्रगट हो गये हैं उनमे। तभी तो उनके प्रभाव से उनके आस पास के क्षेत्र मे पडा दुरभिक्ष भी टल जाता है। बे मौसम भी धान्य पक जाते है। सर्प नेवला आदि विरोधी जीव भी उनकी शान्त मुद्रा देख कर अपना वैर भूल कर शान्त हो जाते है। और कहाँ तक कहूँ। मुझ कीट मे इतनी शक्ति ही कहा है कि उनके गुणो का वर्णन कर सकू। शत इन्द्र भी आकर एक एक हजार जिह्वाओ से वर्णन करने लगे तो कर न सके।

उपरोक्त महिमा सुनकर कुछ घबराया सा क्यो प्रतीत होता है? सम्भवत: विचारता हो कि इतने कष्ट का जीवन कैसे बिताते होगे। और जैसा कि आगे कहा जाने वाला है यदि मुझे भी वैसा करना पडा तो कैसे कर सकू गा। इतना कठिन व कष्टप्रद मार्ग मुझ से न बनेगा। परन्तु घबरा नही। (पञ्च महाव्रतों का स्वरूप देखो उत्तम सयम अध्याय न० ३८) तू भी उसी सिंह की सन्तान है, जिसकी महिमा उपर वर्णन की गई है। जब तक क्रम पूर्वक बढता हुआ स्वय वहा नही पहुँच जाता, तब तक ही घबराहट है। वहा पहुँचने के पश्चात आनन्द ही आनन्द, शान्ति ही शान्ति है। भला विचार तो सही वह भी तो तेरे जैसा ही मनुष्य है। उसका शरीर भी चाम हाड का बना हुआ है लोहे का नही। कष्ट हुआ होता तो कैसे टिकता ऐसी अवस्था मे? रणक्षेत्र मे अपने शत्रु को पीछे धकेलते क्षत्री योद्धा के शरीर मे अनेको बान लगे हो, लहू बह रहा हो, परन्तु उस समय उसको पीडा होती है क्या? सर कट जाने पर भी सात व्यक्तियो का घात कर देने की सामर्थ्य है उस योद्धा मे। तो यह योगी तो अलौकिक वीर है, उपरोक्त सर्व उपसर्ग व परीषह सहने मे उसे कष्ट नही होता। क्योकि उसका उपयोग एक शान्ति को अनुभव करने मे केन्द्रित रहता है।

६ गृहस्थी को व्रतो व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन

इस प्रकार उपयोग को केन्द्रित करने तथा किञ्चित बाधाओ को जीतने का अभ्यास श्रावक अवस्था मे यह अच्छी तरह कर चुका है। अत तू भी यदि धीरे २ अभ्यास करता चले और शक्ति को न छिपाये, तो क्रम से पहले अव्रणुती श्रावक बनकर उसकी जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट महिमा पूर्ण श्रेणी मे पदार्पण करेगा। ऐसा निश्चय है। भय छोड। शान्ति का उपासक बना है तो शरीर से ममत्व हटा। इस पर्याय मे आने वाली बाधाओ से न घबरा। व्रतो मे अनेको दोष लग जाने सम्भव हैं। सम्भवत. इतने बडे कि जो एक पापी को भी न लग सके। उन पर से साहस न हार जाना। अभिप्राय की रक्षा करते हुए, बराबर दोष टालने का प्रयत्न करते रहना। अवश्य सफल होगे। व्रतो मे लगने वाले दोष अभिप्राय की सत्यता के कारण दोष गिनने मे नही आते। और अभिप्राय की विपरीतता के कारण छोटे से छोटा दोष भी महान बन जाता है। इसका स्पष्टीकरण आगे 'अतिचार' के प्रकरण मे किया जायेगा।

उपरोक्त व्रतो व परीषह जय की बात तुझे अभी व्रत आदि धारण करने की प्रेरणा के लिए नही कही जा रही है। वल्कि यह बताने के लिये कही जा रही है कि शान्ति का मार्ग उतने मात्र पर समाप्त नही हो जाता जितना कि तुझे गृहस्थ मे रहते रहते करने के लिये कहा गया है। यदि उतने ही मात्र मे सन्तोष धार लेगा तो शान्ति की पूर्णता न हो सकेगी। और पूर्णता की प्राप्ति के अभाव मे सम्भवत तुझे मार्ग पर ही अविश्वास हो जाये। अत पूर्ण मार्ग जानना आवश्यक है। भले ही शक्ति हीनता वश उसका अश मात्र ही जीवन मे उतारा जाये, इसलिये यह जानना, आवश्यक है कि तेरे वाली उस प्रथम श्रेणी के अतिरिक्त, जिसका अब तक सवर निर्जरा के प्रकरणो मे कथन चला आ रहा है। सवर और निर्जरा की दो और श्रेणिया भी है। जो तेरे वाली से उत्तरोत्तर ऊची है। वल की वृद्धि हो जाने के पश्चात्, ही धारी जानो सम्भव है। उनमे से प्रथम की न० २ श्रेणी तो श्रावक की है। जिसे वानप्रस्थ भी कहते है। और दूसरी न० ३ वाली श्रेणी साधु की है जिसे तपस्वी, योगी, मुनि, ऋषि, साधु, सन्यासी आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है।

श्रावक व साधु का किञ्चित् स्वरूप इसी प्रकरण मे आज वताया गया है। साधु का और कुछ विस्तार आगे के प्रकरणो मे कहा जाने वाला है। या यो कह लीजिये कि साधु की सवर निर्जरा रूप उत्कृष्ट क्रियाओ का रूप बताया जाने वाला है। ऐसे जीवन से परिणत यह साधु जन ही वास्तव मे गुरु कहलाये जाते है। जिनकी भक्ति व उपासना सम्वन्धी वात गृहस्थ सम्वन्धी सवर के प्रारम्भिक क्रम मे बताई गई थी। इसका यह अर्थ भी न समझ लेना कि साधुओ की क्रियाये सर्वथा आपके करने की नही है। और गृहस्थ की क्रियाये सर्वथा साधु को करने की नही है। वल्कि यह समझना कि यह क्रियाये मुख्यतया साधुओ को और आँशिक रूप मे गृहस्थ को भी होती है। आगे सुन कर आप स्वयं जान जाओगे कि अब तक जो क्रियाये आपको करने के लिये कहा गया है, वे इन्ही क्रियाओं का अल्प रूप है। और इन क्रियाओ के अतिरिक्त भी यह सव वताई जाने वाली क्रियाये गृहस्थ के द्वारा आशिक रूप मे पाली जानी शक्य है। और उसके जीवन के प्रयोजन सम्वन्धी अनेको ग्रन्थियां सुलझाने वाली हैं। अत ध्यान से सुन।

३५

—: साधु सम्बन्धित संवर :....

दिनाक १५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ६२

१—गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर, २—साधु धर्म के सात मुख्य अ ग गुप्ति आदि, ३—समिति. ४—गुप्ति।

१ गृहस्थ व साधु की क्रियाओं मे अन्तर

शान्ति पथ पर धीरे धीरे प्रगति करते हुए जब मै इस तीसरी श्रेणी मे पदार्पण कर जाऊगा। अर्थात् साधु बन जाऊगा तब मेरा जीवन कैसा होगा यह बात चलती है। अर्थात् साधु व गुरु का जीवन किस ढङ्ग का होता है वह बात है। यद्यपि अत्यन्त उत्कृष्ट दशा को प्राप्त उस योगी की महिमा कल वाले प्रकरणो मे कुछ आ चुकी है। परन्तु उतनी उत्कृष्ट व कष्ट प्रद सी दीखने वाली अवस्था मे वह स्थिति कैसे पाता है, वह कैसी विचार श्रेणियां हैं। जिनके आधार पर कि वह इस दशा मे भी शान्ति का ही वेदन करता है, तथा वह किस जाति का पुरुषार्थ है जो कि वह करता है, यह अनेको प्रश्न उपस्थित है। अतः उसकी जीवन प्रवृत्ति की एक हल्की सी रूप रेखा खेचने का प्रयत्न करता हूँ।

साधु को मुख्यतः अन्तरङ्ग का पुरुषार्थ अधिक वर्तता है। आपको भी इस गृहस्थ दशा मे मुख्यत अन्तरग का पुरुषार्थ करने को ही कहा गया है, परन्तु दोनों के प्रयोजनो मे कुछ अन्तर है। आपको तो मुख्यत अन्तरग का करने को इसलिए कहा जा रहा है कि आप बाह्य के अधिक त्यागादि करने को असमर्थ हैं, और साधु को अतरग के पुरुषार्थ की मुख्यत. इसलिए है कि उसे बाह्य का सर्व त्याग हो चुका है। और कुछ करने को रहा नही, हां, बीच की श्रावक वाली भूमिका मे अन्तर व बाह्य दोनों पुरुषार्थो की मुख्यत. रहती है। यद्यपि सवर और निर्जरा तत्व की बात चल चुकी। परन्तु उसमे गृहस्थ के योग्य ही सवर व निर्जरा आई। अब से आगे के सर्व प्रकरणो मे साधु सम्बन्धी संवर निर्जरा की बात आनी है।

साधु के सवर निर्जरा व गृहस्थ के सवर निर्जरा मे वास्तव मे कोई अलौकिक भेद नही है। केवल जघन्यता व उत्कृष्टता का भेद है। जो क्रियाये आपको जघन्य रूप मे बताई गई वही क्रिया या विचार साधु उत्कृष्ट रूप मे करता है। इसलिए साधु का धर्म जुदी जाति का हो और गृहस्थ का दूसरी जाति का, ऐसा नही होता। प्राण सयम के प्रकरण मे आपको संकल्पी हिंसा के अतिरिक्त अन्य हिंसाओ की ओर यत्नाचार वर्तने को कहा गया था। यहा यद्यपि उद्योगी आदि हिंसाओं का पूर्ण त्याग

श्रावक दशा मे ही वह साधु पूर्ण कर चुका है। इसलिए उन हिसाओ का तो प्रश्न ही नही है। परन्तु इस शरीर के साथ रहने के कारण उसे जो कुछ भी किञ्चित् मात्र क्रियाये बाहर मे करनी पडती है ? उनमे भी उसे अत्यन्त उत्कृष्ट यत्नाचार वर्तता है। यत्नाचार का नाम समिति है ? तथा इस शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण का प्रयत्न करता हुआ, वचन व काय की क्रियाओ को भी अपने काबू मे करता है।

२ साधु धर्म के सात मुख्यत' अङ्ग गुप्ति आदि

इसके अतिरिक्त अन्तरङ्ग मे भी शान्ति मे पूर्ण स्थिरता अभी प्राप्त नही हो पाई है, अत. कुछ शुभ रागात्मक विकल्प कभी कभी आ ही जाते है। पर नियन्त्रण पाने के लिए भी अत्यन्त उत्कृष्ट यत्नाचार वर्तते हुए मन को काबू मे करता है। इन मन वचन काय की क्रिया को काबू मे करने को ही गुप्ति कहते है। यद्यपि अभ्यास करते करते क्रोध, मान माया व लोभ कषायो को इतना क्षीण कर दिया है कि कोई दूसरा यह नही जान सकता कि इस साधु मे उनकी रेखा मात्र भी शेष रही हो। कदाचित् व किञ्चित् भी वे कषाये उसके वचनो के द्वारा अथवा मुखादि शारीरिक विकारो के द्वारा बाहर में प्रगट नही होने पाती। परन्तु फिर भी वह स्वय उन्हे अवश्य अपने मन मे कभी कभी उत्पन्न होते हुए अनुभव करता है। पूर्व कथित सस्कार विच्छेद के क्रम मे उसकी इस समय की स्थिति आठवे नम्बर की है। जहा कि अन्तर मे दोष उत्पन्न होते ही, वह उसे वहा ही दबा देने का प्रयत्न करता है। और बाहर मे वह प्रगट होने नही पाता। इनके अतिरिक्त इन्द्रिय व प्राण सयम सम्बन्धी भी कुछ सूक्ष्म दोषो से बचने के लिए उसे कुछ विशेष विचारणाये अन्तरङ्ग मे ही उत्पन्न करनी पडती है। इन विचारो को मुख्यत दश श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है। इन १० प्रकार की विचार की श्रेणियो को दश लक्षण धर्म कहते है।

बिल्कुल नग्न खुले आकाश के नीचे अकेले व किसी की भी सहायता से निरपेक्ष, जीवन बिताने के लिए उसे कितनी शारीरिक व मानसिक बाधाये सहनी पडती होगी। यह यद्यपि गिनाई नही जा सकती पर फिर भी अनुमान मे आ जाने के कारण उनको बाईस कोटियो मे विभक्त करके बताया जाता है। इन बाईस प्रकार की बाधाओ को परीषह कहते है। इन अत्यन्त असह्य पीडाओ को शान्ति पूर्वक झेलने की सामर्थ्य उनको कौन प्रदान करता है ? वह है उस ही की अपनी अन्तरग विचारणाये, जो बारह कोटियो मे विभाजित की जा सकती है। इनको बारह अनुप्रेक्षा व बारह भावनाये कहते है। तथा उनका शान्ति व साम्यता मे रङ्गा हुआ जीवन चारित्र कहलाता है। उस चारित्र मे बाधक सस्कारो को तोडने के लिए वह जो अत्यन्त उत्कृष्ट पुरुषार्थ करते है उसका नाम तप है।

इस प्रकार १ समिति, २ गुप्ति, ३ दस धर्म, ४ परीषह विजय, ५ अनुप्रेक्षा, ६ चारित्र, व ७ तप यह सात उसके जीवन के मुख्य अग है। इन अगो के पहले के छ मे सवर की, तथा अन्तिम मे निर्जरा की मुख्यत है। यहा सवर का प्रकरण है अत क्रम से उपरोक्त छ अङ्गो का वर्णन किया जाएगा :—

३ समिति

इनमे पहला अग है समिति (अर्थात् सम+इति) जिस का अर्थ है,अन्तरङ्ग मे निज शान्ति की प्राप्ति के प्रति, और बाहर मे अन्य जीवो की शान्ति की रक्षा के प्रति, प्रयत्न करते हुए सम्यक् प्रकार गमन करना। अत वास्तविक समिति तो उसे उतनी ही देर रह सकनी सम्भव है, जितनी देर कि वह

निज शांति मे स्नान करता ध्यानस्थ अवस्था में स्थित रहता है। क्योकि पूर्णतया शांति की प्राप्ति व अन्य जीवो की रक्षा तभी सम्भव है, अन्य शारीरिक क्रियाये करते हुए नही। परन्तु अधिक समय उस अवस्था मे स्थिति पाने की सामर्थ्य न होने के कारण वह उस दशा से च्युत हो जाता है और कुछ शारीरिक व वाचसिक क्रियाओ मे प्रवृति करने लगता है। यद्यपि अन्य लौकिक प्रयोजनो से तो यह क्रियाये आज होनी असम्भव है, क्योकि उस वातावरण से, अन्तर व बाहर से पूर्णतया नाता टूट चुका है। परन्तु शरीर के साथ लगे रहने के कारण इसे भोजन देने के लिये, या शौचादि क्रियाओ के लिए कदाचित् गमनागमन करना पडता है। कभी कभी जिज्ञासु जीवों पर करुणा करके उपदेश देने का भाव भी जागृत हो जाता है। यद्यपि अन्य सर्व परीग्रह का त्याग कर चुका है, अब भी शौचादि निवृति के लिए, एक कमण्डल, च्युत दशा में मन स्थिर रखने के लिए दो चार शास्त्र, छोटे छोटे जीव जन्तुओ की रक्षा के लिए केवल एक पिछी वह रखता है। इन वस्तुओ को तथा शरीर को उठाने, धरने, सुलाने, बैठाने आदि की क्रियाये भी इसलिए उसे करनी पडती हैं। इन सर्व शारीरिक व वाचसिक क्रियाओं मे उसे अत्यन्त यत्नाचार वर्तता है। च्युत दशा मे यत्नाचार की यह प्रवृति ही अन्य जीवो की रक्षा के निमित्त होने के कारण समिति कहलाती है ?

पृथ्वी पर गमन करते हुए वह बराबर चार हाथ आगे दृष्टि करके चलता है कि कही कोई चीटी आदि छोटा जन्तु उसके पावो के नीचे आकर या शरीर के किसी भी अग से आघात पाकर मर न जाये, पीडित न हो जाये। यहाँ तक कि उसके मार्ग मे कुछ प्राणी ऐसे बैठे हों कि जो उसके अस्कमात् निकट पहुंचने पर उससे डर कर भागने लगे, तो उस मार्ग को ही छोड़ देता है। ऊपर बताई गई अपने से सम्बन्धित किसी भी वस्तु को उठाते, धरते, सुलाते या बैठते भी उस वस्तु तथा स्थान को कोमल पिछी से अच्छी तरह शोध या झाड़ कर हो रखता उठाता है कि कही ऐसा न हो कि उस वस्तु के नीचे आकर या उसका आघात पाकर कोई छोटा जन्तु, जिसका उस स्थान पर या उस वस्तु पर उस समय बैठा हुआ होना सम्भव है मर न जाये या पीड़ित न हो जाये। मल मूत्र क्षेपण करते समय भी यह यत्न बराबर बना रहता है। और इसलिए किसी साफ मैदान मे ही अच्छी तरह देख कर या शोध झाडकर मल क्षेपण करता है। नाली आदि मे नही। क्योकि ऐसे गन्दे स्थानो मे बडी जीव राशि पड़ी हुई होती है। जो कि उस मल से मर जानी या बाधित हो जानी सम्भव है। अपने बैठने उठने के स्थान से यथा योग्य दूरी पर ही क्षेपण करता है। क्योकि निकट करने से मल की दुर्गन्धि के कारण स्वयं उसे अथवा उसके शिष्यादि को वहां बैठना भी दूभर हो जाये। तथा सुसंस्कृत व्यक्तियो के लिए ऐसा करना अच्छा भी प्रतीत नही होता। कितनी दूर पर क्षेपण करे इसका निश्चय मल की जाति पर से होता है। विष्टा का क्षेपण बहुत अधिक दूर मूत्र का क्षेपण अपने से कुछ दूर तथा कफ आदि के क्षेपण अपने से थोडा दूर पर कर देना ही पर्याप्त है। परन्तु तीनो ही अवस्थाओ मे गुप्त स्थान होना चाहिये। इन गमना-गमन व उठाने-धरने, या मल क्षेपण की क्रियाओ के अतिरिक्त, उपदेश देते समय या अपने किसी शिष्य या अन्य साधु से बात करते हुए भी उसे यह यत्नाचार बराबर बना रहता है, कि उसके मुख से कोई भी शब्द ऐसा न निकलने पाए कि श्रोता के लिए अहितकारी हो, अथवा उसे कुछ बुरा लगे। भोजन ग्रहण करते समय भी बराबर यह यत्नाचार वर्तता है कि भोजन किसी ऐसी वस्तु मे अथवा किसी ऐसी रीति से न बनाया गया हो कि उसके कारण किसी छोटे या बडे जीवो को पीड़ा पहुंची हो, अथवा पहुंचने की सम्भावना हो। या भोजन ले लेने से किसी अन्य की उदर पूरणा मे भी बाधा आने की सम्भावना नही है। इस दातार पर तो भोजन बनाते समय कोई विशेष भार नही

पडा है, या पडना सम्भव नही है इत्यादि। इस प्रकार उत्कृष्ट यत्नाचार मे प्रवृत होता हुआ उसका जीवन पूर्ण व्रती जीवन है। पूर्ण सयमी जीवन है।

४ गुप्ति मन वचन काय को पूर्ण नियन्त्रित रखने का नाम गुप्ति है। वास्तव मे तो इसकी पूर्णता भी ध्यानस्थ अवस्था मे ही सम्भव है, जहा शरीर निश्चल, वचन मौन, मन से भी अन्तर्जल्प रूप वचनो का अभाव और मन की शान्ति मे एकाग्रता पाई जाती है। पर वहा से हट जाने पर वह योगी बराबर यह प्रयत्न रखता है कि, "अव्वल तो शरीर को हिलाने जुलाने का काम न करू गा। करू गा तो थोडा करू गा। और वह भी समिति मे बताये अनुसार यत्नाचार पूर्वक करू गा। अव्वल तो मौन रहूँगा और यदि बोलना भी पडा तो थोडा बोलू गा और उसमे भी शान्ति व स्व-पर हित सम्बन्धी बात ही बोलू गा, वह भी निष्प्रयोजन न बोलू गा, प्रयोजन वश भी अत्यन्त मिष्ट भाषा मे बोलू गा। क्रोधादि से रगे शब्दों को तो गृहस्थ दशा मे ही त्याग कर चुका था। मन द्वारा केवल निज शान्ति के अतिरिक्त कुछ सोचू गा नही। यदि सोचना भी पडे तो अधिक देर तक नही सोचू गा। बीच बीच मे लौट कर पुन पुन शान्ति को स्पर्श करता रहूँगा। कुछ देर भी सोचने मे लौकिक विकल्प न आने दू गा। शान्ति की प्रेरणा सम्बन्धी ही आने दूंगा" इत्यादि। इस प्रकार हमारी भाति स्वय मन वचन व काय के आधीन न रह कर उनको अपने आधीन बना लेता है। जो काम वह चाहेगा वही उन तीनो को करना पडेगा। जो वह न चाहेगा, उसे वह न कर सकेंगे। जो वह कहेगे उसे वह साधु न करेगा। हमारी भाति वह योगी उनका दास न होगा। बल्कि वह तीनो होंगे उसके दास। और इसलिए यह योगी त्रिगुप्ति गुप्त कहलाता है। कितना महान है उनका पराक्रम व बल।

३३

—: उत्तम क्षमा :—

दिनाक २५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ९२

१—दश धर्मों में एकत्व, २—क्षमा व क्रोध का अर्थ ३—आदर्श गृहस्थ की क्षमा, ४—साधु के अन्तरंग गत. ५—चार विकट परिस्थितियों में उठने वाले परिणाम, ६—गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा।

१ दश धर्मों में एकत्व वीतरागी साधु की बात चलती है। अन्तरङ्ग मे किसी भी जाति की कषाय उत्पन्न हो जाने का अवसर हो जाने पर स्वभावत: ही उसमे किस जाति के विचार उत्पन्न होते है, यह प्रकरण है। उन परिणामो को मुख्यता से दश जातियो मे विभक्त किया जाता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। यह दशो परिणाम क्रमश. क्रोध, मान माया. लोभ, हास्य, शोक, भय जगुप्सा, रति, अरति, चोरी और मैथुन रूप कषायो के विरोधी है। यह दशों कोई पृथक पृथक धर्म हो ऐसा नही है। एक ही जीवन मे यथा योग्य अवसरो पर स्वभावत जो परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं, उन परिणामो का विश्लेषण करके ही यह दश भेद किये गये हैं। वास्तव मे एक ही धर्मी जीव के यह सर्व चिन्ह है, लक्षण है। इसी कारण इनको दश लक्षण धर्म कहा है। अन्तर मुख साधु जनों को ही मुख्यत इतने उत्कृष्ट परिणाम वर्तते हैं। पर किसी धर्मी गृहस्थ के जीवन मे इस जाति के परिणाम उठते ही न हो ऐसा नही है। कुछ जघन्य अंश मे वहा भी इस जाति के परिणाम उन उन अवसरो पर हुआ करते हैं। पहले वताये गए गृहस्थ सम्बन्धी सवर निर्जरा तत्वों मे, इनका कथन पुनरुक्ति के भय से नही किया गया है। वास्तव मे वहा भी इनको यथा सम्भव रूप मे लागू कर लेना। अर्थात् यथा शक्ति उन पूर्व क्रियाओ के अतिरिक्त इनको भी अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना। अशान्ति से आपकी रक्षा करने के लिए यह विशेष रूप में सहायी होगे। इन दशो भावो के साथ उत्तम विशेषण लगा कर निर्देश किया है। इसका अर्थ यह है कि परिणामो का आधार कोई भी लौकिक तत्व नही है। बल्कि जीव अजीव तत्व मे कथित वस्तु स्वभाव व स्व पर भेद विज्ञान है। शांति का आश्रय है, लौकिक भोग सामग्री का आश्रय नही है।

२ क्षमा व क्रोध का अर्थ प्रथम उत्तम क्षमा की बात चलेगी। क्रोध अग्नि को बुझाने के लिये क्षमा के अतिरिक्त और कोई शीतल धारा नही है। क्षमा का अर्थ ही शान्ति है। परिणामो मे क्रोध न आना ही क्षमा है। वास्तविक क्रोध है वह भूल, जिसके कारण अपनी महिमा, अन्तरंग में जागृत होती

नही। भोगादि सामग्री मे अपने सुख का आभास करके, अविनाशी शान्ति की अवहेलना करना अनन्ता क्रोध है। "पर पदार्थों का मै कुछ कर सकता हूं, और पर की सहायता के बिना मै कुछ नही कर सकता", ऐसी धारणा के द्वारा अपनी शक्ति का तिरस्कार करना, उसके प्रति अनन्त क्रोध है। प्रभो! अपनी शक्ति को पहिचान। दूसरे की ओर देखना छोड। अपने लिए प्रयास कर। अपनी शक्ति से प्रयास कर। दूसरे से सहायता माग कर भिखारी मत बन।

गृहस्थ व साधु के जीवन मे महान अन्तर है। इसलिए उनकी क्षमा मे भी महान अन्तर है। गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए व्यक्ति को अनेको अवसर क्रोध के आ जाते है, साधु को इतने नही आते। अन्य दशा के कारण गृहस्थ को तीव्र क्रोध भी आ जाता है। परन्तु साधु को अव्वल तो ऐसा कोई संयोग ही प्राप्त होता नही जो तीव्र क्रोध मे निमित्त पडे। और यदि कदाचित् आ भी पडे तो वह उसे बाहर प्रगट होने नही देता। अन्दर ही अन्दर उसे शान्त कर देने का प्रयत्न करता है? क्रोध बाहर मे प्रगट हुआ तो साधु काहे का?

अब पहले सुनिये गृहस्थ की उत्तम क्षमा। क्षमा कई प्रकार की हो सकती है। एक वह क्षमा जो किसी प्रतिद्वन्दी के द्वारा किसी भी प्रकार अपनी क्षति हो जाने पर, उससे बदला लेने की शक्ति का अभाव होने के कारण, चुप साध कर करली जाती है। परन्तु अन्तरग मे अभिप्राय यह पडा रहता है। "कि यदि शक्ति होती तो मजा चखा देता, बच्चू को। अच्छा, अब न सही, फिर देख लू गा।" इस प्रकार अन्तरग मे कटु द्वेष की ज्वाला मे भुनते हुए भी, बाहर से कह देना कि जा तुझे क्षमा किया। इसी के अन्तर्गत वह क्रोध भी आ जाता है, जो अन्तरग मे न जाने कब से चले आये द्वेष के रूप मे पडा रहता है, और बाहर मे उस व्यक्ति से खूब मित्रता सरीखी दिखाता है, सहानुभूति दर्शाता है, इत्यादि। इसको कीन्हा कहते है। इस प्रकार के दिखावटी भाव को तो लोक मे भी क्षमा नही कहते, यहा तो कैसे कहे। वह तो प्रगट क्रोध से भी अधिक घातक है। क्योकि बहुत लम्बे समय तक बराबर अन्तर मे द्वेष बना रहता है।

दूसरी प्रकार की भी क्षमा है। जो प्रतिद्वन्दी को खूब मार पीट कर अपने अरमान निकाल लेने के पश्चात् उसे छोड कर तथा "जा माफ किया, फिर ऐसा न करना" ऐसा करने में आती है। वह भी सच्ची क्षमा नही है। कहने मात्र की है। क्योकि शक्ति अनुसार जो कुछ करना था वह कर लिया। क्रोध निकाल लिया। फिर क्षमा क्या किया? यह भी द्वेष की कोटि मे आ जाती है। परन्तु पहले के द्वेष और इस द्वेष मे महान अन्तर है? पहले द्वेष की अपेक्षा इस द्वेष की शक्ति कम है। क्योकि यह उतने मात्र समय के लिये रह कर समाप्त हो जाता है। पीछे मिलने पर उस व्यक्ति से कोई विशेष घृणा नही आती।

३ आदर्श गृहस्थ की क्षमा

असली क्षमा वह है जिसमे द्वेष का नाम न हो। गृहस्थ को वह कैसे सम्भव है? देखिये कर्तव्य परायण गृहस्थी के लिए अपना कर्तव्य निभाते हुए भी द्वेष करने की आवश्यकता नही। प्राण सयम के अन्तर्गत विरोधी हिंसा की बात आई है। (देखो अध्याय न० २६ प्रकरण न० २१) जो कि सयमी गृहस्थ अवसर आने पर कर गुजरता है। परन्तु गौर करके देखने पर वहा आपको द्वेष दिखाई न देगा। विरोधी हिंसा मे जैसा कि बताया जा चुका है, शत्रु से युद्ध द्वेष वश नही किया जाता

वल्कि आत्म रक्षा या निज सम्मान की रक्षा वश किया जाता है। और इसलिए यदि कदाचित् शत्रु जीत लिया जाये, तो उसे तग नही किया जाता। वल्कि शान्ति पूर्वक समझा बुझा कर तथा कुछ उपयोगी शिक्षाये देकर तुरत छोड़ दिया जाता है। उसकी दृष्टि केवल आत्म रक्षा थी, वह हो गई। इसके अतिरिक्त और कुछ नही चाहिये था, इसलिए वह अवसर वीत लेने के पश्चात् वह व्यक्ति पहले की भाति ही दीखने लगता है। यदि पहले मित्र था तो अव भी मित्र दीखता है। यदि पहले सामान्य मनुष्य दीखता था, अर्थात् न उसमे शत्रु का भाव था न मित्र का तो अव भी वैसा ही दीखता है। यह गृहस्थ की सच्ची क्षमा है।

भारत के वीरो का यही आदर्श रहा है। भगवान राम ने रावण पर चढ़ाई की। परन्तु अन्तिम समय तक यही प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार युद्ध न करना पड़े तो ठीक। शक्ति की कमी हो इसलिए नही, वल्कि इसलिये कि अन्तरंग मे रावण के प्रति कोई द्वेष न था। उन्हें अपने सम्मान की रक्षा के लिए सीता दरकार थी। और कुछ नही। उन्हें रावण की स्वर्णमयी लका की विल्कुल इच्छा न थी। और इसलिए अन्तिम समय तक यही सन्देश भेजते रहे-रावण के पास, कि सीता लौटा दो तो हम युद्ध न करेगे, हमे तुमसे कोई शत्रुता नही है। पर रावण न माना तो क्या करे। सम्मान की रक्षा तो उस समय कर्तव्य थी ही। यदि तव उस समय उस कर्तव्य को पूरा न करते तो कायर थे। मुनि का यह कर्तव्य नही है। क्योकि उस दशा मे सीता व रावण समान है? उनका आत्म सम्मान शान्ति मात्र है। शान्ति मे वाधक उनके अपने परिणाम ही उनके शत्रु हैं। इसलिये यदि युद्ध करते हैं तो अन्तर परिणामों से, वाहर के किसी व्यक्ति से नही, क्योकि उनकी दृष्टि मे कोई शत्रु है ही नही। वह यदि वाहर में किसी व्यक्ति से युद्ध करे तो कायर है। दशा भेद हो जाने से कार्य मे भेद पड़ जाता है। अपना कर्तव्य पूर्ण करने को वह (राम) यद्यपि रावण से लड़ा, परन्तु जीत लेने के पश्चात् उससे अनुचित् व्यवहार न किया। उसका सम्मान किया। लक्ष्मण को उसे गुरु स्वीकार करने की आज्ञा दी। सीता मात्र को लेकर वापिस आ गये। लका की एक वस्तु भी न छूई। उन्हे आवश्यकता ही न थी किसी पदार्थ की। वताइये क्या राम को द्वेष था रावण से? यह थी एक गृहस्थ की क्षमा।

सिकन्दर ने पोरस को जीता। पर उससे द्वेष न रखा। उससे मित्रता कर ली। उसका देश भी उसे लौटा दिया। मित्र स्वीकार किया। और सम्मान किया। क्या सिकन्दर को द्वेष था? यह थी एक गृहस्थ की क्षमा।

पृथ्वीराज ने सात वार मुहम्मद गौरी को युद्ध मे वन्दी वनाया। परन्तु हर वार उसे समझा कर छोड़ दिया। उसका कुछ भी न छीना। आत्म रक्षा करनी अभीष्ट थी-हो गई। आगे कुछ नही। मुहम्मद गौरी से कोई द्वेष न था। पृथ्वीराज वीर था। क्षमा उसका भूषण था। उसे अपने वल पर विश्वास था। अपनी क्षमा के कर्तव्य को भूल कर वह कायर वनना नही चाहता था। यह था भारत के वीरो का आदर्श। क्षमा कायरों को शोभा नही देती। यह वीरों का भूषण है। भले ही आज का युग उसे भ्रम वश पृथ्वीराज की भूल वताता हो। और उसके इस महान कृत्य को भारत की पराधीनता का कारण वताता हो। परन्तु जगत की यह वात स्वार्थ मे से निकल रही है, कर्तव्य मे से नही। पामरता मे से निकल रही है वीरता में से नही। जिस क्षमा को कायरता कहा जाता है वह सच्ची वीरता थी।

भारत का ह्रास पृथ्वीराज की इस क्षमा के कारण नही हुआ, बल्कि हुआ जयचन्द की स्वार्थता के कारण से, कर्तव्य शून्यता के कारण से। दोषी की दृष्टि मे दोष नही दीखता। वह गुण मे से दोष निकालने का प्रयत्न करता है। आज के स्वार्थी कायर जगत की दृष्टि भी दोष खोजने के लिये पृथ्वीराज की ओर जाती है, पर जयचन्द की ओर नही, जो कि वास्तव मे दोषी था।

४ साधु के अन्तरंग शत्रु

यह हुई गृहस्थ की उत्तम क्षमा। अब सुनिये साधु की क्षमा। उपरोक्त प्रकार किसी से युद्ध ठानने की स्थिति से वह निकल ही चुका है, और न उसके पास कोई पदार्थ ऐसा है, जिसका अपरहरण करने के लिये कोई उसे तग करे। इसलिए क्रोध के बहुत ही कम अवसर उसे प्राप्त होते है ? यहा उन साधु नाम धारी व्यक्तियो का कथन नही, जो अपने शिष्यो पर या अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो पर बात बात मे रुष्ट हो जाते है। उसे तो हम साधु कहते ही नही है चाहे नग्न क्यो न हो। सज्वल्लन कषायोदय के आधार पर अपने इस क्रोध की पुष्टि करना भी शोभा नही देता। क्योकि सज्वलन कपाय बहुत मन्द होती है ? वह कभी बाहर मे प्रगट होने ही नही पाती, क्योकि गृहस्थ दशा मे ही कषायो के सस्कारो का बहुत अशो मे विनाश कर चुका है ? एक साधक गृहस्थ को भी, बात बात पर क्रोध या अन्य कषाय उत्पन्न नही होती, तो साधु के तो कहने ही क्या ?

परन्तु फिर भी आहार आदि के अर्थ चर्या करते हुए कदाचित् नगर मे जाना पडे, और कोई अज्ञानी जन कृत या पशु कृत उपसर्ग या बाधा आ पडे, तो हो सकता है कि क्रोध आ जाये। और उस महान योगेश्वर मे तो शक्ति भी अतुल है। भले ही शरीर से निर्बल दीखता हो। पर बडी बडी ऋद्धियो का स्वामी है। चाहे तो एक दृष्टि डाल कर भस्म करदे उसे। या शाप देकर उसे कष्ट सागर मे डुबा दे। परन्तु सच्चे योगियो का यह कर्तव्य नही। यदि अपनी ऋद्धियो का प्रयोग बाहर मे किसी प्राणी पर करता है, तो वह योगी नही कायर है। योगी किसी को शाप नही दिया करते। ऋद्धिया होते हुए भी प्रयोग नही किया करते। स्व व पर कल्याण के लिए यदि करना भी पडे तो कदाचित् कर भी ले। परन्तु किसी प्राणी को, दोषी को व निर्दोषी को, किसी भी उचित व अनुचित कारण वश, वह पीडा नही पहुँचाते, भले प्राण चले जाये। वह सिंह बन कर निकले है। शरीर को लल-कार कर निकले है। इन प्राणो का उसको दृष्टि मे कोई मूल्य नही। वह लौकिक नही अलौकिक युद्ध लडते हैं, जो बडे से बडा योद्धा भी लडने मे समर्थ नही। वह अलौकिक शत्रुओ को जीतते है, जिन्हे कोई जीतने मे समर्थ नही। उन कायरो पर क्या वार करे, जिसे कर्तव्य, अकर्तव्य व हित व अहित का भी विवेक नही। उसके शत्रु बाहर दीखने वाले मनुष्य व पशु नही है। चाहे साक्षात् शरीर को भक्षण क्यो न करते हों, इसको अग्नि मे क्यो न डालते हो, उबलते हुए तेल के कढाये मे क्यो न फैंकते हो, कुत्तो से क्यों न नुचवाते हो, शरीर को कितनी भी बडी से वडी पीडा क्यो न पहुँचाते हो, वे उन्हे शत्रु भी भासते नही। और भासे भी कैसे ? जिसे वह क्षति पहुँचा रहे है, वह शरीर उस योगी का है ही कव ? और जो उसका है वह उसे क्षति पहुँचा ही कब सकते है ?

उसके शत्रु तो अन्तरग के उसके वे परिणाम है, जो उसे वास्तव मे क्षति पहुँचा सकते है, अर्थात् उसकी शान्ति को भग कर सकते हैं। अर्थात् स्वयं उसके कपायानुरजित परिणाम ही उसके

वास्तविक शत्रु है ? उस योगी का वल कायर व्यक्तियों पर नही चलता, इन अत्यन्त सुभट शत्रुओ पर चलता है। क्या किसी क्षत्रिय की खड्ग किसी स्त्री पर या नपु सक पर उठती है ? भले उसके प्राण चले जाये, पर क्या वह इनके प्रति युद्ध ठानता है, इनको अपना पराक्रम दिखलाता है ? धन्य है वह। उनकी दृष्टि विलक्षण है। वे व्यक्तियो को या प्राणियो या वस्तुओ को, उस दृष्टि से नही देखते, जिससे कि हम देखते है, और इसीलिये आश्चर्य होता है उनके साहस पर। वह सर्व को वस्तुपने की दृष्टि से देखते है। उनकी दृष्टि मे वह चैतन्य है और शरीर जड जिससे उनका कोई नाता नही। उनकी दृष्टि मे लोक की कोई शक्ति उन्हे बाधा पहुँचाने मे समर्थ नही। क्योकि वह अच्छेद्य है, अविनश्वर है, अदाह्य हैं, अर्थात् वह जल नही सकते। जब वे छिद भिद सकते ही नही, जल सकते ही नही, तो कोई कैसे उन्हे छेदे भेदे या जलाये ? छेदना भेदना तो रहा दूर, उसे कषायादि उत्पन्न कराने की शक्ति भी किसी अन्य मे नही है। वह स्वय क्रोधादि करे तो करे, कोई अन्य न करायेगा। यही तो है वस्तु की स्वतन्त्रता, जो स्व पर भेद के प्रकरण मे दर्शायी जा चुकी है। (देखो अध्याय न० १२) विचारिये तो सही कि यदि आप मुझे गाली दे या मारे, और मै क्रोध न करू, तो क्या आप जबरदस्ती मुझे कह सकते है, कि मुझे क्रोध करना ही पडेगा ? आप मुख चीर सकते है पर क्रोध नही करा सकते।

देश भक्तो को अग्रेजो ने जेल मे ठोका, अनेको कष्ट दिये, परन्तु क्या उनमे इतनी सामर्थ्य थी, कि उनसे जबरदस्ती उनकी अन्तरग देश भक्ति के भाव को छुड़ा देते ? मानतु ग आचार्य को अडतालीस तालो के अन्दर बन्द किया। परन्तु क्या उसके अन्दर जागृत हुई प्रभु भक्ति पर प्रतिबन्ध लगा सका कोई ? आज यदि मै आपको कहूँ कि आपको क्रोध करना पडेगा, तो क्या आप करेंगे ? महात्मा बुद्ध को एक व्यक्ति ने खूब गालिया सुनाई। सुनते रहे वह मुस्कराते २, शान्त भाव से। व्यक्ति चुप हो गया तो बोले कि "भाई ! यदि कोई वस्तु मै तुम्हे दू और तुम न लो, तो वह वस्तु किसकी ?" "जिसने दी उसकी।' तो बस आपने मुझे जो शब्द दिये, मैने तो उन्हे लिया नही। क्योकि मुझे क्रोध आया नही। क्रोध आ जाता तो सम्भवत कह दिया जाता कि, मैने उन्हे स्वीकार किया है। तो बताओ यह शब्द किसके ? आपके या मेरे ?" व्यक्ति शर्मिन्दा हो गया। शब्दो मे यदि शक्ति होती तो उन्हे क्रोध आ जाता। परन्तु वह शक्ति उनमे थी ही कब ? ऐसी दृष्टि मे कोई अन्य उन्हे बाधा पहुचा सके, यह शक्ति किसी मे कहा ? अपनी ही किसी कमजोरी के कारण कदाचित् क्रोधादि आते है। अत. वह कमजोरी ही उनका शत्रु है। उसके प्रति ही उनका युद्ध है। उनको ही अपना पराक्रम दिखाता है।

दिनांक १६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ६३

"देखो बैल सरीखा निर्लज्ज पशु कैसे चला जा रहा है। असभ्य कही का। नाम मात्र को मनुष्य है। मूढ बुद्धि। ढोग रचे फिरता है। देखो तो कितना भोला दीखता है ऊपर से, लुच्चा कही का", इत्यादि अनेको वचनो द्वारा तीखे बाण ही फैंक रहा हो मानो। कलेजे को छलनी करते निकले चले जा रहे हो। तो वे परम योगेश्वर किस प्रकार विचार करते है? "अरे चेतन! क्यो कल कलाहट सी हो गई है तेरे अन्दर? क्या इन शब्दो को सुनने मात्र से? बस इसी बिरते पर निकला है सस्कारो से युद्ध करने? अभी तो तुझे कुछ पीड़ा भी होने नही पाई। शरीर पर भी कोई आघात हुआ नही। यह व्याकुलता सी क्यो? बता तो सही कहा लगे है यह वचन तुमको? दाये, बाये, ऊपर नीचे किधर भी तो चिपके दिखाई नही देते। कैसे मानता है अपने को घायल? तू चैतन्य ब्रह्म, अछेद्य व अभेद्य। उसका घायल होना तो असम्भव ही है, परन्तु यहा तो यह शरीर भी घायल हुआ नही। तुझे पीडा क्यो होने लगी? क्या शब्दो मे इतनी शक्ति है कि बिना आघात पहुँचाये तुझे पीडित कर दे। परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है। ऐसा माने तो तेरे मे और लोक के अन्य जीवो मे अन्तर ही क्या रहा? तू किस प्रकार अपने को शान्ति पथ का पथिक कह सकता है?

केवल इन दो चार शब्दो मात्र से तू क्यो अपनी शान्ति को अपने हाथ से लुटा रहा है? इतनी दुर्लभता से प्राप्त करके, इसे मुफ्त मे ही दिये जा रहा है। कहा गई तेरी बुद्धि? कहा गया तेरा विवेक? अपने हित को क्यो नही देखता? इस समय विश्व मे सर्वत्र ही तो किसी न किसी के द्वारा कोई न कोई शब्द बोला जा रहा है। उनके द्वारा क्यो विह्वल नही हो रहा है? यह भी तो विश्व मे रह कर ही बोल रहा है। उन असख्यात शब्दो मे एक यह भी सही। जब उनके द्वारा तुझे बाधा नही हो रही, तो इसी के द्वारा क्यो हो? जहा यह कटु शब्द बोले जा रहे है, वहा इस विश्व मे कही न कही मिष्ट व प्रशसा के शब्द भी तो बोले जा रहे हैं। यदि सुनना ही है तो उनको क्यो नही सुनता?"

और फिर वह झूठ भी तो नही कह रहा है। दोष तुझमे होगे तभी तो कहता है। वह तो बडा उपकार कर रहा है। तुझे तेरे दोष दिखा कर सावधान कर रहा है। कितना दयालु है वह? निष्कारण तेरा रोग दूर करने की भावना करता है? और यदि अनहोने दोष कह रहा है तो भी तो अच्छा ही है। भविष्य मे वह दोष उत्पन्न न हो जाये, ऐसी भावना द्वारा, पानी आने से पहले ही पुल बाँधने को कह रहा है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है?" ऐसा और भी अनेको इसी जाति के शीतल विचारो द्वारा, उस अवसर मे अपने को शान्त रखता है। क्रोधाग्नि को उठने से पहले ही शमन कर देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(२) यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ भी पडे कि कोई उसके शरीर को पीटने लगे, थप्पड़ मुक्के मारने लगे, तो भी वह वीर शान्ति को हाथ से नही देता। विचारता है कि "अरे चेतन! क्या हुआ? क्यो पीडा होती है? क्या कोई बाधा पहुँची है तुझे? तू तो अब भी अपनी सर्व शक्तियो को समेटे पूर्ण गुप्त अपने ज्ञान दुर्ग मे बैठा है। क्या तुझे भी कही थप्पड लगा है? लगा है तो बता, कहा पीड़ा हो रही है तुझे? क्या ज्ञान मे? पर ज्ञान मे पीड़ा होने का क्या काम, वह तो जानता मात्र है। कहा चोट लगी है तुझे? क्या शरीर की चोट को अपनी चोट समझ बैठा है? अरे! कहाँ चला गया तेरा विवेक? यदि शरीर की चोट को चोट माने तो, इस खम्बे पर पड़ी चोट को भी अपनी चोट

माननी चाहिये। क्या अन्तर है शरीर मे तथा इस खम्भे मे ? वह भी जड और यह भी जड। यदि क्रोध आ जाता तो अवश्य माना जा सकता था, कि तुझे चोट लगी है। पर क्रोध उत्पन्न करने वाला तो तू स्वय ही है। ये वेचारे प्राणी तुझको क्रोध कैसे उत्पन्न कराये ? कौन सा ऐसा हथियार है उनके पास ? और फिर यदि शरीर को कुछ वाधा पहुँची भी तो क्या हुआ, इसका विनाश तो न हुआ ? तेरे सयम मे तो वाधा न पडी ? तेरा मार्ग तो न रुक पाया ? जितने दिन भी यह है उतने दिन तक तो तू पुरुषार्थ कर ही सकता है ? क्यो इतने मात्र से निराश सा हुआ जाता है ? इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों द्वारा क्रोध पर प्रतिबन्ध लगा देता है। उठने से पहले ही उसे दबा देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(३) और यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ जाये कि कोई प्राण ही लेने को उद्यत हुआ हो। करोत से चीरने को तैयार हो, बन्दूक ताने सामने खड़ा हो, अन्ध कूप मे धकेलने को तैयार हो, आधा जमीन पर गाड कर दही छिडक दी गई हो शरीर पर-उसे कुत्तो से नुचवाने के लिए, पकते हुए तेल के कढाये मे धकेलने को तैयार हो, कोल्हू मे डाल दिया हो इस शरीर को, तो भी वह निर्भीक सिंह विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ है ? क्यो सोच रहा है ? क्यो भयभीत सा दिखाई देता है ? क्या इसलिये कि मृत्यु आने वाली है ? अरे तो आने दे, कौन बडी बात है ? मृत्यु आना तो स्वभाव ही है। और फिर इस जर्जरित शरीर को छीन कर एक नये शरीर को प्रदान करने वाली मृत्यु से भय काहे का ? इसमे अनिष्टता काहे की ? यह तो तेरा सबसे बड़ा मित्र है, जो नवीन शरीर प्रदान करके तुझे तेरी साधना मे सहायता देने को उद्यत हुआ है। कितना बडा उपकार कर रहा है यह तेरा ? यदि मृत्यु से ही डर लगता है तो अपनी वास्तविक मृत्यु से क्यो भय नही खाता ? जो क्षण क्षण प्रति तुझे हो रही है। एक कषाय हट कर दूसरी, दूसरी हट कर तीसरी और तीसरी हट कर चौथी। क्षण प्रति क्षण जो तेरी शान्ति का घात कर रही है। तेरा शरीर तो शान्ति है, यह चमडा तो नही। इसकी मृत्यु तेरी मृत्यु कैसे हो सकती है ? शान्ति की मृत्यु तो यह करने को समर्थ नही है। वह तो तू स्वय ही है। यदि तू क्रोध करे तो तेरी मृत्यु अवश्य हो जायेगी। पर वे वेचारे रक तो इतना करने को समर्थ नही है। वह तो स्वय तू ही है। यह तेरे घातक कैसे हो सकते है ? जो तुझे जानते ही नही वे वेचारे तेरा घात क्या करेंगे ? और तुझे जो अविनश्वर ज्ञान पुञ्ज जानते हैं वह तेरा घात क्या करेगे ? वे वेचारे अज्ञानी स्वय नही जानते कि वह क्या करने जा रहे हैं। इन पर द्वेष कैसा ? क्या वालको की अज्ञान क्रिया पर से वालको पर भी कभी द्वेष हुआ करता है ? ये भी तो वालक ही है, जिन्होने अभी आख खोल कर देखा ही नही, जो यह भी जान सकते कि वह स्वय कौन है।

"और फिर यदि इन्हे यह कार्य करने से प्रसन्नता ही मिलती हो तो, इससे तेरा क्या हर्ज है ? लोक तो बडा २ दान देकर, बडी २ सेवाए करके, वड़े २ कष्ट झेल कर, किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करते हैं। और यह विना कुछ किये सहज ही इस शरीर के साथ खेल खेलकर प्रसन्न हो रहे हैं। तो इससे अच्छी बात क्या है ? लोक तो किसी को प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने तक को तैयार हो जाते हैं। और यह वेचारा तो फोकट मे ही प्रसन्न हुआ जा रहा है। तेरा सर्वस्व तो शान्ति है। इसे हरण करने को तो यह समर्थ ही नही। और फिर भी प्रसन्न हुआ जा रहा है। तो इससे अच्छी बात और क्या है ?"

"क्या विचारता है कि यह तेरा शत्रु है ? परन्तु भो चेतन ! कहां गई तेरी बुद्धि ? क्या हो गया है आज तुझे ? क्या नींद आ रही है ? अरे तुझे कोई बडा रोग हो जाये, तू सडक के किनारे पर पडा हो, और कोई अपरिचित पथिक तुझे देख कर अपनी मोटर मे बैठा कर हस्पताल मे ले जाये। डाक्टर से कहे कि "डाक्टर साहब मेरा सर्वस्व ले लीजिये, पर इसे अच्छा कर दीजिये।" तो बता उस व्यक्ति से तुझे द्वेष होगा कि प्रेम ? बस कषायो से पीडित तू एक रोगी, ये दयालु जीव नि.स्वार्थ सेवी, अपना सर्व पुण्य लुटाकर भी तुझे इस रोग से मुक्ति दिलाने आया है। तेरा सर्व भार अपने सर पर लेने आया है। भला द्वेष का पात्र है या करुणा का ?

(४) और भी ! यदि घर मे तेरे पुत्र को बौरान हो जाये, और पागल पने मे तेरे कान काटने लगे, तो उस पर तुझे दया आयेगी या द्वेष ? बस ये बेचारे बौरान से ग्रसित जीव स्वय इस रोग से पीडित है। स्वय अपने द्वेष व क्रोध मे जले जा रहे है। यदि रोग की तीव्रता से पागल होकर वे इस शरीर को काटते है, तो करुणा के पात्र है या द्वेष के ? जरा तो विवेक कर। अपने उपकारी के प्रति द्वेष करते क्या तुझे लाज नही आती ? कृतघ्नी बनना चाहता है ? और फिर यह बेचारे तुझे कुछ कह भी तो नही रहे है। इस खिलौने से खेलते हैं। बालक जो ठहरे। खिलौने ले लेकर तोडना तो बालको का स्वभाव ही है। यदि यह इस शरीर रूपी खिलौने को तोड़ने आदि का खेल खेल रहे है तो इनका दोष भी क्या है ? खेलने दे इन्हे, तुझे क्या ? तेरी शान्ति तो तेरे पास है ? उसे तो छीनते नही बेचारे।" और इस प्रकार के अनेको विचारो द्वारा क्रोध को जीतता है। प्रगट होने से पहले ही छिपा देते है। यह है *योगी की उत्तम क्षमा।*

और यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ जाये कि शिष्य मण्डली मे से या अन्य सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो मे से कोई एक शिष्य या व्यक्ति अनुकूल न चले, या आज्ञा का उलघन करे, या अभिप्राय से विपरीत कार्य करने लगे। अथवा कोई जड पदार्थ अपने अनुकूल न बन सके तो कुछ कुछ हृदय मे सन्ताप सा उत्पन्न होने लगता है। "अरे यह मेरी आज्ञा से बाहर जा रहा है। अरे ! जिस प्रकर मै कहता हूँ उस प्रकार क्यो नही करता। अपनी मर्जी से क्यो करता है ? इत्यादि।" तो ऐसे अवसरो पर वह योगी इस प्रकार विचारने लगता है, कि "भो चेतन ! कहा खो आया आज बुद्धि ? किसको अपने अनुकूल चलाना चाहता है ? अपने को या इसको ? इसको अपने आधीन करना तो तेरी सामर्थ्य से बाहर है। क्या पहले निर्णय नही कर चुका है ? (देखो अध्याय न० १२) स्व पर भेद ज्ञानी कहलाता है, और फिर भी दूसरे को अपने अनुकूल करना चाहता है ? लोक मे सर्व पदार्थ स्वतन्त्र है। तू उनको परतन्त्र बनाना क्यो चाहता है ? अपने आधीन क्यो करना चाहता हैं ? तू भी स्वतत्र है, यह भी स्वतत्र हैं जिस प्रकार चाहे करे। तू इन्हे रोकने वाला कौन है ? इन पर तेरा क्या अधिकार है ? यदि अनुकूल ही परिणमाना है तो अपने को क्यो नही परिणमाता ? अपने ऊपर तो तेरा पूरा अधिकार है। क्यो अपनी शान्ति के प्रतिकूल इस क्रोध के आवेश मे बहा जा रहा है ? रोक ! रोक ! बस अब इन परिणामो को रोक। इसके प्रति तो इतना ही कर्तव्य था कि इसके कल्याणार्थ कोई हित की बात इसे बता दी। सो तेरा कर्तव्य पूरा हुआ। अब यह चाहे जैसा करे इसकी मर्जी। लोक मे अनन्तानन्त जीवराशि भरी पड़ी है, किस किस को अपनी आज्ञा मे चलायेगा ?

६ गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा

परम धैर्य के धारी अत्यन्त पराक्रमी उन योगियों को तो यह विचार कठिन कठिन अवसरो पर आते ही है, अत उन्हें तो उत्कृष्ट क्षमा है ही। परन्तु यह क्षमा धारना उनका ही काम हो और आपका न हो ऐसा नही है। यथा योग्य अवसरो पर भले कुछ

हीन रूप मे सही, आपको भी इस अन्य गृहस्थ अवस्था में, इसी प्रकार के विचारों द्वारा अपने क्रोध को दबाने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी से भी द्वेष करना शान्ति के उपासक का काम नही। और यदि आज भी आपका किसी बडे या छोटे से द्वेष है, तो इस उत्तम क्षमा को वात को सुनकर उसके उगलने का प्रयत्न करना चाहिये। आपको अपना कर्तव्य देखना है, दूसरों का नही। अत "वह तो बरावर मेरे साथ बुराई किये जा रहा है, मै कैसे उसके प्रति माध्यस्थ हो जाऊ ? कैसे द्वेष त्याग दू ?" इस प्रकार के विचारो को त्याग कर, अपने हित के लिये उपरोक्त क्षमा वर्धक परिणामो के आश्रय पर, अपने शत्रु को भी आज आपको क्षमा कर देना योग्य है। मत विचारिये, कि वह आपको क्षति पहुँचावेगा। बल्कि यह विचारिये कि यह आपका द्वेष या आपकी कीन्हा ही आपको क्षति पहुंचा रही है। प्रतिवर्ष क्षमावणी का दिन मनाते हैं। "क्षमा क्षमा सब गहो रे भाई" का राग अलापते है। मानों दूसरों को सुनाते हों। प्रभो ! स्वय सुनने का प्रयत्न कीजिये, दूसरे को सुनाने का नही। दूसरा कुछ भी करे, उधर मत देखिये। देखिये कि आप क्या करते हो। शान्ति का मार्ग लौकिक दृष्टि से विपरीत है। उस दृष्टि मे इसका रहस्य आ ही नही सकता। साधारण जन क्या जाने इसकी महिमा ?

३४

—: उत्तम मार्दव :-

दिनाक १७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६४

१—पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा, २—आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम, ३—लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें।

शान्ति सरोवर भगवान आत्मा ! आज अत्यन्त सौभाग्य वश शान्ति सागर वीतरागी गुरुओ की शरण को प्राप्त होकर भी यदि कषायोद्रेक मे ही जलता रहा, तो क्या लाभ उठाया इस महान व दुर्लभ अवसर से ? अब जिस किस प्रकार भी अन्तर दाहोत्पादक इन कषायो से युद्ध कर। उत्तम मार्दव से आक्रमण कर। घबरा नही। इस हथियार का सामना करने की शक्ति इन कषायो मे नहीं है। इनकी एक झलक मात्र से यह गीदड़ टोली दुम दबा कर भागती दिखाई देगी। एक बार तो देख इसका पराक्रम। और यह हथियार तेरे पास न हो, ऐसा भी नही है। तेरी आयुध शाला मे ऐसे हथियारो की कमी नही। किसी से माग कर लाने की आवश्यकता न पडेगी। इनका प्रयोग करने मात्र की ही देर है। विश्वास कर और साहस पूर्वक एक बार प्रहार कर। तेरे पराक्रम की परीक्षा का अवसर आया है। वीरता को कलकित न करना।

१ पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा

मार्दव अर्थात् मृदु परिणाम, कोमल परिणाम, अभिमान का विरोधी परिणाम। आज तक तो पर पदार्थो को अपना मानता हुआ कुल, जाति, रूप, धन, बल, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान इत्यादिक की महिमा को गिनता हुआ, इनमे से रस लेता हुआ, इनके कारण ही अपनी महानता मान मान कर गर्व करता हुआ चला आ रहा है। झूठा गर्व जिसका कोई मूल्य नही, कोई आधार नही। इन पर पदार्थो से अपनी महिमा व बडप्पन की भिक्षा मागने मे ही गर्व करता आ रहा है। "इनका मै स्वामी हूँ, इनको मै करता हू, मेरे द्वारा ही इनका काम चल रहा है। यह सब मेरे लिए ही काम कर रहे है, यह सब मुझ मे से ही अपना बल लेते है, यदि मै न हूँ तो यह किसी काम के नही, मेरे आधार पर ही यह टिके हुए है, इनको मै भोगता हूँ, यह मेरा बडा बड़ा काम साधते है। इनके द्वारा ही मेरी महिमा हो रही है। इनके लिये ही मै इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इनमे से ही मुझे आनन्द मिलता है, इनके आधार पर ही मेरी सर्व महत्ता है। लोग मेरी इन विभूति को देख कर नत मस्तक हो जाते है, मेरी महिमा का बखान करते है।" इस प्रकार झूठी कल्पनाओ के अन्धकार मे आज तू अपनी वास्तविक महिमा को भूल बैठा है। अपनी विभूति को न गिनकर भिखारी

बन बैठा है। अपने कुल को, अपनी जाति को, अपने रूप को, अपने धन को, अपने बल को, अप
ऐश्वर्य को, अपने तप को, अपने ज्ञान को तथा अन्य अनेकों बातो को बिल्कुल भुला बैठा है। अपनी ८
महिमा की अवहेलना करके दूसरो की महिमा में अपनी महिमा मानना अनन्त अभिमान है। अप
महिमा के प्रति अत्यन्त कठोरता है। एक दृष्टि भी अन्तर की ओर जाये तो अपनी विभूति के दर्शन
जाये। अपनी महिमा का भान हो जाये। उसके प्रति बहुमान प्रगट हो जाये। पर द्रव्यों का अभिमा
हट जाये। निज का अभिमान हो जाये। अपनी पूर्ण महिमा का साम्राज्य प्राप्त हो जाये। यह भिखार
पना जाता रहे।

लोक मे भी दो प्रकार के अभिमान कहने मे आते हैं। एक स्वाभिमान और दूसरा
सामान्य अभिमान अर्थात् पराभिमान। "मैं उत्तम कुल का हूँ क्योंकि मेरा पिता बड़ा आदमी है।
इत्यादि" तो पराभिमान है। क्योंकि पिता आदि पर की महिमा मे झूठा अपनत्व किया जा रहा है।
परन्तु "मेरा यह कर्तव्य नहीं, क्योंकि मेरा कुल ऊंचा है।" यह स्वाभिमान है। क्योंकि अपने कर्तव्य की
महिमा का मूल्याङ्कन करने मे आ रहा है। पर-अभिमान निन्दनीय और स्व-अभिमान प्रशंसनीय गिनने
मे आता है। इसलिए वास्तविक अभिमान करना है तो स्वाभिमान उत्पन्न कर। अर्थात् निज चैतन्य
विलास के प्रति महिमा उत्पन्न कर। जितनी चाहे उतनी कर।

२ आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम

"मैं उच्च कुलीन हूँ। मैं सूर्य वंशी हूँ। वह महान वंश जिसमे भगवान आदि ब्रह्मा
ऋषभदेव ने अवतार लिया। जिसमें षट् खण्ड स्वामि भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए। जिसमे
यम विजेता महान तपस्वी बाहूबलि उत्पन्न हुए। इसलिए सबको मेरा सम्मान करना
उचित है। मैं भगवान की सन्तान हूँ। आप सबसे ऊंचा हूँ।" अरे रे! क्यों अपने कुल
के प्रति इतना कठोर हो गया है तू? तनिक तो दया कर। बिल्कुल रंक बन गया है। भगवान की सन्तान
होने का गर्व करता है, पर भगवान होने का नहीं? तू चिदानन्द ब्रह्म पूर्ण परमेश्वर स्वयं भगवान है।
उसकी महिमा उसकी उच्चता स्वीकार न करके, दूसरों से अपनी उच्चता स्वीकार कराने चला है।
साक्षात् भिखारी बन कर भगवान के कुल को लाञ्छन लगाने वाले भो चेतन! तू उच्च कुलीन है कि
नीच कुलीन? स्वय तू ऋषभ है। षट् खण्ड का ही नहीं त्रिलोक का अधिपति है। सर्व विभावों का
विनाश करने की शक्ति रखने वाला तू स्वयं यम है। इन अल्प मात्र मनुष्यो से ही नहीं तू त्रिलोक वन्द्य
है। तू स्वय भगवान है। अपनी महिमा के प्रति गर्व कर। कठोरता छोड़। उसका और अधिक अपमान
मत कर। स्वयं अपना सम्मान करना सीख। तब बनेगा वास्तव मे उच्च कुलीन।

"मेरी जाति बहुत ऊंची है। मेरे मामा की आज्ञा अनेको देश स्वीकार कर रहे है। मेरे
नाना इतने दानी थे। मेरी माता बड़ी विदुषी है।" अरे! तो क्या हुआ? तेरी माता तेरे मामा और
नाना बड़े थे तो तुझे क्या? यह देख कि तू कौन है? उन्होंने बडे कार्य किये तो वह बड़े कहलाये। तू
बड़ा कार्य करेगा तो बड़ा कहलायेगा। नीचे काम करने से कौन ऊंचा बन सकता है? अपने प्रभुत्व को
ठुकरा कर नाना मामा से अपने प्रभुत्व की भिक्षा माँगने वाले भो चेतन! तनिक विचार तो कर कि तू
महान है कि भिखारी? भगवती सरस्वती जिस की माता हो, वह तुच्छ बुद्धि मानुषियो को अपनी माता
बनाये, आश्चर्य है। सहज आनन्द जिसका मामा हो, वह चिन्ता की चिताओ में जलते इन मनुष्यो को

मामा समझे, खेद है । भगवन ! आंख खोल । अपनी ज्ञान चेतना जाति को पहिचान । उसके प्रति बहुमान उत्पन्न कर । कठोरता छोड़ । चेतन जाति पर गर्व कर । जितना चाहे कर ।

"मै बडा रूपवान हूँ । गली मे मुझे जाता देख कर स्त्रियां अपना सर्व काम छोड कर बरामदो मे आकर खडी हो जाती है, राह चलने वाले पथिक रुक जाते है ।" अरे रे ! कौन से रूप की बात कहता है ? इस चमडे के रूप की बात ? तब तो अवश्य ही तू बडा रूपवान है । ले एक बार इस दर्पण मे मु ह देख ले । इसमे १० साल आगे का रूप दिखाई दे जायेगा । देख कितना सुन्दर है ? क्यो, डर क्यो गया ? तेरा ही तो रूप है न ? इसी पर गर्व करता था ? जरा मक्खी के पख समान की पतली सी इस झिल्ली को उतार कर देख इसका रूप । क्यो कैसा लगता है ? जरा शौच गृह मे जाकर देख इसका रूप । कैसा मन भाता है ? भोले प्राणी ! अपने सच्चिदानन्द रूप को भूल कर इस चमडे पर लुभाते क्या लज्जा नही आती ? आ यदि अपना सौन्दर्य देखना है, तो देख यहाँ । जहा विश्व मोहिनी यह शान्ति सुन्दरी तेरे गले मे वर माला डालने को तैयार खडी हैं । इसका अपमान करके तू कैसे अपने को रूपवान कह सकेगा ? प्रभु ! अन्य ओर से दृष्टि हटा । कठोरता तज । इस सुन्दरी को मृदुता से स्पर्श कर । यह है तेरा असली रूप । इस पर अभिमान कर । जितना चाहे कर ।

"मै बडा धनवान हूँ । बडे बडे व्यापारी मेरे द्वार पर मस्तक रगडते है । सारी मण्डी का भाव मेरे हाथ मे है । मेरे पास ५०० गाव है । यह देखो करोडो के हीरे जवाहरात । खजाना भरा पडा है । कुबेर भी मुझ से शर्माता है ।" अरे रे ! किस पर गर्व करता है ? इस धूल पर ? जो कल ही न जाने कहा को विलय हो जाने वाली है । अपने वास्तविक चैतन्य धन को भूल कर इस धूल से क्या अपने बडप्पन की भिक्षा माँगते लाज नही आती तुझे ? जाग चेतन जाग ! इधर देख इस चैतन्य कोष को, जिसके एक कोने मे सम्पूर्ण लोक समाया हुआ है । लक्ष्मी के सेवक मे सब भिखारी, तेरे ऋणी है । तीन लोक की सम्पूर्ण विभूति को एक समय मे ग्रस जाने की शक्ति रखने वाले भो ज्ञान पुञ्ज ! इस अपने ज्ञान की महिमा को स्वीकार कर । धूल की महिमा की पकड छोड़ । इसी का नाम है मृदुता या मार्दव परिणाम । उस आन्तरिक स्वानुभव ज्ञान के प्रति बहुमान उत्पन्न कर । चाहे जितना कर ।

"मै बड़ा बलवान हूँ । बडे बड़े पराक्रमी वीर मेरा लोहा मानते है । मेरे एक इशारे पर आज विश्व काप उठता है । किसकी शक्ति है कि मुझको जीत सके ?" अरे ! हसी आती है तेरी बात पर । पामर कही का । 'मेरी माता वन्ध्या थी ।' ऐसा सुनकर कौन न हस पडेगा । साक्षात् एक इस तनिक से अभिमान के द्वारा जीता हुआ तू, आश्चर्य है कि विश्व विजयी होने का दावा करता है ? अपने अन्दर तो झाक कर देख । काल की विकराल दाढ मे बैठा हुआ तू भले हंस रहा हो, पर कितनी देर के लिये ? अभी जबाडा बन्द हो जायेगा और तेरा यह अभिमान सर्व जगत पर स्वतः प्रगट होकर यह घोषणा करेगा कि कितना बली है तू ? शर्म कर । काल की पहुँच से दूर अपने यथार्थ बल को भूल कर इन शरीर से मागे हुए बल पर फूला फिरता है ? कहां गई तेरी बुद्धि ? उधर देख अपने अनन्त बल की ओर, जिस ओर आन्तरिक शान्ति मे तन्मयता पड़ी है । निज आनन्द का आधिपत्य पड़ा है । जहां लोक की सर्व विपदाये और चिन्ताये खडी रो रही है । एक बार प्रगट हो जाने पर जिसमे कभी कमी नही आती । उसकी महिमा जागृत कर । जिससे कि यथार्थ बली बन जाये । उस पर अभिमान कर जितना चाहे उतना ।

"मेरा बड़ा ऐश्वर्य है। २००० हाथी, ४००० घोड़े, १००० रथ, इतनी तोपे, वन्दूके, हवा जहाज, टैंक, लाखो सेवक, मोटरे, कारखाने, और न जाने क्या क्या अला बला। मेरी आज्ञा सारे पर चलती है। मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का किसी मे साहस नही है। चारो ओर सेवक अ सेविकाओ से वेष्टित इस राज्य वैभव को भोगते हुए आज मै इन्द्र को भी शर्मा रहा हू।" किस ऐश्वर्य क कहा जा रहा है प्रभो! उसका, जो एक बम पड़ जाने पर न जाने कहां को चला जायेगा? उसको जिसके लिए कि सम्भवतः रात को तुझे नींद भी न आती हो? किसने भ्रमा दिया है तुझे? इतना तो न वन, कि चाहे जो ठग कर ले जाये। आंखो मे डाले एक मुट्ठी मिर्च, और सर्वस्व हर कर ले जाये अपने चित्प्रकाश को भूलने के कारण आज तेरी आँखे चुंधिया गई हैं इसकी झूठी आभा मे। इधर दे. आनन्द नगर के अपने अधिपत्य को, जहां शान्ति तेरी दासी है, ज्ञान तेरा मन्त्री है, अनन्त बल तेरी सेना है। और सुख तेरा पुरोहित है। अभिमान ही करना है तो इसके प्रति कर, उस धूल मे क्या पड़ा है? इसमे तो मिलेगा सकल साम्राज्य और उससे मिल रहा है दासत्व। अतुल ऐश्वर्य के अधिपति ब्रह्म! भिखारी मत वन।"

"मैं बड़ा तपस्वी हूँ। ज्येष्ठ की दोपहर मे धूप के अन्दर पत्थर की तपती शिला पर घण्टो वैठा रहता हूँ। पोष मास की कड़कड़ाती रातों मे श्मशान भूमि मे योग साधना करता हूँ। महीनो महीनों का उपवास, नीरस भोजन तथा अनेकों कठिन से कठिन तप करता हूँ। अनेको परिषह सहता हू।" कैसा तप? शरीर को तपाने का? अरे रे! प्रतीत होता है कि लोक के संताप से संतप्त तेरा अन्तष्करण ही मानो भाप बनकर उड़ गया है। अपने को न तपा कर दूसरे को तपाने मे कौन महिमा है? भट्टी के सामने बैठा लुहार सारे दिन लोहा तपाया करता है। क्या अन्तर है उस लोहे में तथा इस शरीर मे। क्या भूल गया स्व पर के भेद मे बताई गई सब बाते? निज स्वरूप मे प्रतपन करने का नाम तप है। उसमे ताप उत्पन्न कर। उसमे स्थिरता धार। शान्ति के सम्भोग मे दृष्टि लगा। उसके प्रति महिमा जगा। उसके गुण गान गा। तब हो सकेगा तेरा महात्म, अब काहे का महात्म्य? अब तो रंक है। शरीर के दर का भिखारी। इसमे से अपनी महिमा की खोज करने वाला।

"मै बड़ा ऋद्धि धारी हू, मुझ मे बड़ी शक्तिया हैं। चाहूं तो एक दृष्टि से जगत को भस्म कर दूं। एक शाप का वचन कह कर राव से रक कर दूं। एक आशीर्वाद के द्वारा तुझे कृतकृत्य कर दू। आकाश मे उड जाऊं। मकड़ी के जाले पर से पांव रख कर गुजर जाऊं। बैठे बैठे सुमेरू को स्पर्श कर दू। मक्खी जैसा शरीर बना लूं। इत्यादि कहां तक बखान करूं अपनी महिमा का, अपने चमत्कार का।" अपने मुंह से अपनी प्रशसा करते क्या लाज नही आ रही है तुझे। तथा महिमा गान करने से पहले इतना तो समझ लेता कि किसकी महिमा का बखान है, तेरी या इस चमड़े की? चमड़े की महिमा से तू महिमा वन्त कैसे कहला सकेगा? इससे तो कुछ शिक्षा ले। यह तो आज लज्जित करने आया है तुझे अपने चमत्कार दिखा कर कि देख योगी! तेरे योग को मैं फीका किये दे रहा हूँ। देख मेरी महिमा! क्या है तेरे पास जो इसके सामने रखे? बता तो सही क्या उत्तर देगा? क्या है तेरे पास? बन पड गया मौन मे। अरे! विश्व के अधिपति अपनी महिमा को भूलकर इसकी महिमा के ही चमत्कार दिखाने लगा। फिर कैसे जाने कि तेरे पास क्या है? इधर देख तेरे पास वह कुछ है जिसके

सामने इन बेचारी तुच्छ शक्तियो व ऋद्धियो की तो बात नही, तीर्थंकर पद भी तुच्छ है। देख उस शाति की ओर जिसमें पडी है अतीव तृप्ति, सन्तोष व साम्यता। जिसके वेदन मे सब कुछ तुच्छ है। इस शान्ति का अधिपति होकर अब इन तुच्छ शक्तियो की महिमा का बखान छोड। इस शान्ति पर गर्व कर। जितना चाहे उतना।

"मै बहुत ज्ञानी हूँ। बडे बडे तार्किको को शास्त्रार्थ मे परास्त कर दू। मेरे तर्क का कोई उत्तर देने मे समर्थ नही। बडे बडे शास्त्र मेरे हृदय मे रखे है। जो बात कहो निकाल दू। अमुक आचार्य ने अमुक शास्त्र मे अमुक बात अमुक पृष्ठ पर लिखी है। देख लो खोल कर। बड़े बडे पण्डित मेरा लोहा मानते है। दो दो घण्टे धारा प्रवाही बोल सकता हूँ। तर्क अलङ्कार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धान्त, अध्यात्म और सर्वोपरि करणानुयोग की सूक्ष्म कथनी मेरे लिए बच्चो का खेल है?" किस ज्ञान पर अभिमान करता है चेतन! अपने अतुल ज्ञान प्रकाश को देख। जिसमे तीन लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासते है। यह तुच्छ मात्र दो चार शब्दो का ज्ञान। क्या मूल्य है इसका इस तेरे अतुल प्रकाश के सामने? और शान्ति के प्रति बहुमान जागृत न हुआ, तो यह शास्त्र ज्ञान काम भी क्या आया? केवल गधे का भार। यह तो देख कि इन शब्दो को याद करने के लिये तुझे कितना परिश्रम करना पड रहा है। हर समय की चिंता। कही भूल गया तो सर्व विद्वत्ता मिट्टी में मिल जायेगी, उस शास्वत् चैतन्य विलास को क्यो नही देखता, जिसमे सहज ही सर्व विश्व समाया हुआ है। जिसे याद रखने को कोई प्रयत्न नही करना पड़ता। शान्ति मे रमणता के अतिरिक्त जहा कुछ नही है। उस अपने स्वाभाविक ज्ञान की महिमा करे तो त्रिलोकाधिपति बन जाये। इसलिये प्रभो! अब विवेक धार कर इस शाब्दिक ज्ञान की महिमा को छोड।

३ लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें मेरे मुख से निकले हुए इन दो चार शब्दो को सुन कर, मेरे गुरुदेव का साक्षात्कार न होने के कारण, कुछ भ्रम वश, यह जो "वाह वाह, कितना सुन्दर उपदेश दिया है। आज तक ऐसा नही सुना था।" इस प्रकार के वाक्य आप अपने किन्ही उद्गारो व भक्ति आदि के आवेश मे कह रहे है, उनको सुन कर आज मेरे हृदय मे क्या तूफान आ रहा हैं? मानो मुझे उड़ा ले जाने का प्रयत्न कर रहा हो-कही मेरी शान्ति से दूर। नही नही भगवन्! मै एक क्षण को भी इसका विरह सहन नही कर सकता। रक्षा कीजिये प्रभो! रक्षा कीजिये। इस महा भयानक लोकेषणा राक्षसनी से मेरी रक्षा कीजिये। इस ख्याति की चाह से मुझे बचाइये। मुझ पामर तुच्छ बुद्धि मे क्या शक्ति है, कि एक शब्द भी कह सकू। तुतला तुतला कर बोलना भी जिसने अभी सीखा नहीं है, वह अभिमान करे प्रवचन करने का? धिक्कार है मुझे। आपके प्रवचन को, आपकी मिष्ट वाणी को, मै अपनी बताऊ? यह चोरी मुझ से न हो सकेगी भगवन। मै श्रोता हूँ, वक्ता नही।

इन दो चार पच्चीस पचास व्यक्तियो के मुख से निकले इन दो चार शब्दो मात्र से ही तू गद्गद् हुए जा रहा है। क्या विचारा है कभी तूने, कि क्या रस आया इन मे से? इन शब्दो मे है क्या? और यदि सत्य होते। तव भी भले कुछ मान लेता, पर इनमे तो सत्यता भी भासती नही। फिर भी झूठा अहङ्कार क्यो? कभी विचारा है तूने, कि इस लोक का तू कितनेवा भाग है। जहा अनन्तानन्त जीव बसते हों, वहा तेरी कौन गिनती? जगत का एक छोटा सा कीट। और इसके अतिरिक्त मूल्य ही क्या है तेरा? बीस पच्चीस व्यक्ति जान गये, और मान बैठा है कि मानों सर्व लोक मे ही ख्याति फैल गई है।

तुच्छ बुद्धि जो ठहरा । कूप मण्डूक जो ठहरा । जरा विश्व में दृष्टि पसार कर तो देख कि कौन ज त है तुझे ? दूर की तो बात नही, यह तेरे प्रदेशो मे स्थित जो अनेको कीटाणु पडे है, इन्ही से जाकर पू. कि क्या वह जानते है, कि तू कौन है ? उन बेचारो को भी छोड । स्वय अपने से तो पूछ कर देख क्या तू भी जानता है स्वय को ? जानता होता तो यह अभिमान न होता । इन शब्दों की महिमा को गिनता । अपने अन्तर चैतन्य विलास पर ही गर्व करता । और यदि बाह्य की ही कुछ बातो के का।९७ अपने को ऊ चा और दूसरो को नीचा समझता है तो एक बार अपने और दूसरे के जीवन को . . प्रकार मै कहता हूँ उस प्रकार देख । जीवन मे बीत गई भूत कालीन अनेक भवो की अवस्थायें, वर्तमान की एक अवस्था, तथा भविष्यत् मे आने वाली अनेक भवो की अवस्थाये । आपका पूर्ण जीवन भी इन अवस्थाओ से भरा पड़ा है और उस दूसरे का जीवन भी । दोनो के जीवनो की पूर्ण अवस्थाओ को डोरे में पिरो कर पृथक पृथक दो माला तैयार कर । इन दोनो मालाओ को अपने सामने खू टी पर टाग कर देख । कौन सी बडी है और कौन सी छोटी । कौन सी अच्छी है और कौन सी बुरी ? बडी तो नही क्योकि दोनो की अवस्थाये बराबर है । अच्छी बुरी भी नही, क्योकि दोनो ही हारो मे सुन्दर व असुन्दर, अच्छी व बुरी, पापात्मक व पुण्यात्मक अवस्थाये पडी हुई है । भले आगे पीछे पडी हो । परन्तु आगे पीछे हो जाने मात्र से हार अच्छे और बुरे नही हो सकते । फिर किस प्रकार अपने को ऊ चा और दूसरे को नीचा मानता है ?

और इस प्रकार वह योगी अनेको विचारो के प्रवाह मे बहा देता है दुष्ट अभिमान को । उतने उत्कृष्ट रूप मे न सही, परन्तु क्या थोडे बहुत रूप मे भी तू अपने जीवन मे यह बात नही उतार सकता ? उस राक्षस से अपनी रक्षा करने के लिये-मेरे लिए नही ।

३५

—: उत्तम आर्यत्व :—

दिनाक १८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६५

१—आर्यत्व का लक्षण, २—आर्य व म्लेच्छ, ३—गृहस्थ की क्रियाओं में माया, ४—साधु की क्रियाओं में माया, ५—माया जीतने के लिए कुछ विचार।

१ आर्यत्व का लक्षण — हे सरल स्वभावी भगवान आत्मा ! धन शरीर व भोगादि मे इष्टानिष्ट बुद्धि के कारण अनेको खोटे अभिप्राय धर धर के मै सदा तेरा घात करता चला आया हू। मुझे क्षमा कर दीजिये भगवन ! अब तक मै अज्ञानी था, हिताहित से बिल्कुल अनभिज्ञ। आज आर्य श्रेष्ठ वीतरागी गुरुओ से आर्यत्व का उपदेश सुन कर मेरी आखे खुल गई है। आर्यत्व धर्म का प्रकरण है। आर्यत्व अर्थात् सरलता। अनार्यत्व अर्थात् वक्रता। जैसा अन्तरग अर्थात् मन मे करने का अभिप्राय हो वैसा ही बाहर में भी अर्थात् वचन व काय से भी कहना या करना। अन्तरग व बाह्य क्रिया मे अन्तर न होने का नाम सरलता है। तथा अन्तरग अभिप्राय मे कुछ और रखते हुए, बाहर मे कुछ और ढङ्ग से बोलना या करना वक्रता है। कपट है, माया है।

२ आर्य व म्लेच्छ — सरल प्रकृति वाले को आर्य कहते है। और वक्र प्रकृति वाले को अनार्य या म्लेक्ष। अपनी वक्रता या अनार्यता के कारण, म्लेक्ष मे उत्कृष्ट वीतराग पद मे स्थिति पाने की सामर्थ्य नही होती, क्योकि वक्रता व वीतरागता का विरोध है। अपनी सरलता व आर्यता के कारण, आर्य जन ही उस पद के योग्य होते है। किन्ही देश विदेश मे रहने के कारण म्लेक्षता व आर्यता नही होती, बल्कि तीव्र कपट व माया के सद्भाव व असद्भाव के कारण ही होती है। आज जो आर्य है वह कल कपट या माया के प्रगट हो जाने पर म्लेक्ष बन सकता है। और जो म्लेक्ष है वह माया का अभाव हो जाने पर आर्य बन सकता है। आर्य, म्लेक्ष बन कर अपनी वीतराग पद की योग्यता को खो देता है। और म्लेक्ष, आर्य बन कर वही योग्यता प्राप्त कर लेता है। अत यदि उस वीतराग शान्त पद की अभिलाषा है, तो पद पद पर इस कुटिलता से अपनी रक्षा करना कर्तव्य है। और इसलिए सवर का प्रकरण चलाते समय यह बात पुन पुन जोर दे देकर बताई गई थी, कि अन्तरग अभिप्राय की बराबर टटोल करते हुए चलना।

३ गृहस्थ की क्रियाओं मे माया — हर क्रिया की परीक्षा अभिप्राय पर से होती है। क्रिया व अभिप्राय मे अन्तर है तो वह क्रिया सवर रूप नही हो सकती, केवल आस्रव रूप होगी। क्योंकि जिसका दमन का प्रयोजन उस पर से सिद्ध न होगा। अपने गृहस्थ जीवन मे तो मै रात दिन इस प्रकार की माया पूर्ण

क्रियाओ का अनुभव करता ही हूं। परन्तु धार्मिक क्षेत्र मे भी मैं बहुत कुछ क्रियाये ऐसी करता हूं, माया के रङ्ग मे रङ्गी होती हैं निम्न दृष्टान्तो पर से इन सर्व क्रियाओं मे पड़ी उस कुटिलता या . का परिचय मिल जाता है।

१—किसी अपने साथी को कदाचित् मैं वडे प्रेम पूर्वक सिनेमा दिखाने का निमन्त्रण ` हूँ। इस अभिप्राय से कि यदि अधिक पढता रहा तो कही ऐसा न हो कि परीक्षा मे मुझ से अधिक नम्बर ले जाये।

२—अपनी माता के साथ मेरे घर पर आये हुये किसी वालक को मैं सुन्दर ५ खिलौने व मिठाई ला ला कर देता हूँ। इस अभिप्राय से कि, इसकी माता यह विश्वास करके कि उसले व उसके वालक से वड़ी सहानुभूति व प्रेम है।

३—अपने मालिक की दुकान पर मै वडे परिश्रम से दिन रात एक करके काम करता हूं इसलिये कि धीरे-धीरे इसकी दुकान से नित्य प्रति जो चोरी करता हूँ, वह प्रगट न हो जाये।

४–किसी व्यक्ति को वडी सहानुभूति पूर्वक "यह वस्तु तुम्हारे योग्य है। इसलिये ले आया हूँ" ऐसा कहता हुआ सुना जाता हू। केवल इस अभिप्राय से कि जिस किस प्रकार भी यह इसे खरीद ले। पीछे इसके काम आये या न आये।

इत्यादि अनेक प्रकार की छल मिश्रित क्रियाये सुवह से शाम तक नित्य ही करता रहता हूँ। सब ही उनसे परिचित हैं। अब धार्मिक क्षेत्र की माया मिश्रित कुछ क्रियाओं को देखिए।

१- अन्तरग मे शरीर को ही पोषण करने का या भोगो मे से ही रस लेने का अभिप्राय रखते हुए, बराबर बाहर मे यह कहता रहता हू कि "शरीर मेरा नही है। मुझसे पृथक अन्य द्रव्य है। भोगों मे सुख नही है। मुझे तो शान्ति चाहिए।'

२—खूब सुरताल से तन्मयता के साथ भगवान की पूजा करता हूँ। इस अभिप्राय से कि लोग मुझे धर्मात्मा समझें। मेरे पुत्र का नाता किसी बड़े घर में हो जाये।

३—भगवान की प्रतिमा स्थापन कराता हू, मन्दिर बनवाता हूं, इस अभिप्राय से कि अधिक धन लाभ हो।

४—खूब दान देता हूँ, इस अभिप्राय से कि लोक मे प्रतिष्ठा हो, लोक मुझे धनिक समझें। कोई आशीर्वाद दे दे। या मैं भोग भूमि मे चला जाऊं।

इत्यादि अनेक प्रकार से अभिप्राय की कुटिलता के कारण अमृत मे विष घोल कर, अपने हाथों अपने पांवों मे कुल्हाडी मारा करता हूँ। अपने हाथो अपने घर मे आग लगाया करता हूँ। अपने हाथों आत्महत्या के साधन जुटाता हूँ। और मजे की बात यह कि शान्त होना चाहता हू। धर्म करना चाहता हूँ।

गृहस्थ दशा तक ही इस कुटिल भाव का बल चलता हो, सो नही। यथा योग्य रूप मे भूमिकानुसार उत्कृष्ट साधु की वीतराग दशा मे भी यह कुटिलता अपना जोर चला कर उसे डिगाने का प्रयत्न किया करती है। परन्तु वास्तव मे पद पद पर सावधानी वर्तने वाले, कुशल सारथी के रथ मे बैठे, कुशल वैद्य के निरीक्षण मे रहने वाले, उन पर भले वह कुछ प्रभाव डालने मे समर्थ हो जाती हो, पर उन्हे उनके पद से नही डिगा सकती। इसी कुटिलता से अपनी रक्षा करने के लिए ही किसी योग्य आचार्य की अध्यक्षता मे रह कर साधु जन सन्तुष्ट होते है।

जैसे शारीरिक रोगों का निदान करने मे वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार अध्यात्मिक रोगो का निदान करने मे आचार्य प्रभु कुशल वैद्य है। जिस प्रकार शारीरिक रोग के अनुसार उसके प्रशमनार्थ वैद्य सोच समझ कर औषधि देता है, उसी प्रकार आचार्य प्रभु आत्मिक रोग के अनुसार उसके प्रशमनार्थ प्रायश्चित देते है।

जैसे शारीरिक रोगो का निदान करने मे वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार आत्मिक रोगो अर्थात् जीवन मे लगे अनेक दोपो की, सूक्ष्म दृष्टि से खोज करने मे आचार्य प्रभु समर्थ हैं। जिस प्रकार खूब सोच समझ कर उस रोग के अनुसार वैद्य औषधि देता है, उसी प्रकार खूब विचार कर उस उस दोष के अनुसार आचार्य प्रभु शिष्यो को प्रायश्चित देते है। जिस प्रकार एक ही रोग होते हुए भी रोगी की शक्ति की हीनाधिकता के कारण वैद्य हीनाधिक मात्रा मे औषधि देता है, अर्थात् बालक को कम बडे को अधिक, दुर्बल को कम व हृष्ट पुष्ट को अधिक मात्रा मे देता है, उसी प्रकार एक ही दोष होते हुए भी दोषी शिष्य की शक्ति की हीनाधिकता के कारण आचार्य हीनाधिक प्रायश्चित देते है। जिस प्रकार हीनाधिक औषधि देने मे वैद्य को किसी से प्रेम और किसी से द्वेष कारण नही है, उसी प्रकार हीनाधिक प्रायश्चित देने मे आचार्य को किसी से राग और किसी से द्वेष कारण नही है। जिस प्रकार कडवी भी औषधि रोगी के हितार्थ होने के कारण अमृत है, उसी प्रकार कड़ा भी प्रायश्चित शिष्य के अन्तर शोधन का कारण होने से अमृत है। जिस प्रकार कडवी भी औषधि को रोगी स्वय वैद्य के पास जाकर जिद करके लाता है, उसी प्रकार कडे से कडा प्रायश्चित भी साधु जन स्वय आचार्य के पास जाकर जिद करके लाते है। जिस प्रकार रोगी औषधि मे अपना हित समझता है, उसी प्रकार साधु भी प्रायश्चित में अपना कल्याण देखते हैं, उसे दण्ड नही समझते। और इसलिए बडे उत्साह से अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते है, तथा अपने जीवन को उस प्रायश्चित के द्वारा स्वयँ दण्डित करते है।

(१) ऐसे कल्याणकारी प्रायश्चित से डर कर कदाचित् आचार्य से अपनी दुर्बलता बताते हुए अर्थात् "कमजोर हुँ, खाना नही पचता है, पीछे कई दिन तक ज्वर रह चुका है। इत्यादि" अनेक प्रकार की बातें बना कर अपना दोष गुरु के सामने प्रगट करता है। इस अभिप्राय से कि किसी प्रकार प्रायश्चित न मिले और यदि मिले तो कम मिले।

(२) "मेरे दोष कोई जानने न पावे", इस अभिप्राय से गुरु से प्रश्न करता है कि यदि ऐसा दोष किसी से बन जावे तो उसका क्या प्रायश्चित है।

(३) जो दोष दूसरो पर प्रगट हो चुके है, उन्हे ही गुरु से कह देता है। अन्य अन्तरङ्ग के दोषो को नही कहता। इस अभिप्राय से कि यह दोष तो सब जान ही गये हैं। कह कर अपनी बडाई कर ही ले।

(४) सकल दोषो को ज्यो का त्यो कह देता है। उनके द्वारा दिया गया प्रायश्चित भी हर्ष से स्वीकार कर लेता है। उसका पालन भी ठीक रीति से करता है। इस अभिप्राय से कि अन्य सघ पर मेरी सरलता की छाप पड जाये।

(५) नमक का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब खीर, मिठाई व हलवे का भोजन मिलेगा।

(६) अन्न का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब मेवा व फल खाने को मिलेगे।

५ माया जीतने के लिए कुछ विचार

इत्यादि अनेक कुटिल अभिप्रायो को रख कर ऊची भूमिका मे भी कदाचित् कुछ क्रियाये हो जाती है। उस समय वे परम योगेश्वर विचार करते हैं कि "भो चेतन! तेरा स्वरूप तो शान्ति है। दूसरे के लिए इसका विनाश क्यो करता है? शरीर की रक्षा के लिये शान्ति को क्यों कुये मे धकेलता है? गुरुदेव तो करुणा बुद्धि से तेरा दोष निवारण करने के लिये यह प्रायश्चित दे रहे है। द्वेष वश तो नही। इसमे तो तुझे इष्टता होनी चाहिये न कि अनिष्टता। इसके ग्रहण मे तो उल्लास होना चाहिये न कि भय। प्रायश्चित दाता गुरुवर के प्रति तो तुझे बहुमान होना चाहिये, कि निष्कारण केवल करुणा बुद्धि से प्रायश्चित रूप औषधि प्रदान करके, वह तेरे ऊपर महान अनुग्रह कर रहे है। क्यो दोषो आदि को छिपाने का प्रयत्न करता है? इससे तो तेरी ही हानि है। यह दोष एक दिन सस्कार बन बैठेंगे, जिन सस्कारो का कि विच्छेद तू बराबर बडे पुरुषार्थ से करता चला आ रहा है। सब करा कराया चौपट हो जायेगा।"

"अरे फिर यदि कोई तेरे दोष जान ही गया तो कौन बुरा हुआ? वह तुझे क्या बाधा पहुंचा सकेगा? थोडी निन्दा ही तो करेगा। तब तो अच्छा ही होगा। संस्कारो की शक्ति और क्षीण हो जायेगी। और तुझे चाहिये ही क्या? तेरा मन मांगा तुझे देता है। उससे भय खाने की क्या बात? वह तो तेरा हितैषी ही है। फिर अनहुए दोष तो नही कहता। झूठ तो नही बोलता। तूने जो दोष बताये है, वही तो कहता है। तो कौन बुराई हुई? वह तो उन दोषो को पुन. पुन. दोहरा कर तुझे सावधान करने का प्रयत्न कर रहा है, कि तुझ से ऐसा दोष बना था, अब न बनने पावे। बता क्या बुराई हुई? महान उपकार किया। उपकार से भय खाने का क्या काम? जो कहना है स्पष्ट कह डाल। निर्भय होकर कह डाल। छिपाता क्यो है?"

"अरे! आत्मख्याति स्वरूप भगवन! इस बाहर की ख्याति पर क्या जाता है? दो दिन मे बिनश जायेगी। छोड़ जायेगा यह शरीर तो कौन सुनेगा इसे? दो दिन के लिये क्यो रीझता है? और फिर तेरी ख्याति तो शान्ति मे रस लेने से है। न कि इन शब्दो में? अपनी ख्याति की महिमा भूल गया है, तभी इन तुच्छ शब्दो की महिमा आई है। भव भव मे ख्याति देने वाली, तीन लोक मे ख्याति फैलाने वाली, अपनी सहज ख्याति की अवहेलना मत कर। इस बाह्य ख्याति के कारण एक दोष पर दूसरा दोष मत लगा। सदा से दोषो का पुञ्ज बना आ रहा है। अब बस कर। अब इनमे और वृद्धि मत कर। निज शान्ति की ओर देख। उसकी महिमा का गान कर। तनिक सी इस ख्याति की भावना से, लिए हुए प्रायश्चित को धोये क्यो डालता है?"

"अरे अलौकिक स्वाद पूर्ण भगवन ! भगवन होकर भी इन रङ्क जीवो से मिठाई, फल, मेवा, खीर आदि की भिक्षा मागते क्या तुझे लाज नही आती ? जिह्वा इन्द्रिय को काबू मे करने के प्रयोजन से त्याग किया जाता है, न कि उसे पुष्ट करने के लिये ? डर। अपने इस कुटिल अभिप्राय से डर। चार आने का अन्न छोड कर दस रुपये का भोजन करे, और साधु बनना चाहे ? शान्ति का उपासक बनना चाहे ? यह कैसे सम्भव है ? यदि अन्तरङ्ग स्वाद का बहुमान है, तो क्यों इस धूल मे स्वाद खोजता हुआ अपने को ठग रहा है ? किसी का कुछ न जायेगा, तेरा ही तो सर्वस्व लुट जायेगा। अरे ! अपने ऊपर स्वय प्रहार करते हुए क्यो तुझे भय नही आता ? यह देख उस ओर, पड़दे की ओट मे, कौन खडी मुस्करा रही है ? मानो तेरी खिल्ली उडा रही है। "चला है साधु बनने। मुझे जीतने। पता नही मेरा नाम माया है। जिसने सब जग खाया है। अरे ! तुझ बेचारे मे कहा सामर्थ्य, कि मेरी ओर आख उठा कर भी देख सके। रङ्क कही का।" प्रशसा के शब्द सुनाई देते है, पर इन शब्दो को नही सुनता ? भूल गया अपने पराक्रम को। उठ। जाग। गर्जना कर। मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नही। मै निंदा की प्रवाह करता नही। मुझे स्वाद की प्रवाह है नही। मेरी शान्ति को घातने वाली कोई भी शक्ति मेरे सामने आज आये मुझे परवाह नही। और फिर देख कहा जाती है यह कुटिला माया, और कहा जाती है इसकी हसी ?"

और इस प्रकार के अनेको विचारो द्वारा अन्तरङ्ग के उस सूक्ष्म अभिप्राय को काट फेंकता है वह योगी, तथा परम धाम, शान्ति धाम को प्राप्त कर बन जाता है वह, जिसका लक्ष्य लेकर कि चला था। उत्कृष्ट रूप से न सही, पर क्या आँशिक रूप से भी मै अपने लौकिक व धार्मिक जीवन मे आने वाली इस माया को, इन विचारो के द्वारा क्षति नही पहुंचा सकता ? इसमे मेरा ही तो हित है, गुरुदेव का तो नही।

३६

—: उत्तम शौच :—

दिनांक १६ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६६

१—सच्चा शौच अन्तर मल शोधन. २—गङ्गा तीर्थ की सार्थकता, ३—गृहस्थ दशा में लोभ की प्रधानता व कम ४—धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा, ५—यथा योग्य नमस्कारादि क्रियाओं के नियम की सार्थकता।

सच्चा शौच अन्तर मल शोधन साम्य रस पूर्ण पावन गङ्गा मे स्नान करके परम पावनता को प्राप्त हे परम पावन गुरुदेव ! मुझे भी पावनता प्रदान कीजिये। आज तक पावन अपावन के विवेक हीन बना, अज्ञान वश भोग सामग्री रूप विष्टा मे हाथ डाल डालकर बालक वत् निर्लज्ज सा मैं, इस विष्टा को चाटता रहा, इसमें से स्वाद लेता रहा इस ही में अपना हित व कल्याण खोजता रहा, आज आपकी शरण में आ जाने पर, अपने वास्तविक स्वाद का भान हो जाने पर भी, अपने अशुचि हाथ व मुंह धोकर, यदि शुचिता उत्पन्न न करू, आपके जीवन मे प्रवाहित इस साम्य रस गङ्गा मे स्नान करके पवित्र न बनू, तो कब बनू गा ? सदा हो विष्टा का कीडा बना रहूँगा। उत्तम शौच धर्म का प्रकरण है।

"शरीर व इन्द्रिय भोग सम्बन्धी धनादि जड़ पदार्थ व पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थ इन तथा अन्य सर्व पदार्थों, यहा तक कि परमाणु मात्र को भी, मै अपने काम मे ले आऊ, उसमें से स्वाद ले लूं, उसे उठालू, उसे भेज दू, उसे मिलालू या विछोड़ दूं, उसे बनादू या विगाड दू।" इस प्रकार की अहङ्कार बुद्धि अशुचि है, अपवित्रता है। "यह सर्व पदार्थ मेरे इष्ट है या अनिष्ट है, मेरे लिए उपयोगी है कि अनुपयोगी है। मेरे लिए हित रूप है कि अहित रूप है।" इस प्रकार की रागद्वेषात्मक कल्पनायें ही वह अशुचि है जिसको धोने की सुध ही आज तक प्राप्त नही हुई। निज महिमा की अवहेलना करता रहा, सदा इनकी महिमा गाता आया हू। महा अशुचि बना हुआ चलते-चलते, भटकते-भटकते न जाने किस सौभाग्य से आज इस साम्य रस गङ्गा का पवित्र नीर मिला है। भगवन ! एक डुबकी लगा लेने की आज्ञा दीजिये।

ऐसी डुबकी कि फिर बाहर निकलने की आवश्यकता ही न पड़े। उस नमक की भांति [illegible] बाहर [illegible] के लिये [illegible] में बांध कर लटकाया गया हो। कुछ देर पश्चात् डोरा

खीच कर यदि उससे पूछे कि कितना गहरा है यह सागर, तो वहा कौन होगा जो इस बात का उत्तर देगा डोरा तो खाली ही पडा है। नमक की डाली घुल चुकी उसी समुद्र की थाह मे। लेने गई थी उस सागर की थाह और घुल गई उसके साथ। उसी प्रकार निज महिमा के प्रति बहुमान पूर्वक, अन्तरग मे उछलते उस शान्त महासागर मे एक बार डुबकी लगा कर लेने जाये उसकी थाह, तो कौन रह जायेगा जो बाहर आकर तुझे बताये कि यह शान्ति इतनी महिमावान है। स्वय ही लय हो जायेगा उसमे। साम्यता, सरलता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, शान्ति सौन्दर्य व आन्तरिक महिमा, सब उसी गगा के, उसी महा सागर के, भिन्न भिन्न नाम है। इसमे स्नान करने से वास्तविक पवित्रता आती है। वह पवित्रता जो अक्षय है ध्रुव है।

आन्तरिक मैल को धोना वास्तविक पवित्रता है। तेरी निज की पवित्रता है। शरीर की पवित्रता तेरी पवित्रता नही। वह झूठी है। इसको धोने से, मल मल कर स्नान कराने से, तेरा शौच नही। स्वय उसका भी शौच नही, तेरा तो कहा से हो। क्योकि अथाह सागर के जल से धोकर भी क्या इसे पवित्र किया जाना सम्भव है ? हरिद्वार मे बहने वाली पवित्र गङ्गा की धार मे इसे महीनो तक डुबाये रखने से भी क्या इसकी पवित्रता सम्भव है ? हो भी कैसे ? विष्टा का भरा घडा क्या ऊपर से धोने से पवित्र हो सकता है ? बढिया से बढिया साबुन मलिये, पर इसमे शुचिता आनी असम्भव है। यदि गङ्गा जल मे स्नान करने अथवा साबुन रगडने मात्र से इसकी पवित्रता स्वीकार करते हो तो, जरा इतना तो बताओ कि जब स्नान करने के पश्चात् यह पवित्र हो चुके, तब यदि मै एक लौटा गङ्गा जल का डाल दू इस पर और उस जल को एक थाल मे रोक लू, तो क्या उस जल को आप पीने के लिये तैयार हो जायेगे ? और उसी प्रकार उस पवित्र शरीर पर दुबारा लगाये गये साबुन के झाग क्या अपने शरीर पर पोतने को तैयार हो जाओगे ? नही ! तो कैसे कह सकते हो कि गङ्गा मे स्नान करने से मै पवित्र हो गया। मेरा शरीर पवित्र हो गया।

२ गंगा तीर्थ की सार्थकता

परन्तु एक ऐसा भी उपाय है कि हरिद्वार की गङ्गा मे स्नान करने से यथार्थ पवित्रता प्राप्त हो जाये। वह पवित्रता जो अन्तरङ्ग मल को, राग द्वेष कषायो को, लोभ को धो डाले। और जिसके कारण बाहर का यह शरीर भी पवित्र हो जाये। इतना पवित्र कि तब इस पर डाला हुआ पानी आप पीना अपना सौभाग्य समझने लगे। उसे मस्तक पर चढाने को आप धन्य मानने लगे। वह मार्ग निहित है उस लक्ष्य मे, जो कदाचित् मुझे अर्थात् मेरे उपयोग को ले जाये वहां, जहां से यह गङ्गा निकल रही है, और जिसके कारण इसे पवित्र माना जा रहा है, तीर्थ माना जा रहा है। इसका जल सडता नही, इसलिये पवित्र नही है। बल्कि इसलिये पवित्र है कि उस स्थान से चली आ रही है, जहा कि इस युग के आदि ब्रह्मा श्री ऋषभ देव ने स्वय यथार्थ शौच या आन्तरिक स्नान किया था। अर्थात् जहा बैठ कर तपश्चरण द्वारा उस महा योगी ने अन्तर के रागद्वेष प्रवर्धक लोभ का सहार किया था। हिमालय की ऊँची २ चोटियो से गिरती, पत्थरो से टकराती, कल कल नाद करती, अनेको छोटे बडे नालो मे से प्रवाहित होती हुई, हरिद्वार मे यह एक धार बन जाती है। यह मुझे उस परम पावन योगेश्वर के शुचि जीवन की याद दिलाती है, जिसने कैलाश पर सारा आन्तरिक मल धोकर इसी गङ्गा मे बहा दिया था। और इस प्रकार अपने जीवन मे पूर्ण शान्ति उत्पन्न करके जिस आदि ब्रह्मा या शिव ने आदर्श शान्ति गङ्गा का जीवन मे अवतरण किया था। यदि उस पवित्र जीवन

की याद करके, मै भी अन्तर मल शोधन के प्रति प्रवृत्ति करूं, और अन्तरङ्ग अशुचि को उस महान योगी वत् धो डालू , तब ही गङ्गा का स्नान, वास्तविक स्नान कहलाया जा सकता है। इस शरीर मात्र को धोने से पापो का शमन होना असम्भव है। अन्तर उपयोग को शान्ति स्रोत मे डुबा देने मे, सर्व पापो के बाप लोभ का शमन होता है।

और इस प्रकार का उत्तम स्नान करते है वह परम दिगम्बर वीतराग योगेश्वर, जिनकी कि यह बात चलती है। इस उत्तम शौच से उनका अन्तर मल धुल जाने के कारण, उनका शरीर भी पवित्र हो जाता है। इतना पवित्र कि इसके स्नान का जल मेरे लिये चरणामृत है। जिसका पीना या मस्तक पर चढाना मै अपना सौभाग्य समझता हूँ। बाहर से अत्यन्त मलीन, वर्षो से स्नान रहित व दन्त मन्जन रहित हुये, इस शरीर मे भी इतनी शुचिता आ जाती है-उस उत्तम स्नान से-अर्थात् लोभ शोधन से।

३ गृहस्थ दशा में भी लोभ की प्रधानता व पराक्रम

यहा सर्व कषायो मे लोभ ही प्रधान बताया जा रहा हैं। लोक मे भी लोभ को पाप का बाप बताया जाता है। और यह कहना सत्य भी है। क्योकि देखिये तो इस लोभ का प्रावल्य, जिसके कारण कि ब्राह्मण पुत्र ने सब विवेक को तिलाञ्जली दे दी, कुल मर्यादा छोड दी, और वेश्या के हाथ से रोटी का टुकडा मुह मे लेकर खा गया, और साथ मे कुछ तमाचे भी। और इस प्रकार समझ गया वह उपरोक्त लोकोक्ति की सत्यता। तुझ को वैसा भी करने की आवश्यकता नही। अपने जीवन को पढ़ना मात्र ही पर्याप्त है। बता तो सही चेतन! कि यह सुबह से शाम तक की भाग दौड, कल कलाहट, बेचैनी व चिंताओ का मूल क्या है? यदि धन के प्रति लोभ न होता, यदि आवश्यकताये अधिक न होती, यदि सन्तोष को पाना होता, धन सचय का परिमाण कर लिया होता, तो क्या आवश्यकता थी इतनी कल कलाहट की व भाग दौड की, और क्या आवश्यकता थी चिन्तित होने की? यह लोभ के आश्रित रहने वाली कोई लालसा विशेष ही तो है, जो कि इस निस्सार धन की ओर तुझको इस बुरी तरह खीचे लिये जा रही है, कि तुझे स्वय को भी पता नही कि कितना कमा चुका है, कितना कमाना है, कब तक कमाना है, और कितना साथ ले जाना है? इस लालसा के आधीन होकर जितना कुछ आज तक सञ्चय किया है, क्या कभी उस सर्व पर एक दृष्टि डाल कर देखने तक का भी अवकाश मिला है तुझे? अरे! इतनी कल कल अपने परिश्रम का फल, वह जो कि तुझ को अत्यन्त प्रिय है देखने तक की सुध नही, भोगने की तो बात क्या?

मुहम्मद गजनवी की बात तो याद होगी। सात बार सोमनाथ पर आक्रमण किया। सारा जीवन लूटमार मे खोया। हाय सम्पदा! हाय सम्पदा! के अतिरिक्त जिसे कुछ न सूझा। खूब धन इक्ठ्ठा किया। परन्तु क्या उस दिन को टाल सका जो हम सबको ढंढोरा पीट पीट कर सावधान किया करता है, कि भाई! मै आ रहा हूँ। कुछ तैयारी कर लेना चलने की। कुछ बाध लेना मार्ग के लिये। सम्भवत. आगे चल कर भूख लग जाये। परन्तु इस लालसा की हाय हाय मे कौन सुने उसकी पुकार। और उसके आने पर रोना और झीकना, अनुनय विनय करना। भाई! दो दिन की मोहलत दे दो किसी प्रकार, कुछ थोडा बहुत बना लूंगा, अब तक तो बिल्कुल खाली हाथ बैठा हूँ। भूखा मरना पड़ेगा आगे जाकर, दया करो। उस समय आती है बुद्धि कि क्या किया है आज तक और क्या करना

चाहिये था। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत। वह दिन मोहलत देना जानता ही नहो। अन्तिम समय गजनवी बिस्तर पर अन्तिम श्वास ले रहा है। सारा जोवन मानो बडी तेज़ी से घूम रहा है, उसके हृदय पट पर। वेहाल व वेचैन। कौन है इस सारे विश्व मे जिसको सहायता के लिए पुकारूं ?

धन के अतिरिक्त, और है ही क्या यहा ? लाओ सारा धन, मेरी आखो के सामने ढेर लगा दो। आज मै रोना चाहता हू जी भर कर। अपने लिये नही दूसरो के लिये, कि अरी भूली दुनिया! देख ले मेरी हालत, और कुछ पाठ ग्रहण कर इससे। मुट्ठी बांध कर आया था खाली हाथ जा रहा हूँ। इस दिन पर विश्वास न आता था। सुना करता था, पर हस देता था। मैने तो भूल की। पर आप भूल सुधार लो। इस दुष्ट लोभ से अपना पीछा छुडाये और जीवन मे ही कुछ पवित्र व्यञ्जन बना कर तैयार कर ले। ताकि इस दिन रोना न पडे तुम्हे।

देखिये इस लोभ की सामर्थ्य, कि जिसके आधीन ही मै न्याय अन्याय से नही डरता। बडे से बडा अनर्थ करता भी नही हिचकिचाता। इतना ही नही अन्याय करके उसे न्याय सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ। "अजी मै तो गृहस्थी हूँ, झूठ बोले बिना या सरकारी टैक्स मारे बिना, या ब्लैक किये बिना, या अधिकार से अधिक काम किये बिना कैसे चल सकता है मेरा ? मै कोई साधु थोडे ही हू। आप तो बहुत ऊची बाते कहते है। भला इस काल मे ऐसी बाते कैसे चल सकती है ? न्याय पर बैठ रहे तो भूखे मरे।" इत्यादि अनेको बाते। परन्तु प्रभो! करता रह अन्याय। कोई रोकता नही तुझे। तेरी मर्जी जो चाहे कर। गुरुवर तो केवल तुझे उस दिन की याद दिला रहे है। इस जीवन के लिए इतना किये बिना नही सरता। उस जीवन की ओर भ तो देख। वह भी तो तेरा ही जीवन है किसी और का नही। वहा के लिए बिना किये कैसे चलेगा ? 'न्याय पर बैठे रहने से भूखा मरना पडेगा', यह तो केवल उस लालसा का पोषण करने का बहाना है। क्या सन्तोषी जीवित नही रहते ? इतनी बात अवश्य है कि सन्तोष आने पर लालसा के प्राण समाप्त हो जाते है और तू लालसा को जीवित देखना चाहता है। तेरे भूखा मरने का प्रश्न नही है। हाँ लालसा के भूखा मरने का प्रश्न अवश्य है। परम वीतरागी शुचिता की तो बात नही, इतनी शुचिता तो धारण कर ही सकता है। कुछ तो इस लोभ या या लालसा को दबाने का प्रयत्न कर सकता है। ब्लैक मार्केट से हाथ खैंच।

४ धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा

यह तो हुई गृहस्थ दशा मे धन सम्बन्धी स्थूल लोभ शोधन की प्रेरणा। अब चलती है धार्मिक क्षेत्र मे प्रगट होने वाली, पहले भी अनेकों बार दृष्टि मे लाई गई लोकेषणा अर्थात् ख्याति सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ शोधन की बात। जो सम्भवत. धन सम्बन्धी लोभ से भी अधिक भयानक है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सर्व भूमिकाओ में स्थित शान्ति के उपासक धर्मी जीवो को पद पद पर इसके प्रति सावधानी वर्तने की अधिकाधिक आवश्यकता है। क्योकि जब तक इसका किंचित् भी संस्कार बीज रूप से अन्तरङ्ग मे पडा है। यह दुष्ट अकुरित हुए विना नही रहता। सन्यासी की ऊची से ऊची दशा तक भी इसमे अकुर फूट ही पडता है। तनिक सी सावधानी वर्तने पर, दीवार पर लगे हुए पीपल के अकुर वत्, यह कुछ ही समय मे एक मोटा वृक्ष बन जाता है। जो सारे मकान को खिला देता है। फिर विना सम्पूर्ण मकान गिराये उसका निर्मूलन असम्भव हो जाता है। अर्थात् सवर प्रकरण मे बताये गये तथा जीवन मे उतारे गये, सारे किये कराये को खण्ड खण्ड कर देता है।

५ [illegible] नमस्कार आदि क्रियाओं की सार्थकता

शान्ति के इस सरल मार्ग पर बराबर कुछ पथिक चले आ रहे हैं। कुछ तेजी से और कुछ धीमे। कुछ आगे और कुछ पीछे। बहुत कुछ आगे निकल चुके है। मानो क्षितिज (Horrison) को भी पार कर गये है। जिन पर आज मेरी दृष्टि भी नही पड़ती। और कुछ मेरे निकट मे ही थोड़ा आगे बढे चले जा रहे हैं। अपरिचित मार्ग मे चलने वाले इन पथिको को स्वाभाविक रूप मे ही अपने से आगे वाले के प्रति कुछ बहुमान सा जागृत हो जाता है। जो अकृत्रिम होता है। किसी की प्रेरणा से नही बल्कि स्वयं आगे बढने की जिज्ञासा मे से अंकुरित हुए इस बहुमान वश वह अपने से आगे वाले उस पथिक को डरते डरते पुकार ही उठता है। कि प्रभो! तनिक ठहर जाओ। मेरा भी हाथ पकड़ कर तनिक सहारा दे दो। पर उस बेचारे को यह क्या पता, कि उस आगे वाले की भी ठीक यही दशा है। वह अपने आगे वाले को अपना हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर रहा है। और वह तीसरा अगले चौथे को प्रत्येक की पुकार मे उसका अपना स्वार्थ छिपा है। जिसके कारण कि उसको यह भी विचारने का अवकाश नही, कि यदि उसकी प्रार्थना को सुनकर वह आगे वाला रुक जाये, या उसका हाथ पकडने के लिये पीछे मुडकर देखने लगे, तो कितना बडा अनिष्ट हो जायेगा। इससे आगे वाला सम्भवत. इतनी ही देर में इतना आगे निकल जाये, कि फिर वह दृष्टि मे भी न आये। अथवा पीछे को देखते हुए और आगे चलते हुए उसको कोई ऐसी ठोकर लग जाये, कि नीचे गिर कर उसका सर ही फट जावे।

यह तो केवल दृष्टान्त हुआ, इसका तात्पर्य इस उत्तम शौच के मार्ग मे आने वाली ख्याति की भावनाओ का प्रशमन करना है। उत्कृष्ट बल को प्राप्त साक्षात् गुरुओ के अभाव के कारण आज स्वभावत ही शान्ति के जिज्ञासु भव्य जनो का बहुमान, दृष्टि मे आने वाले उन तुच्छ जीवो की ओर बह निकलता है, जिनके जीवन मे गुरु प्रसाद से किंचित् भी चिन्ह उस शान्ति, या पवित्रता, या शुचिता के उत्पन्न हो गये है। उस बहुमान वश उस तुच्छ जीव के प्रति उसके द्वारा नमस्कार-आदि कुछ ऐसी क्रियाये प्रगट हो जाती है, जो अधिक शक्तिशालियो व ऊंची भूमिकाओ मे स्थित जीवो के ही योग्य थी। यद्यपि उनका यह बहुमान कृत्रिम नही, और न ही किसी की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है। स्वय उसके लिये वह हितकारी भी है। परन्तु उसे क्या पता, कि इन क्रियाओ से उस छोटे से जीव का कितना बडा अहित हो रहा है। लोकेषणा के अकुर का सीचन हो रहा है। यद्यपि किसी के ऊपर यह नियम लादा नही जा सकता, कि देखो जी अमुक व्यक्ति के प्रति बहुमान उत्पन्न न करना, या नमस्कारादि न करना। परन्तु स्व पर के उपकारार्थ उनसे यथा योग्य करने की प्रार्थना अवश्य की जा सकती है। और यह बात उसे समझाई भी जा सकती है। कि भले ही तेरा बहुमान व विनय सच्चा है, तेरे लिए हितकारी है, पर इस आगे वाले के लिए किंचित् अहितकारी है। इसकी शक्ति अभी तक इतनी नही है, कि इन क्रियाओ को देख कर उसमे लोकेषणा उत्पन्न न हो। अत अपने लिये न सही पर इस आगे वाले के लिए तू इन क्रियाओ मे कुछ कमी कर दे। इतनी कि तेरा काम भी चल जाये और इसके काम मे भी बाधा न पडे। और इसलिये गुरु देवो ने नमस्कारादि क्रियाओ सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये, कि साधु को साष्टाग नमस्कार के द्वारा, उत्कृष्ट श्रावक के चरण स्पर्श के द्वारा, तथा जघन्य व मध्यम श्रावक को यथा योग्य अंजुलि करण के द्वारा ही अपने अपने बहुमान का प्रदर्शन करना योग्य है। ऊचे के योग्य नमस्कार नीचे के प्रति करना योग्य नही।

इस प्रकार आन्तरिक ख्याति की महिमा जागृत करके धन सम्बन्धी व ख्याति सम्बन्धी लोभ का दमन करने वाला वह महा पराक्रमी योगी ही उत्तम शौच करता है, उत्तम स्नान करता है। शान्ति गङ्गा मे स्नान करता हुआ उसके साथ तन्मय हो जाता है, ऐसा कि फिर वह शान्ति भङ्ग न होने पावे। पवित्र हो जाता है इतना कि फिर उसमे अपवित्रता आने न पावे। उनके जीवन को आदर्श बनाकर चलने वाले भो पथिक ! तू भी यथा शक्ति स्नान करके किंचित् शुचिता या निर्लोभता उत्पन्न कर।

३७

—: उत्तम सत्य :—

दिनाक २० अक्तूबर १९५९
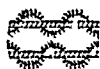
प्रवचन नं० ९७

१—सत्य में अभिप्राय की मुख्यता, पारमार्थिक सत्य पर पदार्थों में कर्तव्य का अभाव, ३—हित मित वचन ही सत्य है, ४—दश प्रकार सत्य, ५—शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक।

१ सत्य में अभिप्राय की मुख्यता

पर पदार्थो के प्रति अहङ्कार बुद्धि रूप असत्य सस्कारो के विजेता हे सत्य स्वरूप प्रभु मुझको भी सत्य जीवन प्रदान करे। आज उत्तम सत्य धर्म की बात चलती है। सत्य किसे कहते है व असत्य किसे, इस बात का निर्णय किये बिना, 'जैसा देखा सुना गया हो, वैसा का वैसा कह देना' लोक मे सत्य कहा जाता है। परन्तु यहा उत्तम सत्य की बात है साधारण सत्य की नही। उत्तम सत्य, जिसकी परीक्षा करने की कसौटी शान्ति है, सर्व जीव हित है। जैसा कि पूर्व प्ररूपित सर्व सयम सम्वन्धी अथवा अन्य कोई भी क्रियाओ सम्बन्धी प्रकरणो मे सर्वत्र एक अभिप्राय की मुख्यता दर्शाई गई है, उसी प्रकार यहा भी अभिप्राय की मुख्यता है। सत्य असत्य का निर्णय अभिप्राय पर से किया जा सकता है। स्व पर हित का अभिप्राय रख कर की जाने वाली क्रिया सत्य है, और स्व पर अहितकारी अभिप्राय रखते हुए या हिताहित का विवेक किये बिना ही की जाने वाली क्रिया असत्य है।

वचन मे ही सत्य या असत्य लागू होता हो, ऐसा भी नही है। मानसिक विकल्पो मे, वचनो मे, व शारीरिक क्रियाओ मे, इन तीनो मे ही सत्य व असत्य का विवेक ज्ञानी जन रखते है? लोक मे तो केवल वचन सम्वन्धी सत्य की ही वात चलती है, और यहां तो तीनो सम्बन्धी सत्य की वात है। मानसिक विकल्प मे किसी के प्रति हित की भावना प्रगट होना, सत्य मानसिक क्रिया है। और अहित की भावना अथवा हिताहित के विवेक शून्य भावना प्रगट होना असत्य मानसिक क्रिया है। अपने या अन्य के हित का अभिप्राय और मानसिक विकल्प पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से असत्य होते हुए भी सत्य है। और अपने या अन्य के अहित का अभिप्राय और मानसिक विकल्प पूर्वक वोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से सत्य होते हुए भी असत्य है। इसके अतिरिक्त स्व पर हितकारी भी वचन यदि कटु है, तो दुखदायक होने के कारण असत्य है। अत हित रूप तथा मिष्ट वचन बोलना ही सत्य वाचसिक क्रिया है। स्व व पर के हित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया सत्य शारीरिक क्रिया है। और स्व पर के अहित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया असत्य शारीरिक क्रिया है।

अब इन तीनों क्रियाओ सम्बन्धी कुछ उदाहरण सुनिये, जिन पर से कि उपरोक्त सर्व कथन का तात्पर्य समझ मे आ जाये।

पहले अभिप्राय की सत्यता पर विचारिये, तीनो का स्वामी यह अभिप्राय ही है। अभिप्राय मे पारमार्थिक सत्य आ जाने पर तीनो क्रियाये स्वत एव सत्य हो जायेगी। अभिप्राय की असत्यता के कारण ही मेरे जीवन मे क्रोधादि कषायो का, राग द्वेष का व चिन्ताओ का प्रवेश हो जाता है। अत स्व पर भेद विज्ञान हुए विना वास्तव मे अभिप्राय मे पारमार्थिक सत्य आना असम्भव है। 'शरीर धनादि व कुटुम्बादि का उपकार या अपकार मै कर सकता हूँ, या इनके द्वारा मेरा उपकार या अपकार हो सकता है।' ऐसा निश्चय बने रहना पारमार्थिक असत्य है। क्योकि वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नही। वस्तु तो स्वतन्त्र है स्वय अपना कार्य करने मे समर्थ। वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णय न होने के कारण ही मेरे मन मे यह विकल्प उठा करते है कि, कुटुम्ब का पोषण मै न करू तो कैसे हो अर्थात् इस द्वेषी व शत्रु का विरोध न करू तो कैसे हो ? इस विकल्प मे से अकुरित हो उठता है एक दूसरा विकल्प, यह कि धन न कमाऊ तो कुटुम्बादि का पोषण कैसे हो ? और इसके आधार पर हो रही है आज की सर्व वाचसिक व शारीरिक क्रियाये, जिनके कारण मेरा जीवन चिन्ताओ मे जला जा रहा है।

२ पारमार्थिक सत्य पर पदार्थों में कर्तव्य का अभाव

पर पदार्थ मेरे आधीन वर्तने चाहिये, ऐसा अभिप्राय रखते हुए भी, मजे की बात यह है कि जब अपने सम्बन्ध मे सोचने बैठता हूं तो-"कुटुम्बादि के विना मेरा कैसे गुज़ारा हो, इनके बिना कौन मेरी सेवा करे, यह न आता तो मुझे क्रोध न होता।" इस प्रकार के विचारो द्वारा अपने को दूसरो के आधीन वना डालता हू। मै दूसरो का काम करूं, और दूसरे मेरा काम करे। दूसरे मेरे बिना कुछ नही कर सकते और मै दूसरो के विना कुछ नही कर सकता। अर्थात् दूसरे मेरे आधीन है और मै दूसरो के आधीन हू। इस प्रकार अपने व दूसरो को परतन्त्र वना कर स्वतन्त्रता का व्यापार कैसे किया जा सकता है ? शान्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है ? विकल्प कैसे रोके जा सकते है ? क्योकि जो तू करने की इच्छा करता हे, वह करना तो तेरे आधीन नही है। स्वतन्त्र रूप से कभी स्वत. ही तेरी इच्छा के अनुकूल हो जाता है और कभी प्रतिकूल। अनुकूल हो जाने पर "यह मैने किया" इस प्रकार का मान, और प्रतिकूल हो जाने पर "यह ऐसा क्यो न हुआ ?" इस प्रकार का क्रोध। इस प्रकार बीत रहा है मेरा जीवन विल्कुल गाडी के नीचे चलने वाले कुत्ते वत्, जो स्वत चलती गाडी को समझ रहा है कि मेरे बल पर चल रही है। और स्वत गाड़ी के ठहरने पर क्रोध के मारे भौकने लगता है। इसके विपरीत अपना कार्य करने मे मै असमर्थ हूँ अर्थात् निज का कार्य उपरोक्त विकल्पो से हट कर निर्विकल्प व शान्त हो जाने का कार्य. वह मै करता नहीं हू। दूसरा कोई निमित्त आये तो मेरा कार्य करे। ऐसा अभिप्राय रखता हुआ पुरुषार्थ हीन वना हुआ हू। शान्ति कैसे मिले ?

जो कुछ मै कर नही सकता, अर्थात् दूसरे का कार्य वह करने को तो मै पुरुषार्थ मानता हूँ। और जो कर सकता हूँ,अर्थात् शान्ति मे स्थिति, उसको मै अकर्मण्यता कहता हूँ। वास्तव मे पुरुषार्थ का यह स्वरूप है ही नही। इस असत्य अभिप्राय के कारण पर मे कुछ करने या पुरुषार्थ करते हुए, पर मे तो कुछ कर नही पाता हाँ अपने मे ही कुछ विकल्प या चिन्ताये अवश्य कर लेता हूँ। इस पुरुषार्थ

हीनता को छोड कर सत्य अभिप्राय प्रगट करे, तो पुरुषार्थ का ढलाओ "पर" से हट कर स्व पर आ जाये। सव विकल्प मिट जाये। शान्ति मिल जाये। जीवन सत्य वन जाये। उत्तम सत्य का पालन होने लगे।

उपरोक्त सत्य के अनेको दृष्टान्त देखते हुए भी भो भव्य ! क्यो तेरा अभिप्राय नही फिरता ? पैदा होते ही एक झाडी मे फैक दी गई कन्या पीछे भारत सम्राट जहांगीर की पत्नी नूरजहां हो गई। किसने किया उसका पोषण ? विमान से गिरे हनुमान की किसने की रक्षा ? "यह सस्था मेरे विना न चलेगी", यह करते करते अनेको चले गये। पर वह सस्था ज्यो की त्यो चल रही है। कौन करता है उसकी रक्षा ? पिता के अनेको उपाय करने पर भी सौभाग्यवती मैना सुन्दरी का भाग्य किसने बनाया ? अरे भाई ! "मेरे द्वारा कुटुम्व का पोषण होता है।" इस मिथ्या अभिमान को छोड़। और "सब स्वतन्त्र रूप से अपना पोषण आप कर रहे है। अपना भाग्य स्वय साथ लेकर आते व जाते हैं। मै उनमे कुछ नही कर सकता।" ऐसा सत्य अभिप्राय बना। यह ही है वास्तविक सत्य, पारमार्थिक उत्तम सत्य धर्म।

मन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाओ के उदाहरण अभिप्राय मे ही अन्तरभूत हो चुके है। अर्थात् उपरोक्त अभिप्राय के कारण मन मे उठने वाले, "पर" मे करने धरने आदि के विकल्प असत्य मनो विकल्प है। और स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन जाने पर निज मे शान्ति वेदन का कार्य सत्य मनो विकल्प है।

३ हितमित वचन ही सत्य है

अब वचन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रिया के उदाहरण सुनिये। जैसा देखा सुना या अनुभव हो वैसा का वैसा ही कह देना ऐसा वास्तवमे सत्य की पहिचान नही। स्व पर हितकारी व मिष्ट वचन ही सत्य है और इसके विपरीत असत्य। जैसे कोई व्यक्ति मुझसे कदाचित् आपकी चुगली करता हो और आप पीछे मुझसे पूछे, कि यह क्या कह रहा था ? तो उस समय जो कुछ चुगली के शब्द उसने मुझसे कहे थे, वे ज्यो के त्यों आपसे कह देना यहा शान्ति के मार्ग मे सत्य नही है, असत्य है। और आपके सम्वन्ध मे कुछ वात नही थी। कुछ और ही वात कहता था। अथवा आपकी प्रशंसा मे इस इस प्रकार कहता था।" ऐसा झूठ वोल देना भी सत्य है। क्योकि पहली वात से आपके हृदय मे क्षोभ आ जाने की सम्भावना है। और आपके तथा उस व्यक्ति के वीच द्वेष वढ जाने की सम्भावना है। अत. पहला वचन अहितकारी होने से असत्य है। दूसरे वचन के द्वारा आपको सन्तोष आयेगा और आपके तथा उस व्यक्ति के वीच पडा वैमनस्य भी कुछ कम हो जायेगा। अत हितकारी होने के कारण यह दूसरा वचन सत्य है। यह है वचन की सत्यता व असत्यता की परीक्षा। साथ साथ इतना आवश्यक है कि वह वचन मधुर होना चाहिये। लठ मारा नही। तीसरा व्यक्ति सुनकर यह सशय न करने लगे, कि यह परस्पर वात कर रहे है या लड रहे है।

आओ और इससे आगे वढकर भी सत्यासत्य की परीक्षा करे। एक कोई अच्छे घर का लडका कुसगति मे पड गया, और कदाचित् कोई वड़ा अपराध कर वैठा। सम्भवत. आपके सामने किसी को जान से मार वैठा, पकड़ा गया। मुकदमा चला। आपकी गवाही हुई। क्या कहेगे आप ? परीक्षा का अवसर है। सत्य वोलना अभीष्ट है। लोक कहता है जैसा देखा वैसा कह दीजिये, यही सत्य है।

परन्तु शान्ति मार्ग कहता है, कि अव्वल तो मौन रहिये, नही तो उसकी रक्षा कीजिये, भले ही असत्य बोलना पडे। "मेरे सामने इसने कुछ नही किया", ऐसा कह देना यहाँ सत्य है। क्योकि इस वचन के पीछे छिपी हैं एक विशेष भावना। "ऊचे कुल का पुत्र है। भले कुसगति के कारण अपराध कर बैठा है। पहले पहल ही तो किया है। सम्भवत पीछे से समझाने बुझाने पर सुधर जावे। अपने किये पर पछतावे और इसी भव मे अपना कल्याण कर सके। जैसा कि बालमीकि डाकू पीछे महान ऋषि बन गया। और नव विवाहता पत्नि भी तो रोयेगी इसके पीछे। विधवा हो जायेगी बेचारी। "इत्यादि केवल उसके हित सम्बन्धी भावना।

परन्तु वही लडका यदि वन चुका हो बहुत बडा अपराधी। अभ्यस्त अपराधी। पहले भी कई वार डाके आदि मे या हत्या आदि के अपराधो मे पकडा जा चुका हो, तो उस परिस्थिति मे उपरोक्त प्रकार उसकी रक्षा करना हित न कहलायेगा बल्कि सच्ची गवाही देनी ही हित कहलायेगी। उस परिस्थिति मे, "हा इसने मेरी आखो के सामने इसकी हत्या की है", ऐसा स्पट कह देना ही सत्य कहलायेगा। इतनी वात अवश्य है कि इस वाक्य मे अपनी ओर से द्वेष वश कुछ अन्य नमक मिर्च लगाकर न वोला गया हो। मरल भाव से बोला गया हो। उसको किसी प्रकार फांसी मिले ही मिले या अन्य सजा मिले ही मिले, यह अभिप्राय रख कर न बोला गया हो। बल्कि जैसा इसके भाग्य मे हो सो हो। मुझे तो अपने कर्तव्य से मतलब है। बस इतना अभिप्राय रख कर बोला गया हो। क्योकि यहा परिस्थिति विल्कुल वदल चुकी है। स्वय वह तो अहित मार्ग पर चल ही रहा है, अत उसका हित होने का तो प्रश्न ही नही। क्योकि अभ्यस्त हो चुका है, इसलिए सुधर कर अपना हित करने की सम्भावना नही। उसके द्वारा दूसरो का जो अहित हो रहा है, उसकी ही रक्षा करना अब कर्तव्य रह जाता है। उसके पकडा जाने या फासी दिया जाने मे ही दूसरो का हित है।

इस प्रकार एक ही जीव के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न परिस्थितियो मे बोला गया एक ही वाक्य कभी सत्य है और कभी असत्य। अत बोलते समय बहुत सोच विचार कर वोलने की आवश्यकता है।

४ दश प्रकार सत्य लौकिक व्यवहार चलने के अर्थ भी अनेको अभिप्रायो के आधार पर वचन बोले जाते है। जो कि अभिप्राय की सत्यता से सत्य और अभिप्राय की असत्यता के कारण असत्य समझे जाने चाहिये। जैसे अनेक व्यक्तियो या वस्तुओ मे से किसी एक व्यक्ति या वस्तु की ओर लक्ष्य दिलाने के अभिप्राय से बोला जाने वाला नाम सत्य है। भले ही उस नाम द्वारा प्रदर्शित होने वाले गुण उस मे हो या न हो। जैसे इन्द्रियो को न जीतने वाला भी मै आपके द्वारा जिनेन्द्र नाम से पुकारा जाता हूँ परन्तु यदि यही नाम इन्द्रियो को जीतने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान के अभिप्राय से, मेरे सम्वन्ध मे कोई प्रत्युक्त करने लगे, तो वही वचन असत्य होगा।

चित्र या प्रतिमा मे किसी की आकृति या रूपादि को देख कर "यह चित्र उस व्यक्ति का है।" ऐसा न कह कर, "यह अमुक व्यक्ति है", ऐसा कह देना भी सत्य है। परन्तु इस प्रतिमा या चित्र को कोई वास्तव मे व्यक्ति ही समझ कर, यह वचन कहे तो वही वचन असत्य होगा।

किसी पदार्थ मे भी किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करके, उसे वह पदार्थ वता देना सत्य है। जैसे कि शतरंज के पासो मे आकारादि भी न दीखने पर, "यह हाथी है" इत्यादि कह देना सत्य है। परन्तु कोई इस पासे को वास्तविक हाथी समझ कर इसे हाथी कहे, तो वही वचन असत्य होगा।

किसी प्रमाणिक व्यक्ति की वात पर विश्वास करके यह कहना कि "यह ऐसा ही है" सो भी सत्य है। भले वह वात पूर्ण रूप मे सत्य न हो। जैसे कि छिन्न भिन्न करने मात्र से किसी वनस्पति को अचित कह देना सत्य है, क्योकि आगम की ऐसी ही आज्ञा है। यद्यपि सम्भव है कि छिन्न भिन्न कर लेने पर भी इसमे अनेको जीव विद्यमान हों। परन्तु इसको वास्तव मे वैसा ही समझ लेना या समझ कर उसे अचित कहना असत्य है।

अनेक कारणो से उत्पन्न हुए कार्य को किसी एक कारण से उत्पन्न हुआ कह देना सत्य है। जैसे कि किसान के द्वारा खेती वोई गई। यह कहना सत्य है। परन्तु अन्य सव कारणो को भूल कर, "केवल किसान ने ही खेती वोई", ऐसा कहना असत्य है।

अनेक पदार्थो से मिल कर बने किसी पदार्थ को एक नाम से कह देना सत्य है। जैसे कि चन्दन, कुकुमादि से वने पदार्थ को धूप कहना सत्य है। परन्तु धूप नाम का कोई पृथक सत्ताधारी पदार्थ समझ कर धूप कहना असत्य है।

अनेक देशो मे अपनी अपनी भाषा के आधार पर, एक ही पदार्थ को अनेक नामो से कहा जाना सत्य है। जैसे भारत मे कहा जाने वाला "ईश्वर" नाम का पदार्थ इङ्गलैण्ड मे "गौड़" शब्द से कहा जाना सत्य है। परन्तु ईश्वर पृथक वस्तु है, और गौड़ पृथक वस्तु है। ऐसा अभिप्राय रख कर कहे जाने वाले वही शब्द असत्य हैं।

प्रमाणिक व्यक्तियो या आगम के विश्वास के आधार पर, अनेक सूक्ष्म, दूरस्थ व आतरिक पदार्थो के सम्वन्ध मे यह कहना "कि यह ऐसे ही है", सत्य है। जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात्कार न होने पर भी "द्रव्य छ ही है।" यह कहना सत्य है। परन्तु युक्ति आदि द्वारा किञ्चित् भी निर्णय किये विना, केवल पक्षपात वश अन्धे की भांति ऐसा कह देना असत्य है।

किसी वात की सम्भावना को देखते हुए, "ऐसा हो सकता है", ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि "आज विश्व मे युद्ध हो जाना सम्भव है", यह कह देना सत्य है। पर "युद्ध अवश्य होगा ही" ऐसा अभिप्राय रख कर वही वचन कहना असत्य है।

किसी की उपमा देकर, "यह पदार्थ तो विल्कुल वही है", ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि जवाहर लाल नेहरू जैसी कुछ आकृति व कुछ संस्कार देख कर, "यह वालक तो जवाहर लाल है", ऐसा कह देना सत्य है। परन्तु विल्कुल जवाहर लाल मान कर ऐसा कहना असत्य है।

किसी कार्य को करने का सकल्प मात्र कर लेने पर, "मै यह काम कर रहा हूं।" ऐसा

कहना सत्य है। जैसे कि देहली जाने की तैयारी करते हुए, "मै देहली जा रहा हूँ" यह कहना सत्य है। परन्तु वास्तव मे इस समय रेल में बैठे हुए, "मै देहली जा रहा हूँ", ऐसा अभिप्राय रख कर बोला हुआ वही वचन असत्य है।

और इस प्रकार अनेक जाति के वचन अभिप्राय के हेर फेर से अपने लौकिक व्यवहार मे सत्य व असत्य होते हुये देखे जाते है।

५ शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक वचन की भांति शरीर के कोई भी, स्व पर अहितकारी, सकेतादि या इन्द्रिय व प्राण सयम मे कथित कोई भी आसक्तता या हिंसादि सम्बन्धी क्रियायें, असत्य शारीरिक क्रियाये है। और स्व पर हितकारी व संयमित क्रियायें सत्य शारीरिक क्रियाये हैं।

३८

—: उत्तम संयम :—

दिनाक २१ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६८

१—यम व नियम, २—पंचेन्द्रिय जय, ३—पच महाव्रत, ४—५च समिति, ५—सप्त शारीरिक क्रियायें, ६—षट आवश्यक।

१ यम व नियम भव भव के दुष्ट सस्कारो का यमन करने वाले हे अन्वर्थ सज्ञक यमराज वीतराग प्रभु ! मुझे यम प्रदान कीजिये। प्रति क्षण होने वाली विकल्पात्मक अर्न्तमृत्यु को जीत कर, मृत्यु की सर्वदा के लिए मृत्यु कर देने वाले मृत्युञ्जय पद को प्राप्त हे यमराज ! मुझको भी अपनी शरण मे लीजिये। ओह ! कैसी अनौखी बात है ? जिस यमराज से जगत कापता है, आज उसकी शरण में जाने को प्रार्थना की जा रही है। विस्मय मत कर प्रभु ! यमराज से डरने वाला मोह से ग्रसित जगत वास्तव मे जानता ही नही कि यमराज कौन है ? लोक मे तो यमराज का अत्यन्त भयानक काल्पनिक चित्रण खेचा गया है। पर ऐसा वास्तव मे नही है। यमराज का तो स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है। अत्यन्त शान्त है। लोक मे अमृत वर्षाने वाला है। दुष्ट सस्कारो का यमन करके जिन्होने मृत्यु की भी मृत्यु कर दी है, ऐसे वह मृत्युञ्जय सिद्ध प्रभु ! वास्तविक यमराज हैं। उनकी शरण मे जाने को वात है। अर्थात् स्वय यमराज बनने की वात है। भय को अवकाश नही। उत्साह उत्पन्न कर। आज सयम का प्रकरण चलना है।

संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार यमन कर देना, मार देना-सस्कारो को। वैसे तो सयम के सम्बन्ध मे अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। परन्तु अभी भी पर्याप्त नही है। यम भी दो प्रकार का है। एक सस्कारो की पूर्ण मृत्यु रूप, और दूसरा किञ्चित् मृत्यु रूप। पूर्ण यम को यम और किंचित् यम को नियम कहा जाता है। अर्थात् अत्यन्त वली व पराक्रमी जीवो द्वारा संस्कारों का जीवन पर्यन्त के लिये धुतकारा जाना यम है। और शक्ति हीन जीवों के द्वारा उनका एक सीमित समय के लिये, १५ मिण्ट के लिये या आध घण्टे के लिये, या एक घण्टे के लिये, या पाच सात आदि दिनों या महीनो, या वर्षो के लिये किञ्चित् अश रूप मे धुतकारा जाना नियम कहलाता है। अब तक जितना भी कथन चला था वह सब नियम था, क्योकि या तो मन्दिर के अनुकूल वातावरण मे आध पौन घण्टे मात्र तक की सीमा के लिये करने मे आता था, या विना व्रत लिये अर्थात् पहले व्रत के प्रकरण मे बताए 'तो' रूप शल्य को विना निकाले, केवल अभ्यास रूप मे किया जा रहा था। उसी अभ्यास के कारण शक्ति की

वृद्धि हो जाने पर वह नियमी यमी बन जाता है। अर्थात् योगी व सन्यासी बन जाता है। तब उसके बल व पराक्रम के क्या कहने ?

इस दशा को प्राप्त होकर वह यमी सम्पूर्ण बाह्य मे प्रगट होने वाले स्थूल सस्कारो की शक्ति का विच्छेद कर देता है। और पुन वह अकुरित न होने पावे इस प्रयोजन वश, अनेको कडी प्रतिज्ञाये धारण करता है। जीवन जाये तो जाये पर यह प्रतिज्ञा अब भङ्ग न होने पायेगी, ऐसी दृढता है आज उसकी अन्तर गर्जना मे। वह यमराज बनने को निकला है। वीरो का वीर यद्यपि पहले ही से इन्द्रियो को वश मे कर चुका था, और प्राणियो को भी पीडा देने का उसे अवसर प्राप्त न होता था। पर आज उसका वह इन्द्रिय व प्राण सयम पूर्णता की कोटि को स्पर्श कर चुका है।

२ इन्द्रिय जय घर बार राज्य पाट आदि को लात मार पूर्ण सन्यासी बनकर, बन मे अकेले वास करने वाले वे योगी बाहर मे तो सम्पूर्ण इन्द्रिय विषय का त्याग कर ही चुके है। पर अन्तरग मे भी उनको सम्पूर्णतया जीत चुके है। स्पर्शन इन्द्रिय को ललकारते हुए उसने नग्न वेष धारण किया है कि देखू तो किस प्रकार गर्मी, सर्दी, मक्खी मच्छर आदि की बाधा आ जाने पर मुझको मेरे कार्य से विचलित करने मे समर्थ हो सकेगी। नासिका इन्द्रिय के सामने आज वह सीना ताने खडा है। विष्टा के ढेर के सामने से गुजर जाए, पर क्या मजाल कि नाक या तेवडी मे विकृति आ जाये। यह आज पुष्पो का ढेर है-उसके लिये। नेत्र इन्द्रिय को तो मानो मार ही डाला है। रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर देव कन्याये आज आकर उनके सामने नग्न नृत्य करने लगे, तो नेत्र खुले रखते हुए भी, उनके नग्न शरीर में स्पष्ट दीखने वाले अङ्गोपागो मे किञ्चित् भी विकृति न आये। आज वह सुमेरु सम अचल है। कर्ण इन्द्रिय आज खडी रो रही है। कैसे भी प्रशसा के शब्द कहे या कोई गाली दे, या मधुर राग की ध्वनि आने लगे, पर आज इस बेचारी की बात कौन पूछे ? उनको तो आज उनमे से मानो कोई भी शब्द सुनाई ही नही दे रहा है। वह सुन सकते है केवल शान्ति की पुकार और कुछ नही।

यद्यपि उपरोक्त प्रकार नेत्र व कर्णेन्द्रिय को पूर्णतया वश मे कर लेने के पश्चात् आज इन्द्रियों मे सबसे प्रबल उपस्थ इन्द्रिय को भी वह पूर्णतया जीत चुके है। परन्तु अब भी एक इन्द्रिय ऐसी शेष है, जो कभी कभी कुछ धूर्तता करती देखी जाती है। और वह है जिह्वा इन्द्रिय। इतनी उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी, यह अपनी धूर्तता नही छोडती। कितनी प्रबल है यह ? उपस्थ इन्द्रिय से भी प्रबल। और इसी कारण शान्ति के पथिक को पहले से ही खान पान सम्बन्धी वस्तुओ मे रोक लगाने का अभ्यास करने को कहा जाता है। परन्तु इस यमी के सामने कहा तक चलेगी इसकी धूर्तता। यदि उसका वश चले तो अन्य इन्द्रियो के विषयो की भाति इस इन्द्रिय के विषय भूत भोजन का भी वह सर्वथा त्याग कर दे। और उसका यह अभिप्राय हर समय बना भी रहता है, कि वह समय कब आये कि इस इन्द्रिय को पूर्णतया धुतकार दे। परन्तु क्या करे शक्ति की हीनता वश, अपने साथ मे पाली हुई इस बला की, इतनी सुननी ही पडती है। तो भी क्या हुआ, वह जिह्वा इन्द्रिय की एक भी चलने नही देता। जिसकी इसे रुचि है, वह पदार्थ वह ग्रहण ही नही करता। कुछ और ही जो इसे नही रुचता, ग्रहण कर लेता है। स्वादिष्ट पदार्थ अव्वल तो लेता ही नही, और कदाचित् मिल भी जावे तो अपने उपयोग मे मग्न, वह उस ओर लक्ष्य ही नही करता। उसे यह भी पता नही लगता कि क्या खाया

है। उसकी ओर लक्ष्य ही नही करता। जैसे कि अपना शास्त्र लिखने की धुन मे टोडर मल जी बरबर छ महीने तक अलोना भोजन करते रहे, पर यह भी पता न चला कि अलोना खाया कि सलोना। माता उसका दृढ उपयोग देख कर चकित रह गई। और उसे उस समय तक उस अलोने पने का भान न हुआ, जब तक कि छ महीने पश्चात् उसका शास्त्र पूर्ण न हो गया। वह योगी इस जिह्वा को काबू में रखने के लिये इसे रूखा ही भोजन देता है। पौष्टिक नही देता। और इस प्रकार जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद को भी जिसने पूर्णतया जीत लिया है। ऐसा वह महान भाग्य यमी आज पूर्ण इन्द्रिय विजयी बना हुआ, सिंह की भांति अपना पराक्रम दिखा रहा है। धन्य है उसका बल।

३ पंच महाव्रत इन्द्रिय संयम के अतिरिक्त पूर्व मे धारे गये प्राण संयम के अन्तरगत १२९६० विकल्पो का पूर्णतया त्याग करके, अर्थात् जो कुछ भी उनमे कमी रह गई थी, उसको भी दूर करके, वह आज पूर्ण रूपेण प्राण सयमी है। मनुष्य से लेकर चींटो पर्यन्त चलने फिरने वाले जीवों की तो बात ही क्या, वह आज पखा झलना भी पाप समझता है। क्योकि इससे वायुकाय के जीवों को बाधा होती है। सर देना स्वीकार पर घास का एक छोटा सा तिनका तोडना स्वीकार नही। क्योकि इससे वनस्पति काय का जीव पीडित हो रहा है। क्या बताये उसकी दयालुता, आज पृथ्वी व जल तक की बाधा को वह सहन नही कर सकता, और इसीलिये कदापि जल मे गमन नही करता व आवश्यकता पड़ने पर भी पृथ्वी को ज़रा भी खोदता नही। धन्य है उसकी आदर्श करुणा, आदर्श अहिंसा।

आज वचन पर पूर्ण काबू पा चुका है वह। भूल कर भी किसी छोटे या बड़े जीव के प्रति उसके मुख से कभी अहितकारी या कटु वचन नही निकलता। अव्वल तो उसको किसी वस्तु की आवश्यकता ही नही। एक तिनका मात्र भी ग्रहण करने का अवसर उसके जीवन मे आता नही। हाँ इस शरीर रूपी बला को साथ साथ रहने के कारण कदाचित् भोजन की आवश्यकता पडती है। सो भी बिना किसी के द्वारा भक्ति व बहुमान पूर्वक दिये ग्रहण नही करता। भले ही तीन महीने का उपवास हो। वृक्षो पर से फल फूल स्वयं तोड कर खाने का तो प्रश्न ही नही, सामने थाली पुरसी रखी हो और कोई देने वाला न हो तो उसे भी कभी छूए नही। स्त्री का तो पहले ही पूर्णतया त्याग कर दिया था। नेत्र इन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय व उपस्थेन्द्रिय के विजेता उस महा सुभट में, अब उसका विचार भी आने को अवकाश नही। इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचारी है। घर बार, राज पाट, स्त्री पुत्र, धन धान्यादि की तो बात नही, निर्भीक वृत्ति धारण की है जिसने, ऐसा योगी वस्त्र के ताने मात्र का भी त्याग करके यथा-जात नग्न रूप मे विचरण करता है। और इस प्रकार परिग्रह सयम के अकुर को भी समूल उखाड़ फका है-उसने। पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य, व पूर्ण परिग्रह त्याग व्रतो को जीवन पर्यन्त के लिये धारण करने वाला वह महा यमी पञ्च महाव्रती है।

४ पंच समिति व्रतो की यहा ही पूर्णता हो गई हो ऐसा नही, अत्यन्त सूक्ष्मता में उतर कर देखने वाले वह योगी इतना नही भूले कि उनके साथ एक बला लगी हुई है-शरीर। जिसके कारण उनको आहार करना पड़ता है। तथा इस अपराध के फल स्वरूप शौचादि का दण्ड भी भोगना पड़ता है। इन दोनो कार्यो के निमित्त इस भार को साथ उठाये फिरना पडता है। कुछ बोलना पड़ता है। इसके इन

अपराधो से अपनी रक्षा करने के लिए जो यह पीछी व कमण्डल या शास्त्र तीन वस्तुय रह गई है-उनके पास, इन्हे उठाना रखना भी पडता है। इन सब कार्यो मे किसी न किसी रूप मे प्राणियो को बाधा हो जाने की सम्भावना है। अत प्राण सयम के अन्तर्गत उपरोक्त पच महाव्रतो की रक्षा करने के लिये वे सर्व क्रियाओं मे अत्यन्त सावधानी से वर्तते है। और उसी की दृढता के अर्थ जन्म पर्यन्त के लिए पाच समितियो के पालन की प्रतिज्ञा लेते है। "चार हाथ आगे देख कर छोटे छोटे जीव जन्तुओ को बचाता हुआ ही गमन करू गा। कभी भी मुख से अनिष्ट व कटु वचन न निकल जाये, इसलिए वचन तोल कर ही बोलू गा। भोजन को खूब परीक्षा करके ही ग्रहण करू गा। क्योकि हो सकता है कि उसमे कोई छोटा जीव गिर कर अपने प्राण खो बैठा हो। या उसके बनाने मे किन्ही जीवो को बाधा हुई हो। पोछी, कण्डल व पुस्तको को तथा इस शरीर को स्थान शोध कर ही उठाऊ धरू गा। कही ऐसा न हो कि वहाँ पर पहले से बैठा कोई प्राणी इनसे दब जाने के कारण पीडित हो जाये। मल मूत्र को भी स्थान शोध कर ही क्षेपण करू गा। और अन्य भी अनेको प्रकार से व्रतो की रक्षा के लिये हर समय कटि बद्ध रहूंगा।"

५ सप्त शारीरिक क्रियायें इतना ही नही इस शरीर की बला को पूर्णतया जीतने के लिये वह इस पर बराबर दृष्टि रखते है कि कही उच्छृखल न होने पावे। और इसलिये इसके प्रति राग का नाश करते हुए कभी स्नान नही करते, कभी दातो को नही धोते। ओह! यह तीनो बाते जो लोक मे अत्यन्त निन्दनीय समझी जाती है, उनके लिए महान प्रशसनीय हैं। जो हमारे लिये दोष है वह उनके लिये गुण है। वह पूर्ण वीतरागी है और हम रागी। इसी से उनकी भावना को पहुँच नही पाते, और इन बातो के कारण उस योगी की निन्दा करने लगते है। "यह महा मलीन व्यक्ति कही मुझ से छू न जाये", ऐसा अभिप्राय रखते है। परन्तु परम पवित्र उनकी आन्तरिक भावना को पहिचान। वह अपने कर्तव्य को शान्ति की तुला मे तोलते है, शरीर की सौन्दर्य की तुला मे नही। शरीर का काम करने जाते है तो अपना काम छोड़ना पडता है। अर्थात् राग करना पडता है। जिसके लिये वह किसी कीमत पर भी तैयार नही। यही दो मल थे जिनके प्रति का राग रोका जा सकता था, सो पूर्णतया रोक दिया। कफ पसेव आदि मल तो उनके आधीन नही। मल मूत्र के प्रति का राग भी यदि छोडा जा सकता तो वह महान योगी अवश्य छोड़ देता, परन्तु ऐसा होना भी असम्भव है!

भोजन के प्रति का राग तोडते हुए इसे एक दिन मे एक ही बार भोजन देते हैं। और वह भी खडे खडे तथा बर्तनो में नही हाथ में ही रखवा कर। क्योकि बर्तनो मे परोसे गए भोजन को खाने मे रुचि अनुसार किसी पदार्थ को पहले, किसी अन्य योग्य पदार्थ के साथ मिला कर, तथा दूसरे पदार्थ को पीछे, इस प्रकार क्रम की सम्भावना है। जिससे जिह्वा सम्भवत: पुष्टि पा जाये। परन्तु अपनी रुचि से निरपेक्ष, दातार द्वारा अपनी मर्जी से मिला जुला कर हाथ मे डाले गये भोजन को, एकमेक करके गले के नीचे उतार लेने मे वैसे क्रम की सम्भावना नही है। बैठ कर खाने मे भी आराम के साथ खाया जाने के कारण स्वाद के प्रति दृष्टि जानी सम्भव थी, तथा स्वाद ले लेकर अधिक देर तक खाते रहना सम्भव था, पर खडे रह कर खानें मे तो दण्ड सरीखा पूरा करना है। जल्दी जल्दी खड्डा भर कर भागने की पडी रहती है। इसलिये स्वाद से निरपेक्षता बनी रहती है। अथवा खडे रह कर खाने से

जघा शक्ति की परीक्षा भी साथ साथ हो जाती है। और यह भी पता चल जाता है कि अब यह शरीर जवाब देने वाला है। अत इससे पहले कि यह जवाब दे, योगी स्वयं सावधान होकर इसे जवाब देते हैं। अर्थात् जघा बल को घटी हुई देख कर वह समाधिमरण धर लेता है। जिसका ५ आगे आयेगा।

इसको सुलाने का भी दण्ड भोगना ही पडता है। उसके प्रति भी अत्यन्त सावधान हैं। बरावर करवट वदलते रहने मे रात के समय चल कर आये व उस स्थान पर बैठे अनेको जीव करवट के नीचे आकर मर सकते हैं। जिससे कि प्राण सयम मे दोप लगेगा। उसकी रक्षार्थ तथा यह शरीर आराम से सोने मे कही स्वय उन्हे अचेत न कर दे, इसलिये उसे एक करवट ही सुलाते है। लेटने के पश्चात् करवट नही बदलते, तथा निरन्तर अधिक समय तक न सोकर, बीच बीच मे जाग जाग कर अपना काम वरावर करते रहते है। कभी आध या पौन घण्टे से अधिक एक बार नही सोते। इतना ही नही, इस शरीर की सहन शीलता के लिये प्रति दूसरे, तीसरे तथा चौथे मास जो कुछ घास फूस इस पर उग आती है उसे अपने हाथो से उखाड कर फेंक देते है। अर्थात् केश लु चन करते है। शरीर से उदासीन व निरपेक्ष बने रहने के लिये, जीवन पर्यन्त इन सात क्रियाओ को इस रूप मे करने की प्रतिज्ञा लेते है। धन्य है उनकी निरपेक्षता व साहस।

६ षट् आवश्यक यह तो सव शरीर व इन्द्रिय को वश में करने की वात हुई। परन्तु इतना ही नही। मन के प्रति भी वह असावधान नही है। उसे जीतने के लिये अर्थात् उसे जहा तक हो सके अधिकाधिक समय के लिये शान्ति मे तल्लीन रखने का प्रयास करते रहते है। और इसलिये निश्चित रूप से दिन मे तीन बार सामायिक करते है। रात को बीच बीच में जाग जाग कर सामायिक करते है। दिन मे तीन अवसरो के अतिरिक्त अनिश्चित् रूप से अनेको वार सामायिक करते रहते है। यहा तक कि चलते, तथा भोजन करते हुए भी अनेकों बार शान्ति मे तन्मय हो जाते है। जीवन की अन्य प्रवृतियों मे भी वन्दक निन्दक आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थों मे राग द्वेष न करके साम्यता व समानता ही धारण किये रहते हैं। शान्ति को भङ्ग नही होने देते।

इस शान्ति मे लगने वाले दोषों के लिये, अर्थात् कदाचित् रागादि आ जाये तो उनके लिये, सदा आत्म ग्लानि पूर्वक अपनी निन्दा करते रहते है। शान्ति के आदर्श प्रभु की, दिन में तीन बार नियम से तथा अन्य भी अनेको बार अनियम से, उनके शान्त रस में तल्लीनता रूप यथार्थ स्तुति व वन्दना करते रहते हैं। बाहर में दीखने वाले स्थूल दोष तो उन्हे प्राय. लगते ही नही, हा कदाचित् अन्तरग मे रागादि सम्बन्धी कोई सूक्ष्म दोष लग जावे, तो उनका पुन: पुन. चिन्तवन करते हुए आगे उनके प्रति और और सावधानी रखने की दृढता धारते है। अर्थात् प्रतिक्रमण करते है। तथा शेष समय जो वच जाये, उस मे शान्ति का उपदेश देकर या सुन कर, या पढ कर स्वाध्याय करते है। और इन

छ' आवश्यक क्रियाओ में सदा तत्पर रहते हैं। जो क्रियायें कि उन्हें पर वश होने से बचाती हैं। अर्थात् उसमे राग आने के लिये अवकाश ही आने नही देतीं।

इस प्रकार पंत्र महाव्रत, पाच समिति, पचेन्द्रिय जय, षट् आवश्यक आन्तरिक क्रियाये और सप्त शारीरिक क्रियायें करते हुए, वह इन अठाईस महान गुणो के धारी, महा भाग्य यमी, बराबर अपने मार्ग पर निर्भीक वृत्ति से, सिंह वृत्ति से बढते जाते हैं। और एक दिन वास्तव मे यमराज बन जाते है। गृहस्थ के योग्य इसी जाति की यथा योग्य क्रियाओ का वर्णन तत्सम्बन्धी संयम के प्रकरण मे आ चुका है। मुझे भी यमराज बनने के लिए यम रूप से न सही, नियम रूप से उस सयम की शरण अवश्य लेनी चाहिये।

३६

—: उत्तम तप :—

दिनांक २२ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६६

१—तप में दुख नहीं होता, २—तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद ३—तप से शरीर की सार्थकता, ४—किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है, ५—अनशन, ६—अवमौदर्य, ७—वृत्ति परिसंख्यान, ८—रस परित्याग, ९—विविक्त शय्यासन तप, १०—काय क्लेश, ११—छः अन्तरंग तप।

१ तप में दुख नहीं होता — आज तप धर्म का प्रकरण चलता है। यद्यपि तप शब्द सुन कर ही कुछ भय सा लगता है। "मुझे तप करना पड़ेगा", यह बात सुनना मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है, कि तप से बडी भारी पीड़ा होती होगी, बड़ी वेदना होती है। धूप मे खड़े होकर आतापन योग करने वाले योगियो की अथवा महीनों महीनों के उपवासों द्वारा शरीर को कृश करने वाले योगियों की दशा को देख कर मानो मेरा हृदय कांप उठता है। और पुकार उठता है कि बड़ा कठिन है यह मार्ग, असिधारा के समान है, मुझसे न चलेगा। और इस प्रकार घबरा कर इस दिशा की ओर लखाने का भी साहस नहीं होता। अथवा ऐसा विचार आने लगता है कि क्या लाभ है, इस प्रकार के कठिन तपश्चरण से ? शरीर को जलाने व सोखने मे कौन सा धर्म है ? पीड़ाओं का सहना क्या कोई अच्छी बात है ? और एक प्रकार की घृणा होने लगती है-तप से।

परन्तु भूलता है प्रभु ! वास्तव मे ऐसी बात है ही नहीं। तप में पीड़ा होती ही नहीं। इसमें है शान्ति, आल्हाद और उल्लास। पहले कहे अनुसार तप में भी दो क्रियाये बराबर चलती हैं। एक अन्तरंग क्रिया दूसरी बाह्य क्रिया। अन्तरग क्रिया है अपने उपयोग का शान्ति के प्रति झुकाव, शान्ति में प्रतपन, इच्छाओ व विकल्पो का दमन, चिन्ताओ से मुक्ति। और बाह्य क्रिया है शारीरिक पीड़ा का सहना। तेरे उपरोक्त भय का कारण केवल यही है कि तूने केवल बाह्य क्रिया देखी है अन्तरग नहीं ? वास्तव मे उपयोगात्मक अन्तरग क्रिया के बिना बाह्य क्रिया निरर्थक हुआ करती है। यदि तूने अन्तरंग क्रिया की ओर लक्ष्य किया होता, तो यह शङ्का ही न उठती कि तप मे पीड़ा होती है। कारण कि पीड़ा को अनुभव करने वाला उपयोग ही तो है। और उपयोग एक समय मे दो क्रियाओ मे काम नहीं कर सकता। इसलिये यदि उपयोग अन्तरंग मे शान्ति मे केन्द्रित कर दिया जाये, तो बताओ पीड़ा का अनुभव कौन करेगा ? और पीड़ा किसे होगी ?

सुख पूर्वक उपयोग को किसी दिशा विशेष मे केन्द्रित कर देने पर तो आपको भी दूसरी दिशा का ज्ञान होने नही पाता। जैसे यहा प्रवचन सुनते हुए, यहा पर टगा यह क्लाक कब टन टन कर जाता है। आपको पता भी लगने नही पाता। परन्तु शरीर मे पीडा होने पर भी यदि इसे किसी एक दिशा मे केन्द्रित कर दिया जाये तो पीडा का वेदन नही होता। जैसे बुखार हो जाने पर ताश खेलने मे उपयोग लगा दे, तो बुखार का पता नही चलता। जैसे कि अपने शत्रु दल को पीछे धकेलने मे तत्पर बराबर उनकी क्षति करने वाला योद्धा, रणक्षेत्र मे कदाचित् अपने शरीर मे लगे पावो की पीडा वेदन नही कर पाता, उसी प्रकार शान्ति के अल्हाद मे केन्द्रित कर दिया है उपयोग जिसने, तथा बराबर संस्कारो की क्षति करने वाले योगी को बाहर की शारीरिक बाधाओ का पता भी नही चलता। मानो कुछ हो ही नही रहा हो।

२ तप का प्रयोजन पीडा वेदन के संस्कार का विच्छेद

तप का प्रयोजन, जैसा कि पहले गृहस्थ सम्बन्धी तप के प्रकरण मे बताया जा चुका है। सस्कारो का विच्छेद करना है। सस्कार दो प्रकार के है। एक वह जो अन्तरंग में इच्छायें व अभिलाषाये उत्पन्न करके मेरी शान्ति घाता करते है। दूसरे वह जो शरीर मे पीडा हो जाने पर मुझे शान्ति मे स्थिति पाने नही देते। गृहस्थ की निर्बल दशा मे दूसरी जाति के सस्कारो के विरुद्ध युद्ध ठाना जाना असम्भव था। अत पहला जाति के सस्कारो से युद्ध ठान कर, अभिलाषाओ व अन्तरग विकल्पों को उत्पन्न करने वाले सस्कारो का विच्छेद करने रूप तप की मुख्यता से ही पहले के निर्जरा प्रकरण मे कथन आया है। अब यहा दूसरी जाति के सस्कारो के विच्छेद करने रूप तप की मुख्यता से आयेगा। जो प्रधानतया योगी जन ही करते है। क्योकि निचली दशा से शक्ति बढाते बढाते अब यह इतने बलवान हो गये है, कि बड़ी से बडी शारीरिक पीड़ा के प्रति भी युद्ध ठान कर उसे जीत लं।

इस सस्कार को जीतने के लिए वह जान बूझ कर पीड़ाओ को निमन्त्रण देते है। अर्थात् जान बूझ कर ऐसा वातावरण बना डालते है, या ऐसे वातावरण मे चले जाते है, जहा कि शरीर को अवश्य ही पीडाओ मे पडना पडे। मानो कि शत्रुओ को ललकार कर आज वह उनके साथ युद्ध करने को उद्यत हुए है। अपने अन्दर जिस जाति की कमी या निर्बलता देखते है उसी जाति की पीडाओ मे पड कर "शान्ति का विच्छेद न हो, विकल्प न उठे, विह्वलता न आए", ऐसा प्रयास करते है। उससे उत्पन्न होता है एक उल्लास व उत्साह और उससे मिलती हैं शक्ति। वह कैसे ? सो बताता हूँ।

दृष्टान्त लीजिए। आपको उपवास करते डर लगता है। मेरे कहने से आज एकाशना कर लिया। कोई विशेष बाधा न हुई। साहस बढा। "अरे कुछ विशेष बाधा तो हुई नही। अब की चतुर्दशी को उपवास करूगा।" ऐसी धारणा बना कर उपवास कर लिया। कुछ थोडी सी पीड़ा अवश्य हुई। पर जिस किस प्रकार निकल ही गई। अगली चतुर्दशी आई। "अरे पहली बार भी तो कर लिया था, कोई विशेष पीडा नही हुई थी। निकल ही गई। अब की बार भी करले।" और पुन. धार लिया-उपवास। पीडा हुई पर पहले से कम। अब की बार उसे गिना ही नहीं साहस और बढ गया। अगली बार और उत्साह से और उससे अगली बार और उत्साह से करता गया ; और एक दिन बाधा विलीन हो गई। टूट गया पीड़ा वेदन का सस्कार। इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर हमने देखा कि प्रत्येक

आगे आगे के अवसरो मे संशय कम होता गया और वल बढता गया। वस वल की इस वृद्धि का नाम हीं तप है। इसके पूर्ण दढ़ जाने पर तीन लोक की वडे से वडी बाधा भी पीड़ा का वेदन कराने मे समर्थ न हो सकेगी। और उस समय कह सकेंगे, कि सस्कारो का पूर्णतया विनाश हो गया है। अर्थात् निर्जरा हो गई है। सस्कारों का मूल नाश हो जाने पर विकल्पो को उत्पन्न होने के लिये प्रेरणा कौन दे ? और प्रेरणा के अभाव मे शान्ति ही शान्ति। लक्ष्य बिन्दु की पूर्ण प्राप्ति। वस यही तो चाहिये। यह है तप का प्रयोजन व उसका लाभ।

३ तप से शरीर की सार्थकता है — शरीर भले तपश्चरण के द्वारा जलता व क्षीण होता जाये, पर योगी जनो को इसकी क्या परवाह। आप कारखाना लगाते हैं। उसमे मशीने फिट करते है, तो किस लिये। "यदि मशीन को चलाया तो घिस जायेगी", क्या ऐसा अभिप्राय रख कर माल वनाना बन्द कर देते हो ? घिसे तो घिसे, टूटे तो टूटे, माल तो वनाना ही है। नही तो मशीने हैं किस लिये ? टूट जायेगी तो मुरम्मत कर लेगे। अधिक घिस जाने पर मुरम्मत योग्य नही रहेगी, तो फेंक देगे। और नई लगा लेगे। यही तो अभिप्राय रहता है या कुछ और ? वस तो शरीर के प्रति योगी का भी यही अभिप्राय है। आप तो इसे मशीन न समझ कर इसे "मैं" रूप मे ही मानते है। इसीलिये इसके घिसने या टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से डरते है। पर योगी इसे मशीन समझते हैं। जिसे उन्होने शान्ति रूपी माल तैयार करने के लिए लगाया है। वह इसके घिसने व टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से नही डरते। यह घिसे अर्थात् क्षीण हो तो हो। टूट जाये तो टूट जाओ। और यह है ही किस लिये ? जब तक मुरम्मत के योग्य है, अर्थात् शान्ति के काम मे कुछ सहायता के योग्य है, तब तक इसकी मुरम्मत करके इसे भोजनादि आवश्यक पदार्थ दे देकर इससे अधिक से अधिक काम लेना। जिस दिन मुरम्मत योग्य न रहेगा अर्थात् बुढापे से अत्यन्त जर्जरित हो जायेगा, उस दिन इसे छोड़ देना, अर्थात् समाधि मरण धर लेना। और नया शरीर मिल जायेगा। फिर उससे पुन. वही शान्ति का माल तैयार करने का धन्धा करना। कारखाना वन्द न होने देना। यह है योगी का तप से प्रयोजन। शरीर होने का यथार्थ फल।

४ किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है — वस इस प्रकार का अभिप्राय धार कर वह योगी अव स्थिरता का चार जामा कस, तप के हथियार सजा, निकल आता है युद्ध स्थल मे। और ललकारता है एक एक शारीरिक पीड़ा को-जान बूझ कर उत्पन्न करता है उन्हे, जान बूझ कर प्रवेश करता है उनमें। और तो सर्व आवश्यकताये व इच्छाये पहले ही त्याग चुका है। केवल एक ही आवश्यकता शेप रह गई है। और वह है भोजन सम्वन्धी। इसलिये उनके सर्व ही सस्कार आज एकत्रित होकर इस ही दिशा मे तो अपना वल दिखा सकते हैं। और वह योगी भी इसी ही के आधार पर ही तो सर्व अभिलापाओ के सस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुपार्थ कर सकता है। इसीलिये भोजन की मुख्यता से इन तपो का वर्णन किया जायेगा। इसका यह अर्थ नही कि यह भोजन सम्बन्धी अभिलापाओ पर ही लागू होने वाले है ? नही। प्रत्येक अभिलापा पर यथा योग्य रूप लागू किये जा सकते है। हमारी तो आवश्यकताओं की शाखायें बहुत हैं। किसी शाखा पर भी लागू करके हम उस जाति के संस्कार का विच्छेद कर सकते हैं। जैसे कि योगी का आहार छोड़ कर उपवास करना, और इसी प्रकार आप यदि कर सकें तो एक दो दिन आदि या कुछ महीनों के लिये अपना धनोपार्जन छोड़ कर उपवास करना।

एक ही तो बात है। पहले से छुटती है भोजन की अभिलाषा, और दूसरी से छूटती है धन की अभिलाषा। और इस प्रकार किसी भी दिशा मे लागू किए जा सकते है तप के भेद।

५ अनशन भोजन ग्रहण की अभिलाषा सम्बन्धी सस्कार को वे योगी जन, एक दिन, दो दिन, दस दिन, महीना, छ महीने, यहाँ तक कि वर्ष-वर्ष के उपवास धारण कर करके तोड़ डालते है। अर्थात् वर्ष भर तक जल की एक बूद भी ग्रहण नही करते, और बराबर शान्ति में स्थिर बने रहते है। उपवास नाम भोजन मात्र के त्याग का नही है। बल्कि 'उप' अर्थात् निकट मे 'वास', अर्थात् वास करने का नाम है, अर्थात् शान्ति के निकट वास करने का नाम उपवास है। भोजन छोड़ कर व्याकुलता हो जाये, और दिन बीतने की प्रतीक्षा करने लगे कि कब दूसरा दिन आये और मुझे भोजन मिले, तो उसे उपवास नही कहते। अत योगी जन वर्ष वर्ष तक भोजन पानादि न मिलने पर भी शान्ति से च्युत नही होते। और इस प्रकार तोड डालते हैं क्षुधा से पीड़ित हो जाने के संस्कार को। क्षुधा हो तो हो, वह अपने बल के आधार पर उसे गिनते ही नही। अर्थात् उपयोग के शान्ति मे स्थिर रहने के कारण उस ओर देखते ही नही। यह है तप का पहला भेद।

६ अवमोदर्य दूसरा सस्कार है, पूरी वस्तु मिलने पर भी, पूरी का ग्रहण न करके, थोडी का ग्रहण करके ही, शेष को छोड़ देने पर पीडित कर देने वाला सस्कार। जैसे कि दुकान बिल्कुल न खोलना तो आप कदाचित् स्वीकार कर लें, परन्तु किसी ग्राहक को आधा सौदा देकर, दुकान मे होते हुए भी शेष आधा सौदा, जिसमे साक्षात् लाभ होने वाला है, बेचने से इन्कार कर दे, ऐसा नही हो सकता। बिल्कुल न बेचने से आधा बेचना कठिन है। इसी प्रकार बिल्कुल न खाने से अल्प मात्र ही खाकर छोड़ देना कठिन है। योगी जन इस सस्कार का मूलोच्छेद करते है। पहले आधे पेट भोजन ग्रहण करके, फिर क्रम से एक एक ग्रास कम करते हुए, केवल एक ग्रास मात्र मे सन्तोष धारण करके। और फिर आगे भी उस ग्रास को कम करते करते केवल एक चावल मात्र का ग्रहण करके। अत्यन्त अल्प भोजन या एक चावल, वह इसलिए नही लेते कि क्षुधा मे कोई अन्तर डाल देगा, बल्कि इसलिए लेते हैं कि क्षुधा के साथ साथ वह अल्प ग्रहण मे पीडा सम्बन्धी सस्कार टूट जाये। इस तप के द्वारा युगपत दो सस्कार जीते जा रहे हैं। एक क्षुधा और दूसरा उपरोक्त सस्कार।

७ वृति परिसंख्यान एक और भी सस्कार है। किसी वस्तु की प्राप्ति वा अप्राप्ति के सम्बन्ध मे भले उस समय तक साम्यता बनी रहे, जब तक कि उसकी प्राप्ति की आशा नही हो जाती। परन्तु प्राप्ति की आशा हो जाने पर भी साम्यता बनी रहे, यह बहुत कठिन है। इस सस्कार को वह योगी तोडता है- कुछ अटपटी आखड़िया लेकर। निज स्थान से भोजन के लिये चलते समय अपने मन मे हो, कुछ उटपटाङ्ग सी बात विचार लेते है, जिसका मिलना बहुत कठिन हो, और उसे अपने मन मे ही रख लेते है। स्पष्ट रूप से, या गोल माल रूप से, या किसी अन्य बहाने से, वचन के द्वारा, या किसी शारीरिक सकेतादि के द्वारा, या किसी भी अन्य ऐसी क्रिया के द्वारा अपने उस अभिप्राय को किसी पर भी, यहा तक कि अपने शिष्य पर भी प्रगट नही करते। वह अभिप्राय अकस्मात ही काक तालो न्याय वत् पूरा हो जाये तो आहार ग्रहण करेंगे नही तो नही। जैसे कि "आज सर्प मिलेगा तो आहार ग्रहण करेंगे नही तो नही।" अब किसी को क्या पता कि इनके मन मे क्या है? श्रावक लोगों को अपने अपने द्वार

पर प्रतिग्रह के लिये खड़ा देखते हैं। पर मौन पूर्वक अपनी प्रतिज्ञा पूरे होते न देख कर-लौट आते हैं-बिना आहार लिये, जब कि सब की भावना यह थी कि किसी प्रकार यह मेरे घर आहार कर लें तो मेरा जीवन सफल हो जावे। वह बेचारे कुछ नहीं जान पाते कि योगी क्यों लौट गये हैं? और इस प्रकार बराबर महीनों तक नगर में अहारार्थ आते हैं और लौट जाते हैं। न प्रतिज्ञा पूरी होती है न वह आहार लेते हैं? किसी को क्या पता कि क्या प्रतिज्ञा की है-इस योगी ने? पता हो तो एक सपेरे को ही ला बिठाये अपने घर के सामने। योगी बराबर अपनी साम्यता की परीक्षा करता रहता है, कि प्रतिज्ञा पूरी न होने पर उसे कुछ विकल्प तो नहीं आ रहा है। यदि आते हैं तो कड़ी आलोचना द्वारा उसे घातते हैं। "मिले तो अच्छा न मिले तो अच्छा। दोनों ही बराबर हैं।" ऐसे अभिप्राय पर बराबर दृढ बने रहते हैं। और इस प्रकार क्षुधा के साथ साथ इस दूसरी बाधा को भी जीत कर क्षुधा व इस तीसरे संस्कार को भी तोड़ डालते हैं। यह है तप का तीसरा भेद।

८ रस परित्याग — भोजन के विकल्प सम्बन्धी एक चौथा संस्कार भी है-और वह है स्वाद की ओर झुकाव। भोजन करते समय क्षुधा निवृति का प्रयोजन तो प्राय: याद भी नहीं रहता. केवल स्वाद लेने मात्र की ओर ही लक्ष्य चला जाता है। और खाने लगता है-उस पदार्थ को-खूब चटखारे ले लेकर। स्वाद लगे तो हर्ष और न स्वाद लगे तो विषाद। इस दुष्ट संस्कार के प्रति वह ज्ञानी बड़े सावधान रहते हैं। आज से ही नहीं, गृहस्थ दशा में पहले पग से ही, वह इस प्रबल संस्कार के साथ लड़ते चले आ रहे हैं। अनेकों बार पहले भी इसके सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है। परन्तु इस योगी ने इसे निर्मूलन करने का दृढ़ संकल्प किया है। स्वाद की मुख्यता मनुष्य के भोजन में छ: पदार्थों से बन जाती है-नमक, मीठा या शक्कर, घी, तेल, दूध, दही। यह छ: पदार्थ ही भोजन को स्वादिष्ट बनाया करते हैं। इनमें से कोई एक न हो तो स्वाद ठीक नहीं बैठता। और दो तीन आदि यहां तक की छहों से रहित भोजन तो घास के समान लगने लगता है। बस योगी महीनों व वर्षों के लिये इस में से किसी एक या दो या छहों का त्याग करके, जब तक कभी आहार लेने की आवश्यकता पड़े तब घास वत् ही भोजन करके इस खड्डु को आंट लेते हैं। और इस प्रकार रस सम्बन्धी इस संस्कार को भी जीत लेते हैं।

इस रस परित्याग का ऐसा विकृत रूप नहीं है जैसा कि आज देखने में आता है। एक रस को छोड़ कर अन्य रस में अधिकता कर देने से वह रस जीता नहीं जा सकता। जैसे नमक के त्याग में तो मीठे पदार्थों का भोजन कर लेना, और मीठे के त्याग में नमकीन पदार्थों का। अथवा शक्कर के मीठे के त्याग में मुनक्का का मीठा बना कर प्रयोजन सिद्ध कर लेना, और दूध के त्याग में बदामों का दूध बना कर। इस प्रकार एक पदार्थ की बजाये, दूसरे पदार्थ का ग्रहण रस त्याग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीरस में जो अरुचि है उसका परित्याग नहीं किया जा सका है। भोजन को जिस किस प्रकार भी रसीला बनाने का प्रयोजन ही रहा। अत: रस परित्याग उसे कहते हैं कि नमक के त्याग में अलौना हो खाये, और मीठे के त्याग में मुनक्का आदि का प्रयोग न करें। दूध भी फीका ही पीलें। इत्यादि। सच्चे योगी कृत्रिमता नहीं किया करते। उनका त्याग या तप दूसरों को दिखाने के लिये नहीं, अपने हित के अर्थ, अपने संस्कारों को तोड़ने के अर्थ है। यह है भोजन सम्बन्धी चौथा तप।

यद्यपि उपरोक्त तपों का वर्णन योगियों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से दर्शाया गया है। परन्तु

इससे यह अर्थ न लना, कि योगी लोग इतने उत्कृष्ट प्रकार के ही तप धारण करते है। जैसे गृहस्थ दशा मे शक्ति की अपेक्षा रखते हुए धीरे धीरे बढना होता है, परन्तु अभिप्राय मे उत्कृष्टता रहती है। वैसे ही यहा भी शक्ति की अपेक्षा रखते हुए ही धीरे धीरे बढना होता है। परन्तु अभिप्राय मे उत्कृष्टता रहती है। योगी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे इन तपो को जघन्य रूप से ही पालता है। और गृहस्थ भी यदि चाहें तो अपनी शक्ति अनुसार किञ्चित् मात्र इनको पालने का अभ्यास करता है।

दिनाक २३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७०

सर्व बाह्य व अन्तरङ्ग सग से विमुक्त हे एकान्त वासी गुरु देव ! मुझको भी विकल्पों से विमुक्त करके निज एकान्त शान्ति का आवास प्रदान कीजिये। तप के प्रकरण मे भोजन सम्बन्धी चार सस्कारो को तोडने के लिए चार तपो की बात चल चुकी। इतने पर ही सस्कारो का अन्त नही हो जाता। उनकी बडी सेना अनेक भागो मे विभाजित है। एक रण कुशल सैनिक वत् यह योगी राज किसी से भी गाफिल नही है। इन्होने एक सच्चे क्षत्रिय की भाति सारी बाधाओ को ललकारा है। आमने सामने युद्ध करने को वह सीना ताने खडे है। अहा हा ! कितना सुन्दर भास रहा है आज-उनका रूप। अनेको जाति के तप रूपी हथियार सजाये, ध्यान का कवच पहने, शान्ति के घोडे पर सवार, आज मानो साक्षात् *यमराज ही बन कर निकले है।*

९ विविक्त शय्यासन तप

जन सम्पर्क मे आकर, अनेको इधर उधर की व्यर्थ वातो मे, देश के युद्ध आदि व नवीन नवीन वैज्ञानिक खोजो के समाचार सुनने मे,या चोरो व अपराधियो की कथाये सुनने मे, या स्त्रियो की सुन्दरता आदि के सम्बन्ध मे चर्चा सुनने मे, किसी की निदा सुनने मे, इन इन अनेको प्रकार की ओर क्यो मेरा चित्त आकर्षित होता है। अकेला अधिक देर तक बैठा रहने मे क्यो अटपटा सा लगने लगता है ? यह कुछ ऐसा सस्कार है जिसको तोडे बिना अबाधित शान्ति को बनाये रखना असम्भव है ? योगी जन इस सस्कार को तोडने के लिए जन सम्पर्क से बचते है। और एकान्त मे वास करते हैं। किन्ही गहन बनो मे, पहाड की कन्दराओ मे, वृक्ष की कोटरो मे, किसी सूने घर मे या खण्डहरो मे वास करते ताकि कोई उनके पास आने न पाये। उन्हे यह पता है कि शान्ति मार्ग से अपरिचित बेचारे लौकिक जनो के पास, यह उपरोक्त बाते करने के सिवाय और है ही क्या ? व्यर्थ समय गवाना हे उनके साथ बाते करके। तथा अनेको विकल्प खडे हो जाते है उनकी बाते सुन कर। विकल्पो से बचने के लिए तो घर छोडा और फिर वही विकल्प यहा इस दूसरे मार्ग से प्रवेश करने लगे। योगी जन कैसे सहन कर सकते है, इस अपनी महान हानि को ?

१० काय क्लेश तप

इनके अतिरिक्त और भी एक सस्कार है। वह यह कि क्षुधा, तृषा, सम्बन्धी शरीर के अन्दर की बाधा के अतिरिक्त शरीर पर बाहर से आघात करने वाली भी अनेको बाधाये है। जैसे गर्मी की बाधा, सर्दी की बाधा, बरसात की बाधा, डांस, मच्छर, मक्खी, भिर्ड, ततैये की बाधा, तथा सिंहादि क्रूर पशुओ अथवा दुष्ट मनुष्यो कृत अनेको प्रकार की असह्य बाधा। इनके अतिरिक्त भयानक शब्दो तथा भयानक दृश्यो से भय खाने की बाधा, व एक आसन पर अधिक देर तक बैठे रहने की बाधा, इत्यादि

और भी अनेको बाधाये हैं। कहां तक गिनाये। इन बाधाओं को कदाचित् दुर्भाग्य वश आ पड़ने पर, इतनी शक्ति मुझ में कहां कि शान्ति को स्थिर रख सकूं। यद्यपि यह जानता हूँ कि इन बाधाओं से शरीर को हानि पहुँचे तो पहुँचे. मुझे कोई हानि नही पहुँच सकती। मैं तो चैतन्य व शान्ति मूर्ति, अविनाशी व अविकार, अमूर्तीक पदार्थ हू। इनमें से किसी बाधा ने भी मुझे स्पर्श करने की सामर्थ्य नही। पर इस विश्वास को जीवन मे उतारने के लिये अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। कोई एक संस्कार ऐसे अवसरो पर जबरदस्ती मेरे उपयोग को शान्ति से हटा कर इन बाधाओं ने उलझा देता है। मैं बजाये शान्ति के पीड़ा का वेदन करने लगता हूँ। कर्तव्य अकर्तव्य को भी भूल बैठता हूँ।

योगी जन इस दुष्ट संस्कार का निर्मूलन करने के लिए आज अपना पराक्रम दिखाने निकले हैं। स्वतः ही वह बाधाये आये. इसकी प्रतीक्षा किये बिना स्वयं जान बूझ कर इन बाधाओं मे प्रवेश कर जाते हैं। या नवीन बाधाये उत्पन्न कर लेते हैं, और वहां उस अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में रह कर अभ्यास करते हैं-शान्ति मे स्थिरता रखने का। अनुकूल वातावरण में तो स्थिर रह सकते थे पर प्रतिकूल मे स्थिर रहे तब मजा है। और इसलिए कभी जाकर खड़े होते हैं ज्येष्ठ की अग्नि बरसाती धूप में, जहाँ नीचे रेत मानों अङ्गारे ही बने पड़े हों, और खड़े रहते हैं या बैठ जाते हैं-घण्टों के लिये उस अग्नि में-शान्ति में अडिग रहते हुए। इस प्रकार के आतापन योग द्वारा खण्ड खण्ड कर देते हैं-गर्मी में बाधा पहुँचाने वाले उस संस्कार को।

इसी प्रकार पोष की तुषार बरसाती रातों में सारी सारी रात नदी के तीर खड़े हुए ध्यान मुद्रा धारण करके सर्दी मे बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं, तथा मूसलाधार बरसात मे वृक्ष के नीचे, पत्तो पर गिरने के कारण और भी अधिक बिखरी हुई बौछाड़ों में घण्टो शान्ति मे स्थिर बैठे रह कर, बरसात मे बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं। बरसात की रातों में वृक्ष के नीचे योग धारण करके मच्छरों आदि की बाधा सम्बन्धी संस्कार को उखाड़ फेंकते हैं। एक ही आसन पर कई घण्टो या पहरो खड़े रह कर या बैठ कर शान्ति में स्थिर उस योगी को देख कर आसन में बाधा सम्बन्धी संस्कार भी कांप उठता है-और अपना रास्ता मापता है।

जहां सिंह की गर्जनाओं, हाथी की चीत्कारों, गीदड़ों की चोख पुकारों अजगरों की फुकारो, प्रलय काल की आंधी वत्, तीव्र पवन के झोंकों से टूट कर गिरने वाले वृक्षों की गड़ गड़ाहटों, पत्तो की सरसराहटो दिशाओं से आने वाली सायं सायं की दिल दहला देने वाली आवाजों, आंधी से ताडित नदियों में क्रुद्ध नागो वत् उछलते हुए जल की गर्जनाओं से वातावरण ने मानों अत्यन्त भयानक रौद्र रूप धारण किया है। ऐसे महा भयानक व विकट वनो मे दिन रात ध्यान मुद्रा में निश्चल रहने वाले उन पराक्रमी योगियो के सामने, इस भय के संस्कार का क्या वश चले? तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्रकार लोक की बड़े से बड़ी बाधा को जान बूझ कर निमन्त्रित करके भिड़ जाते हैं उनसे।

११ [illegible] यह तो हुई बाह्य की कुछ शारीरिक बाधाओं सम्बन्धी संस्कारो के जीतने वाले तपों की बात। इतने पर ही सीमा नहीं आ जाती. वह अन्तरंग में नित नये नये रूप धारण कर करके उठने वाले विकल्पो के प्रति भी गाफिल नहीं है। उनका मूलोच्छेद करने के लिये जागृत गृह स्वामी वत् सदा

सावधान रहते है। तनिक सी राग या द्वष सूचक कोई भी आहट अन्दर मे मिली नही, कि उन्होने ललकारा नही। और उसके ऊपर भी निन्दन व ग्रहण की मार। बेचारे इन चोरो के प्राण वैसे ही सूखते है-इनके घर मे प्रवेश करते हुए। और यदि कोई भूला भटका धुस भी जाये, तो फिर क्या था ? पकड़ लिया उसे, और मारे प्रायश्चित व दण्डो की मारो से, निकाल दिये उस बेचारे के प्राण, ताकि न जीवित रहेगा और न फिर आने का प्रयत्न करेगा। अर्थात् अन्तरग मे कोई दोष उत्पन्न हो जाये, तो स्वय तो आत्म ग्लानि पूर्वक अपने को धिक्कारते ही है। इसका अभ्यास तो गृहस्थ अवस्था से ही करते आ रहे है। परन्तु गुरु से जाकर भी इन दोषो का भण्डा फोड देते है। और एक कुशल वैद्य वत् गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित या दण्ड को बडे उत्साह से सहर्ष अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं। जिसके कारण कभी कई कई महीनो के उपवास, सारी सारी रात के लिये ध्यान मे निश्चल योग, कभी अपनी दीक्षा का छेद अर्थात् कक्षा मे से नीचे उतारे गये क्षात्र वत्, अपने से पीछे के दीक्षित साधु से भी पीछे दीक्षित होने वत् स्वीकृति, और इस प्रकार अन्य भी अनेको बड़े बडे शारीरिक व मानसिक कष्टो का आलिंगन करते है। कभी कभी तो सघ को छोड कर वर्षो तक के लिये किसी दूसरे साधु सघ मे जाकर रहना स्वीकार कर लेते है। जहा कोई उनसे परिचित नही। वहा कौन जाने कि यह इतने बडे विद्वान है, कि अपने संघ मे इनका बड़ा सम्मान था ? वहा कौन पूछे उनकी बात ? फिर भी अभिमान कषाय के दण्ड स्वरुप सहर्ष वहा शान्ति पूर्वक रहते है। इस प्रकार यथा योग्य दोषो के अनुसार प्रायश्चित स्वीकार कर करके अन्तरंग के दोषो का भी निर्मूलन कर देते है।

अन्तरग मे प्रगटी अपनी शान्ति व अन्य गुणों के प्रति, तथा बाह्य मे गुरु आदि के प्रति, बहुमान व विनय उत्पन्न करके इन गुणो मे बराबर उन्नति करते जाते है। कदाचित् शान्ति से च्युति रूपी रोग व पीडा हो जाने पर, पुन पुन उपयोग वहा ही स्थिर करते हुए अपनी वैयावृति करते है तथा सघ मे अन्य साधुओ को शारीरिक या आन्तरिक रोग या पीडा हो जाने पर, यथा योग्य अपनी शक्ति प्रमाण सेवा मे तत्पर रह कर अन्य की वैयावृति करते है। जिससे कि अन्य मे तथा अपने मे उन महान गुणो की रक्षा हो। शान्ति मे स्थिरता न होवे तो, उपयोग को रोके रखने के लिये, गुरु वाक्यो अर्थात् शास्त्रो को पढ कर या पढा कर, सुन कर या सुना कर, पूछ कर या विचार कर, स्वाध्याय करने मे समय बिताते है। समय को खाली नही जाने देते। अन्तरंग में बराबर शरीर की अनिष्टता सम्बन्धी विचार करते हुए, शरीर व तत्सम्बन्धी परीग्रह अर्थात् विकल्पो को त्यागते है। अधिक से अधिक समय यथा शक्ति ध्यान मे अर्थात् साम्यता व शान्ति मे स्थिर बने रहते है।

गृहस्थों सम्बन्धी तप के प्रकरण मे सामायिक के अन्तर्गत जो अनेको प्रकार की कल्पनाओं व धारणाओं का कथन किया है। यहा ध्यान के प्रकरण में भी समझना। सामायिक और ध्यान वस्तुत: एक ही बात है। अन्तर केवल इतना ही है कि सामायिक मे स्थिरता कम होती है। वहां ज्ञान व कर्म धारा मिश्रित रूप मे पडी रहती है जब कि यहां ज्ञान शुद्ध ज्ञान धारा मे ही स्थिति होती है (देखो अधिकार नं० १७ प्रकरण नं० ५) विकल्प आते हुए बुद्धि मे पकडे जाते है। और ध्यान में स्थिरता अधिक होती है, और विकल्प यदि कदाचित् आवे भी तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि स्वयं उस योगी की बुद्धि भी उसे पकड नही पाती। अर्थात् यहा एकाग्रता अधिक है। यहा तक कि यदि बराबर उन विचारो मे एकाग्र होने का अधिकाधिक अभ्यास करता रहे तो एक दिन बड़े वेग के साथ ऊपर चढ़ने लगता है।

ध्यान के अत्यन्त उज्ज्वल व शुक्ल स्थान को प्राप्त होकर विशुद्धि मे अनन्त गुणी वृद्धि करता हुआ ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि अब अन्तर मे अचेत पडे निद्रा व सूक्ष्म क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मैथुन आदि के सस्कारो का भी क्रम से मूलोच्छेद कर देता है। वाह्य के स्थूल सस्कारो का पहले से ही नाश कर चुका था, अब अन्तरग के भी सूक्ष्म संस्कारो का नाश करके सस्कार रहित हो निश्चल शान्ति अर्थात् पूर्व में स्थिर किये गए लक्ष्य विन्दु को प्राप्त कर लेता है। इस परम धाम मे प्रवेश करके अब वह सदा शान्त रहेगा। कभी भी अब वह वहां से च्युत न हो सकेगा। क्योकि च्युत करने वाले कारण जो संस्कार या वध तत्व वहां अब है ही नही। नए नए विकल्पो रूप आस्रव को कौन प्रेरणा दे। और आस्रव के विना अशान्ति या संसार कैसे हो? अब वह मुक्त हो चुके है।

४०

—: उत्तम त्याग :—

दिनाक २४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७'

१—ग्रहण व त्याग के जीवनों में अन्तर, २—ग्रहण में दु ख, ३—त्याग का प्रयोजन शान्ति, ४—त्याग का प्रयोजन भूखो को दान, ५—विलासता की रौ में पडा भारत, ६—गुरुदेव का त्याग शान्ति का सन्देश ।

१ ग्रहण व त्याग के जीवनों में अन्तर

अहो त्याग के प्रतीक वीतरागी गुरु देव ! सर्व बाह्य वस्तुओ तथा अभ्यन्तर विकल्पों व अभिलाषाओ के पूर्ण त्याग के आदर्श ! मेरे जीवन मे भी शान्ति प्रदायक यह त्याग प्रदान करो । अचिन्त्य है महिमा इस त्याग की । शान्ति की खान है यह । धन धान्यादि के ग्रहण मे आज हम कुछ सुख की महिमा देखते है, पर एक वह जीवन भी है जो इसमे साक्षात् दु ख देखता है । अभिप्राय के फेर से विष भी अमृत भासने लगता है । जिस प्रकार क्रोध कषाय जागृत होने पर मृत्यु भी इष्ट हो जाती है । कितना बडा अन्तर है दो जीवनो मे । एक वह जीवन जिसमे से यह पुकार निकल रही हो कि "और ग्रहण कर", "और ग्रहण कर", और एक वह जीवन जो मूक भाषा मे कह रहा है कि "और त्याग कर", "और त्याग कर ।" एक वह जीवन जो कह रहा है कि "धनादि सम्पदा मे सुख है, इसमे ही सुख है ।" और एक वह जीवन जो कह रहा है कि "इसमे ही दु ख है,इसमे ही दु.ख है ।" एक वह जीवन जो कह रहा है कि "इसके बिना मेरा काम न चलेगा, इसके बिना मेरा काम न चलेगा", और एक वह जीवन जो कह रहा है कि "इसके रहते हुए मेरा काम न चलेगा, इसके रहते हुए मेरा काम न चलेगा ।" एक वह जीवन जो कह रहा है कि "धन चाहिये, धन चाहिये", और एक वह जीवन जो कह रहा है कि "शान्ति चाहिये, शान्ति चाहिये ।" अहो ! अभिप्राय का माहातम्य । एक नुकते के हेर फेर से 'खु दा' से 'जुदा' हुआ । ऊपर का नुकता नीचे कर देने मात्र से उर्दू मे लिखा 'खु दा' शब्द 'जुदा' पढ़ा जाता है । इसी प्रकार शान्ति पर से अभिप्राय को हटा कर सम्पदा पर लगा देने से सच्चिदानन्द से व्याकुलता की विकराल दाढ़ का ग्रास बन जाता है ।

२ ग्रहण में दु ख

परन्तु दु:ख कैसे प्रतीत हो ? जब तक एक क्षण को भी किंचित् मात्र निराकुलता का स्वाद न चखे, तव तक कैसे पता चले कि इसमे दु ख है । भले गुरु देव के कहने पर कह दू कि हा हा यह दु.खो का मूल है, पर अन्तरग मे तो ऐसा नही भासता । कैसे भासे ? निराकुलता से व्याकुलता मे जाये तो पता चले कि व्याकुलता में आया हूं । पर व्याकुलता को छोड़ कर व्याकुलता मे जाऊ तो कैसे पता चले कि व्याकुलता है । उपार्जन की व्याकुलता को छोड़, रक्षा की व्याकुलता मे घुस गया । बात तो

ज्यो की त्यो ही रही। उल्लू अन्धकार से हठ कर अन्धकार मे ही जाता है। क्या पता बेचारे को कि यह अन्धकार है। उसके लिये तो वही प्रकाश है। यही तो हालत है मेरी-आज। कैसे पता चले कि ग्रहण मे दु.ख है। कुछ थोडा सा त्याग करके देखू तो पता चले कि इतने से त्याग से जब कुछ शान्ति आई है, तो पूर्ण त्याग करके इस योगी को कितनी शान्ति आई होगी ? आज मुझे त्याग मे कष्ट प्रतीत होता है। और इसीलिए तो योगी के जीवन को कष्ट का जीवन मानता हूँ। किंचित् त्याग करके देखू तो पता चले कि त्याग मूर्ति उन योगीश्वरो का जीवन कितना सुखी है।

एक साधु था। बडा सन्तोषी। घर घर जाता, एक एक रोटी माँगता और ९-१० घरो से अपना पेट भर लेता। कभी थोड़ा पानी चुल्लू मे लेकर पी लेता। और दिन भर, भजन करता, प्रभु के गुण गान गाता। बड़ी शान्ति में बीत रही थी। एक भक्त कहने लगा कि महाराज ! यदि खाते खाते प्यास लग जाये तो क्या करो ? अत एक सस्ता सा कटोरा ला देता हूं। विचारा साधु ने, कि चलो एक कटोरे से क्या बिगडेगा मेरा। ला देने दो। इस का भी चित्त प्रसन्न हो जायेगा। कटोरा आ गया। एक दिन शिवालय से निकल कर, जगल की ओर सध्या ध्यान के लिए जाते समय, कटोरा रह गया शिवालय के बाहर। याद आया तब जब कि ध्यान में बैठ गया। बस फिर क्या था ध्यान नदारद, कटोरा ही कटोरा रह गया। "यदि कोई ले जायेगा तो।" झुझलाहट सी उठी साधु को, "अच्छा लिया कटोरा", सब कुछ ही खो बैठा इसके पीछे। चलो पहले "इस कटोरे का ही इलाज कर आऊ, फिर करूगा ध्यान।" आया द्वार पर। कटोरा पडा था। पत्थर लेकर तोड़ा मरोड़ा और फेंक दिया। उधर से भक्त भी आ निकला। पूछा कि "क्या बिगाडा है इस बेचारे ने आपका ? जो इस प्रकार पीछे पड़े हो इसके।" "बिगाडा ही नही, सर्वस्व लूट लिया है-इसने-मेरा। तू क्या जाने बेटा ! कि क्या किया है इसने ?" साधु ने उत्तर दिया, और एक सन्तोष की सांस लेकर चला गया पुन जगल की ओर।

त्याग से ग्रहण में आकर ही पता चला साधु को कि कितना दु.ख है ग्रहण मे। इस प्रकार ग्रहण से त्याग मे आकर ही पता चल सकता है कि कितना सुख है त्याग मे। योगी का जीवन कष्ट मे नही शान्ति के झूले मे झूलता है। अभिप्राय बदल चुका है। शान्ति के स्वाद के सामने कौन पडे इस जजाल मे ? चुपडी खाने वाले को कैसे रुचे कच्चे चने चबाना ? कोई ढेर भी लगा दे उनके सामने स्वर्ण या हीरो का तो आकर्षण की तो बात नही, उसे उपसर्ग समझे। उन पर दया करके, "हाय, विचारे ठिठुर रहे है सर्दी के मारे। एक कम्बल उढ़ा दो इन्हे", ऐसा विचार कर अपने शरीर पर से कम्बल उतार कर उनके शरीर पर डाल दो, और समझ बैठो अपने हृदय मे-कि चैन पड़ गई होगी इन्हे। यह उनसे पूछो कि क्या बीत रही है उनके-हृदय पर। एक बड़ा भारी उपसर्ग आ पड़ा है मानो। उनकी शान्ति घाती गई है। विकल्प उठ गये है।

३ त्याग का प्रयोजन शान्ति

राज पुत्र भर्तृहरि व शुभ चन्द्र दोनो भाई वैरागी हो गये। पर अभिप्राय मे महान अन्तर था। दोनो ही ने स्वयं राज्य छोड़ी, सम्पदा छोडी, पर अन्दर में भर्तृहरि यही समझता रहा कि उसमे सुख है, और शुभ चन्द्र समझ गया कि उसमे दु.ख है। फलितार्थ शुभ चन्द्र करने लगे शान्ति रस की सिद्धि। भर्तृ करने लगे स्वर्ण रस की सिद्धि। दोनो ही सफल हो गये, अपने-अपने प्रयोजन मे। शुभ चन्द्र को शान्ति रस के साथ साथ मिल गई उसकी दासी भी, अर्थात् स्वर्ण बनाने की ऋद्धि भी, और भर्तृहरि को मिला केवल दास स्वर्ण रस। शुभ चन्द्र को मिलने पर भी उसने उसको ओर आख

न उठाई, और भर्तृहरि के हर्ष का पारावार न रहा। भाई की खोज कराई और यह जान कर कि नग्न बने बड़ी दरिद्रता की दशा मे जीवन बिता रहे हैं, दया पूर्वक आधी तुम्बी स्वर्ण रस की भेज दी उनके पास। वीतरागी को आवश्यकता ही कहा थी उसकी ? ठोकर मार दी और तुम्बी मुन्ध गई। यह समाचार सुन कर भर्तृहरि और भी दु:खी हुआ। चल पड़ा स्वय शेष आधी तुम्बी लेकर। और रख दी भाई के चरणो मे। पुन: ठुकरा दी। रो पड़ा भर्तृहरि, "१२ वर्ष की तपस्या योंही वह गई। भाई ! यह क्या किया ? दरिद्रता ने तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल ही हरली है-मै नही जानता था।" बस अब बरसने लगा अमृत शुभ चन्द्र के मुख मे "भर्तृहरि जाग।" स्वर्ण चाहिये तो राज क्यों छोड़ा था। शान्ति लेने निकला था कि स्वर्ण ? स्वर्ण ही चाहिये तो ले भर ले जितना चाहे। और एक चुटकी रज की अपने तलवे के नीचे से निकाल कर फैंक दी पहाड पर। पर्वत स्वर्ण बन गया। "ग्रहण मे से शान्ति निकालना चाहता है। भर्तृहरि ? शान्ति ग्रहण मे नही त्याग मे है। शान्ति चाहिये तो मुझ जैसा बनना होगा। जिसके पास अटूट स्वर्ण होते हुए भी उसका ग्रहण नही करता", और रच गया यह ग्रन्थ, जो आपके सामने है- 'ज्ञानार्णव'। भर्तृहरि की आखे खुल गई। ग्रहण का अभिप्राय जाता रहा। त्याग का अभिप्राय जागृत हुआ। और आज उसकी वैराग्य शतक आदि अनेको वैराग्य रस पूर्ण कृतिये भारत मे बहुत ऊची दृष्टि से देखी जाती हैं।

४ त्याग का प्रयोजन भूखों को दान

दूसरी दृष्टि से भी रस त्याग की महिमा देखिये। गुरु देव ने कर दिया सर्वस्व त्याग-इसलिये कि दूसरे इससे लाभ उठाये। उन्हे स्वय उसकी आवश्यकता नही। तो वे बेचारे भी क्यों वचित रहे इससे, जिनको कि इसकी आवश्यकता है ? अर्थात् कर दिया सर्वस्व का दान-उनको, जो झोली फैलाये खडे पुकार रहे थे उनके सामने, "हाय पैसा, हाय धन।" एक सेठ साहब ने सडक पर जाते एक साधु को दया करके एक पैसा दे दिया। साधु सोचने लगा कि क्या करू इसका ? किसी सवाली के हाथ मे जाता तो कुछ काम आता उस बेचारे के। मेरे किस काम का था ? अच्छा देखो कोई भिखारी आयेगा तो दे दूगा उसे। इतने मे दिखाई दिया सिकन्दर का लश्कर। बड़े वेग से चला जाता था घोडे दौड़ाये। बस पैसा फेंक दिया साधु ने उसी ओर। सिकन्दर के मस्तक में जा लगा। वह चौंका। "किसने फेंका है यह तुच्छ पैसा ?" पकड लाओ इस साधु को", वह गर्जा। साधु आया, "क्यो जी तुमने फेंका है यह पैसा ?" "हा", "क्या समझ कर ?" और अब साधु बोला, "विचारा था कि कोई भिखारी है बेचारा। भूखा है। अपना देश छोड़ कर यहां आया है। अपनी भूख भरने। चलो यह पैसा भी इसे ही दे दो, काम आयेगा इसके। मुझे क्या करना है इसका ?" सिकन्दर की आंखे खुल गई, पर हमारी आंखें आज तक न खुली।

अपने को सखी और दानी मानने वाले भो चेतन ! क्या सोचा है कभी कि तू दानी है कि भिखारी ? इतना मिलते हुए भी जिसकी भूख, जिसकी तृष्णा, जिसकी अभिलाषा शान्त न हो रही हो, वह क्या देगा किसी को ? जिसको तू भिखारी समझता है, उसका पेट तो तुझसे बहुत छोटा है, फिर तू दानी कैसे बना ? तू तो उससे बडा भिखारी है। और ला, और ला, की ध्वनि से मानो तेरा सर चकराया जा रहा है। घुमेर आ रही है। उल्टा दीख रहा है ? भिखारी को दानी और दानी को भिखारी मानता है। दानी देखना है तो देख उस योगी को जिसने सर्वस्व डाल दिया है तेरी झोली मे। सर्वस्व त्याग दिया है तेरे लिये। दानी बनना चहाता है तो त्याग कर, ग्रहण नही। त्याग भी नि:स्वार्थ त्याग। अपनी शान्ति के लिए सर्व सम्पदा का त्याग, या किंचित मात्र का त्याग।

५ विलासता की रौ में पड़ा भारत

गुरुओ का आदर्श त्याग भारत धरा के कण कण मे समाया हुआ है। और इसीलिये आज यह देश विश्व को त्याग का पाठ पढाने चला है। "सेना मे कमी करो, हथियारो मे कमी करो, दूसरो की आवश्यकताओ को अपनी आवश्यकता समझो, किसी की स्वतन्त्रता पर बुरी दृष्टि न डालो", इसी प्रकार के अनेको उपदेशो द्वारा आज भारत सरकार विश्व को त्याग का आदर्श दिखाने चली है। पर खेद है, कि स्वयं उसकी उल्टी दिशा मे जा रही है। दूसरो को त्याग का उपदेश देने वाली यह सरकार, स्वयं दूसरो से ग्रहण का उपदेश ले रही है। और वही चली जा रही है विलासता की ओर-भूल कर अपने योगियो का उपदेश-आदर्श त्याग।

एक ही ध्वनि है चारों ओर। "जीवन स्तर को ऊंचा उठाओ, स्टैण्डर्ड आफ लिविङ्ग (Standard of Living) में वृद्धि करो।" परन्तु गुरुओ के आदर्श को भुला बैठने वाले बेचारे, क्या जाने कि जीवन का स्तर किसे कहते हैं? जिस ओर वह जा रहे हैं वह जीवन का स्तर है कि मृत्यु का, शान्ति का स्तर है कि व्याकुलता का, सन्तोष का स्तर है कि अभिलाषाओं का, निश्चितता का स्तर है कि चिंताओ का। खेद है कि मृत्यु के स्तर को जीवन स्तर समझ बैठने वाला आज का भारत उन्नति की ओर नही अवन्नति की ओर जा रहा है। और मजे की बात यह कि दूसरो को उपदेश देने चला है जीवन का, शान्ति का। शान्ति, विलासता या ग्रहण मे नही है भाई! त्याग मे है।" जितना ग्रहण उतनी अशान्ति और जितना त्याग उतनी शान्ति। यह है यहां की महान आत्माओ का उपदेश। उसे सुनो और अपनाओ। और देखोगे कि जीवन शान्त हो जायेगा।

अपने जीवन मे उतारे बिना दूसरो को उपदेश देना अनधिकृत चेष्टा है। एक स्त्री किसी साधु के पास जाकर बोली कि, "मेरा लड़का मीठा बहुत खाता है। तग आ गई हूँ। कोई उपाय बताइये"। साधु बोला कि तीन दिन पीछे आना। तीन दिन पीछे आई। फिर बोला सात दिन पीछे आना। सात दिन पीछे आई, फिर बोला दस दिन पीछे आना। और इस प्रकार दो महीने बीत गये, स्त्री निराश होती गई। पर दो महीने पश्चात साधु बोले कि अपने लड़के को मीठा देना बन्द कर दो। उसका सुधार हो जायेगा। स्त्री को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। "कौन नई बात बताई है महाराज ने? दो महीने पहले ही क्यो न कह दिया था आपने? इतने दिन व्यर्थ ही पीछे २ घुमाया।" "ऐसा नही है देवी! इतने दिनों तक मै खाली नही बैठा, तेरे लिये उपाय ही सोचा है, अपने जीवन मे उतार कर। और जब यह देख लिया है कि बिना मीठे के काम चल सकता है तभी कहा है तुझे कि मीठा न देना।" अत. भो प्राणी! अपने जीवन मे त्याग का आदर्श उतारे बिना, दूसरे को त्याग का उपदेश देना तो तुझे शोभा नही दे रहा है। भले थोड़ा ही जीवन मे उतार, पर जितना कुछ जीवन मे उतर जाये उतना ही दूसरो को उपदेश देना कार्यकारी है।

आदर्श त्याग की शरण मे जाकर, ग्रहण की रौ मे मेरा बहते हुए जाना क्या शोभनीक है? क्या इसे त्यागी गुरु का आश्रय कहा जा सकता है? कुछ तो ले ले गुरु देव से। भले धन न छोड़। पर घर के अडंगे को तो कम कर सकता है। उसमे लौकिक रीति से भी तेरा लाभ ही है। भले उसे भी किसी को मुफ्त मे मत दे। मोल बेच दे। उसका रुपया बना कर अपने पास ही रख। पर उसे कम करके देख तो सही। बीस कुर्सियो मे से केवल दो रख बाकी को बेच डाल, और फिर देख, यदि कुछ शान्ति मिलती है तो आगे और त्याग देना, नही तो आठ की बजाये बारह और खरीद लेना।

६ गुरुदेव का त्याग शान्ति का सन्देश गुरुदेव का त्याग इतने पर ही बस नहीं हो जाता। उसकी महिमा अचिन्त्य है। यह धनादि या वस्त्रादि का त्याग व दान तो तुच्छ सी बात है। वह तो उस वस्तु का त्याग कर रहे है अर्थात् दान दे रहे है, जो कोई नही दे सकता। किसो एक को नही, समस्त विश्व को दे रहे है। शब्दों मे नही जीवन से दे रहे है। रोम रोम से दे रहे है। शान्ति का सदेश, शान्ति का उपदेश, शान्ति का आदर्श। जिसके सामने तीन लोक की सम्पत्ति धूल है, विष्टा है, वमन है।

खेद है कि अपनी दशा पर, कि विष्टा तथा वमन जानते हुए भी मै उसी को नित्य ग्रहण करने के पीछे दौड़ा चला जा रहा हू। जिस वस्तु को एक वार नही अनन्तो बार ग्रहण कर करके छोड़ दिया वह वमन नही तो क्या है ? कौन सी वस्तु यहा ऐसी दिखाई दे रही है जो तेरे लिये नई है ? देव बन बन कर, इन्द्र बन बन कर, चक्रवर्ती व राजा बन बन कर कौन सी वस्तु ऐसी रह गई है जो तूने न भोगी हो ? भूल गया है आज तू अपना पुराना इतिहास। इसी से नई लगती है। यदि याद करे तो जान जाये कि हर भव मे तूने इसे ग्रहण किया और हर भव मे इसने तेरा त्याग किया। तू एक एक करके इसे ग्रहण करता, इसका पोषण करता, और यह पुष्ट होकर एक दम तुझे आखे दिखा देता। ऐसे कृतघ्नी को पुन. तू ग्रहण करने चला है-आश्चर्य है। अब तो आखे खोल और इससे पहले कि यह तुझे त्यागे, तू इसे त्याग दे।

यह है उत्तम त्याग धर्म, जो त्याग के लिये नही बल्कि शान्ति के ग्रहण के लिये है। शान्ति के अभिप्राय से रहित किया गया त्याग दुख का कारण है। उसकी यहा बात नही है।

४१

—: उत्तम आकिंचन्य धर्म :—

दिनाक २५ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७२

१—अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी, २—स्वतन्त्रता का उपासक योगी गाधी, ३—शान्ति के उपासक को कुछ नहीं चाहिये. ४—दृढ सकल्प की महत्ता, ५—षट् कारकी कल्पनाओं की विपरीतता, ६—यहा कोई तेरा नहीं, ७—सच्चा त्याग।

अहो! सम्पूर्ण बाह्य व अन्तरग परिग्रह का त्याग करके, यथार्थ आकिंचन्य अवस्था को प्राप्त गुरु देव! आपकी महिमा गाने को कौन समर्थ है? आकिंचन्य धर्म की बात चलती है। आकिंचन्य अर्थात् 'किंचित मात्र भी मेरा नही है, ऐसा अभिप्राय महान धर्म है, मेरा स्वभाव है। अपने से अतिरिक्त कोई भी अन्य पदार्थ मेरा होना स्वभाव नही हैं। इसलिये शान्ति के उपासक का यह अभिप्राय धर्म है। शान्ति मेरा स्वभाव है। मुझे वही चाहिये और कुछ नही। उस शान्ति को छोड़ कर अन्य कुछ भी नही चाहिये, यह है गर्जना उस योगी की। शान्ति के उपासक की।

१ अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी

परन्तु योगी कौन है? सभी तो योगी है। योगी का अर्थ है जुट जाने वाला। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कमर कस के जुट जाने वाला योगी होता है। हम सभी तो कमर कस के किसी लक्ष्य के प्रति जुटे हुए है। तो क्या हम योगी है? हा अवश्य! परन्तु उपरोक्त योगी जैसे नही। अन्तर है अभिप्राय मे। हमारा लक्ष्य है, "मुझे तीन लोक की सम्पत्ति चाहिये।' इसके बाधक या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नही है। इसके सामने धर्म कर्म भी मुझे चाहिये नही। और उपरोक्त योगी की ध्वनि है, "मुझे शान्ति चाहिये। इसमे बाधक या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नही। इसके सामने धन कुटुम्बादि भी मुझे चाहिये नही।" कितना महान अन्तर है योगी और योगी मे। एक का लक्ष्य है असम्भव रूप तृष्णा मे खोया हुआ असाध्य, और दूसरे का लक्ष्य है अनुभव की तृप्ति मे विलीन साध्य। विचार तो सही, कि क्या तीन लोक की सम्पति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा? मृग तृष्णा मे ही दौड़ता दौड़ता मर जायेगा। सब कुछ यही छोड़ जायेगा। पुन जन्मेगा, फिर उसी लक्ष्य को रख कर दौडता हुआ मर जायेगा। फल निकला केवल जन्म मरण और अशान्ति। मृग तृष्णा की दाह। और दूसरे का लक्ष्य है सच्चा साध्य। वर्तमान मे प्रयास करेगा। किंचित शान्ति प्राप्त करेगा। मर जायेगा। पर उसे साथ लेकर जायेगा। आगे जन्मेगा फिर प्रयास करेगा। उस

साथ ले गई हुई शान्ति में वृद्धि करेगा। और दो चार बार मे पूरी कर लेगा। इसलिये उपरोक्त दो योगियो में से एक योगी झूठा है और दूसरा सच्चा। अभिप्राय पर से ही पहिचान की जा सकती है।

२ स्वतन्त्रता का उपासक योगी गाधी

आज के युग में भी एक योगी हुआ महात्मा गाधी। वही उपरोक्त पुकार थी। "मुझे स्वतन्त्रता चाहिये। इसके अतिरिक्त कुछ नही। तीन लोक के प्रलोभन मेरे सामने बिछाओ, परन्तु मेरी पुकार बदलने न पायेगी। स्वतन्त्रता भी कम न चाहिये, पूरी चाहिये। किसी को भी किंचित् मात्र भी हस्ताक्षेप करने की आज्ञा मै न दू गा। किंचित् मात्र भी अग्रेजो की सत्ता को मै स्वीकार न करू ंगा। उनके बच्चे बच्चे को मेरा देश छोडना होगा। मेरी स्वतन्त्रता छोडनी होगी।" लक्ष्य साध्य था। क्योकि स्वतन्त्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है। और इसीलिये इस गर्जना का प्रभाव समस्त विश्व ने देखा। यदि आवाज यह हुई होती कि "मुझे सर्व विश्व पर सत्ता चाहिये, इसमे किंचित् मात्र भी कम मुझे स्वीकार नही है।" तो आप ही बताइये कि क्या यह पुकार सच्ची होती ? बस तो प्रभु ! अपनी धन चाहिये की पुकार को बदल कर कोई सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। यदि वास्तव मे शान्ति का उपासक है तो। शान्ति को लक्ष्य मे लिया है तो ·

३ शान्ति के उपासक को कुछ नहीं चाहिए

यह गर्जना जो सच्चे योगियो मे उठ रही है। शान्ति के उपासको मे उठ रही है। "मुझे शान्ति चाहिये।" इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी नही। धन धान्य, घर, जायदाद, पुत्र, मित्र, स्त्री, विषय सामग्री, वस्त्र इत्यादिको की तो बात नही। वह तो पहले ही त्याग बैठा हूँ। मुझे शरीर भी नही चाहिए। इसके लिये आहार भी नही चाहिए। इतना ही नही अपनी शान्ति मे किंचित् मात्र भी बाधा मुझे सहन नही। अत. यह नित्य उठने वाले सकल्प विकल्प नही चाहिये। संस्कार नही चाहिये। इनके बच्चे बच्चे को मेरा देश छोड कर निकलना होगा। मेरी शान्ति छोड़ कर भागना होगा। तीन लोक का वडे से बड़ा प्रलोभन भी मेरी गर्जना को बदल नही सकता।" ओह ! कितना बल है इस गर्जना मे, और कितनी दृढता ? मानो आज सारा विश्व कॉप उठा है इसे सुनकर। यह शान्ति प्राप्त करके ही हटेगा। एक दिन अवश्य देखने मे आयेगा इसका प्रभाव। शान्ति चाहिये तो तू भी इतनी प्रवल गर्जना उत्पन्न कर। जिसमे बल हो तथा दृढ़ता।

४ दृढ सकल्प की महत्ता

देखिये दृढ़ता की महिमा। एक सूखा हुआ सा निर्धन ब्राह्मण चाणक्य। वन मे चलते चलते पॉओ मे घुस गई कुशा। बस गर्जना निकल पडी, "चाणक्य के पावो मे घुसने का साहस कैसे हुआ तुझे ? किंचित् मात्र भी तेरी सत्ता इन वन मे रहने न पायेगी। तेरा बीज नाश कर दू गा।" और लगा सारे वन की कुशा को खोद खोद कर उसकी जड मे मठ्ठा डालने। तब तक चैन न ली जब तक कि सर्व नाश न कर दिया उसका। नन्द राज के मन्त्री ने भी देखा उसका यह दृढ सकल्प। बस वाछे खिल गई। "इसकी सहायता से अवश्यमेव मेरा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा। अर्थात् नन्द राज से अपने अपमान का बदला ले सकू गा।" चाणक्य के पास पहुँचा और बोला, "चलिए ब्राह्मण ! आज नन्द राज के घर ब्रह्म भोज है। और ले जाकर बैठा दिया उसे राजा की रसोई मे।" विलासी राजा नन्द आया। "अरे ! यह काला कलूटा सूखा सा नर ककाल कहा से आया यहां ? निकाल दो इसे बाहर।" अपमान करके चाणक्य को बाहर निकाल दिया गया। परन्तु एक गर्जना उत्पन्न हुई उस दृढ सकल्पी ब्राह्मण मे, "नन्द ! इस अपमान का दण्ड भुगतना होगा। किंचित् भी तेरा शेप न छोड़ू गा।

ले यह शिखा तभी बंधेगी, जब कि तेरा बीज भी नाश हो जायेगा ।" ओह ! कितना बल था उसकी गर्जना मे, और कितनी दृढता समस्त विश्व ने देख दिला उसका प्रभाव नन्द का सर्वस्व नाश कर दिया गया । सत्ता आई सम्राट चंद्र गुप्त के हाथ मे, जिन्होने पीछे दिगम्बर योग धारण करके वही उपरोक्त गर्जना उत्पन्न की अपने अन्दर मुझे शाति चाहिये इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी नही कि अगामी विश्व देख लेगा उसकी गर्जना का प्रभाव

परन्तु इस गर्जना का आधार क्या ? क्या वह जो कि कल के वक्तव्य मे आपने समझा ? अर्थात् सर्वस्व का त्याग विश्वके लिए सर्वस्व का दान ? नही ! वास्तव में कल का वक्तव्य समझा ही नही । वस्तु के त्यागने का नाम त्याग नही वस्तु के देने का नाम दान नही आकिंचन्य ही यथार्थ त्याग है । दान है अर्थात् किंचित् मात्र भी मेरा नही । पहली गर्जना थी, कि शाति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मुझे नही चाहिए ।" और अब है, "शाति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मेरा नही ।" 'मुझे नही चाहिए', और 'मेरा नही ।' इन दोनों में क्या अन्तर है ? शब्दों के अन्दर कुछ अन्तर प्रतीत होता है । क्योकि पहली पुकार मे ध्वनित होता है कि "मै ले सकता हूँ पर नही लूगा ।" और दूसरी पुकार मे ध्वनित होता है कि 'मै ले ही नही सकता, लूगा किसे और त्यागूंगा किसे ?" परतु वस्तुतः दोनों मे अभिप्राय एक है वास्तव मे मेरा कुछ है ही नही

५ षट् कारकी कल्पनाओं की विपरीतता

ज़रा विचार करके देखो तो पता चल जाए, कि यहां वास्तव मे मेरा है ही क्या ? मेरी वस्तु वह हो सकती है कि जो सदा मेरी होकर रहे। जिन वस्तुओं को मै 'मेरी है, ऐसा मानता हू, वह मै अपने साथ लाया नहीं, साथ लेकर जाता नही, यहां रहते हुए भी सदा मेरे साथ रहती नही, फिर कैसे उन्हें मेरी कह सकता हूं ? वास्तव मे मेरी कहना कल्पना है। जिसके अर्न्तगत छ भूले पड़ी हुई हैं, इन भूलो का नाम षट् कारक है। व्याकरण में आप सबने पढ़े हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण । इन छ कल्पनाओ के आधार पर ही मैं वस्तु को मेरी कहने का साहस करता हूँ । जैसे कि मै पुत्रादि का पालन करता हूँ अत. मै उनका कर्ता हूँ। उनका पालन करना मेरा कर्तव्य है । अत. वह मेरे कर्म है । मेरे द्वारा उनका पालन होता है। अत. मैं उनका करण हूँ । उनके लिये ही मैं सब न्याय अन्याय कर रहा हूँ। अतः वह मेरे सम्प्रदान हैं। उनका पालन करना ही मेरा स्वभाव है । अतः मैं उनका अपादान हूँ। मेरे आश्रय पर ही उनका जीवन टिक रहा है, अत. मै उनका अधिकरण हूँ । और इसलिये वह मेरे है । और इसी प्रकार वह मेरी सेवा करते हैं। अतः वह मेरे कर्ता है । मेरी सेवा करना उनका कर्तव्य है अत. मैं उनका कर्म हूं। उनके द्वारा ही मेरी सेवा हो रही है अत. वे मेरे करण हैं । मेरे लिये ही यह परिश्रम कर रहे है अत. मैं उनका सम्प्रदान हूं। मेरी रक्षा करना ही उनका स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं। उसके आश्रय पर ही मेरा यह जीवन सुख से बीत रहा है. अत. वे मेरे अधिकरण है । अर्थात् मैं तो उनका कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ, इसलिये वे मेरे हैं । और वे मेरे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण है इसलिये मैं उनका हूं । इसी प्रकार मैं धन का कर्ता (उपार्जन करने वाला) कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ अत. धन मेरा है । और धन मेरा कर्ता (रक्षक) कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व

अधिकरण है अत मै धन का हूँ। इसी प्रकार अन्यत्र भी इन छ कारको के द्वारा अनेक पदार्थों के साथ, उनको अपना बना कर व मै उनका बन कर, सम्बन्ध जोड लेता है। यही सम्बन्ध सातवा कारक है।

इस अकेले सम्बन्ध मे छ कल्पनाये आ जाती है। इसलिये जहा जहां "मेरी व उसकी" इत्यादि सम्बन्ध कारक का प्रयोग करने मे आवे वहां वहा उसे अकेला न समझ लेना। उसके अन्तर्गत बिना कहे भी उपरोक्त छ कल्पनाये जान जाना। आज लोक मै इन छ. कारको का प्रयोग इस रूप मे हम प्रति दिन करते है। परन्तु कभी विश्लेषण नही कर पाते। कि इस प्रयोग मे क्या भूल है। जैसे सुनार ने हथौडे आदि के द्वारा ग्राहक के लिये, स्वर्ण मे से, अपनी दुकान मे बैठ कर जेवर बनाया। इस वाक्य मे छहो बाते पडी है। सुनार कर्ता है। जेवर कर्म है। हथौड़ा आदि करण है। ग्राहक सम्प्रदान है। स्वर्ण अपादान है। और दुकान अधिकरण है। छहो के छहो पृथक पृथक है। किसी का किसी के साथ षट् कारकी रूप से वास्तविक सम्बन्ध नही। जैसा कि पहले स्व पर भेद विज्ञान (अध्याय नं० ३१) मे दर्शा दिया गया है। फिर भी एक दूसरे के साथ सम्बन्ध जोडता हुआ मिथ्या कल्पनाओ के आधार पर अपने को अन्य का व अन्य को अपने का बनाता हुआ, बराबर व्यग्रता उत्पन्न करता रहता हू। और मजे की बात यह कि चाहता हू शान्ति।

६ यहा कोई तेरा नहीं

यदि शान्ति चाहता है तो भाई! इस भ्रम को टाल। वास्तव मे कोई भी तेरा नही। देख इस दृष्टान्त पर विचार कर। एक अफीमची, आलसी-पडे थे-नदी. किनारे-वृक्ष के नीचे। "अरे! अब कहा जाऊ गा? चलो भूखे ही सही। रात तो बीत ही जायेगी यहो। प्रात. की प्रात. देखी जायेगी।" इतने मे एक राजा का लश्कर आया। सध्या पड रही थी। नदी के किनारे डेरे लगा दिये। आन की आन मे जगल मे मगल हो गया। "अहा हा! कितना सुन्दर नगर बस गया, कितने दयालु है प्रभु! अपने इस भक्त पर दया करके यहा ही नगर बसा दिया? वाह वाह! कितना अच्छा हुआ? अब कही भी जाना न पडेगा। बस इस नगर मे अब मौज से कटेगी।" और प्रात होने पर जब देखा कि रग ही बदल गया है। तम्बू उखडने लगे है। कूच का बिगुल बज रहा है। चारो ओर चलने चलने की उछल कूद मच रही है। तो फिर क्या था? मानो प्राण ही निकल गये। एक व्यक्ति से पूछा कि भाई! किधर जा रहे हो? "कौन हो तुम?" वह बोला. अफीमची ने कुछ निराशा भरी आवाज मे कहा, "मेरे ही लिये तो भेजा था न प्रभु ने तुम्हे।" "अरे चल चल! कौन तू और तेरा प्रभु? अपनी मर्जी से आये थे और अपनी मर्जी से जाते है। न तुझ से पूछ कर आये न तुझ से पूछ कर जाते है। तू कौन होता है हमसे बात करने वाला?" और निराशा मे डूबा रह गया बेचारा रोता का रोता।

क्या ऐसी ही दशा हमारी नही है? पुत्र उत्पन्न हुआ, "अहा हा! मेरी मुराद पूरी कर दी है प्रभु ने। मेरे नाम को जीवित रखेगा यह।" और न जाने क्या क्या? "खूब दान दो, खूब बाजे बजाओ। आज मेरा भाग्य जागा है।" और जिस दिन तम्बू उखड़ने लगे। पथिक जाने लगा तब? "अरे रे! किधर जाते हो?" "कौन हो तुम।" "मेरे लिये भेजा था न प्रभु ने तुम्हे?" "हट हट, कौन

तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्जी से आया था और अपनी मर्जी से जाता हूं। न तुझ से पूछ कर आया न तुझ से पूछ कर जाता हूँ। तू कौन होता है मुझ से बातें करने वाला ?" और निराशा में डूबे रोने लगे हैं-आप। इतने विषाद का क्या कारण है ? क्या सोचा है कभी ? क्या उस पुत्र का जाना कारण है। ऐसा मानना तेरी भूल है। पुत्र का जाना विषाद का कारण नहीं, और न ही उसका आना विषाद का कारण था। "अर्थात् जो यह न आता तो आज क्यों विषाद होता ?" ऐसा मानना ही भूल है। वास्तविकता तो यह है कि यदि तू उसके अन्दर उस समय, "मेरे लिये भेजा गया है, मेरा नाम जीवित करेगा", और इसी प्रकार अन्य षट् कारकी भूलें न करता, तो आज यह विषाद न होता। इसी प्रकार लक्ष्मी के आने और जाने के सम्बन्ध में भी समझ लेना। दृढतया यह निश्चय किये बिना, कल्पना मात्र से नहीं, बल्कि वास्तव में कोई भी पदार्थ षट् कारकी रूप से मेरा है ही नहीं, वह उपरोक्त गर्जना निकलनी असम्भव है।

७ सच्चा त्याग — और ऐसा दृढ निश्चय होने के पश्चात् समझ में आ जायेगा कल के त्याग का रहस्य। "मेरा कुछ है ही नहीं। तो किसका त्याग। किसी वस्तु का तीन काल में एक समय के लिये ग्रहण ही नहीं हुआ। किसका दान ? न कुछ त्याग न कुछ दान। केवल मिथ्या बुद्धि का त्याग, मिथ्या बुद्धि का दान।" बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है-त्याग का अभिप्राय। "मैंने विश्व के लिये दान करदी या त्याग दी", इस अभिप्राय में तो पड़ा है अभिमान। उस वस्तु का स्वामित्व। अर्थात् "मेरी थी मैंने त्याग दी।" ऐसा त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। शान्ति का मार्ग नहीं है। कुछ त्याग की नकल मात्र है।

देखो ! किसी समय मेरा एक लोटा आपके घर आया। और पड़ा रहा, वहां ही। मैं मांगना भूल गया और आप देना भूल गये। प्रयोग में लाते रहे। यह भी विश्वास हो गया कि वह आपका ही है। साल भर पश्चात् आपके घर मैं किसी कार्य वश आया। पानी मांगा। संयोग वश वही लोटा सामने आया। "भाई साहब ! क्षमा करना। क्षोभ न लाना। यह लोटा तो मेरा है। यह देखो इस पर मेरा नाम खुदा है। साल भर से भूला हुआ था।" और आपने भी नाम देख कर निश्चय कर लिया कि हां "मेरा ही है।" "क्षमा करना भाई साहब ! बड़ी भारी भूल हुई मेरी। कहे तो नया मंगा दूं। नहीं तो यही ले जाइये।" यही तो कहेंगे आप उसके उत्तर में या कुछ और ? अब इसी के सम्बन्ध में दूसरी कल्पना कीजिये। कोई भिखारी आता है आपके घर, और आप दया करके वही लोटा दे देते हैं उसे ? लोटे के त्याग की दो कल्पनायें आपके सामने हैं ? एक मुझे देने की और एक भिखारी को देने की। दोनों कल्पनाओं में ही आप देने वाले हैं। और वही लोटा दिया गया है। विचारिये कि कुछ अन्तर है दोनों त्यागों में। मुझे जो दिया, उसका तो दिया ही क्या ? आपका था ही नहीं। भिखारी को दिया, सो अपना करके देने के कारण हो गया अभिमान। "मैंने उस पर ऐहसान किया है।" यह काहे का त्याग ? पहला वस्तु स्वरूप के आधार पर है और दूसरा भ्रम व भूल के आधार पर। एक में निर्विकल्पता है, और दूसरे में अभिमान का विकल्प। एक में शान्ति है और दूसरे में अशान्ति। इसीलिये पहला त्याग सच्चा है और दूसरा त्याग झूठा।

यदि शान्ति की इच्छा है तो सच्चा त्याग कर। सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। "यहां किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है। किसको ग्रहण करूं और किस को छोड़ूं ? शान्ति ही मेरी है वही मुझे चाहिये।

अन्य कुछ मेरा नही है। वह मुझे चाहिये भी नही। अपनी स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है वही मुझे चाहिये। अन्य को परतन्त्र बनाना मेरा अधिकार नही, अत परमाणु मात्र को भी परतन्त्र बनाने की मुझे इच्छा नही। अपने मे षट् कारकी रूप से मै कुछ कर सकता हूँ, अत अपने मे ही कुछ करना चाहता हूँ। पर मे षट् कारकी रूप से कुछ कर नही सकता, अत पर मे कुछ करना भी नही चाहता।" इत्यादि यह है सच्ची गर्जना या सच्चा अभिप्राय। सच्चा आकिंचन्य धर्म।

वास्तव मे तो योगी जनो ने ही इसे जीवन मे ढाला है। 'पर आप भी अपने अभिप्राय को उपरोक्त रीति बदल कर किञ्चित् उस धर्म के उपासक बन सकते है? अर्थात् ऐसा अभिप्राय बन जाने के पश्चात् उन उन वस्तुओ मे भले रमणता करो। "पर यह मेरा अपराध है।" ऐसी बात अन्तरङ्ग मे स्वाभाविक रूप से आती रहेगी। बस वही आपका आकिंचन्य धर्म है।

४२

—: उत्तम ब्रह्मचर्य :—

दिनाक २६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७३

१—ब्रह्मचर्य का लक्षण, २—ब्रह्मचारी का लक्षण, ब्रह्मचारी मार्ग का अनुक्रम, ब्रह्मचारी के मार्ग की बारह स्थितिया, ५—पहली स्थिति के ब्रह्मचारी की सत्यार्थता ,

सच्चिदानन्द ब्रह्म मे रमणता करके पूर्ण पर ब्रह्म पद को प्राप्त, हे अनन्तो सिद्ध प्रभु ! मुझे ब्रह्मचर्य प्रदान कीजिये । गरम घी के छीटो से दाह को प्राप्त हुए व्यक्ति वत्, अनादि काल से इन विषय भोगो की दाह को प्राप्त मै, आज अत्यन्त सतप्त हो, आपकी शरण मे आया हूं । मेरा दाह शान्त कीजिये नाथ । निज शान्ति के अतिरिक्त अन्य पदार्थो मे रमण करता मै, आज तक व्यभिचारी बना रहा । ब्रह्मचारी बनने की अभिलाषा लेकर, पूर्ण ब्रह्म की शरण मे आया हूँ ।

१ ब्रह्मचर्य का लक्षण

आज ब्रह्मचर्य की बात चलती है । लोक मे भी जिसकी बहुत महिमा है । लोको की दृष्टि मे ब्रह्मचारी के लिये इतना ऊचा स्थान क्यो ? क्या केवल स्त्री मात्र का त्याग कर देने पर इसका इतना ऊ चा स्थान है ? यह तो बात कुछ गले उतरती प्रतीत नही होती, क्योकि स्त्री का त्याग करके अन्य विषयो मे खूब रमण करने वाले, न्याय अन्याय का विवेक न रखने वाले, अत्यन्त कषाय वान तथा विलासी जीवो के प्रति बहुमान उत्पन्न होता नही देखा जाता । क्यो ? क्या उसे स्त्री का त्याग नही ? और यदि है, तो क्या वह ब्रह्मचारी नही ? नही वास्तव मे ब्रह्मचारी नही है । क्योकि यदि होता तो स्वत ही उसके प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना न रहता । अत ब्रह्मचारी का लक्षण केवल स्त्री त्यागी नही है । इसका लक्षण उतना ही व्यापक है जितनी की उसकी महिमा ।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवन आत्मा को, उसमे चरण करना अर्थात् निज शान्ति मे स्थित रहने का नाम ब्रह्मचर्य है । शान्ति घातक जो सकल्प विकल्प या राग द्वेषादि है, उनमें चरण करने का नाम अब्रह्म है, व्यभिचार है, मैथुन है । या यो कहिये कि राग द्वेषादि का कारण जो पाचों इन्द्रिय सम्बन्धी विषय सामग्री उसमे चरण करना, रमण करना सो व्यभिचार है । कल आकिंचन्य धर्म की बात के अन्तर्गत यह बताया गया था, कि लोक मे मेरी शाँति के अतिरिक्त कोई भी मेरा पदार्थ नही । किसी को करने या भोगने का मुझे अधिकार नही । अतः किसी पदार्थ को इष्टानिष्ट समझ कर, करने या भोगने का प्रयत्न करना यह अपराध है, व्यभिचार है । अत' निज शाति की ओर देखने पर

तो ब्रह्म की उपासना कहो या ब्रह्मचर्य, एक ही अर्थ है । और बाह्य सामग्री की ओर देख कर, व्रत करो, त्याग कहो, दम कहो, सयम कहो, इन्द्रिय जय कहो, या ब्रह्मचारी कहो एक ही अर्थ है ? इसीलिए ब्रह्मचर्य शब्द के प्रति लोक मे इतना वहुमान है ।

२ ब्रह्मचारी का लक्षण लोक मे यद्यपि ब्रह्मचर्य की व्याख्या केवल स्त्री त्याग पर से की जाती है । पर वास्तव में ऐसा नही है । यहा स्त्री शब्द से अर्थ सम्पूर्ण भोग सामग्री से है । क्योकि, व लक्ष्मी नाम से पुकारी जाती है । अत लक्ष्मी मे रमणता का नाम व्याभिचार है । और लक्ष्मी के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य की व्याख्या कर देने के पश्चात् यह देखना है कि ब्रह्मचारी कौन है ? क्या केवल मनुष्यणी का सम्पूर्ण त्याग कर देने वाला ब्रह्मचारी, या लक्ष्मी का सम्पूर्ण त्याग कर देने वाला ब्रह्मचारी ? ऐसा नही है, ब्रह्मचारी मे पडा यह 'चारी' शब्द मार्ग का द्योतक है । अर्थात् ब्रह्मचारी कहते हैं ब्रह्म के मार्ग मे गमन करने वाले को, अर्थात् हीनाधिक रूप से लक्ष्मी के त्यागी को । पूर्ण त्यागी तो वास्तव मे चारी नही हो सकता । वह तो ब्रह्म ही हो जायेगा । पूर्णता के पश्चात् मार्ग का अन्त हो जाता है । फिर मार्गी या चारी नही कहा जा सकता । अत. पूर्ण ब्रह्म के लक्ष्य पर पहुँचने के लिये, हीनाधिक रूप से लक्ष्मी का त्याग करने वाला, अर्थात् त्याग के मार्ग पर चलने वाला ब्रह्मचारी है ।

३ ब्रह्मचारी का मार्ग अनुक्रम यदि प्रश्न करे, कि कितने त्यागी को ब्रह्मचारी कहे ? तो इसके लिये कोई सीमा नही बाधी जा सकती । जिस प्रकार कि मद्य पीने की आदत को छोडने के लिये जो प्रयास कर रहा है, उसे कब जाकर मद्य का त्याग कहे ? वास्तव मे पहले दिन ही, जब कि उसने एक घूट ही कम की थी, वह त्यागी की कोटि में आ गया था, भले लोग उसके त्याग को न जान पावे । धीरे धीरे जब मद्यशाला मे भी जाने का त्याग कर देगा, जब ही लोक जान पायेगा कि यह त्यागी है । परन्तु लोगो की दृष्टि मे आ जाना त्याग का माप दण्ड नही है । मार्ग के उपर पहला पग रखते ही व्यक्ति पथिक बन जाता है । पथ पर आगे पीछे चलने वाले व्यक्ति, भले ही लक्ष्य की निकटता व दूरता के कारण अगले व पिछले कहलाये, परन्तु ऐसा कोई नही जिसे हम पथिक न कह सके । पथिक सब है, भले आगे वाला हो कि पीछे वाला । बस इसी प्रकार यहां त्याग सम्बन्धी ब्रह्मचर्य के मार्ग में भी लागू कर लेना । जिस दिन त्याग का अभिप्राय किया, उसी दिन वह त्यागी की कोटि मे आ गया । ज्यो ज्यो त्याग करता जायेगा, आगे बढता जायेगा, अधिकाधिक उत्तम विशेषण को धारण करता जायेगा । जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त इस ब्रह्मचर्य के मार्ग मे भी, अन्य प्रकरणो मे कथित मार्ग वत् क्रम पडता है । क्रमानुसार केवल उत्तमता के विशेषण मे अन्तर पड सकता है, ब्रह्मचर्य पने मे नही । प्रथम क्षण में भी ब्रह्मचारी है, और अन्तिम क्षण मे भी ब्रह्मचारी । अभिप्राय त्याग का होना चाहिये ।

सर्वत्र अभिप्राय की मुख्यता है । त्याग के अभिप्राय रहित किसी कारण वश स्त्री व लक्ष्मी की प्राप्ति न हो सके, उसे ब्रह्मचारी नही कह सकते, और त्याग के अभिप्राय सहित स्त्री या लक्ष्मी मे रमण करता हुआ भी, ब्रह्मचारी कहा जा सकता है । स्त्री या लक्ष्मी का पूर्ण त्यागी ही ब्रह्मचारी हो, ऐसा भी नही है । अल्प त्यागी भी यथा योग्य रूप से ब्रह्मचारी है । अन्य प्रकरणो वत् यहाँ भी ब्रह्मचारी की परीक्षा त्याग पर से करनी है । ग्रहण पर से नही । ग्रहण पर से करने लगोगे तो वात गले न उतरेगी । क्योकि जब वेश्या सेवन करने वाले को ब्रह्मचारी वतलाया जायेगा तो आपको स्वभावत ही हंसी आ जायेगी, सम्भवत. कुछ क्षोभ भी, कि स्पष्ट व्यभिचार का पोपण किया जा रहा

है। धर्म की हसी उड़ाई जा रही है। परन्तु शान्त होकर सुनना भाई! अभिप्राय को पढने का प्रयत्न करना। वर्तमान क्रिया को न देख कर जितना त्याग किया है उसको देखना। त्याग का नाम ही ब्रह्मचर्य है। अंश मात्र भी रमणता का नाम ब्रह्मचर्य नही हो सकता। ग्रहण की ओर से देखिये, तो मुनि को भी ब्रह्मचारी न कह सकोगे। क्योकि आहार ग्रहण का नाम ब्रह्मचर्य नही। जितना त्याग हुआ है उतना ही ब्रह्मचर्य है। स्त्री त्याग के पश्चात् बाहर मे स्पष्ट त्याग दिखाई दे जाने पर, लोक मे ब्रह्मचारी कहा जाता है। उसमे भी त्याग को ओर देख कर ही निर्णय किया गया है? देखो एक भील ने केवल कौवे का मास खाना छोड दिया। और अन्य जन्तुओ का मांस खाता रहा। वह त्यागी की कोटि मे आ गया है। परन्तु इसका निर्णय त्याग की ओर से होगा, अन्य मास के ग्रहण की ओर से नही। चाण्डाल ने केवल चतुर्दशी को हत्या करने का त्याग किया। परन्तु अन्य दिन हत्या करता रहा। वह त्यागी की कोटि मे आ गया। परन्तु निर्णय त्याग की ओर से किया जा सकेगा। अन्य दिनों की हत्या की ओर से नही।

४ ब्रह्मचारी के मार्ग की बारह स्थितिया

(१) उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण करने के लिये त्याग का विश्लेषण करना होगा। और इस प्रयोजन के लिये, जिसका त्याग करना अभिष्ट है, ऐसे सम्पूर्ण वस्तु समूह या लक्ष्मी का विश्लेषण करना होगा। सम्पूर्ण सामग्री या लक्ष्मी को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। एक वह जिस पर कि, राज्य की व लोक की दृष्टि मे मेरा अधिकार है। अर्थात् जो मेरे स्वामित्व मे है। और दूसरी वह जिस पर राज्य व लोक की दृष्टि मे मेरा कोई अधिकार नही। अर्थात् जो दूसरो के स्वामित्व मे है। आकिंचन्य धर्म मे बताए अनुसार सम्पूर्ण सामग्री का षट् कारक रूप से त्याग करना अभिष्ट है, पर प्रथम ही क्षण में ऐसा होना असम्भव है। अतः त्याग मार्ग पर पग रखते हुए, सम्पूर्ण मे से कुछ का त्याग करना होगा। आप ही बताइये उपरोक्त दो भागो मे से पहले किस भाग का त्याग करना उचित है? अपने स्वामित्व मे रखी लक्ष्मी का कि अन्य के स्वामित्व मे रखी का? स्पष्ट है कि अन्य की लक्ष्मी का त्याग पहले होगा। परन्तु अन्य की लक्ष्मी का त्याग कैसा? वह तो पहले से ही है। सो भी बात नही है भाई! यहां उस अभिप्राय का त्याग मुख्य है, जिसके कारण कि मेरी लालायित दृष्टि उसकी ओर खिच जाती है। साक्षात् रूप से तो उसका भोग मै कर ही नही सकता। या तो चोरी कर सकता हूँ, या केवल देख कर लालसा कर सकता हूं। अत ब्रह्मचारी के प्रथम पग मे अन्य की वस्तु को चुराने का या उसे देख कर लालसा करने का त्याग हुआ। यह त्याग यद्यपि लोकों की दृष्टि में कोई महत्व नही रखता, परन्तु वास्तव मे यदि विचार करके देखा जाये तो, अपनी लक्ष्मी के त्याग की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है। क्योकि अन्य की लक्ष्मी मेरी लक्ष्मी से अनन्त गुणी है। सर्व का ही तो त्याग हो गया। रह ही कितनी गई। सम्पूर्ण के बराबर रख कर देखे तो रखी दिखाई भी न दे। इसलिये वह व्यक्ति, जिसने की अन्य कि सम्पत्ति व उनके द्वारा परिणा कर या अन्य प्रकार से लाई गई, उसके स्वामित्व मे रहने वाली स्त्रियों पर, तथा उनकी कवारी कन्याओं पर, दृष्टि पात करने का त्याग कर दिया है, वह ब्रह्मचारी है। भले ही इनके अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति व स्त्रियो में कितना भी रमण क्यों न करे। परीक्षा त्याग पर से करनी है, रमणता पर से नही।

(२) पर यहा ही तो त्याग समाप्त नहीं हो गया। शेष बची स्व लक्ष्मी उसका भी तो त्याग करना है। वह भी एक दम होना असम्भव है। अत इस स्व लक्ष्मी को भी विभाजन करके तीन कोटियो मे बांट दीजिये। एक वह स्त्री व सामग्री जो किसी ने अपनी मर्जी से मुझे दी है, अथवा मेरे

पिता से मेरे पास आई हैं, जैसे विवाहित स्त्री व पितृ धन। दूसरी वह स्त्री व धन जो बाजार से मैं मोल लाया हूँ, या अपनी भुजाओ से कमाई है। जैसे मोल लाई गई या युद्धादि मे जीत कर लाई गई दासी व स्वय उपार्जित किया हुआ धन। तीसरी वह स्त्री व सम्पत्ति जिस पर सबका समान अधिकार है। जैसे वेश्या या गली में लगा पानी का नल। कथन को संक्षिप्त बनाने के लिये आगे आगे केवल स्त्रियों के आधार पर ही कथन किया जायेगा। धन व सम्पत्ति आदि का कथन न किया जायेगा। पर अपनी ओर से स्त्रियो के साथ साथ उसका भी ग्रहण अभिप्राय मे करते रहना। मेरे स्वामित्व व अधिकार मे रहने वाली स्त्रियां तीन प्रकार की हो गई। धर्म पत्नी, दासी, व वेश्या। अब इन तीनो मे से कुछ का त्याग करना अभिष्ट है। बताओ किसका त्याग पहले करे? अवश्यमेव ही आप वेश्या का त्याग पहले करने के लिये कहेंगे, क्योंकि उस पर मेरा पूर्ण अधिकार नही है। मेरे अतिरिक्त अन्य का भी उस पर अधिकार है इसलिये। अत. हर स्त्री व कन्या के अतिरिक्त वेश्या का भी त्याग करने वाला वह व्यक्ति ब्रह्मचारी है-पहले वाले से कुछ ऊंचा। भले ही अनेको धर्म पत्नियो व दासियो के साथ रमणता हो। यहा भी त्याग पर से निर्णय कीजिये, ग्रहण पर से नही।

(३) आगे भी चुप तो नही बैठना है। शेप बची स्त्रियो का भी तो त्याग करना है? एक दम होना कठिन है। बताइये धर्म पत्नी व दासी मे से पहले किसको त्यागे? अवश्यमेव ही कहेगे कि दासी को, क्योकि उसे बिना उसकी अनुमति के मैं मोल लेकर आया था, या जीत कर लाया था अत. पर स्त्री व कन्या तथा वेश्या के अतिरिक्त दासी का त्याग कर देने वाला, ब्रह्मचारी है-दूसरे से भी कुछ ऊंचा। भले ही १८००० धर्म पत्नियो मे रमता हो। यहा भी त्याग पर से निर्णय करो ग्रहण पर से नहीं।

(४) आगे भी इन १८००० धर्म पत्नियो का त्याग करना हैं। एक दम करना कठिन है। बताइए क्या करे? स्वभावत यही कहेगे कि एक को रख कर सर्व को त्याग दे। बस तो पर स्त्री व कन्या, वेश्या, दासी के अतिरिक्त, शेष धर्म पत्नियो का त्याग कर देने वाला ब्रह्मचारी है-तीसरे से भी कुछ ऊंचा। भले ही एक धर्म पत्नी के साथ दिन मे भी रमणता हो।

(५) आगे भी। इस एक धर्म पत्नी का भी तो त्याग करना है। कैसे करे? पहले पहल दिन में रमण करने का त्याग कर दे। अत दिवा मैथुन का त्याग करने वाला भी ब्रह्मचारी है-चौथे से भी ऊंचा। भले ही रात को प्रतिदिन रमे। यहाँ भी त्याग ही मुख्य है रमणता नही।

(६) ,रात्री मैथुन का भी तो त्याग करना है। कैसे करे? पहले कुछ दिन का त्याग करे। सुविधा के लिए तथा धार्मिक क्षेत्र की अन्य दिशाओ मे सहायता लेने के लिए, पर्व के दिनों मे रात्रि मैथुन का भी त्याग करें। महीने की चार अष्टमी, चतुर्दशी की आठ रातो में, साल की तीन अष्टाह्निकाओ की २७ रातोमे, सालके तीन दशलक्षण व रत्नत्रय पर्वोकी रातोमे तथा अन्य धार्मिक अवसरो मे जैसे कि तीर्थ यात्रा आदि मे, धर्म पत्नि का भी पूर्ण त्याग करने वाला ब्रह्मचारी है, पाचवे से ऊंचा, भले अन्य रात्रियो मे सम्भोग करे।

(७) और इसी प्रकार अन्त मे सातवी श्रेणी मे आकर अन्य रात्रियो के लिए भी धर्म पत्नी का त्याग करके, वह महा भाग्य स्त्री मात्र का त्यागी ब्रह्मचारी है-छठे से ऊंचा।

(८) यद्यपि लोको की दृष्टि मे वह पूर्ण ब्रह्मचारी हो गया है, परन्तु नही। स्त्री के साथ मे लगी लक्ष्मी अभी तक चली आ रही है। अत उसके त्याग बिना, वह अभी पूर्ण ब्रह्मचारी नही कहा जा सकता। उसे भी छोडना होगा। स्त्री के साथ लक्ष्मी का भी यथा योग्य त्याग होता ही आया है। इसलिये इस सातवी श्रेणी मे लक्ष्मी का ससर्ग बहुत कम है। पर है अवश्य। इसमे भी और कमी करता है, और एक लगोटी व एक चादर के अतिरिक्त अन्य सर्व का त्याग कर देता है। वह भी ब्रह्मचारी है-सातवे से ऊचा।

(६) यहा भी रुकना नही। लगोटी व चादर का भी त्याग कर देता है, और बन जाता है नग्न साधु। वह भी ब्रह्मचारी है-आठवे से ऊ चा।

(१०) यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर अब यह पूर्ण ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, क्योकि इसके पास स्त्री है न सम्पत्ति। सर्व त्याग हो चुका है। त्यागने को और शेष नही रहा। परन्तु नही सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसके पास कुछ और भी है। वह है उसके अन्तरङ्ग विकल्प। अब तक के क्रम पूर्वक किये गये सर्व त्याग के साथ साथ, अन्तरङ्ग विकल्पो का त्याग भो बराबर होता चला आ रहा था। क्योकि जैसा कि पहले भी कई बार बताया जा चुका है, और पुन पुन. बताया जा रहा है, कि इस सवर के प्रकरण मे, अन्तर विकल्पो के प्रशमन करने का पुरुषार्थ ही मुख्यतया किया जा रहा है। उसके प्रशमन करने के लिये ही, या उसके प्रशमन के फल स्वरूप ही, यह सर्व बाह्य का त्याग है। वह न हो तो इस त्याग का कोई मूल्य नही। इसलिये बहुत अधिक विकल्प दब चुके है। पर अब भी *कुछ शेष है। इन्हे भी त्यागना है। पहले कुछ देर के लिये त्यागता है-और हो जाता है ध्यानस्थ, शान्ति* मे निमग्न, निर्विकल्प। यह भी ब्रह्मचारी है-नवे से ऊंचा, पर पूर्ण नही। क्योकि अभी भी संस्कार शेष है, जो थोडी देर पश्चात् इसमे फिर विकल्प उत्पन्न कर देगे।

(११) इन संस्कारो को भी काट कर हो जाता है पूर्ण शुद्ध, भगवान अर्हन्त। यह भी ब्रह्मचारी है-दसवे से ऊ चा। पर पूर्ण नही, क्योकि अभी भी शरीर नही त्यागा गया है।

(१२) अतः शरीर के भी त्यागने के पश्चात् बन जाते हैं पूर्ण सद्ध भगवान। निर्विकार, निराकार, चैतन्य ज्योति मात्र। अब वह ब्रह्मचारी नही बल्कि स्वय ब्रह्म है। क्योकि त्यागने को अब परमाणु मात्र भी शेष नही। मार्ग समाप्त हो चुका है। लक्ष्य पर पहुँच चुका है।

[illegible] यह है ब्रह्मचारी की स्थूल रुपमे बारह स्थितियां-एक के पीछे एक बढती हुई। पर हैं बारह [illegible] के बारह ब्रह्मचारी। और इस प्रकार पहली स्थिति मे पर स्त्री व कन्या मात्र का त्याग [illegible] करके, अनेको धर्म पत्नियो, अनेको दासी व अनेको वेश्याओ मे रमरो वाला, वह व्यक्ति भी ब्रह्मचारी की कोटि मे है। साधारणतया देखने पर भले ही वह व्यभिचारी दीख पडे, पर इसके [illegible] अभिप्राय मे त्याग का व तत्फल रूप शान्ति मे रमणता का जो भाव पडा है, उसकी अचिन्तय महिमा है। इस अभिप्राय के कारण मे ही वह ब्रह्मचारी है। यह अभिप्राय न हो तो सर्वस्व त्यागी मुनि भी ब्रह्मचारी नही। इसीलिये ब्रह्मचारी के प्रति इतना बहुमान उठता है। इस अकेले ब्रह्मचर्य मे सर्व ही अब [illegible] मार्ग [illegible] जाता है।

यद्यपि आदर्श ब्रह्मचर्य धर्म का पालन तो योगी जन ही करते है। परन्तु हम भी अपनी शक्त्यानुसार इसका पालन कर सकते है। हे शान्ति के उपासक! निज शान्ति की रक्षा के लिये, अत्यन्त तीव्र दाह को उत्पन्न करने वाले, इस स्त्री संसर्ग का कुछ परिमाण कर। पर स्त्री, वेश्या व दासी का तो सर्वथा त्याग होना चाहिये। स्व स्त्री से भी दिवा मैथुन का त्याग तो अवश्य कर। तथा पर्व के दिनो मे पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करके आगे बढने का अभ्यास कर।

जैसा कि पहले व्रतों के अन्तर्गत बताया जा चुका है, कि पथिक के मार्ग में अनेकों रुकावटें आती है व्रतों मे अनेको बार दोष लग जाते है। यहा भी उसे न भूलना चाहिये। ब्रह्मचर्य धर्म का उपरोक्त रीति से पालन करते हुए, एक साधक को बडे बडे दोष लग जाने की सम्भावना है। कषायो की विचित्रता है। हो सकता है कि संस्कारो का मारा वह साधक इतना बडा अपराध कर बैठे, कि जिसके लिए राज्य की ओर से भी बहुत बडा दण्ड भोगना पडे। अर्थात् स्त्री से ही नही, किसी छोटे लड़के के साथ व्यभिचार कर बैठे, अनङ्ग क्रीडा, अथवा हस्त क्रीडा आदि बडे से बड़ा अनर्थ कर बैठे। परन्तु फिर भी वह दोषी नही कहा जा सकता।' आश्चर्य हो रहा होगा आपको यह सुनकर, और सम्भवत. क्षोभ भी आ गया हो, परन्तु शान्ति कीजिये। आगे अतिचार सम्बन्धी प्रकरण आयेगा। उसे सुन कर आपका क्षोभ अवश्य शान्त हो जायेगा। अभिप्राय की अचिन्त्य महिमा है।

४३

—: अतिचार :—

दिनाक २७ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७४

१—धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना, २—अपराधी होने हुए भी निरपराधी, ३—अभिप्राय की प्रधानता, ४—अतिचार व अनाचार में अन्तर।

१ धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना

अरे रे ! इन सस्कारो की दुष्टता। इतना पुरुषार्थ करते हुए भी बहुत ऊंचे चढ़ जाने पर भी, जो पीछा नही छोड़ते। हे प्रभो! इनसे मेरी रक्षा कीजिये। अब तक के विस्तृत कथन मे स्थल स्थल पर ऊपर ही चढ़ने की बात बताई गई है। गिरने की बात कही भी आई नही। इसलिए ऐसा भ्रम हो सकता है कि "जो चढ़ा है सो चढा ही चढा। गिरने वाले ज्ञानी नही हो सकते। उन्हे साधक नही कह सकते," इत्यादि। परन्तु ऐसा न विचार भगवन्! ऐसे भ्रम के कारण किसी यथार्थ ज्ञानी को भी अधर्मी मान बैठेगा। स्वय भी मार्ग पर चढ़ते हुए ऐसे गिरने के अवसरो पर निराश हो जायेगा। सौभाग्य को दुर्भाग्य मे बदल डालेगा। बच, ऐसे विचारो से बच।

साधक कोई लोहे की मशीन नही है। कि एक बार चलाई तो चलती ही रहे। मशीन भी तो कोई ऐसी दिखाई नही देती, जो कभी न बिगडे। शरीर भी कोई ऐसी दिखाई नही देता जिसे रोग न आये। फिर यदि मुझमें अर्थात् जीव में ही कदाचित् कोई बिगाड़ उत्पन्न हो जाये, कोई रोग आ जाये तो कौन आश्चर्य है? वह भी तो अन्य पदार्थो की भाति एक पदार्थ है। पूर्ण हो जाने पर भले उसमें रोग न हो, पर अल्प भूमिका मे तो अल्प शक्ति वश होगे ही। अत: किसी साधक के जीवन मे कदाचित् दोष लग जाए तो उसे धुतकारना योग्य नही। जिस किस प्रकार भी उसकी सेवा करके पुन. उसे मार्ग मे स्थापित्त करना कर्तव्य है?

बडे बडो को दोष लगते देखे जाते हैं। बडे बड़ों से भूले हो जाती हैं। बड़े बड़े मार्ग से च्युत हो जाते है। अरे रे! कितने दुष्ट हैं यह सस्कार? यह सब इन्ही का तो प्राबल्य है, कि माघ नन्दी से महान आचार्य को भी कहाँ डुबोया ले जाकर? एक कुम्हार की पुत्री पर। ग्यारवे गुण स्थान पर चढ कर भी, जहां पूर्णता का स्पर्श करने मे रह जाता है केवल एक बाल मात्र का अन्तर, वह गिर जाता है-ऐसे गर्त मे, जहां से कि न जाने कितने काल तक वह निकल कर शाति के दर्शन भी न करने पायेगा। गहन अन्धकार मे, बिल्कुल उसी प्रकार विलीन हो जावेगा, जैसा कि साधना प्रारम्भ करने से पहले पड़ा था।

इन सस्कारों से प्रेरित होकर, किस समय कोई बडे से बडा साधक, क्या दोष कर बैठे कुछ पता नही। दोष भी कुछ छोटे बडे नही। बडे से बडे अपराध आ सकते है उसके जीवन मे, ऐसे कि लोक का कोई बडे से बडा अपराधी भी करने से डरता हो। पूर्व कथित सर्व व्रतो व चरित्र के भेद प्रभेदों मे दोष लगने सम्भव है। क्रोध मे आकर किसी को जान से मार बैठे, अनंग क्रीडा कर बैठे, अर्थात् किसी पुरुष लिङ्गी व्यक्ति से व्यभिचार कर बैठे। और क्या न कर बैठे ? बडे से बड़ा अपराध भी एक साधक व व्रती से किया जाना सम्भव है।

२ अपराधी होते हुए भी निरपराधी — परन्तु आश्चर्य है कि इतना कुछ हो जाने पर भी वह साधक का साधक ही रहा। व्रती का व्रती ही रहा। पूज्य व उपास्य ही रहा। आप तो कुछ विचार मे पड गये है। सो ठीक है। बाहर से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है कि ऐसा कहना पक्षपात के अतिरिक्त और कुछ नही। अनग क्रीडा करने वाला मेरा पूज्य हो, यह कैसे हो सकता है ? अब तक के कथन व चित्रण पर पानी फेरा जा रहा है। कहा तो अब तक बताया जाने वाला शान्ति का उच्च आदर्श, और कहां यह अपराधी व्यक्ति। अरे ! बिल्कुल विपरीत बात ? ऐसा सम्भव नही हो सकता। मै कभी भी ऐसे अपराधी को मस्तक नवाने को तैयार नही। गुरु की परीक्षा करते हुए तो इतनी बडी बडी डीगे मारी छोटे छोटे दोषो को भी बढ़ा चढा कर वर्णन किया। और अब बिल्कुल ही लुटिया डुबोदी ? कुछ तो विचार कर लिया होता उन बातो का ? सूक्ष्म सा दोष लगे तो बडे से बडा साधक भी गुरु नही, और पहाड़ का पहाड दोष लगे तो वह गुरू ? यह बात मेरे गले न उतरेगी।

३ अभिप्राय की प्रधानता — क्षोभ न कर भाई ! धीरज धर। शान्त होकर सुन सब समझ मे आयेगी। ऐसी कठिन बात नही है। तेरे जीवन मे से बीती हुई बात ही न समझे, ऐसा हो नही सकता। तेरी शका भी ठीक ही है। बात ही कुछ विचित्र है। यदि बाह्य प्रवृति को न देख कर अन्तरग अभिप्राय को पढने का प्रयत्न करे तो विषय स्पष्ट हो जाये। और इस सत्यता को स्वीकार करले। इस मार्ग मे बाह्य प्रवृति की इतनी मुख्यता नही है, जितनी कि अभिप्राय की। बाह्य क्रिया की इतनी प्रधानता नही है, जितनी कि अन्तरग क्रिया की। और प्रत्येक प्रकरण मे बराबर इस दिशा पर जोर दे दे कर बताया गया है। अपराध या निरपराध का निर्णय अन्तरग क्रिया से होता है, बाह्य क्रिया से नही।

आज की लौकिक न्याय शालाओ मे भी अपराध का निर्णय अभिप्राय पर से किया जाता है। बड़े से बडा अपराधी भी क्षमा कर दिया जाता है, यदि न्यायधीश यह देख ले, कि उसके हृदय मे अपने उस अपराध के प्रति ग्लानी उत्पन्न हो चुकी है। अब वह भविष्य मे उस अपराध को पुन. न करेगा।

देखिये किसी बच्चे को दो व्यक्ति पीटते है। एक उसकी माता और दूसरा मै। माता भी किसी कारण वश क्रोध के आवेश मे पीटती है, और मै भी किसी कारण वश सम्भवत क्रोध के आवेश मे पीटता हूँ। सम्भवत माता तो उसे अधिक पीटे, और मै केवल एक ही थप्पड मारू। परन्तु बच्चा फिर भी माता की गोद की ओर ही जाता है। मेरी ओर नही आता। क्या कारण है ? यही कि बच्चा पहिचानता है-माता के अभिप्राय को ? वह जानता है कि माता ने अन्तरंग से उसे द्वेष करके नही मारा है ? मारने के पश्चात् वह पछता रही थी। "हाय हाय ! कितनी क्रूर हू मै। धिक्कार है मुझे। अपने जिगर के टुकडे को इस प्रकार मारते हुए कहा चला गया था तेरा मातृत्व ? तू माता नही डायन है।" और इसी प्रकार न जाने क्या क्या भाव आ रहे थे, और जा रहे थे-उसके अन्दर मे। यह भाव

कृत्रिम नहो थे। स्वाभाविक थे। इसका नाम है पश्चाताप व आत्म ग्लानि। इसी के कारण वह मारती हुई भी नही मारती। और मेरे अन्दर पडा था द्वेष, "किसी प्रकार यह बच्चा फिर मेरे कमरे मे न आये। बडा दगई है, यह उठा वह धर। यह तोड वह फोड। मुझे नही भाता ऐसा दगई बालक।" यह थे मेरे भाव। भले एक ही थप्पड मारा हो। परन्तु मैने अन्तरग के अभिप्राय पूर्वक मारा था, और इसलिये उस पर मुझे कोई पश्चाताप न हुआ। बल्कि उस क्रिया को अच्छा- ही समझा। "चलो बला टली। बिना मारे यह मानने वाला ही न था। लातों के भूत बातो के नही मानते", यह थे मेरे भाव। कितना महान अन्तर है दोनो के भावो मे। और इसी कारण माता ने मारते हुए भी न मारा, और मैने थोड़ा मार कर भी बहुत मारा।

एक तीसरा दृष्टान्त भी सुनिये। एक व्यापारी की दुकान पर रहता है एक मुनीम। बडा ईमानदार है। सेठ साहब को पूर्ण विश्वास है-उस पर। सब रुपया पैसा व देन लेन उसके हाथ मे है। किसी समय एक विचार उठा मुनीम के हृदय मे। "यदि थोड़ा-थोडा करके रुपया उडाने लगू तो सेठ साहब को क्या पया चल सकता है? बस कर दी चोरी प्रारम्भ। पहले महीने मे सौ, और दूसरे मे तीन सौ और इसी प्रकार बढता गया। एक साल मे २० हजार रुपये उड़ा लिये। सेठ को कुछ खबर नही। हिसाब किताब बिल्कुल ठीक। किसी प्रकार भी चोरी नही पकडी जा सकती थी। परन्तु मुनीम के हृदय की गति किसी और ही दिशा मे चली जा रही थी। बाहर मे बराबर चोरी कर रहा था। और अन्तरग मे, "अरे! क्या कर रहा है तू? किसके लिये कर रहा है यह इतना बडा अपराध? कितने दिन चलेगा यह कुछ। विश्वास घात करना क्या शोभा देता है तुझे? क्या मु ह लेकर जाता है सेठ के सामने? क्या इसी का नाम मनुष्यता है? और इसी प्रकार अनेको धिक्कारे निकला करती थी—बराबर, उसके अन्तस्थल से। चोरी अवश्य करता था, पर उसके हृदय ने कभी उस धन को स्वीकार न किया। बराबर उसकी रक्षा करता रहा। पृथक ही हिसाब खोलकर बैंक में डलवा दिया। एक कोडी को भी उसने हाथ न लगाया। मानो धरोहर थी उसके पास। कुछ दिन और बीत गये—अपराधी प्रवृत्ति व इस हृदय के सघर्ष मे, और आखिर जीत हृदय की हुई। डेढ वर्ष पश्चात् लाकर रख दिया बीस का बीस हजार रुपया सेठ जी के चरणो मे। और हाथ जोड़ कर खड़ा रह गया किंकर्तव्य विमूढ सा। सेठ जी, "अपराधी हूँ। मुझ जैसा दुष्ट सम्भवत लोक में कोई दूसरा न हो। विश्वास घात किया है मैने। यह आपकी दुकान से चुराया हुआ धन है। आश्चर्य न करे। मैं ही हूँ वह चोर जिसने यह कुकर्म किया है। दण्ड दीजिए इस पापी को।"

इसी के सामने एक दूसरे चोर को भी देखिये जो उसी दुकान पर से चुरा रहा है, और खा रहा है। मस्त मानों उसके बाप की ही है यह सम्पत्ति। भले साल भर मे केवल २०० रुपये ही चुरा सका हो पर उस चोरी मे रस ले रहा है। आप ही बताओ दोनो में चोर कौन? २०,००० चुराने वाला या २०० चुराने वाला? सोच मे क्यो पड गये? हृदय की आवाज को छुपाने का प्रयत्न न कीजिए। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है कि आप समझ गये हैं-इस रहस्य को।

४ अतिचार और अनाचार में अन्तर — लीजिए अब इसको सिद्धान्त का रूप दे दीजिये, ताकि भविष्य मे शंकाये उत्पन्न करने को अवकाश न रह जाये। अपराध दो प्रकार के होते हैं। एक अभिप्राय पूर्वक किया जाने वाला, एक अभिप्राय रहित, केवल किसी सस्कार के क्षणिक उदय वश। एक अच्छा समझ कर किया जाने वाला, और एक आत्मग्लानि सहित किया जाने वाला। इन दोनो मे से पहले अपराध का

नाम है अनाचार और दूसरे का नाम है अतिचार। अनाचार मे निर्गलता होती है, "किया तो किया सही। क्या बुरा किया ? ठीक ही किया।" ऐसा भाव रहता है। और अतिचार मे उस प्रवृति को रोकने का प्रयत्न रहता है। आत्म निन्दन व ग्लानि रहती है। "यह तूने बहुत बुरा किया। तुझे ऐसा नही करना चाहिये थ। अब किया तो किया, भविष्य में तेरे द्वारा ऐसा कार्य नही होना चाहिये।" ऐसा भाव रहता है। और इसलिए अनाचार तुच्छ मात्र होते हुए भी बहुत बडा अपराध है। और अतिचार पवत सराखा होते हुए भी अपराध की कोटि मे ही नही।

अभिप्राय की महिमा अपार है। बाहर मे अपराध न करने पर भी अभिप्राय मे करने की बुद्धि होते ही अपराधी है। और अभिप्राय मे न होते हुए स्पष्ट अपराध करता हुआ भी निरपराधी है। धर्मी जीव के जीवन मे लगने वाले अपराध अतिचार रूप होते है। अनाचार रूप नही। परन्तु बराबर बाहर से आप लोगो की धुत्कारे पड़ती रहे, उसे सान्त्वना देने का प्रयत्न न किया जाये तो हो सकता है वह अतिचार अनाचार मे परिवर्तित हो जाये। वह सोचने लगे कि "लोक मे तो निन्दा हो ही चुकी है। कोई तेरे साथ सहानुभूति करने वाला दिखाई देता नही। अत अपराध करने से क्यो घबराता है। जब अपराधी ही बन गया, तो दिल खोल कर कर" इत्यादि। और इस प्रकार कल्याण के पात्र को आप ढकेल दे अकल्याण के गर्त मे। कितना बडा अनर्थ होगा ? अत भाई ! गाठ बाध ले इस बात को कि कभी किसी का दोष देख कर घृणा न करेगा। प्रेम पूर्वक समझा बूझा उसका दोष टलवाने का प्रयत्न करेगा। और वह यदि न भी माने तो भी उससे द्वेष न करेगा। माध्यस्थता ही करेगा।

बाह्य के अपराधो को न देख कर अभिप्राय को पढना सीखो। अभिप्राय की रक्षा करो। प्रवृति मे से दोष धीरे-धीरे स्वत टल जायेगे। अभिप्राय न बदल कर प्रवृति मे से दोष टालना चाहोगे तो भले कुछ दिन रुके रहे। पूरी आयु पर्यन्त रुके रहे। पर अगले भव मे सही। एक रोज तो अवश्य जाग्रत होकर रहेगे। अभिप्राय मूल है, और प्रवृत्ति उसकी शाखा। मूल का आघात करना ही बुद्धिमानी है केवल शाखा को काटने से कुछ न होगा। इस गृहस्थ अवस्था मे भी भले अपराध प्रवृति मे से न टले, पर अभिप्राय मे से निरंगलता व स्वछन्दता टल सकती है। यह महान कार्य है। इसे अवश्य कर डालो। अवसर मिला है इससे मत चूको।

—: परिषह जय व अनुप्रेक्षा :—

दिनाक २८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन न० ७५

१—तप व परिषह मे अन्तर, २—परिषह जय का लक्षण, ३—परिषहों के भेदादि, ४—अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढग, ५—कल्पनाओं का महात्म्य, ६—क्रम से १२ भावनायें।

१ तप व परिषह में अन्तर

एक क्षण की भी शान्ति का विरह सहने मे असमर्थ है योगीराज ! आश्चर्य है कि इतने सामर्थ्य हीन को भी पराक्रमी बताया जा रहा है। वीर बताया जा रहा है। ठीक ही तो है। यही तो है महिमा आपकी। शान्ति के व्यापारी जो ठहरे। धन का व्यापारी धन का विरह सहने मे असमर्थ होते हुए भी, उसके उपार्जन मे आई अनेको बाधाओ को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता है। एक रण कुशल क्षत्रिय, क्षत्रित्व का अपमान सहने मे असमर्थ होते हुए भी, उसको रक्षा के लिए बड़े-बड़े प्रहारो को फूलो की चोट के समान भी नही गिनता। इस प्रकार आप भी अपनी सम्पत्ति व गौरव जो शान्ति, उसमे बाधा सहने मे असमर्थ होते हुए भी, उसकी रक्षा के अर्थ लौकिक बाधाओं के बडे-बड़े प्रहारो को तृण सम भी नही गिनते। तीन लोक को सम्पूर्ण बाधाये एकत्रित होकर चली आयें आपकी शान्ति को छीनने, तो भी आप उसका पल्ला नही छोडते। धन्य है आपका बल धन्य है आपका पराक्रम। आप वास्तविक क्षत्रिय है, वास्तविक वीर हैं, वास्तविक व्यापारी हैं, वास्तविक रण कुशल योद्धा है।

तप प्रकरण के अन्तर्गत भी आपका अतुल पराक्रम इस बावदूक ने कुछ अपने मुख से बताने का दु साहस किया है, और यहा पुन. उससे चुप नही रहा जा रहा है। क्या करे अन्त करण मे बैठी आपको भक्ति जो वाचाल कर रही है। आज परिषह जय की बात चलती है। परिषह का अर्थ है-"परि" अर्थात् चारो ओर से सम्पूर्ण उत्साह के साथ 'षह' अर्थात बाधाओ को सहना। तप मे भी बाधाओ को सहने की बात कही गई है, और यहा भी कही जा रही है। पुनरुक्ति व पिष्ट पेषण सा दिखाई देता है। परन्तु ऐसा नही है। तप व परिषह मे अन्तर है। तप मे जान बूझ कर योगी बाधाओ व कष्टो को निमन्त्रित करता था। और यहा है उन बाधाओ को बात, जो मनुष्य व तिर्यच व प्रकृति आदि के द्वारा स्वत.एव बिना बुलाये आ पडे।

२ परिषह जय का लक्षण

तपश्चरण के प्रभाव से शक्ति मे अतुल वृद्धि हो जाने पर, आज वह इतना समर्थ है कि, तीन लोक की बाधाये व पीडायें भी सिमट कर युगपत उस योगी पर आक्रमण करें

तो उसे अपने स्वभाव से विचलित करने मे समर्थ न हो सके। इसका नाम है परिषह जय। बाधाये आने पर शान्ति को खो बैठने तथा विष की घूट पीने वत् जबरदस्ती उन पीडाओ को सहने का नाम, परिषह जय नही है। वह तो जय की बजाय हार कही जाने योग्य है। अपनी सम्पत्ति को हारा तो हारा। और उसकी रक्षा मे जीता तो जीता। बाधाओ को जिस किस प्रकार सह लेने का नाम जीतना नही। और इसलिये परिषह जीतने मे भी योगी को कष्ट होता नही। भले बाहर मे देखने वालो को वह पीड़ित भासे। परन्तु अन्तरंग मे वह शान्ति रस का ही पान किया करते है? कौन करे महिमा उनके पराक्रम की? शत्रु के आने पर चुपके से अपनी सम्पत्ति उसे सौप दे, तो योद्धा काहे का? इसी प्रकार बाधाओ से घबरा कर शान्ति को चुपके मे छोड़ दे, तो पराक्रमी कैसा?

३ परिषह के भेदादि

इस बात की क्या गिनती, कि कितनी प्रकार की बाधाये उस योगी पर आ सकती है? असख्यात हो सकती है? पर जिसके पास वस्त्र भी नही, दिशाये ही जिसका वस्त्र है, रहने को जिसके पास घर नही, आकाश ही जिसका घर है, रक्षा करने को सेवक व सेना नही, शान्ति ही जिसका सेवक व सेना है, उस बनवासी पर कितनी बाधाये स्वय कदाचित् आ सकनी सम्भव है। इसका अनुमान कौन लगाये? कुछ बाधाये तो ऐसी ही जिनसे कि प्रतिदिन ही सामना करना पडता है-उन्हे। और कुछ ऐसी भी हो सकती है कि, जिनसे कदाचित् कदाचित् भेट हो जानी सम्भव है। कुछ शारीरिक भी हो सकती है और कुछ मानसिक भी। इन सर्व मे से मुख्य बाईस बाधाये कथनीय है।

१—क्षुधा, २—तृषा, ३—गर्मी, ४—सर्दी, ५—डास, मच्छर, मक्खी व बिच्छू आदि की, ६ उपवासो से शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी ककरीली व कटक पूर्ण धरती पर बराबर विहार करने की, ७ एकासन पर बहुत देर तक बैठने की, या एक कर्वट पर ही लेट कर सारी रात बिताने की, ८ - किसी मनुष्य व तिर्यंच पशु आदि के द्वारा पीडित किये जाने की, ९ —रोग की, १०—काँटा ककर आदि चुभने की, ११—शरीर मे पसेव आदि झरने पर इसके मलीन व दुर्गन्धित हो जाने की। यह ग्यारह जाति की बाधाये तो ऐसा ही जिनका सम्बन्ध शरीर से है? स्वयमेव कोई ऐसी बाधा का कारण उपस्थित होने पर वह अपनी शान्ति से विचलित नही होते। उनसे बचने का प्रयत्न न करके, किन्ही विचार विशेषो के बल पर उन्हे दबा देते है। और इस प्रकार बड़े से बड़ी पीडा को न गिनते हुए, बराबर निश्चल बने रहते है?

१—नग्नता के कारण लज्जा, २—पूर्व मे अनुभव किये गये भोगादि का स्मरण, ३—एकान्त मे किसी सुन्दर व लावण्य मे डूबी स्त्री के द्वारा किया गया हाव भाव विभ्रम व विलास, ४—भयानक पशुओ की गर्जना से पूर्ण शमशान आदि भयानक स्थानो मे अकेले बैठे रहना, ५—किसी के मुख से निकले गाली व निन्दा के शब्द, ६—लम्बे लम्बे उपवासो से क्षुधा की अग्नि मे जलते हुए, अन्तरग मे कदाचित् प्रगट हो जाने वाला याचना का या दीनता का भाव। ७—अनन्त गुण भण्डार होते हुए भी यथा योग्य रूप मे सत्कार का न मिलना, ८—भोजन की इच्छा होते हुए भी भोजन के सयोग मे बाधा पड जाना, ९—बहुत ज्ञानी होते हुए भी अन्य द्वारा ज्ञानी स्वीकार न किया जाना, १०—कठिन तपश्चरण करते हुए भी कोई चमत्कारादि शक्ति का न मिलना, ११—तथा कदाचित् इन सब बाधाओ के कारण श्रद्धान मे हल चल न आने देना। यह ग्यारह प्रकार की है वह बाधाये, जिनका सम्बन्ध मानसिक

विचारो से है। यद्यपि शरीर को इन वाधाओ से कोई बाधा नही होती, परन्तु ऐसे अवसरों पर अन्तरग मे कितनी तडपन हो जाया करती है, सो सम्भवत शारीरिक पीडा से कई गुणी अधिक होती है ? इन वाधाओ व मानसिक पीडाओ को भी वह योगी, अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ, किन्ही विचार विशेषो के बल से दवा देता है।

अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढङ्ग

अब प्रश्न यह होता है कि वह विचार विशेष क्या है, और उनमे कौन सामर्थ्य है, जिसके कारण कि बाहर मे रक्षा का उपाय किये बिना भी, वह इतनी बडी पीडाओ को, जिसे सुनकर भी कलेजा हिल जाता है, जिसके अनुमान से भी जगत काप उठता है, जीत लेता है ? वास्तव मे ऐसी ही बात है भाई ! इसमे आश्चर्य को अवकाश नही, क्योकि विचारणाओ का बल प्रतिदिन हमारे भी अनुभव मे आ रहा है। पुत्र वियोग हो जाने पर, मित्र के द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर, कुछ विचार विशेष ही तो होते है, जो मेरे अन्तर दाह को कुछ शीतलता पहुँचाते प्रतीत होते है। जल्दी ही अच्छे हो जाओगे। विश्वास करो डाक्टर के ऐसा कहे जाने पर, कोई विचार विशेष ही तो होते है,जो कुछ सान्त्वना सी देते प्रतीत होते है। विचारणाओमे अतुल बल है। और फिर अलौकिक जनों की तो विचारणाये भी अलौकिक है। उनका आधार कल्पनाये नही वस्तु स्वभाव है। इसीलिये उनमे बाधा दीखनी ही असम्भव है। वह स्वय साकार होकर उसके सामने आ खडी होती है, और वह उनके दर्शन मे खो जाता है, कौन जाने उन वाधाओ को, कौन वेदन करे उनसे उत्पन्न हुई पीड़ाओ को ?

इस प्रकार की विचारणाये तो अनेको हो सकती है। फिर भी समझाने के लिए उनको बारह कोटियो मे विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि वस्तु में और भी अनेको बाते हैं। जिनके सम्बन्ध मे विचार उठाये जा सकते है, परन्तु उन सब का समावेश यथा योग्य रीति से इन बारह मे ही कर लेना चाहिये। अब उन बारह विचारणाओ का कथन चलेगा। इनको वारह वैराग्य भावनायें भी कहते है, क्योकि इनको विचारने से अन्तरग विरागता मे एक दम कुछ ज्वार सा आ जाता है। इन विचारणाओ को आगम मे अनुप्रेक्षा नाम से भी कहा गया है। क्योकि इनका एक बार ही विचार कर लेना पर्याप्त हो, ऐसा नही है। एक ही भावना प्रयोजन वश पुन पुन न जाने कितनी बार बराबर भाई जाती रहे। अनुप्रेक्षा का अर्थ है पुन पुन. चिन्तवन करना। और इसलिये उनका नाम अनुप्रेक्षा कहना युक्त है।

यहा इतनी बात अवश्य जान लेने योग्य है कि, जिस प्रकार वैद्य के घर में अनेक औषधिया है, पर सभी रोगियो को सभी औषधिया दी जायें, ऐसा नही होता। बल्कि जो जो उस उस को योग्य व अनुकूल पड़ने वाली हो, वही औषधि विशेष दी जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक वाधा के आने पर बारह की बारह या कोई सी भी एक भावना भानी आवश्यक हो, सो बात नही है। बल्कि उस उस अवसर पर जो जो भानी योग्य हो वह वह भानी ही उपयुक्त है। हो सकता है कि किसी वाधा मे बारह की बारह की भी आवश्यकता पड जाये। कोई नियम नही किया जा सकता।

इनके अतिरिक्त इन भावनाओ सम्बन्धी कवि रचित पाठो के पढने का नाम भी अनुप्रेक्षा नही है। क्योकि पाठ पढने मे कोई लाभ नही है। लाभ है मन को केन्द्रित करके उसे अमुक चिन्तन मे रमाने मे। इनमे तो बुद्धि पूर्वक ही, तत्सम्बन्धी दृष्टान्तो को याद कर करके, तथा अपने जीवन मे

या अन्य के जीवन मे पहले अनुभव की गई या देखी गई, उसी जाति की घटनाओ को याद कर करके, तथा उन उन अवसरो पर अपने मे प्रगटे या अन्य के साहस को ध्यान मे ला लाकर, यथा योग्य रूप मे स्वत. अन्तरङ्ग मे विचार उठा उठा कर, पुन पुन उसके चिन्तवन मे निमग्न हो जाना ही कार्य-कारी है। ऐसी विचारणाओ से ही बाधाये जीती जा सकती है। पाठ पढने से नही। वह तो रूढि मात्र है ?

इन सर्व विचारणाओ मे केवल शान्ति की रक्षा का ही अभिप्राय रहना चाहिये। उन विचारणाओं को इष्ट समझे तो भूल होगी। क्योकि वह स्वय विकल्प है और विकल्प अशान्ति के कारण होते हैं। उन्हे त्यागने का प्रयोजन लेकर आगे बढा हूँ। उनको इष्ट समझने लगू ं तो कभी भी उनको त्याग न सकूंगा, उन्हे न त्यागने पर पूर्ण शान्ति कैसे प्राप्त करूगा ? उल्टा नीचे गिर जाऊगा। जैसे रोग के प्रशमनार्थ भले वर्तमान मे औषधि का प्रयोग करना रोगी प्रारम्भ कर दे, पर सदा उसे सेवन करते रहने का अभिप्राय रख कर नही करता। रोग शमन हो जाने पर तुरत छोड देता है। और स्वास्थ्य का भोग करने लगता है। यदि फिर भी बराबर सेवन करता ही चला जाये तो उल्टा अधिक बीमार हो जाये। रोगीली अवस्था मे ही औषधि उपकारी है, परन्तु स्वस्थ अवस्था मे वही अपकारी तथा विष है ? इसी प्रकार सर पर आ पडी पीडा के प्रशमनार्थ, वर्तमान मे भावनाओ का चिन्तवन करना योगी भले प्रारम्भ कर दे, पर सदा उसे भाते रहने का अभिप्राय रख कर नही करता। बाधा व पीडा टल जाने पर तुरत उस विकल्प को छोड देता है, और पुन उस शान्ति का भोग करने लगता है ? यदि फिर भी बराबर भाता ही चला जाये तो उन विकल्पो के कारण और अधिक अशान्त हो जाये। बाधाओ की तीव्र व असह्य पीडा के आ जाने पर, मन को वैराग्य के विकल्पो मे उलझाना उस अवस्था मे ही उपकारी है, परन्तु बाधा टल जाने पर भी विकल्पो मे भटका रहे, तब तक योगी मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। शान्ति की पूर्णता नही कर सकता।

उसमे उठने वाली भावनाओ का यह विकल्प इसलिए बताया जा रहा है, कि उसमे अभी तक भी ऐसा सस्कार विद्यमान है, कि जिसके कारण उसे बाधा बाधा दिखाई देती है, जिसके कारण कि बाधा आने पर उसे पीडा का वेदन होने लगता है, जिनके कारण कि उसे अपनी शान्ति के घात का भय है। यदि सस्कार टूट गया होता, तो क्या आवश्यकता थी इस भय की, और क्या आवश्यकता थी उससे अपनी रक्षा करने की ? क्योकि वह चैतन्य, निराकार, पर ब्रह्म। शान्ति उसका सर्वस्व, व स्वभाव, जिसका तीन काल में भी उससे विच्छेद होना असम्भव। बाहर की बाधाये बेचारो उसे किंचित् भी स्पर्श करने मे असमर्थ। फिर क्यो भाये उन भावनाओ को ? शान्ति मे स्थित है। बस उसी के भोग मे स्थित रहा करे। परन्तु ऐसा नही होता। कहना आसान है पर करना बहुत कठिन।

अभी भी, यद्यपि बल बढ चुका है, परन्तु शक्ति मे कुछ कमी है। जिसके कारण यद्यपि छोटी मोटी बाधाओ की तो उसे खबर भी नही लगती, पर बड़ी भयानक बाधाओ के आ जाने पर, अवश्यमेव ही उसे पीडा का वेदन होने लगता है। और उसकी शान्ति व साम्यता उसके हाथ से निकल कर मानो भागती प्रतीत होती है।

ऐसे अवसरों पर जिस किस प्रकार भी उस शान्ति की रक्षा करने मे तत्पर योगी, किन्ही

वैराग्य प्रवर्तक विकल्पो को, उतने समय के लिये जान बूझ कर उठाता है, जितने समय के लिये कि वह पीड़ा शान्त न हो जाये। आगे उन्ही विकल्पो सम्बन्धी कुछ चित्रण खेंच कर बताने का प्रयत्न करूंगा।

दिनाक २६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७९

५ कल्पनाओं का महात्म्य

अहो! त्रिलोक विजयी गुरुदेव की महिमा व उनका पराक्रम। तीन लोक की बडी से बडी बाधा भी जिनकी निश्चलता को भग करने मे समर्थ नही। रत्नो के प्रकाश मे व मखमल के कोमल गद्दो पर पला वह सुकुमार शरीरी एक दिन तपस्वी होगा, क्या स्वप्न मे भी कोई विचार सकता था? सूर्य प्रकाश में आने पर जिसकी आखो से पानी बह निकले, गद्दे के अन्दर कही भूला भटका पडा एक बिनौले का दाना भी जिसे सहन न हो सका, राजा को परोसे गये उत्तम भोजन मे से भी जो चुन चुन कर अपने योग्य उत्तम चावल खाये। ओह! आज वह चला जा रहा है कंकरीली भूमि पर, सूर्य के ताप मे, नग्न रूप धारे। ककरो के चुभ जाने के कारण उसके पावो लहूलुहान हो चुके है, इसका भी जिसे भान नही। और अरे विधाना! यह क्या दृश्य? मेरा कलेजा दहल गया है जिसको देख कर। हृदय रो रहा है चीख चीख कर। जिह्वा थक गई है रक्षा रक्षा पुकार कर। आज एक गीदडी खा रही है धीरे धीरे उस जावित सुकमाल का एक घण्टे दो घण्टे की बात नही, बराबर तीन दिन हो गये है आज उसे खाते खाते। सुकमाल जीवित है पर, पूर्व वत् निश्चल शान्ति की उपासन मे, पूर्व वत् ध्यानस्थ वैराग्य मुद्रा मे। यह है एक योगी का पराक्रम। कौन दे रहा है उसे बल इतनी बड़ी पीडा पर विजय पाने के लिए?

आश्चर्य मत कर जिज्ञासु! उसे वह बल कोई दूसरा नही दे रहा है। स्वय उसका अन्तष्करण दे रहा है। वह बल उसी के पास है-अन्यत्र नही। तेरे पास भी वह है, इसी समय है। परन्तु खेद है कि तू उसे जानता नही। यदि जान जाये तो इसी अल्प गृहस्थ अवस्था मे अपने योग्य अनेक बाधाओ को तृणवत् उल्लघ जाये। क्यो? सोच मे पड गया? परन्तु सोच की क्या बात है भाई! देख वह बल है तेरी अपनी कल्पनाये। कल्पनाओ के आधार पर ही तू दु:खी है। और कल्पनाओ के आधार पर ही सुखी हो सकता है। कल्पनाओं के आधार पर ही वह योगी इतनी बड़ी पीड़ा को जीत गया, और कल्पनाओ के आधार पर ही तू इस समय गृहस्थ सम्बन्धी चिन्ताओ को जीत सकता है। परन्तु वह कल्पना साधारण व मात्र कल्पनाये ही नही है। उनके पीछे छिपा है तेरा वास्तविक स्वरूप, परम सत्य। दु:खों की आधार भी कल्पनाये है। परन्तु उनके पीछे है शून्य, अर्थात् वह है केवल कल्पनाये-बिल्कुल निराधार।

वर्तमान की राग द्वेष जनक व बाह्य पदार्थो मे इष्टानिष्टता जनक इन कल्पनाओ को बताने की आवश्यकता नही - क्योकि वे तेरी चिर परिचित। नित्य अनुभव में आ रही है। वे विशेष कल्पनायें जानने योग्य हैं, जिनका आधार कि वस्तु स्वरूप है। ले सुन।

६ क्रम से बारह भावनायें (१) क्या सोच रहा है चेतन ! क्यो हो रहा है व्याकुल ? क्या भूल गया है अपना रूप ? सत् चित व आनन्द। तू तो सत् है। शाश्वत है। कौन शक्ति है जो तेरा विनाश कर सके ? इन तुच्छ सी पीडाओं से ही घबरा गया है ? याद कर कितनी-कितनी सही हैं, इस से पहले ? कितनी बार मारा गया है, खण्ड-खण्ड किया गया है तू ? पर आज यह 'मैं' कहने वाला तू कैसे जीता जागता स्वय अपने को देख रहा है ? जान रहा है और वेदन कर रहा है ? ओह अब समझा। तेरी दृष्टि क्यो पुन-पुन: इस मांस के पिंड पर जा रही है ? क्या भूल गया है इसके स्वभाव को ? कितनी बार धोखा दे चुका है यह तुझे ? अब भी विश्वास नही आया इसकी कृतघ्नता पर ? अरे भोले ! इसका तो स्वभाव ही है आकर जाना। क्या आज तक निभाया है इसने तेरा साथ ? इसका तो स्वभाव ही है विनश जाना। क्यो व्याकुल होता है इसके पीछे ? भेदा जाता है तो भेदा जाओ। जाने दो इसे, तुझे क्या ? जाने वाला तो जायेगा ही। तू तो नही जा रहा है कही ? बस उसे ही क्यो नही देखता ? यह खण्डित होता है तो होने दे। इसका स्वभाव ही खण्डित होने का है, तू तो खण्डित नही होता। फिर क्यो रोता है ? इस पुतले को वात तो जाने दे, तथा यह जो लोक मे इतना वडा पसारा दिखाई दे रहा है, उस मे से ही वता, कौन सी वस्तु है जो सदा ज्यो की त्यो रही हो ? आज कुछ रूप है तो कल कुछ और। सारा जगत ही तो परिवर्तन शील है। परिवर्तन करना इसका स्वभाव है। करता रहने दे परिवर्तन इसे। वदलने दे अपने रूप इसे जितने चाहे। तुझे तो कुछ नही कहते बेचारे। उन पर से दृष्टि हटा। इधर देख। अपने शाश्वत व ध्रुव रूप की ओर। यह सब कुछ तो अध्रुव है, अनित्य है, इससे काहे का प्रेम ? इसके लिए काहे की चिन्ता ?

(२) अरे चेतन ! क्या मूर्ख हो गया है ? पीडा मे उलझ कर बुद्धि खो बैठा है ? प्रभु होकर भीख मागते क्या लाज नही आती तुझे ? भीख भी किनसे मागता है इन रको से ? जो स्वय भिखारी है। किनका आश्रय खोजता है ? जो स्वय निराश्रित है ? किनसे रक्षा की पुकार करता है ? जो स्वय अरक्षित है ? क्या शरीर कर सकता है तेरी सहायता ? तू तो चेतन, यह बेचारे जड़। क्या देगे तुझे ? और फिर देख जरा आख तो मीच। ले अब खोल कर देख ले। कहा गया वह इतनी सी देर मे ? स्वय अपनी रक्षा भी तो नही कर सकता बेचारा ? रुपया करेगा तेरी रक्षा या करेगी तेरी सेना ? या यह दुर्ग ? या देव दानव ? या यह मन्त्र विद्या ? वता तो सही किसके प्रति है तेरा लक्ष्य ? इन मे से कौन ऐसा दीखता है जो अगले ही क्षण मे न वदल जाये। मृत्यु का ग्रास न बन जाये ? यह बेचारे रक क्या करेगे तेरी सहायता ? इधर आ। देख अपने प्रभुत्व को ओर। जो त्रिकाली सत् हैं। शाश्वत है। ध्रुव हैं। सदा से है और सदा रहेगा विनाश ही नही है इसका, फिर रक्षा किसके लिये चाहिये ? स्वय रक्षित को रक्षा की क्या आवश्यकता ? यह स्वय शरण भूत है। "अन्य किसकी शरण" ?

(३) किधर भटक रहा है चेतन ! किसकी ओर खिचा जा रहा है तू ? रुपये की ओर ? या इन माता-पिता की ओर ? या इस पुत्र व स्त्री की ओर ? इनकी ओर नही तो फिर किसकी ओर ? अरेरे। जाना। इन दोनो की ओर ? चक्रवर्तियों की ओर ? इनमे नवीनता दिखाई देती है तुझे ? भोले प्राणी ! क्या लोक हसी का भी भय नही रहा तुझे ? वमन को चाटते ग्लानि नही आती ? पीछे

मुड कर तो देख जरा। कितनी बार बनाया है तूने-इनको अपना। कितनी बार भोगा है तूने-इन्हे ? अब भी नवीनता रह गई है-कुछ। अनेकों बार ग्रहण कर करके छोड़ा, वमन कर करके चाटा। अब क्या आकर्षण रह गया है इनमे ? क्या कहा ? यह स्थान रहने को अच्छा है ? अरे ! कैसी बात करता है ? मानो कुछ जानता ही नही। बता तो सही कि आकाश का कौन सा प्रदेश छोड़ा है, जहा तू अनन्तों बार जा-जा कर न रहा हो ? कौन सा है नवीन स्थान तेरे लिये ? इधर आ प्रभु, इधर आ। देख कितना सुन्दर है यह रूप ? पूर्ण शान्त। ज्ञान व आनन्द का पिंड। एक बार भी जिसकी ओर नही देखा है आज तक। यह है तेरे लिये बिल्कुल नवीन। भोगना ही है तो इसे भोग। नित्य नया-नया करके भोग। पुन. पुन. भोग। सर्वदा भोग। सर्वत्र भोग। सर्वत' भोग। इसमे बसा है तेरा 'नया संसार'।

(४) क्या विचार रहा है भोले चेतन ! किन मे खोज रहा है अपना पन ? किन को कहता है तू मेरा ? क्या मिलेगा इस प्रकार तुझे ? पडोसी के धन को तू भले अपना कह कर अपना चित्त प्रसन्न कर ले, पर इस प्रकार क्या वह तेरा बन जायेगा ? नाहक खिन्न होगा, जबकि वह साफ इकार कर देगा तुझे जैसा कि आकिंचन्य धर्म के अन्तर्गत पोतती के दृष्टान्त मे बताया गया है। (देखो अधिकार नं० ४१ प्रकरण नं० ६) सर्व ही पदार्थ अपनी मर्जी से आते हैं, अपनी मर्जी से जाते हैं, न तुझ से पूछ कर आते हैं, न तुझ से पूछ कर जाते है। तू कौन होता है उनका ? वह कौन होते है तेरे ? तनिक तो बुद्धि लगा। रेल मे बैठे अपने साथ वाले यात्रियो को भले मामा, चाचा, ताऊ कहकर पुकार, पर इससे क्या वह तेरे मामा आदि बन जाए गे ? मेरा-मेरा करके व्यर्थ चिन्ताओ को बुला रहा है। वह तुझे अपनायें या न अपनाये पर चिन्तायें अवश्य तुझे अपना लेगी। चन्द्रमा के प्रति इच्छा करेगा तो बता रोने के अतिरिक्त क्या लगेगा तेरे हाथ ? अन होनी बात हुई है कभी ? असम्भव सम्भव बन सकता है कभी ? क्या कहा ? यह पुत्रादि तो मेरे है ही ? यह शरीर तो मेरा है ही। मेरी सेवा करेगे। मेरे साथ घुला मिला पड़ा है। कहा जा सकते है मेरी बिना आज्ञा के ? अरे भूले राही ! कहां से आ रहा है तू, कहां जाने का विचार है तेरा, कितनी देर के लिये आया है यहा ? जरा बता तो सही ? कौन है तू विचार तो सही ? कहा से आ रहे है यह कहा जा रहे हैं यह ? कितनी देर के लिये आए हैं यहां ? जरा इनसे पूछ तो लेता-इन्हे अपना बनाने से पहले। ठग न हो कहीं। लूट न ले जाये तेरी शांति को-तेरे अतिथि बनकर ? क्या पहिचाना नही इनको ? अरे भोले ! यह वही तो है, जो न जाने कितनी बार टकराये तुझे-इसी लम्बी यात्रा मे। हर बार नया रूप धारण कर करके सदा तेरे बन कर आये और अन्य के बनकर चले गये, और तू रह गया रोता का रोता ? अब तक नही समझा इन ठगों की ठगी। ज्ञानी जीवों की शरण मे आया है। प्रकाश पा रहा है। अब तो देख ले आख खोलकर। स्वप्न छोड़ दे भाई ! यह सब पराये है। 'पृथक-पृथक' अपना स्वार्थ लिये फिरते हैं।

(५) इधर आ तू भी अपनी पृथकता को देख। इनकी भांति तू भी तो पृथक ही है। सत्ता धारी भगवान आत्मन् ! क्यो सशय करता है ? अपनी स्वतन्त्रता सत्ता को क्यो नही देखता ? इन बेचारे रकों से क्या मांगता है-अपनी प्रभुता की भीख ? अब छोड इनका आश्रय। देख इस ओर अपने स्वतन्त्र एश्वर्य को। देख अपने पुराने इतिहास को। सुन अपनी कहानी। अनादि काल से तू अकेला ही तो चला आ रहा है। माना कि मार्ग मे अनेको मिले, पर सभी तो बिछुडे। एक ने भी तो साथ न दिया। अकेला

ही था अकेला ही रहा। अकेले ही ने सब सुख दु ख भोगे। बता तो सही कि इस स्वार्थ टोली ने कभी बटाये है तेरे दु ख ? फिर अब क्यो अपना सुख बाटने की चिन्ता मे है। सर्प को दूध पिलायेगा तो दु ख उठाएगा। अकेले ठोकरे खाई है, अब अकेले ही अपने वैभव को भोग। क्यो लुटाता है इसे-इनके लिये ? अपनी शान्ति का तू ही अकेला स्वामी है। तू ही अकेला उसे भोगेगा। कोई उसे तुझसे छीन नही सकता। बंटवा नही सकता अब आकाश पुष्प को तोडने की व्यग्रता छोड जगत के अन्य पथिको को अपनाने की बजाय अकेले अपने को अपना ले। तेरी सब व्यथाये शान्त हो जायेगी। फिर तू जान पायेगा कि किसको हो रही है पीडा ? किसको खा रही है गीदड़ी। इस पडोसी को या तुझे ? पडोसी को खाने दे तुझे क्या ? तू तो सुरक्षित है ना ? यह रहा तू तो अकेला यहा बैठा सब कुछ इस खेल को देखने वाला। खेल मात्र को देखकर दु खी क्यो होता है। अग्नि देखने से क्या तेरी आँख जल जायेगी ? बस तो इस शरीर को खाया जाता देखकर क्या तू खाया जायेगा ? व्यथा को भूल, इधर देख अपने वैभव पर जिसके साथ 'अकेला' तू एकमेक हुआ पड़ा है। जहा अन्य किसी का प्रवेश नही।

(६) अरे ! किसके पीछे व्याकुल बनता है ? यदि किसी दूसरे को ही अपनाना था, कोई अच्छी चीज़ तो छाटता ? यहाँ तो अनेको भरी पड़ी है। क्या यह दुर्गन्धित और घिनावनी वस्तु ही अच्छी लगी तुझे-इन सब मे से ? अरे प्रभु ! अपनी प्रभुता को इतना भूल गया है ? इतना गिर गया है ? यह अनुमान भी नही किया जा सकता था। तनिक तो लाज कर। कहा तू तीन लोक का अधिपति, सुन्दर व स्वच्छ, और कहा यह विष्ठा का घड़ा। रोम रोम से बह रहा है दुर्गन्धि के सिवा और क्या ? नही विश्वास आता तो एक क्षण भर को इधर आ। ले इस पर से एक मक्खी के पख के समान पतली सी झिल्ली पृथक करता हूँ, अब देख इसे कैसा सुन्दर लगता है यह तुझे ? यह छोटी छोटी मक्खिया ही इसे चूट चूट कर खा जायेगी। इसकी सुन्दरता देखनी है तो शौच गृह मे जाकर देख। जिसने विश्व के सर्व शुचि पदार्थो को विष्टा बना डाला है। जिसके स्नान के जल को कोई पुन छूने के लिये तैयार नही। इस अत्यन्त घिनावनी व 'अशुचि देह' के साथ यारी जोड़ कर, इसकी रक्षा करने के लिये अपना सर्वस्व लुटा रहा है। आश्चर्य है ?

(७) नित्य नये नये रूप धारण करके प्रगट होने वाले इन विकल्पो में क्या देख रहा है ? भगवन् ! क्या भूल गया है आस्रव के प्रकरण को ? अब पुन उसे देख ले, (देखो प्रकरण नं० १८—१८) याद आ जाएगी इसकी दुष्टता। इनसे अपनी रक्षा कर। इनमे भूल कर आत्म समर्पण न कर।

(८) अब गुरुदेव की शरण मे आया है। तो कुछ लाभ उठा। इनमे ब्रेक लगा। अब तक आये तो आये, देख आगे न आने पाये। भूला न समझे जो साझ पड़े घर लौट आये। निज वैभव का आश्रय करके इनका तिरस्कार करदे। इनको दवा दे। 'सवरण करदे'। सवर पर इतने वड़े उपदेश को याद कर।

(९) एक बार इनका तिरस्कार करके देख कहां जाते हैं यह ? तिरस्कृत होकर कब तक पड़े रहेगे तेरे द्वार पर भूखे नगे, यह बेचारे। आखिर चले जायेंगे एक दिन-छोड़ कर-तेरा सग। जल्दी छूटना चाहता है-इनसे ? तब इससे अच्छी तो बात ही क्या है ? ले देख अपने पराक्रम को। कर, एक

बार गर्जना कर पूरे जोर से। "मैं चैतन्य हूँ। सत्-चित-आनन्द और पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर। आओ कौन आता है सामने। आज साक्षात् अग्नि बन कर आया हूँ मैं। क्षण भर में भस्म कर डालूंगा। जीर्ण कर डालूंगा समस्त संस्कारों को।" युद्ध कर इनके साथ, शान्ति के बल पर। प्रहार कर इन पर शान्ति के शस्त्र द्वारा। वही शांति जो तेरा सर्वस्व है। तेरा स्वभाव है। एक बार की झुड़झुड़ी मे झड़ जायेंगे सर्व, वस्त्र पर लगी धूल वत्। हो जायेगी निर्जरा और मिल जायेगी इनसे सर्वदा को मुक्ति।

(१०) प्रभो! अपनी महिमा को भूल कर आज कुएं में घुस बैठा है-मेंडक बन कर? क्यों इतना भयभीत हुआ जाता है? क्यों पामर बनता जाता है? अब निकल इस कुएं से बाहर। देख कितना बड़ा है यह विश्व? तुझ जैसे अनन्तों का निवास। तथा अन्य भी अनेकों का घर। सभी ही तो रह रहे हैं यहां-अपनी अपनी मौज मे-सर्वत्र की सैर करते; इसकी सुन्दरताओं में लय होते। तू क्यों घबरा गया है इससे? यहां तो कुछ भी भय का कारण नहीं। जिस प्रकार अन्य रहते हैं उसी प्रकार तू भी रह, स्वतन्त्रता के साथ-स्वामी बन कर, ज्ञाता दृष्टा बन कर। देख इसमें सर्वत्र ईश्वर का निवास, देख इसमें एक अद्वैत ब्रह्म, देख इसमें अपनी सृजन शक्ति। (देखो अध्याय नं० २६, प्रवचन नं० ४६ में सर्वं सत्व एकत्व तथा नवें सत्व मैत्री व प्रेम) परन्तु देखना अजायब घर वत्। अपने घर वत् नहीं: पीछे सामायिक के प्रकरण मे जो सुना था, उसे याद कर (प्रवचन नं० ५६, दिनांक १०-१०-१९५९)। बस प्रगट हो जायेगी एक विशाल दृष्टि, जिसका आधार होगा माध्यस्थता व शान्ति। और तू बन बैठेगा सर्व लोक का स्वामी। बाहर में नहीं, ज्ञान में।

(११) अरेरे चेतन! अनादि काल से आज तक क्या मिला है तुझे ठोकरों के अतिरिक्त? दूर दूर भटकता फिरता रहा है आज तक। चांदी सोने की धूल अनेकों बार मिली। चाम मास का पिंड अनेकों बार मिला। कुटुम्बादि अनेकों बार मिले। देवादि के रूप अनेकों बार मिले। परन्तु उनमें से क्या मिला तुझे? आज देख अपने अन्दर। क्या पड़ा है उनका कुछ बचा हुआ भी यहां? यदि कुछ मिला होता तो कुछ न कुछ तो होता तेरे पास? परन्तु यहां तो शून्य है। कोरा शून्य। क्या मिला और क्या न मिला? मिलता हुआ भी न मिला। जो मिलने योग्य था उसे मिलाया नहीं। जो नहीं मिलने योग्य था उसमें मिलने की कल्पना की। कैसे मिलता तुझे? आज गुरुदेव की शरण में आकर भी मिला है कुछ नवीन सा। वह जो आज तक न मिला था। वह जिसको लेकर कृत-कृत्य हो गया है तू। वह जिसमे छिपा पड़ा है तेरा वैभव। मानो तेरा सर्वस्व ही मिल गया है आज तुझे। वह जिसके मिलने की आशा भी न थी। जो किसी विरले को ही मिलता है, बड़े सौभाग्य से। जिसे लेकर और कुछ लेने की चाह ही नहीं रहती। जिसके मिल जाने पर और कुछ वस्तु ही नहीं जंचती। क्यों न हो? उसमें दिखाई दे रही है जो तेरी शान्ति। तेरा अभिष्ट। अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस बोधि-दुर्लभ रत्न के प्रति बहुमान उत्पन्न कर भगवन। अब तेरे कल्याण का समय निकट आ रहा है। होनहार बिरवान के चिकने चिकने पात। गुरु के द्वारा प्रदान किये गये, इस रहस्यात्मक ज्ञान से तेरा सर्व अन्धकार विनश जायेगा, और तू रह जायेगा वह जो कि तू है। सत्, चित, आनन्द, पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर।

(१२) बस यही तो है तेरा धर्म। तेरा स्वभाव। तेरा ऐश्वर्य। तेरा सर्वस्व। आज तक जिसे जान न पाया। जिसकी खोज में दर दर मारा फिरा। वाह! वाह! कितना सुन्दर है? कितना शीतल है यह? भव भव का संताप क्षण भर में विनष्ट हो गया है। अब तक के बताये गये इतने लम्बे

मार्ग को भली भांति निर्णय करके इस पर दृढता कर। विश्वास कर। इसके अनुरूप बनने का दृढ संकल्प कर। और बनने का प्रयास कर। इस प्रकार का ज्ञान श्रद्धान व अनुचरण। बस यही तो है उपाय उस शान्ति की प्राप्ति का, जिसका लक्ष्य लेकर तू भटकता फिरता है यहा। कितना सहल है तथा सुन्दर है यह ? ले अब धीरे धीरे पी जा इसे।

इस प्रकार अनित्यता, अशरणता, ससार, पृथकत्व, एकत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ व धर्म इन बारह प्रकार के विकल्पो का आश्रय लेता हुआ, बडी से बड़ी बाधाओ को तृणवत् भी नही गिनता। पर है वह शक्ति जिसका कि स्वामित्व उसको प्रदान हुआ है। तू भी अन्य कल्पनाओ के स्थान पर इन कल्पनाओ के स्वामित्व को प्राप्त कर। इन कल्पनाओ का आधार वस्तु है। पर तेरी कल्पनाओ का आधार कोरी कल्पनाये। यह सार स्वरूप है, और वह सब नि स्सार तभी तो यह शान्ति मे सहायक है। सार से सार निकलना सम्भव है। नि सार से नि सारता के अतिरिक्त और निकलेगा ही क्या ?

४५

—: चारित्र :—

दिनाक ३० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७७

१—चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध, २—चारित्र में अभ्यास की महिमा, ३—सामायिक आदि पाचों चारित्रों का विभाग, ४—अन्तरंग व बाह्य चारित्र का समन्वय।

१ चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध

नित्य ही शान्ति में विचरण करते हुए, शान्ति के साथ क्रीड़ा करने में मग्न, हे वीतरागी गुरुवर ! मुझे भी शान्ति प्रदान करें। आज चारित्र की बात चलती है। चारित्र शब्द सुन कर कुछ ऐसा लगता होगा कि कुछ शारीरिक क्रियाओं सम्बन्धी बात कही जायेगी, कुछ व्रत उपवास आदि की बात कही जायेगी। परन्तु नही। वह सब बात तो इतने लम्बे अब तक के कथन में यथा स्थान कही ही जा चुकी है। अब तो अन्तरग चारित्र की बात चलती है ? वह चारित्र जिसको लक्ष्य मे रख कर कि मैं साधना करने चला था शान्ति की। जिसके लिये कि अपने जीवन को इतने बड़े अभ्यास की श्रेणियो मे से निकलता चला आ रहा।

चारित्र नाम है विचरण करने का; निज स्वरूप में विचरण करने का नाम चारित्र है, अर्थात् शान्ति में विचरण करने का नाम चारित्र है। इस शान्ति में विचरण करने के लिये अपनाई गई कुछ बाह्य शारीरिक क्रियायें, जैसी कि अब तक सवर व निर्जरा के प्रकरण में बताई गई हैं वे भी चारित्र कही जा सकती है। परन्तु ऐसा कहना उपचार मात्र है। शान्ति प्राप्ति को ही लक्ष्य में रख कर आज तक मैंने इतना बडा अभ्यास किया। इतना बड़ा पुरुषार्थ किया। धीरे धीरे अपना जीवन ही बदल डाला। शान्ति के बाधक विकल्पो के प्रशमनार्थ गृहस्थ जीवन में देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय से प्रारम्भ किया। किंचित् इन्द्रिय व प्राण संयम को धारण करके जीवन की निरर्गल प्रवृति मे ब्रेक लगाया। और साथ साथ अन्तरंग के विकल्पोत्पादक दुष्ट संस्कारो की शक्ति को क्षति पहुँचाने के लिये, अपने अन्तरग दोषो को पढ़ने का अभ्यास किया, उनके प्रति मुझे स्वाभाविक निन्दन व पश्चाताप वर्तने लगा। जिनके आधार पर दोषो को टालता हुआ व जीवन मे किंचित् किंचित् व कदाचित् कदाचित् साम्यता लाता हुआ. मैं बिना रुके आगे बढता चला गया। दान द्वारा धन से भी बराबर ममत्व हटाने का अभ्यास करता गया। और इस प्रकार हर दिशा से जीवन को समेटता व शान्ति मे प्रवेश करता, इस शान्ति के क्षेत्र मे, एक नवजात शिशु वत् धीरे धीरे गिरता पडता चला गया। धैर्य व आशा ही मुझे बल दे रहे थे। उनके अतिरिक्त और कुछ भी न था-मेरे पास-उस समय।

२ चारित्र में अभ्यास की महिमा

अहो अभ्यास की महिमा ! वह दिन भी आ गया है कि मै शिशु से वीर बन गया। एक साहसी वीर तथा योद्धा वत्, मैने योगी जीवन मे प्रवेश किया। वहा और दृढता पूर्वक पहिले के अभ्यास को अत्यन्त पुष्ट किया। व्रत समिति गुप्ति के द्वारा उसे निश्चल व अकम्प बनाया। दश धर्मो से सीचन कर करके, वैराग्य भावनाओ से पोषण किया गया वह कोमल पौधा, आज एक विशाल वृक्ष वन गया है। जिसे देखकर स्वय मुझे विश्वास नही होता, कि मैने कहा से चलना प्रारम्भ किया था। अनेको भव पीछे से प्रारम्भ किये गये उस पुरुषार्थ ने आज मुझे मेरे लक्ष्य के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। बराबर इस जीवन मे विकल्प शान्त होते चले गये, सस्कार नष्ट होते चले गये और तदनुसार शान्ति मे वृद्धि होती चली गई। मैने पहले पग से ही शान्ति का पल्ला आज तक नही छोडा। हर वाह्य क्रिया के साथ-साथ अन्तरंग क्रिया को साथ रखा। यही कारण है कि मै आज बढते-बढते इस दशा को पहुँच गया हूँ कि बुद्धि पूर्वक का मेरा शान्ति मे स्थिति पाने का प्रयास आज अबुद्धि पूर्वक की कोटि मे प्रवेश कर गया है। विकल्पोत्पाक सस्कारो के द्वारा खाली किया गया स्थान, शान्ति के सस्कार ने ले लिया है। एक नवीन सस्कार जोवन मे उत्पन्न हुआ। अथवा यो कहिये कि शान्ति के साचे मे ढाला गया जीवन आज वाहर निकला।

३ सामायिक आदि पाचों चारित्रों का चित्रण

आ हा हा ! कितना सुन्दर है अब इसका रूप। बिल्कुल ही वदल गया है मानो यह पहले वाला मै नही हूँ। इसे देखकर मुझे स्वय आश्चर्य हो रहा है, कि अरे ! क्या स्वप्न मे भी कभी ऐसा बन जाने की आशा थी ? परन्तु 'हाथ कगन को आरसी क्या'। सामने पड़ा हुआ यह जीवन अभ्यास की 'अचिन्त्य महिमा दर्शा रहा है। अब मेरा जीवन शान्त है। अत्यन्त शान्त। साम्यता के साचे मे ढला हुआ, यह अब विकल्पों की ओर नही दौडता, चाहे बाहर से आहार करता हूँ, गमन करता हूँ, शास्त्र लिखता हू, या उपदेश देता हूँ। बुद्धि पूर्वक का किया गया सीमित समय का समायिक या समता का अभ्यास, आज मेरे जोवन का अग वन गया है। सीमित समय के लिये ही नही चौबीसो घण्टो के लिये यह अब समता मे ही विचरण करता है। इसे अब सीमित समय के लिये ही सामायिक करने की आवश्यकता नही। यह स्वय सामायिक रूप बन गया है। शान्ति की वह तुच्छ कणिका बढते-बढते अब पूर्णता के इतने निकट पहुँच चुकी है कि मै नित्य ही जीवन मे शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ। वर्तमान के जीवन के इस अग का नाम 'सामायिक चारित्र है'।

परन्तु आश्चर्य है ! इन दुष्ट संस्कारो के साहस पर, तप की भट्टी मे झोक कर जिन्हे अच्छी तरह जला दिया गया, जली रस्सी वत पडे वह आज भी कभी-कभी अपना सिर उठा उठा कर यह सिद्ध कर ही देते है, कि अभी भी वे जीवित है, भले अन्तिम श्वास ले रहे है। परन्तु कव तक जीवित रह सकोगे बच्चा ! अब छोडो इस दर को। जाओ किसी दूसरे द्वारे माग खाओ। यहा रहोगे तो भूखा मरना पडेगा। अर्थात् जब-जब इनसे प्रेरित हो, अब भी कदाचित विकल्प मुझे उठते प्रतीत होते है, अर्थात् शान्ति का छेद होता हुआ प्रतीत होता है, तव-तव ही मै पहले पुरुषार्थ रूप ही कुछ विशेष सामायिक ध्यान व विचारो द्वारा उस पर काबू पाने का उद्यम करने लगता हूँ। एक क्षण के लिये भी उनसे गाफिल नही हूँ। बराबर आहट लेता रहता हूँ सचेत गृह स्वामी वत जिसके घर मे चोर भले प्रवेश कर जाओ परन्तु बिना हानि पहुँचाए वह स्वयं ही निकल जायेगा। फल स्वरूप पुन स्यापन कर देता हूँ इसको-उसी शान्ति मे। और सामायिक रूप बनकर फिर विचरण करने लगता हू-शान्ति मे।

कभी सामायिक और कभी छेद , पुन सामायिक में स्थापना और फिर छेद। पुन स्थापना

और फिर छेद। और इसी प्रकार सामायिक-छेद व स्थापना के झूले मे झूलता हुआ आज मैं भी बराबर आगे बढता चला जा रहा हूँ। लक्ष्य पूर्ण किये बिना सन्तोष करने वाला नही हूँ। घबराना मेरा काम नही। मेरे हाथ मे है वह झडा, जिस पर लिखा है 'आगे बढो' अजीव है इस समय मेरे जीवन की दशा। चलते, फिरते, आहार लेते, शास्त्र लिखते, उपदेश देते, साथियों से धर्म चर्चा करते, यहाँ तक कि सोते समय भी बराबर सामायिक-छेद व स्थापना चलता रहता है। कोई निश्चित समय ही सामायिक का हो, अब ऐसी बात नही रही। आध या पौन घण्टे से अधिक मेरी साम्यता का छेद कभी भी होने नही पाता। विहार करते समय कदाचित विकल्प आया, मैने इसे पकडा, सचेत हुआ, और बस फिर क्या था, भाग गया यह। मै पुन समता मे स्नान करने लगा। चैतन्य रस का अस्वादन करने लगा। शरीर चलने का काम कर रहा है-बाहर मे। और मै समता मे स्नान कर रहा हूँ अन्तरग में। शरीर लिखने का काम कर रहा है बाहर मे, और मै समता मे स्नान कर रहा हूँ, अन्तरंग मे, शरीर खाने का काम कर रहा है बाहर मे, और मैं समता मे स्नान कर रहा हूँ अन्तरग मे। यहा तक कि सोते-सोते बराबर आध या पौन पौन घटे के पश्चात्, स्वत ही आंख खुल जाती है, मुझे पुन शान्ति मे स्थापित करने के लिये। और इसी प्रकार विकल्प व शान्ति के झूले मे झूलते हुए बराबर आगे बढता चला जा रहा हू। जीवन के इस अंग का नाम 'छेदोपस्थापना चारित्र है'।

इस पुरुपार्थ मे परिणाम की विशुद्धि बराबर बढती-बढती आगे तक चली गई। अशुद्धि का परिहार होता गया। अत इस सर्व अन्तरग पुरुषार्थ का नाम है परिहार 'विशुद्धि चारित्र'।

अरे! यह क्या? झूले मे झूलते झूलते घुमेर चढ गई। और भूल गया सब कुछ? हो गया वेसुध। चलना, फिरना, खाना, पीना, लिखना, बोलना व सोना सब कुछ छुट गया। बाह्य क्रिया की तो बात नही, मै भी हूँ या नही, यह भी भान न रहा। मै जानने वाला और यह विश्व जिसे कि मै जानू यह भी भेद न रहा। कौन जाने और किसे जाने? कौन ध्यावे और किसे ध्यावे? कौन विचारे और किसे विचारे? एक अद्वैत अवस्था है। मानो एक रुद्र रूप है। जिसे देखकर कि सस्कारो के अर्ध मृत कलेवर, अब देखो, वह खिसकने लगे। वह देखो निद्रा भागी। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि व मैथुन भाव भी देखो लगे भागने। जिस ओर जिसकी नाक उठ गई भाग निकले। कितने भय भीत है आज यह? मैने आज रौद्र रूप धारण किया है। मै साक्षात रुद्र हू, भगवान रुद्र। जीवन के इस अंग का नाम है 'शुक्लध्यान की प्रथम श्रेणी'।

क्रोध, मान, माया भी बेचारे क्या करे? आपस मे लगे सलाह मश्वरा करने। सर्व साथी छोड कर चले गये। अकेले क्या करे? कोई बात नही, अपनी बिखरी हुई सेना को एक मोरचे पर सगठित करो। और एक बार अन्तिम बार आक्रमण करके देखो? अब भी कुछ दम है इनमे। यद्यपि मुझे बाधा पहुचाने मे बिल्कुल असमर्थ, परन्तु दूर खडे खड़े अब भी कुछ करने की ठान ही रहे हैं। देखे तो कि क्या करते हैं यह। वह देखो क्रोध की टोली आ मिली मान में, और यह दोनो मिल कर आ मिले माया मे। अब भी पर्याप्त नही है, चलो लोभ को भी साथ लें, तीनो आ मिलें लोभ के साथ। अब ठीक है, अब कुछ बल है, लगाओ जोर। "देखो एक ही बार आक्रमण करना" और लोभ की अध्यक्षता में लगे सर्व ओर से बाण बरसाने। परन्तु इन बेचारो को क्या पता कि अद्वैतता के इस कवच पर अब इनके बाण असर न करेंगे। बल्कि इस अद्वैतता के इस बढ़ते हुए- तेज मे वह स्वय जल कर भस्म

हो जायेगे ? वह देखो लगे जलने। सब जल गये परन्तु अब भी खड़ा रह गया एक लोभ, अत्यन्त क्षीण दशा में अकेला।

असमंजस में पडा बेचारा मानो विचार रहा है, कि अब क्या करे ? वन्दी हाथ से निकला जाता है। आश्चर्य है इसके साहस पर। सब साथी भाग गये, शेष मारे गये, पर अब भी पीठ दिखाने को तैयार नही। सच्चा क्षत्रिय है। मरना स्वीकार पर रण क्षेत्र से भागना स्वीकार नही। इधर से मेरा अद्वैत तेज वढा। चहु ओर ताप फैल गया। अग्नि बरसने लगी। ओह ! आज मैं साक्षात् अग्नि देव हूँ-इस लोभ के भग्नावशेष को दग्ध करने के लिये अर्थात् उपरोक्त ही शुक्लध्यान मे और एकाग्रता अधिकाधिक बढती गई और सूक्ष्म सा अवशेष रहा, यह लोभ कषाय का सस्कार भी भस्म हो गया। पुरुषार्थ के इस उत्कृष्ट भाग का नाम है, 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र'।

संस्कारो की अन्तिम कणिका का निर्मूलन हो जाने के पश्चात् अब मैं अत्यन्त निर्मल हो चुका हू। अब कोई शक्ति नही जो मुझे प्रेरित करके किञ्चित् भी विकल्प उत्पन्न करा सके। शान्ति मे स्थिरता दृढतम हो गई। पूर्णता के लक्ष्य की साक्षात् प्राप्ति हो गई। आखिर जैसा वनने का सकल्प किया था वैसा बन ही गया। अब कभी भी इस अवस्था से छेद को प्राप्त न हूँगा। सर्वदा के लिये शान्त हो गया हू मै। जिसको लक्ष्य मे रख कर चला था, वह मिल गया। जो वनना चाहता था, वह बन गया। यथाख्यात रूप को प्राप्त हो गया। जीवन के इस आत्यन्तिक शुद्ध भाग का नाम है 'यथाख्यात चारित्र।

४ अन्तरग व बाह्य चारित्र का समन्वय

प्रथम भूमिका से ही प्रत्येक क्रिया मे यह बताया गया है कि अल्पावस्था में प्रत्येक क्रिया मे युगपत दो अंश रहा करते है, एक अन्तरग अश, और एक बहिरंग अंश। विल्कुल इस प्रकार जिस प्रकार कि किसी चूर्ण के स्वाद मे अनेक वस्तुओ के स्वाद युगपत पडे रहते है। जो सब के सब एक ही समय किसी विजातीय स्वाद के रूप मे अनुभव करने मे आते हैं। यहा शान्ति मार्ग के अन्तर्गत बताई गई सर्व प्रक्रियाओ मे दो अश मिश्रित रूप से कोई विजाति रूप धारण करके ही अनुभव मे आते है। अत ज्ञानी बराबर इस स्वाद का विश्लेषण करके यह जानता रहता है कि कौन सा अश प्रयोजन भूत है और कौन सा अप्रयोजन भूत। विल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सर्राफ खोटे स्वर्ण की मिश्रित डली को देख कर बरावर पहिचान लेता है कि इतना अश काम का है और इतना वेकार। बस इतने पहले से कही गई सव क्रियाओ मे अन्तरग अश तो काम का है, और बाह्य अश काम का नही। काम का न होते हुए भी प्रयोजन वश उसे अल्प भूमिका मे अपनाना पड़ता है। परन्तु अभिप्राय मे वरावर दोनो का भेद वने रहता है। वहा भ्रम होने नही देता।

उन क्रियाओं मे यह अन्तरग अंश ही वास्तव मे चारित्र है। यह सामायिक या समता स्वरूप है। क्योकि उतना अंश ही शान्ति स्वरूप है। वाह्य क्रिया तो विकल्पात्मक है, अत वह वास्तव मे चारित्र नही है। भले अन्तरग के साथ साथ रहने के कारण उसे भी चारित्र कह डालो। जैसे स्वर्ण के साथ रहने के कारण खोट भी सोना कहला जाता है। आगे आगे की भूमिकाओ मे, इन क्रियाओ मे रहने वाला यह अन्तरंग अश वरावर थोडा थोडा वढता है। जितना जितना यह वढता है, उतना उतना बाह्य अश कम होता जाता है। एक दिन अन्तरग अंश पूर्ण हो जाता है। और वाह्य अंग विल्कुल

समाप्त हो जाता है। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अशुद्ध घी में दो अंश रहते हैं। एक शुद्ध घी तथा दूसरा डालडा का अश। यदि किसी भी वैज्ञानिक उपाय द्वारा धीरे धीरे उसमे शुद्ध घी मिलाते चले जायें और डालडा का अंश निकालते चले जायें तो आगे आगे की उत्तरोत्तर अवस्थाओ में वह अधिक अधिक शुद्ध होता चला जायेगा। और एक दिन पूर्ण शुद्ध हो जायेगा। ज्यो ज्यों शुद्ध होता जाये, त्यो त्यो हम भले सारे को शुद्ध कहते रहें, परन्तु वास्तव मे शुद्धता तो शुद्ध अश मे ही है। जितनी कुछ भी हीनाधिक अशुद्धता है, वह तो अशुद्धता ही है। इसी प्रकार सर्व क्रियाओ मे पड़े बाह्य अंश को अशुद्धता ही स्वीकार करना चाहिये।

अन्तरग अश की कुछ पूर्णता हो जाने पर, या पूर्णता के निकट पहुँच जाने पर ही, जीवन सामायिक रूप दिखाई देने लगता है। क्योकि यहां अशुद्धता का अंश बहुत हीन हो गया है। उसका स्वाद अब विशेष नही आता। यह सामायिक चारित्र वास्तव में उन क्रियाओ मे पडे हुए उस अन्तरग अंश का ही वृद्धि गत रूप है। कोई नवीन वस्तु नही है। यह अंश प्रथम पग अर्थात् देव दर्शन मे ही प्रगट हो चुका था, और अब वही पुष्ट होता होता इतना बड़ा हो गया है।

और इस प्रकार साधक उन क्रियाओं के केवल अन्तरंग अंश में अधिकाधिक स्थिरता धारने का अभ्यास करता करता, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, व सूक्ष्म साम्परायिक की श्रेणियो को पार करता हुआ, एक दिन यथाख्यात चारित्र मे प्रवेश करता है। आज इसका चारित्र पूर्ण शुद्ध हो गया है।

४६

—: निर्जरा व मोक्ष :—

दिनांक ११ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७८

१—निर्जरा का परिचय, २—मोक्ष का लक्षण, ३—मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें, ४—मोक्ष पर अविश्वास, ५—मोक्ष का स्वरूप शान्ति।

१ निर्जरा का परिचय — समस्त संकल्प विकल्पों के मूल सस्कारों का निर्मूलन करके आत्यंतिकी शुद्धता व निर्मलता को प्राप्त, हे पवित्र आत्माओ ! क्या मुझ पर दया न करोगे ? मुझको भी शक्ति प्रदान कीजिये नाथ ! कि मैं भी इस सर्व दुष्ट समूह का मूलोच्छेद कर इनसे मुक्ति प्राप्त कर सकू आज निर्जरा व मोक्ष इन दो तत्वो का कथन करना है। सस्कारों के साथ युद्ध ठान कर इनकी शक्ति को बरावर तपश्चरण के द्वारा क्षीण करते जाने का नाम निर्जरा है। इसका कुछ विस्तार गृहस्थ सम्बन्धी निर्जरा या तप को प्रकरण मे (प्रवचन न० ५२-५७ दिनाक ६-१०-५९—११-१०-५९) और उत्तम तप धर्म के प्रकरण मे (प्रवचन न० ६६-७० दिनाक २२-१०-५९—२३-१०-५९) किया जा चुका है। अतः पुन. करने की आवश्यकता नही है।

२ मोक्ष का लक्षण — अब मोक्ष की बात चलती है। मोक्ष वास्तव मैं छूटी हुई अवस्था का नाम है। किसी भी पदार्थ की छूटी हुई अर्थात् बन्धन रहित अवस्था, अर्थात् स्वतन्त्र दशा का नाम मोक्ष है। 'मुच्' धातु का अर्थ है छूटना। मुक्ति का अर्थ भी है छूटना, छूटना किसी बन्धन से ही होता है। जो बधा ही नही उसका क्या छूटना। गाय रस्से से बधी है। रस्सा खुलने पर उससे मुक्त हो जाती है। सिंह पिंजरे मे बन्द है। निकल जाने पर पिंजरे से मुक्त हुआ कहा जाता है। वन मे स्वतन्त्र विचरण करने वाले सिंह की क्या मुक्ति ? वन्दी गृह मे पड़ा बन्दी ही मुक्त किया जा सकता है। स्वतन्त्र नागरिक नही। अत. मोक्ष का अर्थ बन्धन सापेक्ष है। जहा बन्धन नही वहां मोक्ष नही। और जहां बन्धन है वहा मोक्ष भी है। मुझे अन्य पदार्थों की मोक्ष से क्या सम्बन्ध ? मुझे तो अपनी मोक्ष खोजनी है। मोक्ष खोजने से पहले अपना बन्धन खोजना होगा।

बाहर मे खोजने पर तो कोई बन्धन दिखाई देता ही नही। बन्दी तो मै हूं ही नहीं पर कुटुम्बादि ने भी मुझे पकड कर बिठा नही रखा है। स्वय मेरी कल्पनाये ही वन्धन हैं। इन कल्पनाओ से छूटने के नाम ही मोक्ष है। अर्थात् अन्तरग मे पुष्ट सस्कार जिनसे प्रेरित होकर कि मैं यह सकल्प विकल्प कर रहा हूँ, उनसे छूटने का, उनके विनाश होने का नाम ही मेरी मुक्ति या मोक्ष है। जिसका

उपाय कि निर्जरा व तप के प्रकरण मे आ चुका है। अर्थात् संस्कारों से रहित अपनी यथास्वभाव पूर्ण स्वतन्त्र व शान्त दशा का नाम ही मोक्ष है।

३ मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें

मोक्ष के सम्बन्ध मे जो कल्पनाये अब तक की हैं वह सब झूठी हैं। क्योंकि शान्ति से निरपेक्ष हैं। उन कल्पनाओ का झुकाव शान्ति की ओर न जाकर, जा रहा है लोक के शिखर पर, आकाश के किसी विशेष क्षेत्र की ओर, अथवा अनुमानत: किसी पत्थर की बनी हुई शिला की ओर, अथवा पहले से विराजमान अनेक शुद्ध आत्माओं की ओर। और इसलिये अनेको सशय व संदेह उत्पन्न हो रहे हैं-उसके सम्बन्ध मे। भले मुख से कहता हुआ डरता हूं कि कही गुरु वाणी के प्रकोप का पात्र न बन बैठूं। पर इस प्रकार मुख बन्द कर लेने से हृदय की शंकाये तो टल नही जाती ? बिल्ली के आने पर यदि कबूतर आंख मीच ले, तो बिल्ली तो टल नही जाती ? अन्तरंग मे झुक कर देख। कुछ इस जाति के अनेकों संशय भरे पड़े है वहा। क्या रखा है मोक्ष में ? न कुछ खाने को न कुछ पीने को, न कुछ बैठने को न कुछ सोने को, न चलने फिरने को न सैर करने को, न सुन्दर व सुसज्जित महल रहने को, न मोटर व हवाई जहाज घूमने को, न यार मित्र बोलने को, न सुन्दर स्त्रियां भोगने को, कुछ भी तो नही है वहां। बैठे रहो वहाँ मुख सीमे। बराबर में अनेकों बैठे रहो, वहां। पर सब गुम-सुम। मानों कि पत्थर के बुत घड़ कर बिठा दिये हों वहा यह भी कोई जीवन है ? 'ज्ञान ज्ञान' की रट सुनते हैं। पर क्या करे उस ज्ञान को। ओढ़े या बिछायें ? किसी को बताया तक न जा सके, कुछ नया आविष्कार निकाला न जा सके। हुआ न हुआ बराबर है। आज के उन्नति के युग मे जब चारों ओर ज्ञान का चमत्कार दिखाई दे रहा हो, ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य ? केवल अन्ध श्रद्धान का विषय है, किये जाओ,- परन्तु कब तक ? एक रोज तो छोड़ना ही होगा।

४ मोक्ष पर अविश्वास

मुझे नहीं चाहिये ऐसी मोक्ष। वर्तमान मे ही क्या कमी है मेरे पास ? बड़े बड़े महल, कीमती से कीमती वस्त्र व अलंकार, घूमने को मोटर व हवाई जहाज बैठने व सोने को खूब गद्देदार डनलप पिलो के सौफा सैट व पलंग, खाने को स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यञ्जन, भोगने को देवांगना सरीखी स्त्री, बाल बच्चे, और क्या नही ? इन सबको छोड़कर क्यो एक शून्य स्थान मे जाऊं, जहां इनमें से कुछ भी नही। पड़े रहो अकेले। इतना भी तो नही कि अपना गम किसी को सुना दूं। अरे रे ! मोक्ष कहते हैं इसे। कोरो कैद है। भगवान बचा इस मोक्ष से मुझे। भला खाली बैठे मक्खियां मारना शोभा देता है कही मनुष्य को ? ना भाई ना ! कोई बहुत बड़ा राजपाट भी दक्षिणा मे दे और कहे कि किसी प्रकार मोक्ष ले लो, तो भी न लूं।

फिर यह नित्य ही मोक्ष की रटना क्यों ? मुझे क्या पता था कि वह मोक्ष इस प्रकार की होगी। मैं तो समझा था कि कोई आकर्षक वस्तु होगी। सारा जगत जिसके गुणगान करता है, सोचता था कि वह कुछ तो होगा ही। परन्तु खोदा पहाड और चुहिया भी तो न निकली। भला कौन स्वीकार करेगा जड बनकर पड़ा रहना। किसे अच्छा लगता है सौफा सैट को छोडकर पत्थर की शिला पर पड़े रहना यू ही अचेत सा। और इसी प्रकार की अनेकों कल्पनायें। भला विचारिये तो सही फिर भी इस मोक्ष की यह रटन क्यों ? इसमे सम्प्रदायिकता के अतिरिक्त और है ही क्या ? कुछ रूढिया व पक्षपात। अनेको गये हैं वहां। मूर्ख ही हैं सब। जगत में क्या कमी है मूर्खों की ? और हमी आ जाते हैं आज मोक्ष का नाम सुनकर भी। पुराने जमाने की बात कहां लाये हो निकाल कर, विज्ञान के इस युग में।

५ मोक्ष का स्वरूप शान्ति

मोक्ष के समझे बिना कैसे दबा सकेगा इन विकल्पों को। और यह कल्पनाये दबाये बिना क्यो करने लगा इतना बड़ा तपश्चरणादि का परिश्रम। जिसमे हित का तो प्रश्न ही नही, अहित ही है। अतः भाई मोक्ष तत्व को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसको जाने बिना या इसकी श्रद्धा किये बिना, अब तक की सारी पढाई बेकार है। वास्तव मे ऐसा नही है। अब तक सारी पढ़ाई एक अलौकिक देन है। उसकी अवहेलना मत कर। मोक्ष का सच्चा स्वरूप जानने का प्रयत्न कर।

लोक शिखर मे स्थित, आकाश के किसी टुकडे का नाम मोक्ष नही। मोक्ष शिला का नाम मोक्ष नही। वहा पर विराजे पूर्व आत्माओ के सम्पर्क का नाम मोक्ष नही। उस तेज से तेज वत् मिल जाने का नाम मोक्ष नही। ज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष नही। जड बन कर पडे रहना भी मोक्ष नही। इतना कुछ प्रयास ऐसे मोक्ष के लिये नही किया जाता। ऐसा मोक्ष लेना तो बहुत आसान है। खूब भर कर पाप करो, बस हो गया। मिल जायेगी ऐसी मोक्ष। निगोद का रूप धारण करके पडे रहोगे सागरो के लिये अचेत-लोक शिखर मे उसी पत्थर की शिला पर-उन्ही पवित्र आत्माओ के सम्पर्क मे।

भाई! मोक्ष इतनी तुच्छ सी वस्तु नही। वहाँ से दृष्टि हटा। मोक्ष को बाहर मैं मत खोज। अपने अन्दर मे देख। उसी प्रकार जैसे कि अब तक आस्रव बध सवर निर्जरा आदि को देखता आया है। मोक्ष किसी क्षेत्र .ा नाम नही है। बल्कि तेरी अपनी ही किसी दशा विशेष का नाम है। जिसमे न सकल्प है, न विकल्प, न राग है, न द्वेष, न इच्छाये है न चिन्ताये, न बाह्य पदार्थो का ग्रहण है, न त्याग न उनमे इष्टता है न अनिष्टता। केवल है एक ज्ञायक भाव। जिसमे सर्व प्राणी केवल प्राणी मात्र है। न है कोई पुत्र, न है कोई पिता, न है कोई बहन, न है कोई माता, न हैं कोई मित्र, न है कोई शत्रु, न है कोई राजा न है कोई रक, न है कोई बड़ा न है कोई छोटा, न है कोई ब्राह्मण, न है कोई शूद्र, न है कोई देव न है कोई तिर्यंच। जहा है एक साम्यता व शान्ति। विकल्प उठने को अवकाश भी नही है। क्योकि प्रेरक सस्कारो का आत्यन्तिक विच्छेद पहले ही किया जा चुका है।

विकल्पो के अभाव मे शरीर का निर्माण किस लिये करे। भिन्न-भिन्न रूप क्यो धारें? क्यों किसी को पुत्र मित्रादि बनायें? किसके लिये यह सब जजाल मोल लें? किसके लिये धन कमाये? किसको वस्त्र पहनाये? किसके लिये भोजन बनाये? किसको पढायें लिखाये? किसकी रक्षा करे? तथा किसके लिये भीख मागे? जहा विकल्प ही नही वहां इच्छा किस बात की? जहा शरीर ही नही वहा महल, सौफा पलग, स्वादिष्ट पदार्थ, सुन्दर स्त्री आदिक की आवश्यकता ही कैसी? मित्रो आदि से बात-चीत करने की आवश्यकता ही क्या? आवश्यकता के बिना उनके प्रति का पुरुषार्थ कैसा? पुरुषार्थ के बिना व्यग्रता कैसी? व्यग्रता के बिना दु ख क्या? और दु ख के बिना रहा ही क्या? केवल एक शान्ति जो तेरा स्वभाव है। तेरा सर्वस्व है। इन विकल्पो के नीचे ही तो दबी पडी थी वह? कही भाग तो न गई थी जो कही से लानी पड़ती? ऊपर से यह सब कूडा कर्कट फूक डाला, बस गह देख, यह रही तेरी पवित्रता शान्ति रानी। और क्या चाहिए था तुझे? इसी को तो लक्ष्य मे लेकर चला था, इसी के लिए तो लक्ष्य बिन्दु बनाया था। इसी के लिए तो इतना लम्बा प्रयास किया था। बस मिल गई वह। अभीष्ट की प्राप्ति हो गई। जो करना था सो कर लिया। जहा जाना था वहा पहुच गया। कृतकृत्य हो गया। मार्ग समाप्त हो गया और क्या चाहिये? और कुछ चाहिये तो फिर वही जाना होगा। विकल्पो मे, व्यग्रताओ व चिन्ताओ मे जिनको छोड कर कि यहा आया है। इस पूर्ण व आत्यन्तिकी तेरी अपनी शान्ति का नाम ही तो मोक्ष है।

यहां न खोज कर वहाँ खोजने के लिए गया, तभी तो उस सेठ ने मोक्ष जाना स्वीकार न किया। क्योकि वहा उसे न दीख सके अपने दश पुत्र और न दीख सके दश कारखाने। क्या करता वहां जाकर ? भाई मोक्ष की सच्ची अभिलाषा है तो अभी से इस बाह्य जजाल से तथा इन सम्बन्धी अन्तरग विकल्पो से धीरे धीरे मुक्ति पाना प्रारम्भ कर। जितनी जितनी इससे मुक्ति पायेगा, उतनी उतनी अन्तरग मे शान्ति प्रगट होगी। बस उतनी उतनी ही मोक्ष हुई समझ। मोक्ष एक दम प्राप्त की जा सके ऐसा नही। अन्य सर्व प्रक्रियाओ वत् इसकी प्राप्ति भी क्रम पूर्वक धीरे धीरे होती है। आशिक शांति, आशिक मोक्ष, पूर्ण शाँति, पूर्ण मोक्ष, आशिक निर्विकल्पता, आंशिक त्याग, पूर्ण निर्विकल्पता पूर्ण त्याग, आंशिक निरभिलाषता, आँशिक स्वतन्त्रता, पूर्ण निरभिलाषता, पूर्ण स्वतन्त्रता, इस इतने लम्बे मार्ग मे प्रति क्षण मोक्ष ही तो प्राप्त करता रहा है। और उसके अतिरिक्त किया ही क्या ? प्रारम्भिक पग से ही मोक्ष होनी प्रारम्भ हो गई थी। अब वह पूर्ण हो गई है। बस इतना ही तो अन्तर है। अतः इस वास्तविक मोक्ष के प्रति बहुमान उत्पन्न कर।

VIII समन्वय

४७

—: शान्ति पथ का एकीकरण :—

दिनाक २८ अक्तूबर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ७९

१—धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय, २—श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण, ३—धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता, ४—शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव।

१ धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय

प्रथम ही धर्म के लक्षण बताते समय (प्रवचन नं० ६ दिनाक ५-७-५९) के अनेक लक्षणो मे एक लक्षण श्रद्धा ज्ञान चारित्र कह कर बताया गया था। उनमें से पहला अग था श्रद्धा। श्रद्धा का सच्चा स्वरूप (प्रवचन न० ८ दिनाक ७-७-५९ से प्रवचन न० ९ दिनाक ८-७-५९) तक दर्शाया गया और आगे (प्रवचन नं० १० दिनाक ९-७-५९) मे उसके स्वरूप को श्रद्धा के विषय भूत पदार्थ का भी ७ भागो मे विभाजन किया गया है। उसके आगे (प्रवचन न० ११) से कल वाले (प्रवचन न० ७७) तक बराबर उन्ही श्रद्धा के विषयभूत सात पदार्थो का स्पष्टीकरण किया गया है। और इस प्रकार धर्म के अग श्रद्धा का कथन पूरा हो गया।

अब धर्म के दूसरे व तीसरे अग ज्ञान व चारित्र के सम्बन्ध मे कुछ कह कर इस प्रकरण को यहाँ पूरा कर देना चाहिये। यद्यपि कुछ भी अधिक आवश्यकता अब रह नही गई है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सम्बन्धी विवेचन मे इन दोनो अशो का बराबर समावेश होता चला गया है। और पहले भी श्रद्धा की यथार्थता बताते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि श्रद्धा वही है जो जीवन मे उतर जाये। अर्थात् चारित्र के साथ साथ रहने वाली श्रद्धा ही श्रद्धा है। परन्तु फिर भी इन सर्व प्रकरणो मे इन तीनो अगो का समावेश किस प्रकार हो जाता है यह बताना आवश्यक है।

२ श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण

वास्तव मे श्रद्धा व ज्ञान के विषय सम्बन्धी सातों पदार्थो का शाब्दिक परिचय मात्र ही हो सका है। अर्थात् इनका शाब्दिक ज्ञान ही हुआ है। परन्तु इनके रसात्मक रहस्य का अनुभव नही हो सका है। यदि हो जाता तो इन सातो पदार्थों मे भी भेद देखने मे न आता और उपरोक्त धर्म के तीन अगो मे भी भेद दिखाई न देता। इस लिए यह शाब्दिक ज्ञान वास्तविक

महत्ता को प्राप्त हुआ नही कहा जा सकता। परन्तु फिर भी इस शाब्दिक ज्ञान के बिना श्रद्धा किस की करे ? और जीवन मे किसे उतारे ? इस दृष्टि से देखने पर इस ज्ञान की भी महिमा अपार हो जाती है। परन्तु यह महिमा उसी के लिए है जो इसे जान कर इसके अनुसार अपने जीवन में कुछ परिवर्तन करने का प्रयास करे। केवल शब्दो के जानने मे सन्तोष धार ले, तो ज्ञान हुआ और न हुआ बराबर ही है। उल्टा अभिमान का कारण बन कर और भी अनिष्ट कर सकता है।

यहां तक कथित, सात खण्डों में विभक्त, इस विस्तृत वक्तव्य के अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिये, इन सातो मे परस्पर क्या मेल है, यह जानना आवश्यक है। क्योंकि भले ही जानने मे या बताने मे, शब्दो की क्रमिकता के कारण इस अखण्ड एक विषय के सात खण्ड बन गये हों, पर जीवन मे यह सात खण्ड रूप से उतारा नही जा सकता। जैसे कि पहले ही प्रवचन नं० १० दिनांक ६-७-१६५६ मे एक ही श्रद्धा के विषय का प्रयोजन वश विश्लेषण करके सात भागो मे विभाजित किया गया, उसी प्रकार अब वह प्रयोजन पूरा हो लेने पर उन सातो खण्डो का एकीकरण करना आवश्यक है। क्योकि श्रद्धा वास्तव मे सात नही है, वह तो एक ही है। जैसे रोग का प्रतिकार करने के लिए, वैद्य के द्वारा बताई गई औषधि का जो प्रयोग करने मे आता है, उसकी आधार भूत श्रद्धा मे भले सात खण्ड पडे हो पर वह श्रद्धा एक है। इसी प्रकार इस विकल्प रोग के प्रशमनार्थ, जो प्रयास जीवन मे किया जाने वाला है, उसकी आधार भूत श्रद्धा मे यह सात खण्ड भले पड़े हो पर श्रद्धा एक है। और वह इस प्रकार :—

मैं वास्तव मे शान्ति का पिण्ड व चैतन्य व अमूर्तीक पदार्थ हूँ। परन्तु अपने को व अपने अन्दर पडी शान्ति को भूल जाने के कारण, मै इन दोनो की खोज शान्ति व अशान्ति विहीन अचेतन व मूर्तीक शरीर तथा धनादि जड पदार्थो मे करता फिर रहा हूँ। और बिल्कुल उस मृग की भाति, जिसकी नाभि मे छिपी है गन्ध, पर उसे बाहर मे खोजता हुआ, उसे कही न पाकर व्याकुल हो रहा है, मैं भी व्याकुल बना हुआ हूँ। यह जीव व अजीव तत्व की एकता हुई। उपरोक्त भूल के कारण नित्य ही नये नये विकल्प व इच्छायें धारण कर करके और इच्छाओ सम्बन्धी दुष्ट संस्कारो को और और पुष्ट करता रहता हूं। और इस प्रकार व्याकुलता मे प्रति क्षण वृद्धि करता रहता हूँ। यह मेरा अपराध है। इसी को आस्रव बन्ध तत्व कहते है। जीव अजीव तत्व के साथ आस्रव बन्ध का इस प्रकार सम्मेल बैठा लेने पर यह चारो मिल कर एक हो जाते है। यदि स्व पर भेद विज्ञान प्रगट करके इस भूल को दूर कर दू तो अपनी शान्ति को बाहर खोजने की बजाय, अन्दर मे खोजने लगू। और क्योकि वह वहाँ है ही, इसी लिए अवश्य खोजने मे मै सफल हो जाऊ। बस शान्ति के दर्शन होते ही बाह्य की विकल्पनाये अवश्य समाप्त होती चली जाये। अधिकाधिक उस शान्ति मे स्थिरता धरने से, पूर्व के विकल्प उत्पन्न करने वाले सस्कार कटते चले जाये, और इसी प्रकार करते करते एक दिन सस्कारो व विकल्पो से पूर्णतया मुक्त निर्बाध शान्ति का उपभोग करने लगू। यही है सवर निर्जरा व मोक्ष तत्व की एकता। सात के दो खण्ड हो गये, एक व्याकुलता उत्पन्न करने सम्बन्धी और दूसरा व्याकुलता दूर करने सम्बन्धी। पहला हेय है और दूसरा उपादेय। इन दोनो को मिला देने से पूर्ण मार्ग की रूप रेखा दृष्टि मे आ जाती है। अर्थात् व्यकुलता की कारण भूत चार भूलों को छोड़ कर शान्ति को उत्पन्न करने वाले अगले प्रयास मे विचरण करू तो धीरे धीरे पहला खण्ड कम होता जाये और दूसरा खण्ड बढ़ता जाये। एक

दिन पहला खण्ड विनष्ट हो जाये और दूसरा खण्ड पूर्ण हो जाये। बस इस प्रकार इन सातो बातो मे हेयोपादेयता का मेल बैठाकर श्रद्धा का एक अखण्ड विषय बनता है।

३ धर्म मे दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता

यद्यपि यहा तक इस सप्तात्मक एक अखंड विषय का ज्ञान भी हो गया, और उस ज्ञान के अनुरूप ही शाब्दिक श्रद्धा भी हो गई। परन्तु जीवन का ढलाव भी साथ साथ जब तक उसके अनुरूप न होने लग जाये अर्थात् उसका सुझाव बाह्य द्रव्यो के विकल्पात्मक आश्रय से हटकर अन्तरग की शान्ति की खोज मे न लग जाये, बाह्य द्रव्यो से किंचित उदासीनता न आ जाये, अधिकाधिक समय देव पूजादि क्रियाओ मे देने न लग जाये, तब तक वह श्रद्धा श्रद्धा नही कही जा सकती। अर्थात् इस सप्तात्मक मार्ग को भली भांति युक्ति द्वारा जान कर, इस पर "ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं' ऐसी दृढ श्रद्धा करके अपने जीवन को उसके अनुरूप ढालने या आचरण करने का नाम ही तो शान्ति का मार्ग है। इसमे युगपत ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनो खड पडे हुए है। यही है शान्ति मार्ग की, या मोक्ष मार्ग की, या धर्म मार्ग की त्रयात्मकता। जिसमे ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनो मिलकर एक हो गये है।

४ शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव

परन्तु इसमे इतना विशेष है कि जब तक इस धर्म का वास्तविक फल अर्थात् उस चौथी कोटि की शान्ति का साक्षात् वेदन नही हो जाता, तब तक न चारित्र रहस्यात्मक है, न श्रद्धा रहस्यात्मक है, न ज्ञान रहस्यात्मक है। ज्ञान व श्रद्धा का आधार है उपदेश और चारित्र का आधार है शरीर। इसलिये इस स्थिति मे रहने वाले यह तीनों ही खंड सच्चे नही कहे जा सकते। परन्तु क्योकि पहली दशा मे ऐसा किये बिना उस रहस्य का वेदन होना ही असम्भव है, इसलिये इस प्रकार की झूठी त्रयात्मकता भी कार्यकारी है। प्रारम्भिक भूमिका मे इसका बडा महत्व है। परन्तु प्रयास कुछ अन्तरग की प्राप्ति के प्रति होना चाहिये। केवल शारीरिक क्रियाओ मे संतोष धारे तो उस त्रयात्मकता का कोई मूल्य नही।

धीरे धीरे इस प्रकार जीवन को एक नई दिशा की ओर घुमा कर धैर्य व साहस पूर्वक इस पर आगे बढते जाये, तो एक दिन ऐसा आ जाना सम्भव है जबकि एक क्षण-मात्र के लिये उस लक्ष्य का साक्षात्कार हो जाये। उस समय अन्तरग मे क्या चिन्ह प्रकट होगे सो पहले ही शान्ति के प्रकरण मे बताये जा चुके हैं (देखो प्रवचन नं० ५ दिनांक ४-७-५६) उस समय एक अपूर्व कृतकृत्यता सी उत्पन्न होने लगेगी एक विचित्र सतोष व हल्कापन सा प्रतीत होगा और वह ज्ञान श्रद्धा जो इस समय तक शब्दात्मक थी अब एक नया रूप धारण कर लेगी। "अरे! यह है वह रहस्य। यह हूं मैं साक्षात् रूप से अपने अन्तरग मे विराजमान शान्ति के वेदन से अत्यन्त तृप्त, सर्वाभिलाष से मुक्त। वाह! वाह! कितना सुन्दर है यह। यह तो है बिल्कुल पृथक। यह रहा। वास्तव मे कुछ भी सम्बन्ध है नही इन दूसरो से इसका। व्यर्थ ही अब तक व्यग्र बना रहता था। व्यर्थ ही इसकी खोज इतनी कठिन समझता था। यह मै ही तो हूँ। अरे! वाह वाह! कितनी विचित्र बात है? आज तक यूं ही मारा मारा फिरता रहा इसकी खोज मे। इस शान्ति को छोडकर अब कहां जाऊ? कुछ भी प्रयोजनीय नही है। बस अब मुझे कुछ नही चाहिये। यह था वह जिसकी मुझे इच्छा थी।" इत्यादि प्रकार के विकल्प व उद्गार उत्पन्न हो जायेगे।

बस उसी क्षण से वह श्रद्धा अब इस रूप न रह जायेगी कि "गुरु का उपदेश है इसलिये यह ऐसा ही है", बल्कि इस रूप हो जायेगी कि "मैंने स्पष्ट इसका फल चखा है, इसलिये यह ऐसा ही है। अब इसका आधार उपदेश की बजाय अनुभव हो गया है। अब यह श्रद्धा पराश्रित नही रही, स्वाश्रित

हो गई है। शब्दात्मक नही रही रहस्यात्मक हो गई है। अब यह श्रद्धा तीन कोटियो को उलघन करके चौथी कोटि मे पहुँच चुकी है। इसलिये इसी का नाम वास्तविक व सच्ची श्रद्धा है। जिसके हो जाने पर ज्ञान भी रहस्यात्मक बन जाने के कारण सच्चा हो गया, और चारित्र भी रसास्वादन हो जाने के कारण सच्चा हो गया है। पहले की त्रयात्मकता मे शाब्दिक ज्ञान की प्रमुखता थी और इस रहस्यात्मक त्रयात्मकता मे रसास्वाद रूप अनुभव सम्बन्धी श्रद्धा की मुख्यता है। इसलिये जहां सच्चे मार्ग या धर्म का निरूपण किया जाता है, वहा ज्ञान को प्रथम स्थान न देकर श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया जाता है। अब इस त्रयात्मकता का रूप ज्ञान श्रद्धा व चारित्र न रह कर, श्रद्धा ज्ञान चारित्र बन जाता है क्योंकि ज्ञान की रहस्यात्मकता का कारण अनुभवात्मक श्रद्धा है और आगे आगे चारित्र मे प्रेरक होने वाली भी, बजाय गुरु के उपदेश के वही रहस्यात्मक श्रद्धा है। पहले की भाति अब गुरु के कहने के कारण आगे नही बढेगा, बल्कि इस स्वाद का व्यसन पड गया है, इसलिये आगे बढेगा। इसी स्वाद की प्रेरणा से पुरुषार्थ आगे आगे अधिकाधिक उत्तेजित होता जायेगा। और एक दिन श्रद्धा ज्ञान व चारित्र मिलकर तीनों एक शान्ति मे निमग्न हो जायेगे। वहाँ न श्रद्धा होगी न ज्ञान न चारित्र। मैं हूगा और मेरी शान्ति। एक अद्वैत दशा होगी वह।

४८

—: सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा के लक्षणों में समन्वय :—

दिनाक २६ अक्तूबर १९५९ सन्ध्या समय

प्रवचन न० ८०

१—पाच लक्षण, २—पाचो लक्षणो में पृथक पृथक शान्ति का समावेश, ३—पाचो लक्षणो की एकता।

धर्म की त्रयात्मकता का एकीकरण कर देने के पश्चात् अब एक बडा प्रश्न और सामने आता है। वह है कि आगम में सम्यक्त्व या शान्ति मार्ग सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा के अनेको लक्षण दिये गये हैं। परन्तु यहा इतने लम्बे प्रकरण मे उनमे से एक भी लक्षण कहा नही गया है। केवल एक शाति की रट लगाते चले आये हैं। तो क्या आगम के इन लक्षणो को मिथ्या मान ले ?

नही भाई ! ऐसा भूल कर भी न कहना। और उन्हे मिथ्या मानने के लिए अवकाश भी तो नही है। तनिक समझ मे फेर है ? ध्यान देकर समझ, सभी लक्षणो मे एक ही बात दृष्टि गत होती है। भिन्न भिन्न रुचि वाले शिष्यो के अनुग्रहार्थ भले गुरु जनो ने एक ही बात को भिन्न भिन्न रूपो से कहा हो, परन्तु सब मे अभिप्राय एक ही है। जिस प्रकार कि मै बताता हूँ इस प्रकार देख। इन सब मे एक शान्ति ही तो नृत्य करती दिखाई दे रही है।

१ पाच लक्षण

सम्यक्त्व सम्बन्धी लक्षण आगम में मुख्यतया चार प्रकार से करने मे आते है :—

(१) सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे शास्त्र या सच्चे धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धान।

(२) सात तत्वों पर दृढ श्रद्धान।

(३) स्व पर भेद दृष्टि।

(४) आत्मानुभव।

(५) इनके अतिरिक्त एक लक्षण वह जो कि मैं करता चला आया हूँ। शान्ति के प्रति रुचि व झुकाव।

२ पाचों लक्षणों में पृथक पृथक शाति का समावेश

यद्यपि शब्दों मे यह पाचो पृथक पृथक दीख रहे हैं। परन्तु तनिक गौर से देखने पर इन पाचो मे कोई भेद नही है। देख पहला लक्षण है, सच्चे देव, गुरु व धर्म पर दृढ श्रद्धान। इस लक्षण का स्पष्टीकरण करने के लिये मुझे आवश्यकता पड़ेगी यह पूछने की कि तू देव व गुरु किसे समझता है। यदि नग्न शरीर व केश लु चनादि अन्य शारीरिक लक्षणो मात्र को गुरु, और अद्वितीय तेज. पुन्ज शरीर धारी व छत्र, चमर आदि सहित को देव मान कर, उन सम्बन्धी दृढ श्रद्धा करे तो उसे तो सम्यक्त्व न कहेगे। क्योकि उसका नाम देव व गुरु नही है ? वास्तविक देव व गुरु को जाना ही नही है, श्रद्धा किसकी करेगा ? कुल परम्परा से नग्न शरीरादि लक्षणो को देख कर देवादि स्वीकार करना तो साम्प्रदायिक श्रद्धा है। अन्ध श्रद्धा है। विना परीक्षा किये कोई वात स्वीकार करना तो श्रद्धा नही। क्योंकि साम्प्रदायिक श्रद्धा तो अपने अपने देव व गुरु के प्रति सवको ही है। यदि कहे कि मेरी श्रद्धा सच्चे देव गुरु के प्रति है, इसलिए यह सच्ची है। सो भी ठीक नही है। क्योकि विना परीक्षा किये सच्चे व झूठे का पता कैसे चला ? तेरे पिता ने कहा है कि वह सच्चे हैं, इसका नाम तो परीक्षा नही। देव व गुरु की परीक्षा सम्बन्धी प्रकरणो में इस वात का काफी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। (देखो प्रवचन नं० ३१ दिनाक २४-७-५६ तथा प्रवचन नं० ३६-३८ दिनाक २६-७-५६—३१-७-५६) शान्ति या वीतरागता के आदर्श का नाम देव व गुरु है। शान्ति व वीतरागता सम्बन्धी उपदेश का नाम शास्त्र है। शान्ति व वीतरागता को प्राप्त करने के मार्ग का नाम धर्म है। विना शान्ति की पहिचान के कौन देव, कौन गुरु, कौन धर्म व कौन शास्त्र ? इसलिए शान्ति का अनुभव हुए विना देव व गुरु आदिक की श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नही कही जा सकती। अतः इस लक्षण मे शान्ति के अनुभव की ही मुख्यता है।

दूसरा लक्षण है सात तत्वो पर दृढ़ श्रद्धान। अव तू ही वता कि सात तत्व किसे कहता है, और उनकी श्रद्धा किसे मानता है ? यदि सात तत्वो के नाम भेद प्रभेद आदि मात्र को जान कर तत्सम्वन्धी श्रद्धा करने को श्रद्धा कह रहा है तव तो वह सच्ची श्रद्धा नही है। ऐसी श्रद्धा तो प्रत्येक जैनी को है, पर सब सम्यग्दृष्टि नही हैं। इन सात खण्डों मे हेयोपादेय बुद्धि वना कर हेय को त्यागने के प्रति झुकाव हो जावे, और उपादेय को ग्रहण करने के प्रति झुकाव हो जावे, मोक्ष या पूर्ण शान्ति का लक्ष्य विन्दु वना कर अजीव आस्रव बन्ध तत्वो को हेय जान छोड़े, और जीव संवर निर्जरा को उपादेय मान ग्रहण करे , अजीव आस्रव वन्ध में आकुलता देखे और जीव सवर निर्जरा मे शान्ति देखे। ऐसी सात तत्वो की एकत्व रूप श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा है। इसका विशेष स्पष्टीकरण कल के प्रवचन मे किया जा चुका है। शान्ति के अनुभव के विना तो वास्तविक रीति से हेयोपादेय का भेद भी नही किया जा सकता। भले गुरु के उपदेश के आश्रय पर मानता हो, पर वह तो श्रद्धान शब्दात्मक हुआ रहस्यात्मक नही। अत. इस लक्षण मे भी शान्ति के वेदन की ही मुख्यता है ?

तीसरा लक्षण है स्व पर भेद दृष्टि। इस लक्षण मे व-उपरोक्त सात तत्वो वाले लक्षण मे विशेष भेद नही है। क्योकि यहा हेय तत्वो को 'पर' मे और उपादेय तत्वो को स्व मे समाविष्ट कर दिया गया है। 'स्व' अर्थात् मै जीव हूँ और संवर निर्जरा के द्वारा प्राप्त शान्ति ही मेरा स्वभाव है। मोक्ष मेरे ही स्वभाव का पूर्ण विकास है। और अजीव 'पर' तत्व है। इसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले आस्रव व वन्ध मेरी शान्ति के घातक है। अतः अजीव आस्रव वन्ध को 'पर' तत्व समझ कर छोड़ और

जीव संवर निर्जरा तत्व को 'स्व' तत्व समझ कर ग्रहण कर। शान्ति के अनुभव बिना कैसे जाने कि मै 'जीव' कौन ? जीव को अर्थात् 'स्व' को जाने बिना 'पर' किसे कहेगा ? प्रकाश को जाने बिना अन्धकार किसे कहेगा ? केवल शरीर ही जीव रूप से दिखाई देगा। उसे तो छुडाना ही अभीष्ट है। भले जीव का नाम बदल कर, "मै आत्मा हूँ, शरीर से पृथक हू", ऐसा कहदे पर अनुभव के बिना वह आत्मा क्या, यह तो पता नही। शब्दो मे आगम के आधार पर भले लक्षण कर दे पर अनुभव के बिना तेरे वे लक्षण अन्धे के तीर वत् ही तो है। इसलिए 'स्व पर भेद दृष्टि' मे भी शान्ति का अनुभव ही प्रधान है,

चौथा लक्षण है आत्मानुभव। सो तो स्पष्ट अनुभव रूप करने मे ही आ रहा है। पर आत्मा का अनुभव क्या ? वह भी तो शान्ति का वेदन ही है। अनुभव तो स्वाद का हुआ करता है, सुख व दुःख का हुआ करता है। जैसे सूई चुभने का अनुभव, सूई के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। इसी प्रकार निज का अनुभव निज के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। ज्ञान मे तो वस्तु के आकारादि गुणो की प्रधानता होती है। उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना तो अल्पज्ञ को सम्भव नही है। परन्तु सुख व दुःख का प्रत्यक्ष होना हरेक को सम्भव है। जैसे अन्धे को सूई का ज्ञान होना तो सम्भव नही है, पर उसके चुभने का प्रत्यक्ष वेदन होना सम्भव है। इसीलिए आत्मानुभव का अर्थ ही शान्ति रूप स्वभाव का अनुभव है। और वह तो मै भी कहता चला आ रहा हूँ।

१ पांचों लक्षणों की एकता

अब बता कि इन पांचों लक्षणों मे कहाँ भेद दीखता है ? शान्ति का वेदन हो जाने के पश्चात् ही आत्मानुभव हुआ कहा जा सकता है। उसके होने पर ही अपना स्वभाव अर्थात् 'स्व' तत्व दृष्टि मे आता है। इसके होने पर ही 'पर' तत्व का यथार्थ भान होता है। उसके होने पर ही शान्ति व अशान्ति, निराकुलता व व्याकुलता, सुख व दुःख, उपादेय व हेय का ज्ञान होता है। जिसने आज तक शान्ति ही नही जानी उसे क्या पता कि अशान्ति किसे कहते हैं ? उसकी दृष्टि में तो मन्द अशान्ति शान्ति है, और तीव्र अशान्ति, अशान्ति। उपरोक्त प्रकार हेयोपादेय भेद हो जाने पर ही सात तत्वो का भाव समझ मे आता है। शान्ति का वेदन हो जाने पर ही, शान्ति के आदर्श देव व गुरु का, तथा शान्ति के उपदेश रूप शास्त्र का, व शान्ति के पथ रूप धर्म का भान होता है। अतः सर्व लक्षणो मे एक शान्ति का ही नृत्य हो रहा है।

जिसने शान्ति को नही चखा, वह कैसे जान सकता है कि मै कौन हूँ ? "मै" के जाने बिना क्या जाने कि जीव या आत्मा किसे कहते हैं। अपने को जाने बिना दूसरे जीवो को कैसे जाने ? जिस प्रकार अपने सम्बन्ध मे कल्पनाये करता है, उसी प्रकार दूसरो के सम्बन्ध मे करेगा। कैसे जान पावेगा कि जीव तत्व क्या है ? जीव तत्व को जाने बिना अजीव तत्व की क्या पहिचान करेगा ? क्योंकि जीव के सम्बन्ध से यह अजीवादि तत्व बिल्कुल जीव वत् चेतन दिखाई दे रहा है। जीव की पहिचान के बिना उसमे भेद कैसे करेगा ? शान्ति या निर्विकल्पता के अनुभव बिना विकल्पो की पहिचान क्या करेगा ? विकल्पो की पहिचान बिना आस्रव बन्ध किन्हे कहेगा ? तथा निर्विकल्पता व शान्ति के वेदन बिना संवर निर्जरा व मोक्ष किसे कहेगा। कोरी कल्पनाये ही करेगा। और उसके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है ? शान्ति का अनुभवात्मक या रसात्मक स्वरूप जाने बिना, किसे शान्ति का आदर्श मानेगा ? किसे देव व गुरु कहेगा ? किसे शान्ति का मार्ग व उपदेश कहेगा ? किसे धर्म व शास्त्र कहेगा। इन सर्व लक्षणों मे शान्ति का वेदन तथा उसके प्रति के झुकाव रूप श्रद्धा ही प्रधान है।

एक ही की प्रधानता होते हुए भी भिन्न भिन्न अभिप्रायो वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ भिन्न भिन्न लक्षण किये गये हैं। शान्ति का नमूना दिखाने के लिये देव गुरु की श्रद्धा कही गई है। धार्मिक मार्ग का भी गणेश ही यहा से करना है। शान्ति का नमूना देखे बिना उसके प्रति का झुकाव कैसे होगा। और झुकाव हुए बिना पुरुषार्थ क्या करेगा ? झुकाव हो जाने पर भी, यथार्थ उपदेश प्राप्त किये बिना पुरुषार्थ क्या करेगा ? अतः प्राथमिक शिष्य को देव, गुरु, धर्म व शास्त्र की श्रद्धा वाला लक्षण बहुत हितकारी है। क्योंकि इनके प्रति बाह्य की रुचि व श्रद्धा के आधार पर ही, कदाचित् वह अन्तरंग शान्ति को स्पर्श कर सकता है। हेयोपादेय को जाने बिना किसको ग्रहण व त्याग का प्रयास करेगा। अतः सात तत्त्वों की श्रद्धा भी प्राथमिक शिष्य के लिए बडी कार्यकारी है। 'स्व पर' मे ऊपरी भेद जाने बिना किस के प्रति उदासीन होगा ? और किस के प्रति झुकाव करेगा ? इसलिये प्राथमिक दशा मे ऊपरी 'स्व पर' भेद जानना भी बहुत कार्यकारी है। इस प्रकार देखने पर भी इन तीनो बाह्य लक्षणो मे शान्ति का लक्ष्य ही पुकार रहा है।

इस प्रकार पाँचो लक्षणो मे शब्दों का भेद होते हुए भी अभिप्राय की एकता है।
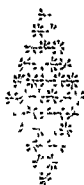
निरभिमानता, प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यास्यता। आगे इन्ही का कुछ पृथक पृथक विस्तार करने में आता है।

१ निःशंकित गुण शांति का उपासक दृढ़तया निश्चय कर वैठा है, कि वह चैतन्य है, निरावाध है, अमूर्तीक है, ज्ञान पुञ्ज है, शान्ति का स्वामी है, कोई भी उसके इन स्वभावों मे वाधा डालने को समर्थ नही। इसलिये उसमे कोई निर्भीकता सी उत्पन्न हो जाती है, कोई अलौकिक साहस जागृत हो जाता है। वह इस छोटे से कुछ वर्षों मात्र के जीवन में अपने को सीमित करके नही देखता, भूतकाल मे अनादि से चले आये और भविष्यत काल में अनन्त काल तक चले जाने वाले, सम्पूर्ण जोवनो व रूपों को फैला कर एक अखंड जीवन के रूप में देखने लगता है। इसलिये मृत्यु उसकी दृष्टि मे खेल हो जाती है। एक खिलौना लिया तोड दिया, दूसरा लेकर खेलने लगा। वस इसके अतिरिक्त और मृत्यु है भी क्या? इस शरीर के त्याग का नाम वह मृत्यु समझता ही नहीं। केवल पुराने वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने वत् समझना है। सराये के एक कमरे को छोड़कर दूसरे कमरे में चला जाना मात्र समझता है, जो सम्भवतः पहले वाले से कुछ अच्छा है। मृत्यु उसकी दृष्टि में रूप परिवर्तन मात्र है, विनाश नही। उसमें उसे कोई हानि दिखाई देती नही। हानि दिखाई देती है केवल एक ही वात में, और वह है-उसकी शान्ति में वाधा। उसे सब कुछ सह्य है पर शान्ति का विरह सहन नही है। अतः मृत्यु समझता है उन सकल्प विकल्पों को, जो क्षण क्षण में आकर उसे वाधित करने का प्रयत्न करते हैं। उसका जीवन शरीर नही शान्ति है।

उसे लोक में किससे भय लगे। लौकिक कोई भी शक्ति शरीर को वाधा पहुँचा सके तो कदाचित किसी अपेक्षा पहुँचा सके, पर उसकी शान्ति को वाधा पहुंचाने में स्वयं उसके अतिरिक्त कोई समर्थ नही। इस जीवन मे कोई उसके शरीर को वाधा न पहुंचा दे, इस वात का उसे क्या भय? अगले भव में कैसा शरीर आदि का वातावरण मिले, इस वात की क्या चिन्ता? कुछ मिले या न मिले, उसकी शान्ति उसके पास है शरीर का विनाश उसका विनाश नही, उसे मृत्यु से क्या डर? शरीर की ही परवाह नही तो रोग आने की क्या चिन्ता? उसे किसी अन्य की रक्षा की क्या आवश्यकता? उसकी शान्ति स्वयं उसमे गुप्त रूप से सुरक्षित है। उसे किसी गुप्त स्थान मे छिपकर इस शरीर की रक्षा का भाव क्यों आये? "अकस्मात् ही कोई वड़ा कष्ट न आ पड़े, विजली न गिर पडे, वम न गिर पड़े", इत्यादि भय को कहां स्थान? इस प्रकार सातो मुख्य भयो से मुक्त निर्भीक वृत्ति वह, सिंह की भाति वरावर अपनी शान्ति की रक्षा करने मे तत्पर हुआ, आगे वढ़ता चला जाता है।

लोक कुछ भी कहे पर वह किसी की सुनता नही। उसका एक ही लक्ष्य है। "आगे वढ़ो, शान्ति की ओर" मृत्यु आ जाये कोई परवाह नहीं। मृत्यु से पहले जहां तक हो सके वढ़ो। मृत्यु के पश्चात् अगले जीवन मे पुन. वही पुरुषार्थ चालू करो, उस स्थान से आगे जहां कि इस जीवन मे छोड़ा है। पीछे मुडकर देखना उसका काम नही। लोग वेचारे सहानुभूति करें, दया दर्शायें, पर वह किसी की नहो सुनता। जानता है कि इन वेचारो को नहीं पता, कि मैं कहां जा रहा हूं? अत. केवल हँस देता है उनकी वातो पर, और चल देता है आगे। वह जानता है कि लोकों की सहानुभूति शरीर के साथ है, उसकी शान्ति के साथ नही। अत. उनके कहने पर अपना मार्ग नहीं छोड़ता है। उसके हाथ मे है Excelciar की पताका। उनकी लाज वचाना ही उसका कर्तव्य है। ओह! कितनो निर्भीकता? कोई कृत्रिम रूप से अपने मे प्रगट करना चाहे तो क्या सम्भव है? ऊपरी प्रवृत्तियों में, शब्दो मे, या शरीरादि की क्रियाओं मे

भले प्रगट न होने दे पर अन्तर मे पडे भय को कैसे टाले। हृदय तो काप ही रहा था। यह निर्भीकता ही है उसका नि शकित गुण। अर्थात् उसे भय की शका स्वाभाविक रीति से ही नही होती। यह शका हो सकती है कि ज्ञानी को भी भय होता तो देखा जाता है सो इस प्रश्न का उत्तर आगे निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत दिया गया है, वहां से जान लेना।

अथवा "मै जीव ही हूं। शान्ति का पुञ्ज ही हूं। अन्य कुछ नही। अन्य से मुझे कुछ लाभ हानि नही। इन क्षणिक विकल्पो के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा शत्रु नही। विस्तृत रूप से निर्णय किया गया यह देव दर्शनादि मे प्रवृति रूप मार्ग ही मेरा मार्ग है। पूर्ण शान्ति ही मेरा मोक्ष है।" हेयोपादेय तत्वों का इस प्रकार अनुभवात्मक निर्णय हो जाने पर कौन शक्ति है जो उसके इस श्रद्धान मे कम्पन करा सके। स्वय भगवान भी आये तो वह अपना विश्वास बदलने को तैयार नही। उसने अहित को व हित को स्वय साक्षात् रूप से मु ह दर मु ह खडा करके देखा है। कैसे भूले उसे ? उसका श्रद्धान पूर्व (प्रवचन न० ६ दिनाक ८-७-५६) मे बताये अनुसार चौथी कोटि की श्रद्धा मे प्रवेश पा चुका है। अत "यह ऐसे है कि ऐसे" इस प्रकार तत्वो मे या गुरु वाक्यो मे उसे शका क्यो उपजे ! स्वाभाविक रूप से ही उसकी इस प्रकार की सब शकाये मर चुकी है। यह भी उसकी नि शकता का ही दूसरा लक्षण है।

लौकिक जन उसकी देखम देखी गुरु वाक्यो मे जबरदस्ती शका उत्पन्न न करें। "जिन वच मे शका न धारो" गुरु का ऐसा उपदेश है। यदि तत्वो आदि मे शकाये करू गा, युक्ति व तर्क करू गा, सशय करू गा, तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा। अत चुप ही रहना ठीक है, ऐसा मानकर तत्व समझने के लिये प्रश्न भी करते डरते है। अरे प्रभु ! सम्यक्त्व है ही नही, घाता क्या जायेगा ? शान्ति पर लक्ष्य है ही नही, विच्छेद किसका होगा। भले शब्दो मे न कहे, पर हृदय मे उत्पन्न हुई शकाये कैसे दवायेगा ? "यदि ऐसा करू गा, तो सम्यक्त्व घाता जायेगा" ऐसा भय ही तो शका है। वह तो उठ ही रही है। भगवन् ! यह तेरी शका तो तुझे जागृत करने आई है। सावधान हो। अपने को झूठ मूठ धर्मी मान बैठा है-केवल बाह्य की कुछ क्रियाये करने के आधार पर, सो तेरी कल्पना झूठी है। ऐसा झूठा सन्तोष त्याग। वस्तु कुछ और ही है। उसे तू आज तक जान ही नही पाया है। शास्त्र पढ़े है, पर रहस्य नही समझा है। अत उसे समझ, और पूर्व कथित मार्ग पर चल। अपने जीवन को उस साचे मे ढाल। शान्ति का अनुभव कर। और तब प्रगटेगी तेरी नि.शकता। यू नकल करने से तुझे क्या लाभ ? जबरदस्ती शकाओ को दबाने का नाम नि शकता नही, बल्कि स्वाभाविक रूप से अन्तरग अनुभवात्मक निर्णय के कारण शका को अवकाश ही न रहे, इसका नाम ही नि.शकता है। धर्मी को ऐसी ही नि शकता होती है बनावटी नही।

३ निराकाक्षता　शान्ति के उपासक को शान्ति के अतिरिक्त किसी बात की अभिलाषा ही नही। और शान्ति स्वय उसके पास है। बाहर कही से आनी नही। इन्द्रिय भोगो के प्रति उसे बहुमान नही। क्या मागे बाहर के ससर्गों से ? "इस लोक मे मै सुखी रहूं, मुझे कोई बाधा न आवे, खूब धन हो, स्त्री हो, कुटुम्ब हो, ख्याति हो इत्यादि। तथा मृत्यु के पश्चात् भी मुझे कोई अच्छी गतियाँ मिले। मै नरक पशु आदि गतियो मे न जाऊ, देव ही बनू, या राजा आदि पदो की प्राप्ति हो इत्यादि", ऐसी आकांक्षाये उसे होती नही। उसके लिये सब योनि समान है। सब उसी के एक अखण्ड जीवन के भिन्न भिन्न रूप है। (देखो प्रवचन न० ५६ दिनाक १०-१०-५६) किसके प्रति आकर्षित हो ? देव गति मे ही क्या विशेष

आकर्षण है, जो नरक गति में नहीं ? देव गति तो उसकी दृष्टि मे है तेंतीस सागर की क़ैद । चाहते हुए भी और शक्ति के होते हुए भी शान्ति पथ पर आगे न बढ़ सके इससे बडा दुःख और क्या होगा उसे ? हृदय मसोस कर रह जाता है । क्या करे क़ैद पूरी हुए बिना उसे कुछ करने की आज्ञा नहीं है। नरक गति मे भी उसे कोई द्वेष नहीं है । उसे शान्ति चाहिये । उसे नरक ही क्या-इससे भी बुरी कोई योनि हो तो स्वीकार है । परन्तु शान्ति मिलनी चाहिये । अतः उसे धन सम्पत्ति या सुन्दर शरीर आदि की, इस भव के लिये या अगले भवो के लिये कदापि आकांक्षा नहीं होती । बाह्य सुविधा और बाह्य बाधा उसकी दृष्टि मे समान है । भोगादि के सुख उसे सुख ही भासते नहीं, आकाँक्षा किस की करे ? व्यवहार मे या निश्चय मे, किसी प्रकार भी उसे आकांक्षा होती नहीं । आकाक्षा है केवल एक, अपनी शान्ति की रक्षा की । अन्य कुछ नहीं । और तो और "विदेह क्षेत्र मे जाकर प्रभु के दर्शन करने से मुझे कुछ लाभ होगा । अतः किसी प्रकार विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न हो जाऊं तो अच्छा ।" इस प्रकार की भी आकांक्षा नहीं । उसका प्रभु सर्वदा उसके पास है । नित्य ही वह उसका साक्षात्कार करता है, उसे वह आकांक्षा भी क्यों हो ? यह है उसका निःकांक्षित गुण ।

उसकी देखम देखी लोक भी शब्दों मे "मुझे स्वर्गादि भोग नहीं चाहिये । वर्तमान मे भी यह भोग सामग्री मेरे लिए कोई विशेष आकर्षक नहीं । मुझे कुछ आकाक्षा नहीं । अथवा यदि स्वर्गादि या भोगादि की आकाक्षा करू गा तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा ।' इत्यादि, इस प्रकार भले शब्दों में न कहे पर अन्तरंग मे पडे इनके प्रति के आकर्षण को कैसे दबाये ? वहां तो बराबर आकाक्षा छिपी हुई ही है । और रूप मे न सही, पर "विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न हो जाऊं तो भगवान के दर्शन से कुछ लाभ उठाऊं", ऐसी आकाक्षा तो मुख पर भी आ ही जाती है । मुख पर लाना भी देखा देखी या सुन सुना कर रोक ले तो, अन्तरंग मे पडी आकांक्षा का क्या करेगा ? सम्यक्त्व है ही कहां जो कि इस आकांक्षा से घाता जायेगा । प्रभो ! यह उपाय नहीं है इसे दबाने का । यदि नकल ही करके आकाक्षा दबाना अभीष्ट है तो पूर्व वर्णित मार्ग के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न कर । स्वतः टल जायेगी सब आकाक्षायें । धर्मी जीवो का निःकाँक्षित गुण कृत्रिम नहीं होता, स्वाभाविक होता है । वह नकल करके अपनाया नहीं जाता । जीवन मे परिवर्तन करके अपनाया जाता है ।

घृणा नही होती। किसी पुरुष मे मित्रता व किसी मे शत्रुता का भान नही होता। किसी मे अपनत्व व किसी मे परत्व का भाव नही उठता। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है।

तू तो कुछ सोच मे पड गया है भाई-यह सुन कर। सम्भवत सोच रहा हो कि गृहस्थ या ऊपर की भी यथा योग्य भूमिकाओ मे, ज्ञानी की यथार्थतया यह दशा देखने मे तो नही आती। क्योकि कोई भी मिष्टान्न की बजाये विष्टा खाने को तैयार नही। और गृहस्थ ज्ञानी भी पिता व पथिक मे एकत्व मानने को तैयार नही। फिर एकता कैसे कहते हो ? तेरा विचार ठीक है भाई! ऐसा ही है। तनिक गहराई मे उतर कर अभिप्राय की परीक्षा कर, बाह्य क्रिया को मत देख। यह प्रकरण सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा के गुणों का है। चारित्र के गुणो का नही। अभिप्राय मे साम्यता आ जाने पर तुरत चारित्र मे साम्यता आना आवश्यक नही। अभिप्राय पूर्व क्षण मे ही पूरा हो जाता है, परन्तु उनके अनुरूप जीवन वनाने मे बहुत देर लगती है। धीरे धीरे जीवन या चारित्र भी आगे चल कर, उसके अनुरूप वन अवश्य जाता है। देख गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए, जो व्यक्ति पिता व पथिक मे, या मित्र व शत्रु मे कुछ भेद व्यवहार करता था, साधु बनने के पश्चात् बिल्कुल नही करता, यह गुण क्या उसमे एक दम प्रगट हो गया ? नही, गृहस्थ अवस्था मे ही साधना के प्रथम क्षण से प्रगट होना प्रारम्भ हुआ था, यहा आकर पूर्ण हुआ। पूर्ण हो जाने से पहले भले तू उसे न देख पाये, पर वह उसके जीवन मे किंचित् भी न हो, ऐसा नही था। गृहस्थ अवस्था मे भी इस प्रकार का भेद व्यवहार करने से वह सतुष्ट नही था। उसे अपनी इस प्रवृति के प्रति घृणा थी। वह इसके लिये अपने को धिक्कारा करता था, और बराबर इस भेद बुद्धि को दूर करने का प्रयत्न करता था। उस समय उसके अभिप्राय मे साम्यता अवश्य थी। उसी ने बढते बढ़ते चारित्र का रूप धारण किया है।

इस प्रकार विष्टा व मिष्टान्न मे योगी होने के पश्चात् तक भी भेद रहता है, परन्तु अभिप्राय मे जाकर देखे तो अभेद ही है। क्योकि उसे इस बात का दृढ निर्णय है कि यह दोनो ही पदार्थ केवल ज्ञेय है भोज्य नही। भले शक्ति की हीनता व शरीर के राग वश उनको भोगने का विचार आता हो, यह विचार अनिष्ट है। बाहर मे प्रगट दीखने वाला यह भेद इस राग का कार्य है, अभिप्राय का नही। अभिप्राय में तो यही है कि "कौन दिन आये कि खाने पीने के राग से मुक्त हो जाऊ ? और बस जिस दिन ऐसी अवस्था मे प्रवेश कर जाता है अर्थात् अर्हन्त अवस्था मे, तो वह अभिप्राय ही पूर्व दृष्टान्त वत् साकार होकर सामने आ जाता है। साधु अवस्था तक उसे पूर्व दृष्टान्त वत्, इस भेद बुद्धि के प्रति बराबर आत्म निन्दन होता रहता है।

विष्टा से तू भी घृणा करता है, और एक ज्ञानी भी। पर महान अन्तर है दोनो की घृणा मे। तेरी घृणा के पीछे पडा है यह अभिप्राय कि यह तेरे लिये हितकर है और उस के अन्दर मे पड़ा है यह अभिप्राय कि यह घृणा उसका दोष है, त्याज्य है, जितनी जल्दी छूट जाये अच्छा है। इसी प्रकार एक भङ्गी व ब्राह्मण मे भी, भले वर्तमान राग वश, या पूर्व सस्कारो वश वह कुछ भेद करता हो। भङ्गी से बचने का प्रयत्न करता हो, परन्तु अभिप्राय मे अपने इस कृत्य की निन्दा करता है, इसे त्याज्य समझता है, जबकि तू इसे ही अपने लिए हितकारी समझता है। विल्कुल इसी प्रकार नि.शंकता गुण मे भय रूप ज्ञानी व अज्ञानी की प्रवृति मे भो अन्तर समझ लेना।

धर्मी का ऐसा स्वभाव ही है। वह कोई बनावट करके यह बात पैदा नही करता है। उसमे अकृत्रिम रूपमे स्वत: ही यह भाव उत्पन्न होता है। किसी की देखम देखी या सुन सुना कर शब्दों में कोई इस साम्यता का गुण गान करने लगे, और घृणा न करे तो वह गुण प्रगट हुआ कहा नही जा सकता। क्योकि अन्तरंग मे पडी घृणा को कैसे निकालेगा? बनावटी रूप से घृणा न करे तो निर्विचिकित्सा गुण नही बनता। अभिप्राय मे अन्तर पड़ना चाहिये, जो बिना वस्तु स्वभाव समझे नही हो सकता। अर्थात् आत्मानुभव हुए बिना नही हो सकता।

सब साधारण चेतन व अचेतन द्रव्यों मे तो उपरोक्त प्रकार घृणा का अभाव हो ही जाता है। परन्तु इसके अतिरिक्त विशेष गुणी जीवो मे यही परिणाम कुछ और भी विशेषता धारण कर लेता है। शान्ति के उपासक अन्य जीवो के प्रति उसे इतना प्रेम व आकर्षण हो जाता है, कि यदि कदाचित् ऐसे किसी जीव के शरीर में कोई रोग हो जावे, उसमें से मल आदि बहने लग जावे, उसमे दुर्गन्धि उत्पन्न हो जावे, उसकी ऐसी दशा हो जावे कि किसी का पास खडा होना भी कठिन हो जावे, तो वह धर्मी जीव उसकी हर प्रकार से सेवा करने से बिल्कुल ग्लानि नही करता, बल्कि उसकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझता है। उसके मल मूत्र को अपने हाथ पर उठाने में भी उसे संकोच नही होता। कफ या नासिका के मल को अपने हाथ मे ही धारण कर लेने पर भी ग्लानि नही होती। उन पदार्थों के प्रति अल्पावस्था के कारण जो कुछ ग्लानि उसकी प्रवृति मे दिखाई देती थी, वह उस पात्र के गुणो के प्रति जो बहुमान उसे उत्पन्न हुआ है, उसमे दब कर रह गई है। यह है उसका निर्विचिकित्सा गुण।

दिनाक ३१ अक्तूबर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ८२

अहो शान्ति की महिमा! जिसके कारण बिना प्रयास के ही इतने गुण स्वत. प्रगट हो जाते हैं। कितना बड़ा कुटुम्ब है इस शान्ति का? बात चलती है धर्मी जीव के गुणो अथवा उसके लक्षणो की, जिन पर से कि यह निर्णय किया जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्मी है कि अधर्मी, अर्थात् शान्ति का उपासक है कि भोगो का? उसके अनेक गुणो मे से तीन गुण नि शकता, निराकांक्षता, व निर्विचिकित्सा की बात कल चल चुकी है। आज अगले कुछ गुणो की बात चलती है।

५ अमूढ दृष्टि अनुभव के आधार पर शान्ति का व शान्ति के आदर्श का दृढतया निर्णय हो जाने के कारण, शान्ति के आस्वाद के प्रति अत्यन्त बहुमान उत्पन्न हो जाने के कारण, तथा शान्ति के अतिरिक्त अन्य सर्व प्रयोजन लुप्त हो जाने के कारण, अब उसका स्वाभाविक बहुमान शान्ति के आदर्श ऐसे देव-गुरु-शास्त्र व शान्ति धर्म के प्रति, अथवा इन देव-गुरु-शास्त्र या धर्म के उपासको के प्रति ही बहता है, इनके अतिरिक्त अन्य किसी आदर्श रूप देवादि या उनके उपासको के प्रति नही। यह बात कृत्रिम नहीं होती, क्योकि लोक मे भी ऐसा देखने मे आता है कि जवारी का बहुमान जवारो के प्रति ही होता है

अन्य के प्रति नही। देव गुरु व शास्त्र की परीक्षा करते समय यह बात काफी विस्तार के साथ बता दी गई थी। उसमे उसकी दृष्टि भ्रम को प्राप्त होती नही। इसी का नाम अमूढ दृष्टि पना है।

इसका यह अर्थ नही कि, उनके अतिरिक्त अन्य सर्व से उसे द्वेष हो जाता हो। अपने पुत्र से प्रेम करने का यह अर्थ नही कि, दूसरो के पुत्रो से आपको द्वेष हो। राग व द्वेष के अतिरिक्त एक तीसरी बात भी होती है, जिसे माध्यस्थता कहते है। आप सब को भी माध्यस्थ परिणाम का भान है, परन्तु यह पकड़ नही है, कि माध्यस्थता उसी का नाम है। देखिये आपके घर के आगे से अनेको व्यक्ति आ रहे है और जा रहे है। आप अपने बरामदे मे खडे सबको देख रहे है। बताइये उनसे आपको प्रेम है कि द्वेष? न प्रेम है न द्वेष यह आप भली भाति जानते है। फिर भी उनको क्यो देखते है? इसी का नाम माध्यस्थता है। इसमे न देखने व बोलने का कोई अभिप्राय है, और न निषेध का। बस इसी प्रकार का माध्यस्थ भाव उन अन्य आदर्शो के प्रति उसे रहता है। न उनके दर्शनादि का कुछ अभिप्राय है और न निषेध का।

इस गुण के सम्बन्ध में ठीक ठीक परिचय न होने के कारण आज साम्प्रदायिक विद्वेप को ही अमूढ दृष्टि पना ग्रहण करने मे आ रहा है। जिसके कारण आज हम अन्य देवी देवताओ की निंदा व अविनय करने मे अपनी महिमा समझते हैं। उनके प्रति मुख करके खडा होना भी आज हमे सहन नही। या तो ऐसे स्थानो पर जाते हुए ही हम घबराते है, और यदि किसी के दवाव के कारण जाना भी पडे तो, उनकी तरफ पीठ करके खडे हो जाते है। मानो कि कही वह हमे खा ही न जायें। ऐसा करने मे हमे इतना भी विचार नही रहता है, कि उनके उपासक जो अन्य साधारण जन है, उन्हे हमारी इस प्रवृति को देख कर कितना दुःख होगा। साक्षात् हिंसा होते हुए भी हम उसे गुण मान बैठे है? भगवन्! इसका नाम अमूढ दृष्टि पना नही है, साम्प्रदायिक विद्वेष है। यह गुण नही महान दोप है। अमूढ दृष्टि नही मूढ दृष्टि है। उनके प्रति पीठ घुमाने का अर्थ है, कि आप उन्हे देवादि मानते है साधारण जन नही। यदि साधारण जन माना होता तो अपने घर के सामने से गुजरने वाले व्यक्तियो मे तथा उन्हे देखने मे क्या अन्तर है? जैसे उन व्यक्तियो को देखते थे वैसे ही माध्यस्थ भाव से उनको भी देख लेते, क्या बाधा आती थी? अत भगवन्! अब वीतरागी गुरुओ की शरण मे आकर इस साम्प्रदायिक विद्वेप को त्याग। सबके प्रति माध्यस्थता धारण कर।

६ उपगूहन व उपबृंहण

शान्ति पथ पर बराबर आगे बढने वाला जीव, उसमे बाधा पहुँचाने वाले अपने अपराधो के प्रति सदा जागृत रहता है। एक क्षण को भी उनसे गाफिल नही होता। इसीलिये वह सदा अपने जीवन मे दोष ही दोष ढूंढने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उनको अनेको गुण प्राप्त हो चुके है। पर उनके प्रति उसकी दृष्टि नही जाती। पूर्णता के लक्ष्य मे उसे कमी ही दिखाई देती है। इस कमी को जिस किस प्रकार भी दूर करना अपना कर्तव्य समझता है। अपने गुण के प्रति दृष्टि चली जाने से अभिमान उत्पन्न हो जाता है। ओह! "मै इन लौकिक रक जीवो से कितना ऊंचा हो गया हूँ", ऐसा अभिमान उसे ऐसी खाई मे ढकेल देगा जहां से वह उठने का नाम भी न ले सकेगा।

इसके विपरीत उसे सर्व अन्य जीवो के जीवनो में गुण ही गुण दिखाई देते है। गुणो के प्रति बहुमान जो है उसे। गुणो को अपने जीवन मे उत्पन्न जो करना है उसे। गुणो का वह सच्चा ग्राहक है। बाजार मे जाये तो स्वभावतः आपकी दृष्टि उन पदार्थो पर ही पड़ती है, जिनकी कि आपको

आवश्यकता है, अन्य पर नही। उसी प्रकार किसी भी अन्य व्यक्ति के जीवन मे उसकी दृष्टि गुणो पर ही पडती है दोषो पर नही। भले ही उसमे दोष पडे रहे। उनकी उसे आवश्यकता ही नही, क्यों देखे उनकी ओर ?

तात्पर्य यह है कि वह सदा अपने दोषो को देखता है और दूसरे के गुणो को। अपने दोषो को प्रगट करता है और दूसरो के गुणो को। अपने गुणो को छिपाता है और दूसरो के दोषो को। अपनी सदा निन्दा करता है और दूसरो की प्रशसा। इसलिये अर्थात् दूसरो के दोषो को छिपाने या गोपने के लिए ही उसके इस गुण का नाम उपगूहन है। और साथ साथ अपने गुणो में वृद्धि करते जाने के लिए इस गुण का नाम उपबृंहण है।

आज हमारे जीवन का अधिक भाग वीता जा रहा है, बिल्कुल इससे विपरीत दोष मे, अर्थात् अपनी प्रशसा करते हुए व दूसरो की निन्दा करते हुए। आज दूसरो के अनहुये या तृणवत् दोष भी मुझे बहुत बडे भासते है, और अपने अन्दर पडे हुये शहतीर जितने बडे दोष भी दिखाई नही देते। अपने अनहुऐ गुण भी प्रगट करते हुए और दूसरो के अनहुए दोषो का भी ढढोरा पीटते हुये हर्ष मानते है। यह प्रवृति वडी निकृष्ट है। इसमे अव ब्रेक लगा प्रभु ! अपने हित के लिए दूसरो के लिए नही। आत्म प्रशसा व पर निन्दा करने से दोषो मे वृद्धि, और आत्म निन्दा व पर प्रशसा करने से गुणो में वृद्धि होती है। गुरु देव की शरण मे आकर गुणो मे वृद्धि कर दोषो मे नही।

७ स्थिति करण शान्ति के उपासक का लक्ष्य पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा करना है। इसलिये अल्पावस्था मे जब जब अपनी शक्ति की हीनता वश वह अपनी शान्ति से च्युत होता है, तब तब ही पुन उसी मे स्थित होने का बराबर प्रयास करता है। ऐसा उसमे स्वाभाविक गुण है। और क्यो न हो ? क्या दुकान मे हानि हो जाने पर, उसमे लाभ प्रगट करने के लिये, स्वभावत ही आप अधिकाधिक प्रयास नही करते है ? यह ही है स्व स्थिति करण।

इतना ही नही अपनी शान्ति के आस्वाद से छूट जाने पर उसे जो पीडा होती है, वह वही जानता है। चक्रवर्ती के षट् खण्ड का राज्य छूट जाने पर भी उसे इतनी पीडा होती नही होगी। इस लिये अन्य शान्ति के उपासको की पीडा भी उसके लिये असह्य है। "अरे ! इतनी दुर्लभ वस्तु को, अत्यन्त सौभाग्य वश प्राप्त करके भी, यह प्राणी, इन कुछ वाह्य बाधाओ के कारण छोड़ने को तैयार हो गया है। नही, नही, ऐसा नही हो सकता ? मेरे होते हुए यदि वह शान्ति की रक्षा न कर सका, तो मेरा जीवन निरर्थक है।" तथा इसी प्रकार के अन्य अनेको विचार स्वत अन्तर मे उठ कर उसे बेचैन बना देते हैं। और उसे उस जीव की यथा योग्य रक्षा करने के लिए बाध्य कर देते है। चाहे इस प्रयोग मे उसे कुछ हानि ही क्यो न उठानी पडे। यदि आर्थिक परिस्थिति के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो धन द्वारा या उसके योग्य अन्य कोई काम देने के द्वारा उसे पुन वहा स्थित करता है। यदि शारीरिक रोग के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो योग्य औषधि व शारीरिक सेवा के द्वारा उसे पुन. वहा स्थित करता है। यदि किसी के उपदेशादि या कुसगति के कारण मार्ग से च्युत हो रहा है, तो योग्य उपदेशादि के द्वारा उसे पुन वहा स्थित करने का प्रयत्न करता है। तथा अन्य भी किन्ही कारणो वश यदि वह ऐसा कर रहा है तो जिस किस प्रकार यथा योग्य सेवा करने को हर समय उद्यत रहता है। याद होगी आपको वारिषेण ऋषि की कथा। अपने शिष्य पुष्पडाल को मार्ग पर स्थित करने के लिये अयोग्य कार्य करने से भी वह न डरा। यह जानते हुये भी कि इस कार्य से लोक मे मेरी निन्दा हो जायेगी, वह उसे अपने महल मे ले गया, और अपनी सर्व सुन्दर रानियो को पूरा शृङ्गार करके सामने आने की आज्ञा दी। इस सर्व कार्य मे उसका अभिप्राय खोटा नही था। केवल पुष्पडाल के मन की शल्य निकालना था। बस इस स्वाभाविक गुण का नाम ही स्थिति करण है।

हमारी प्रवृति बिल्कुल इसके विपरीत है ? किसी साधक के जीवन पे किंचित् दोष लगा, कि चारो ओर से धुतकारे आनी प्रारम्भ हुई। भगवन् ! रोकिये इस प्रवृति को। कषाय की शक्ति विचित्र है। बडे बडे नीचे गिरते देखे गये है। गिरते को गिराने का प्रयत्न न कीजिये। जिस किस प्रकार भी उसे उठाने का प्रयास कीजिये। उसे धुतकारिये नही बल्कि पुचकारिये। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलना सीखने वाले अपने बालक को आप पुचकारते है, जब कि वह चलता २ गिर जाता है।

८ वात्सल्य शान्ति की उपासना से उसके अन्दर एक यह गुण भी प्रगट हो जाता है, कि जहा भी किसी अन्य अपनी बिरादरी के व्यक्ति को देखा, अर्थात् किसी भी अन्य शान्ति के पथिक को देखा कि उसके हृदय मे एक अनौखा सा उल्लास उत्पन्न हुआ। जिसका कारण कि स्वय वह भी नही जानता। क्योकि ऐसा स्वभाव ही है। किसी दूर देश मे आपके नगर का कोई साधारण सा व्यक्ति मिल जाये, तो मिलने व बोलने को जी करता है उससे। आपका यह गुण नगर वात्सल्य है, और इसी प्रकार उसका वह गुण शान्ति पथ वात्सल्य है, जिसके कारण एक प्रमोद उमड आता है उसके हृदय मे। "इसे मै सर पर बैठा लू, या क्या करदू" ऐसा किंकर्तव्य विमूढ सा उसकी ओर आकर्षित हो अन्दर ही अन्दर फूल उठता है। क्यो न फूले ? अपनी शान्ति का स्वाद लेते समय भी तो यही हालत होती है-उसकी। उसके इस स्वाभाविक गुण का नाम है वात्सल्य।

उसकी देखम देखी कृत्रिम रूप से भले कोई वात्सल्य या प्रेम प्रगट करना चाहे, परन्तु जब तक उस जीव मे शान्ति के दर्शन होते नही, तब तक उसकी कृत्रिमता का भान साक्षात् अन्तरग मे होता रहता है। ऐसे कृत्रिम वात्सल्य का नाम वात्सल्य नही है।

९ प्रभावना शाँति के आस्वादन से प्रभावित होकर, उसका जीवन बराबर उसकी ओर बढता जाता है। किसी ऐसे साचे मे ढलता जाता है, कि जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य होता है। कुटुम्बादि व धनादि की तो बात दूर रही, शरीर पर से भी उपेक्षा होती चली जाती है। विरक्तता बढती जाती है। साम्यता व सरलता आती जाती है। द्वेषादि का पता नही पाता। सबके प्रति कल्याण की भावना जागृत हो जाती है। ऊपर बताये हुए सात महान गुण तथा इनके अतिरिक्त अनेको अन्य गुण प्रगट हो जाते है। जीवन अलौकिक बन जाता है, ऐसा कि उन्हे देख कर अन्य जीव भी आकर्षित हुये बिना न रह सके, प्रभावित हुये बिना न रह सके। यह है उसका प्रभावना गुण।

"सर्व जीवो का कल्याण हो। किसी प्रकार शाति के प्रति उन्हे भी बहुमान हो", ऐसी शुभाकाँक्षा को लेकर वह बाहर मे भी अनेक प्रकार के उत्सव व शाति के प्रदर्शन करता है। ताकि सर्व साधारण जन उसे देख कर कुछ प्रभावित हो। और हृदय मे शाति के लिए कोई जिज्ञासा उत्पन्न करे। उसकी देखा देखी लौकिक जीवो द्वारा उत्सव आदि मनाये जाते हैं। उसका नाम प्रभावना गुण नही है। क्योकि उनकी उन क्रियाओ मे से केवल साम्प्रदायिकता झाक रही है शाति नही।

१० प्रशम शाति मे स्नान करते रहने के कारण उसके जीवन मे इतनी सरलता व साम्यता आ जाती है, कि क्रोधादि की तीव्रता तो दूर रही, लौकिक स्वार्थ का भी अभाव हो जाता है। उनके रोम रोम मे शांति खेलने लगती है। सबकी पीडा को अपनी पीड़ा समझने लगता है। उसको देख कर दूसरो को भी कुछ शाति प्रतीत होती है। ऐसा उसका प्रशम गुण है।

११ सवेग बाह्य विषय भोगो मे अब उसे रस नही आता। शांति के सामने इनका क्या मूल्य ? हलवा माडा खाने को मिले तो सूखी ज्वार की रोटी कौन खाये ? अत. भोग सामग्री से उसे स्वतः ही अन्तरङ्ग से कुछ उदासीनता सी हो जाती है। कृत्रिम रूप से देखम देखी इस सामग्री का त्याग करने

का नाम सच्ची उदासीनता नही है। उनका त्याग न करके भी गृहस्थ मे रहते हुये ही, उसे इनमे पूर्व वत् रस आना बन्द हो जाता है ? ऐसा वैराग्य या सवेग उत्पन्न हो जाता है। तथा ससार के इस जजाल से मानो अब उसे कपकपी सी छूटने लगती है। घर मे संचित पदार्थों का ढेर देखकर उसका कलेजा हिलने लगता है। जिस कमरे को बडी रूचि पूर्वक उसने सजाया था, आज मानों वह उसे खाने को दौड रहा है। ऐसा ससार के प्रति उसे कुछ भय सा उत्पन्न हो जाता है। उसे ही निर्वेद गुण कहते है।

१२ अनुकम्पा दु खी जीवो को देख कर स्वत. ही बिना किसी स्वार्थ के उसका कलेजा पसीज उठता है। "अरे ! यह भी तो शान्ति का पिण्ड है। उसे भूल कर बेचारा सतप्त है आज। अवश्य ही इसकी पीडा का निवारण होना चाहिये" इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प उठ खडे होते है। और अपनी शक्ति अनुसार यथा योग्य रूप मे, उसकी पीडा की निवृति का उपाय करता है। ऐसा उसका स्वाभाविक करुणा व दया गुण है ?

१३ आस्तिक्य शान्ति का साक्षात् वेदन हो जाने पर, "अरे ! यह रहा मैं तो, अन्तरग मे प्रकाशमान। व्यर्थ ही ढूढता फिरा इधर उधर", ऐसा भाव प्रगट हो जाता है। उसके सम्बन्ध मे अब उसे कोई शका नही होती। चाहे कोई कितना भी कहे, वह दृढ रहता है। आँखो देखी बात को कौन अस्वीकार कर सकता है ? बस इसी प्रकार स्वयं अनुभव की हुई अपनी सत्ता के प्रति कौन सशय कर सकता है ? अपनी सत्ता का निर्णय हो जाने पर स्पष्टतया अन्य प्राणियो की सत्ता का निर्णय हो जाना स्वाभाविक ही है। क्योकि उन सब मे उसे अपना जातिपना दिखाई दे रहा है। अपने जातिपने से रहित अन्य (जड या अचेतन पदार्थ की सत्ता का भी अनुभवात्मक व रहस्यात्मक निर्णय हो जाता है। समस्त विश्व की सत्ता का निर्णय ही उसका आस्तिक्य गुण है। 'अस्ति' शब्द का अर्थ है 'होना'। होते पने के निर्णय को अर्थात् पदार्थो की सत्ता के निर्णय को आस्तिक्य कहते है। "जो वेदो को माने सो आस्तिक, जो न माने सो नास्तिक", आस्तिक्य व नास्तिक्य की इस व्याख्या मे साम्प्रदायिकता झाक झांक कर देख रही है। यह व्याख्या ठीक नही है। वस्तु की सत्ता को स्वीकार करे सो आस्तिक, इसकी सत्ता को स्वीकार न करे सो नास्तिक, ऐसी व्याख्या ही ठीक है।

परन्तु सुन सुना कर "मै हू। जीव है। अजीव है। विश्व है" इत्यादि रूप स्वीकृति भी वास्तव मे आस्तिक्य नही है। क्योकि अनुभव के बिना, "मै कौन व अन्य कौन ?" यह जान नही पडता। केवल अन्धो की भाति टटोल कर भले कहता रहूँ, कि यह जीव है, अजीव है इत्यादि।

१४ मैत्री सर्व विश्व के प्राणियो को शान्ति के निवास रूप मे देखता है। उनमे अपनी जाति व बिरादरी को देखता है। उनके दोष अव्वल तो दीखते नही, और यदि दीख भी पावें तो उसे उनका रोग समझता है। इसीलिये बजाये द्वेष के करुणा करता है। सबसे प्रेम करता है। सबके कल्याण की भावना करता है। अपकारी का भी हित ही चाहता है। तथा उसे हित मार्ग पर लगाने का प्रयास भी करता है। छोटे बडे सर्व जीवो मे समानता देखता है। सब मे उसे अपना ही रूप अर्थात् एक चैतन्य ही दिखाई देता है। (देखो प्रवचन न० ६ दिनाक ३-१०-६ प्रकरण नं० २४) यह है उसका सर्व सत्व के प्रति मैत्री भाव।

१५ प्रमोद व कारुण्य व माध्यस्थता प्रमोद गुण की बात सातवें गुण वात्सल्य के अन्तर्गत आ चुकी है। और कारुण्य की बा ग्यारहवे गुण अनुकम्पा के अन्तर्गत कही जा चुकी है। माध्यस्थता की बात चौथे गुण अमूढ दृष्टि के अन्तर्गत कही जा चुकी है।

इन तथा अन्य अनेको गुणो से विभूषित वह शान्ति का उपासक आज कितना सौम्य हो चुका है ? कोटि जिह्वाओ मे भी उसकी महिमा का गान कौन कर सकता है ? "धन्य है, वे महा भाग्य", इसके अतिरिक्त शब्द ही नही है मेरे पास।

IX परिशिष्ट

५०

—: भोजन शुद्धि :—

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता—

१—भोजन का मन पर प्रभाव, २—तामसिक, राजसिक व सात्विक भोजन, ३—सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक, ४—पाचन क्रियाओं की सार्थकता।

(ख) भोजन शुद्धि व बैक्टेरिया विज्ञान—

५—बैक्टेरिया परिचय व उनकी जातिया, ६—पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति क्रम, ७—उत्पत्ति मर्यादा काल, ८—बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार, ९—बैक्टेरिया दूर करने का उपाय, १०—नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम, ११—स्थिति मर्यादा काल।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान—

१२—मन वचन काय व आहार शुद्धि १३—द्रव्य क्षेत्र काल भाव शुद्धि।

(घ) भोजन शुद्धि मे दूध दही को स्थान—

१४—दूध दही व घी की भक्ष्यता, १५—अण्डे व दूध में महान अन्तर।

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता

१ भोजन का मन पर प्रभाव — शान्ति अर्थात् आन्तरिक निर्मलता, स्वच्छता व सरलता की प्राप्ति की वात के अन्तर्गत सयम का प्रकरण पहले चल चुका है। जीवन की स्वच्छता का क्योकि अन्तरग व बहिरग सयम से घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिये यह विषय वहुत विस्तार के साथ वताया गया है। सयम ही वास्तव मे शान्ति पथ पर चलने का अभ्यास है। इसके विना केवल तत्व चर्चा करने व शास्त्राभ्यास कर लेने से जीवन शान्त होना असम्भव है। जीवन को शाँत करने के लिये उन सर्व व्यापारो से इसे रोकने की आवश्यकता है जो कि अत्यन्त तीव्र अशान्ति जनक विकल्पो की उत्पत्ति मे कारण पडते है। इन्द्रिय सयम मे इन्द्रियो को रोकने की अर्थात् उन पर नियत्रण करने की वात कही। प्राण सयम में अपने आस पास रहने वाले अन्य छोटे व वडे प्राणियो के प्रति अपना कर्तव्य व अकर्तव्य दर्शा कर विश्व

व्यापी अन्तर प्रेम को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। और आज बात चलती है भोजन शुद्धि की। क्योकि भोजन का हमारी मानसिक शुद्धि व अशुद्धि के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये सयम के अन्तर्गत यह एक प्रमुख विषय है।

अध्यात्म प्रमुखता के कारण वहाँ तो यह विषय लिया न जा सका। परन्तु इसको अत्यन्त आवश्यक समझ कर अब अन्त के इस परिशिष्ट मे लेकर सयम के प्रकरण की पूर्णता करना योग्य है। यद्यपि वस्तु स्वतन्त्रता के अन्तर्गत इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया गया है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नही कर सकता, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुकूल अपनी विचारणाओ को स्थिर करने के लिये तथा दूसरे पदार्थो के आश्रय से इसकी रक्षा करने के लिये, जब तक अत्यन्त उपेक्षित भाव की प्राप्ति होती नही, (अर्थात् इस निकृष्ट भूमिका को पर पदार्थो मे रमी राग व विकल्पात्मक दशा मे), यह अतीव आवश्यक है कि जीवन मे किसी भी ऐसे पदार्थ का ग्रहण होने न दिया जाये जिसका कि मन पर खोटा प्रभाव पडे।

क्योकि मेरे साथ शरीर का और शरीर के साथ भोजन का घनिष्ट सम्बन्ध है इसलिये भोजन का प्रभाव मन पर पड़े बिना नही रह सकता। भोजन से शरीर व हृदय का निर्माण होता है, इसलिये अशुद्ध आहार से निर्मित शरीर का अग रूप अशुद्ध हृदय मन मे अशुद्ध विचारो का निर्माण न करे यह असम्भव है। लोकोक्ति भी है कि, "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी।" तथा अनुभव मे भी आता है कि मांस मदिरा आदि अत्यन्त हेय वस्तु को आहार रूप से ग्रहण करने वाले, शाकाहारियो की अपेक्षा, अधिक क्रूर व्यभिचारी व विलासी होते हैं।

२ तामसिक राजसिक व सात्विक भोजन

भोजन को विचारों व जीवन पर प्रभाव डालने की अपेक्षा तीन कोटियो मे विभाजित किया गया है—तामसिक, राजसिक व सात्विक, या कहिये निकृष्ट, मध्यम, व उत्तम। तामसिक भोजन शाति पथ की दृष्टि से अत्यन्त निकृष्ट है क्योकि इससे प्रभावित हुआ मन अधिकाधिक निर्विवेक व कर्तव्य शून्य होता चला जाता है। तामसिक वृत्ति वाले व्यक्ति अपने लिये ही नही बल्कि अपने पडौसियो के लिए भी दु:खो का व भय का कारण बने रहते है, क्योकि उनकी आन्तरिक वृत्ति का झुकाव प्रमुखत: अपराधो, हत्याओ, अन्य जीवो के प्राण शोषण, व व्यभिचार की ओर अधिक रहा करती है। राजसिक भोजन का प्रभाव व्यक्ति को विलासिता के वेग मे वहा ले जाता है। इन्द्रियो का पोषण करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। सात्विक भोजन का प्रभाव ही जीवन मे सरलता, सादगी, विवेक, कर्तव्य परायणता व सहिष्णुता उत्पन्न करने मे समर्थ है।

तामसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो प्राण पीडन के विवेक से रहित होकर निरर्गल रूप से बनाया गया हो। जिसमें मॉस, मदिरा, शहद, गूलर, फूल गोभी, आदि कुछ ऐसे पदार्थो का ग्रहण करने मे आया हो जिनकी उत्पत्ति बडे या छोटे प्राणियो के प्राणो (देखो प्राण संयम के अन्तर्गत हिंसा के १२६६० विकल्प) का अपहरण किये बिना नही होती। हीनाधिक रूप मे ऐसे सर्व पदार्थ मन पर तामसिक प्रभाव डालते है। अर्थात् मन मे अन्धकार उत्पन्न करते है, जिसके कारण से विवेक व कर्तव्य दिखाई ही नही देता। शान्ति प्राप्ति का तो वहां प्रश्न ही नही।

राजसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो इन्द्रियो का पोषण और विलासिता अर्थात् स्वाद दृष्टि मात्र से बनाया गया हो। आज के युग मे इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। होटलो व खोंचे वालो की भरमार वास्तव मे मानव की इस राजसिक वृत्ति का ही फल है। अधिक चटपटे, घी मे तलकर अधिकाधिक स्वाद बना दिये गये, तथा एक ही पदार्थ मे अनेक ढङ्गो से अनेको स्वादो का निर्माण करके ग्रहण किये गये, या यो कहिये कि ३६ प्रकार के व्यञ्जन या भोजन की किस्मे (Varieties) अथवा पौष्टिक व रसीले पदार्थ सब राजसिक भोजन मे गर्भित है। ऐसा भोजन करने से व्यक्ति जिह्वा का दास बने बिना नही रह सकता और इसलिये शान्ति पथ के विवेक से वह कोसों दूर चला जाता है।

सात्विक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जिसमे ऐसी ही वस्तुओ का ग्रहण हो जिन की प्राप्ति के लिये स्थूल हिंसा न करनी पडे। अर्थात् अन्न, दूध, दही, घी, खाड व ऐसी वनस्पतिया जिनमे त्रस जीव अर्थात् उडने व चलने फिरने वाले जीव न पाये जाते हो। ऐसा भोजन ग्रहण करने से जीवन मे विवेक, सादगी, व दया आदि के परिणाम सुरक्षित रहते है।

यहां इतना जानना आवश्यक है कि उपरोक्त सात्विक पदार्थ ही तामसिक या राजसिक की कोटि मे चले जाते है, यदि इनको ही अधिक मात्रा मे प्रयोग किया जावे तो। पूरी भूख से कुछ कम खाने पर अन्न सात्विक है और भूख से अधिक खाने पर तामसिक, क्योकि तब वही प्रमाद व निद्रा का कारण बन बैठता है। एक सीमा तक घी का प्रयोग सात्विक है पर उससे अधिक प्रयोग तामसिक या राजसिक हो जाता है। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिये-आधा पाव घी प्रति दिन युक्त है। पर जिह्वा के स्वाद के लिये अधिक तले हुये पदार्थ जैसे पूडी, कचौडी, पकौडी, शीरा (हल्वा) या अन्य मिष्टान्न आदि राजसिक हो जाते है, क्योकि उनमे घी का प्रयोग सीमा से अधिक होता है, तथा वे जिह्वा इन्द्रिय को स्वाद के प्रति लालायित करते है। दूध मे घी डाल कर पीना तामसिक हो जाता है, क्योकि ऐसा करने से ब्रह्मचर्य मे बाधा पडती है। तथा अन्य भी यथा योग्य रीति से समझ लेना। यहाँ तो सक्षेप मे हो कथन किया जाना सम्भव है।

यद्यपि तात्विक दृष्टि से भोजन से मन मे विचार नही आना चाहिये, परन्तु अनुभव करने पर वह आता हुआ अवश्य प्रतीत होता है। इसलिये शाति के उपासक को अपने परिणामो की सुरक्षा के लिये भोजन सम्बन्धी विवेक रखते हुये सात्विक ही भोजन करना इष्ट है। तामसिक व राजसिक नही।

३ सात्विक भोजन मे भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक

जैसा कि शान्ति पथ मे वृद्धि करने के क्रम मे ऊपर ऊपर जाने पर अधिक अधिक उज्ज्वलता प्रगट होती है उसी प्रकार अधिक अधिक भोजन ग्रहण सम्बन्धी विवेक भी होता जाता है। शान्ति पथ की पहली भूमिकाओ मे सात्विक का उपरोक्त लक्षण ही सतोष जनक रहता है पर आगे आगे जाने पर उसमे भी अधिक स्वच्छता लाने का विवेक जागृत हो जाता है। अर्थात् उपरोक्त पदार्थों को भी दो भागो मे विभाजित कर लिया जाता है, एक वह जिसमे बहुत अधिक अर्थात् असख्य (Countless) सूक्ष्म जीव राशि पाई जाती है और एक वह कि जिसमे कम अर्थात् सख्यात (Countable) तक ही पाई जाती है। यहा सूक्ष्म जीव से तात्पर्य उन जीवों से है

जो साधारण रूप मे नेत्र गोचर नही होते पर सूक्ष्म निरीक्षण यत्र (Microscope) से स्पष्ट दिखाई देते है। इस प्रकार के प्राणी आज की परिभाषा मे वैक्टेरिया कहलाते है। यह प्रमुखत. स्थावर होते हैं।

यह वैक्टेरिया हर पदार्थ में-वह दूध हो कि दही, घी हो कि मक्खन, फल हो कि फूल पत्ते, यहाँ तक कि जल मे भी हीनाधिक रूप में पाये अवश्य जाते हैं। यह जड़ नही होते बल्कि प्राण धारी होते हैं। जीव हिंसा की दृष्टि से-अथवा शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से-तथा तामसिक व सात्विक की दृष्टि से असख्य जीव राशि वाली वनस्पतियाँ या अन्य दूध घी आदि पदार्थ त्याज्य हो जाते है और संख्य जीव राशि वाले ग्राह्य। यहां यह प्रश्न नही करना चाहिये कि यह संख्य राशि वाले पदार्थ भी तो जीव हिसा के कारण त्याज्य ही होने चाहिये। क्योकि यद्यपि पूर्णता की दृष्टि से तो वे अवश्य त्याज्य ही होते हैं, परन्तु फिर भी वर्तमान मे उनका सर्वथा त्याग करने पर जगत मे कोई भी खाद्य पदार्थ न रह जावेगा। तव शरीर की स्थिति कैसी रहेगी और शरीर की स्थिति के अभाव मे शान्ति पथ की साधना भी कैसे सम्भव हो सकेगी। अत. वर्तमान की हीन शक्ति वाली दशा मे साधक को सर्व पदार्थों को त्याग करके अपने को मृत्यु के हवाले करना योग्य नही है। "जहा सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये वाट" इन लोकोक्ति के अनुसार अयोग्य व हिसा युक्त होते हुए भी प्रयोजन वश अधिक हिंसा का त्याग करके अल्प हिसा का ग्रहण कर लेना नीति है। परन्तु अभिप्राय मे यह अल्प हिसा भी त्याज्य ही रहती है। इसी कारण आगे आगे की भूमिकाओ मे ज्यो ज्यो शक्ति बढती जाती है साधक इनका भी त्याग करता जाता है। यहा तक कि पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् उसे खाने पीने की ही आवश्यकता नही रहती।

यहा उस असख्य जीव राशि वाले पदार्थों का कुछ परिचय दे देना युक्त है। प्रत्येक वह पदार्थ जो बासी हो जाने के कारण या अधिक पक जाने के कारण या गल सड जाने के कारण अपने प्राकृत स्वाद से चलित हो जाता है, उस कोटि मे आ जाता है। भले ही पहले वह भक्ष्य हो पर अब अभक्ष्य है। ऐसे पदार्थों में बासी भोजन, अचार, मुरब्बे, खमीरे, चटनी, काजी बडे आदि या गली सड़ी वनस्पति तथा अन्य भी अनेको वस्तुये सम्मिलित है। वनस्पतियो मे कुछ ऐसी वनस्पतिया जो पृथ्वी के अन्दर फलित होती है जैसे आलू, अरवी, गाजर, मूली आदि, अथवा बहुत कच्ची सब्जी जैसे कोपल या बहुत छोटे साईज की भिंडी, तोरी, ककड़ी, आदि या पृथ्वी और काठ को फोड़ कर निकलने वाली वनस्पति जैसे खुम्बी, सांप की छत्री आदि तथा अन्य भी अनेकों आगम कथित वस्तुयें इन कोटि में सम्मिलित है। इस [illegible] साधकों को इनके प्रति का विशेष परिज्ञान आगम से प्राप्त करके इनका त्याग कर देना योग्य है। यद्यपि पकाने या उबालने आदि से यह भी, अन्य संख्यात जीव राशि वाली वनस्पतियों वत्, प्रासुक हो जाती है, परन्तु इनको प्रासुक करने मे अधिक हिंसा का प्रसंग आता है। तथा यह अन्तर मे कुछ तामसिक [illegible] की उत्पत्ति का कारण बनती है। इसलिये किसी प्रकार भी इनका प्रयोग करना योग्य नहीं है।

सम्बन्धी भी कुछ विवेक होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि ऐसा न होने पर सात्विक पदार्थ भी कदाचित् अपने प्रभाव वश राजसिक व तामसिक बन सकते है। तथा अल्प सख्यक जीव राशि वाले भक्ष्य पदार्थ भी अभक्ष्य बन सकते है।

वास्तव मे भोजन शुद्धि का यह प्रकरण खाना बनाने के सम्बन्ध मे कुछ विवेक उत्पन्न कराने के लिये ही ग्रहण करने मे आया है। शान्ति पथ का यह प्रमुख अग है। इसलिये इसके सम्बन्ध मे ध्यान पूर्वक विज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यद्यपि आप लोगो मे से अनेको ने कुछ व्रतादि या श्रावकाचार रूप प्रतिमा आदि ग्रहण की हुई है, तथा आप मे से अनेको को त्यागी जनो व साधुओ के लिये विशेषत शुद्ध भोजन बना कर देने का अभ्यास भी है, जिस के आधार पर सम्भवत आप को यह संतोष हो गया हो कि हम तो शुद्ध भोजन बनाने की विधि से परिचित है, पर वास्तव मे ऐसा नही है। जब तक उन उन क्रियाओ की सार्थकता वैज्ञानिक रूप से समझ मे नही बैठ जाती, तब तक भले आप रूढि वश वे सब क्रियाये करते हो जो भोजन शुद्धि के सम्बन्ध मे की जानी आवश्यक है, तथा अपनी ओर से पूरा पूरा विवेक रख कर भी भोजन बनाते हो, पर फिर भी आप वास्तव मे भोजन शुद्ध न बना सकेंगे और वह भ्रम वश शुद्ध समझा जाने वाला भोजन सम्भवत और अधिक अशुद्ध बन जाये तो भी कोई आश्चर्य नही।

भोजन शुद्धि का ग्रहण रूढि वश अपनाया गया हो ऐसा भी नही है, बल्कि इसमे कुछ सार्थकता है। इस विषय मे देखी जाने वाली जो व्यक्तिगत छूआ छूत आज दृष्टिगत हो रही है वह भी सार्थक है। इसलिये आप लोगो मे से वे व्यक्ति भी जो कि इस सर्व भोजन सम्बन्धी आडम्बर को निस्सार सा समझ कर इससे बिल्कुल उपेक्षित होते जा रहे है, इस विषय को सुनकर अपना भ्रम दूर करने का प्रयत्न करे। यह विश्वास दिला सकता हूँ कि युक्ति पूर्वक आधुनिक विज्ञान व डाक्टरो के मतो के आधार पर समझाया जाने वाला यह विषय आप को बहुत रोचक व सार्थक ही प्रतीत होगा।

—(०)—

(ख) भोजन शुद्धि व बैक्टेरिया विज्ञान

५ वैक्टेरिया परिचय व उनकी जातिया

अन्तर शुद्धि की प्रगटता से अन्तर शान्ति मे निवास करने वाले हे गुरु देव ! मेरे जीवन मे शुद्धि का सचार करे। अन्तर शुद्धि के लिये बाह्य शुद्धि और विशेपत भोजन शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। कल के प्रकरण मे ग्राह्य और अग्राह्य पदार्थो का निरूपण कर चुकने के पश्चात्, भोजन पकाने मे क्या क्या सावधानी रखी जानी योग्य हैं, और क्यो, ऐसा विवेक उत्पन्न कराना भी आवश्यक है। इस प्रकरण को रूढि के रूप मे तो आप मे से अनेको जानते व प्रयोग मे लाते है। आप मे से बहुत सी स्त्रियाँ त्यागियो व मुनियो के लिये चौका लगाने मे अभ्यस्त है पर वास्तविकता से अनभिज्ञ वे सब ही वास्तव मे शुद्ध भोजन बना नही पाती। सो कैसे, वही बात मै आधुनिक सूक्ष्म जन्तु विज्ञान (Microbiology) को आधार बना कर समझाने का प्रयत्न करू गा, जिससे कि उन लोगो का विभ्रम भी दूर हो जाये जो कि इस भोजन शुद्धि के विपय को केवल रूढि समझ कर इसे उपेक्षित दृष्टि से देखते है।

भोजन शुद्धि का प्रयोजन उन सूक्ष्म जीवो से भोजन की रक्षा करने का है, जिन्हे आज का विज्ञान वैक्टेरिया नाम से पुकारता है। वैक्टेरिया से भोजन की रक्षा करना तीन दृष्टियो से उपयोगी है—

(१) अहिसा की दृष्टि से।

(२) शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से।

(३) साधना की दृष्टि से, अर्थात् अपने परिणामो की रक्षा की दृष्टि से।

यद्यपि डाक्टर लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से ही वैक्टेरिया व उन से बचने का उपाय बताते है पर हम इसी सिद्धान्त को साधना की दृष्टि से ग्रहण करते है, जिसमे स्वास्थ्य की रक्षा तो स्वत. एव हो जाती है। यही कारण है कि एक सच्चे त्यागी अर्थात् शुद्ध भोजी को रोग या तो आते नही और आते है तो बहुत कम।

कुछ बैक्टेरिया पदार्थ मे उत्पन्न होकर उसे खट्टा बना देते है, कुछ दुर्गन्धित बना देते है, कुछ उसे नीला, हरा, या ब्राउन रग का बना देते है; कुछ उस पर फूई पैदा कर देते है, और इसी प्रकार अन्य भी अनेको बाते जो नित्य ही भोजन सम्बन्धी पदार्थो मे देखने को मिलती है। इस पर से यह बात समझ लेना चाहिये कि भोज्य पदार्थ मे जो कुछ भी रूप गन्ध व रस आदि से चलित पना होता हुआ दिखाई देता है वह सब सूक्ष्म जीवो अर्थात् बैक्टेरिया की उपज का ही प्रताप है। अतः ऐसा चलित प्रत्येक पदार्थ अहिंसा, स्वास्थ्य व साधना तीनो दृष्टियो से अभक्ष्य हो जाता है।

उपरोक्त जातियो मे से कुछ बैक्टेरिया तो मानवी स्वार्थ (अर्थात् स्वाद, या प्रयोजन विशेष) वश इष्ट है और कुछ अनिष्ट। स्वास्थ्य को हानि प्रद सर्व बैक्टेरिया अनिष्ट गिनने मे आते है, और दही व पनीर आदि के बैक्टेरिया इष्ट माने जाते है, क्योकि यह पदार्थ मे कुछ इष्ट स्वाद व गन्ध विशेष उत्पन्न कर देते है और स्वास्थ्य को हानि नही पहुँचाते। डाक्टरी दृष्टि से भले ऐसा मान ले पर साधना की दृष्टि से तो बैक्टेरिया मात्र ही जीव हिंसा के भय से अनिष्ट है। फिर भी दो चार जाति के बैक्टेरिया तो इस मार्ग मे भी इष्ट ही माने जाते है, जैसे कि मक्खन व दही के बैक्टेरिया। अनिष्ट भी इन जातियो के बैक्टेरिया को इष्ट मानने का एक प्रयोजन है, और वह है साधना मे कुछ सहायता।

प्रयोग करके देखा गया है कि दूध व दही शरीर मे चर्बी (Fat) के अश की पूर्ति करने के लिये शाकाहारी को अत्यन्त आवश्यक है। इन पदार्थो का त्याग कुछ सीमित समय के लिये तो किया जा सकता है पर सदा के लिये नही। क्योकि ऐसा करने पर शरीर शिथिल हो जाता है, उसकी स्फुर्ति जाती रहती है। फल स्वरूप मन भारी रहने लगता है, विचारणाये सो जाती है और एक जडत्व से का भान होने लगता है, जिससे कि साधना करना असम्भव हो जाता है। बस इसीलिये अयोग्य भी इन पदार्थो का योगीजनो ने निषेध नही किया। फिर भी यदि किसी की शक्ति आज्ञा दे और उसकी साधना बाधित न हो तो यह वस्तुये त्याज्य ही है। "सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बाट" वाली लोकोक्ति के अनुसार ही इनकी इष्टता का अर्थ समझना, डाक्टरो वत् सर्वथा इष्टता बताने का प्रयोजन नही है। साधना की सिद्धि के अर्थ यह मात्र रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। अभ्यास बढ़ जाने पर साधक इन का त्याग कर देता है।

६ पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति

किसी भी पदार्थ मे बैक्टेरिया उस समय तक उत्पन्न नही हो सकता जब तक कि उसमे कोई एक या दो तीन भी बैक्टेरिया बीज रूप मे प्रवेश न कर जाये या करा दिये जावे। दही जमाने के लिये दूध मे जामन (Adjunct) मिलाना वास्तव मे उसमे दही के बैक्टेरिया का बीज रूप से प्रवेश कराना ही है। बस एक बार बीजारोपण हुआ नही कि इनकी सन्तान वृद्धि हुई नही। बैक्टेरिया सन्तान की उपज पदार्थ मे एक से दो और दो से चार के क्रम से (अर्थात् Fiction Methed से) होती है। प्रत्येक कुछ कुछ मिनट के पश्चात् वे बराबर दुगने दुगने होते चले जाते है।

वस्तु मे प्रवेश पाने के पश्चात् कुछ देर तक अर्थात् लगभग आध या पौन घण्टे तक तो उनकी उपज प्रारम्भ नही होती जितने प्रवेश पा गये है उतने ही रहते है, परन्तु इस काल पश्चात् बड़े वेग के साथ इनकी उपज बराबर उत्तरोत्तर मिनटो मे वृद्धि को पाती हुई लगभग ५ या ६ घण्टे मे

ही वृद्धि की चरम सीमा को स्पर्श करने लगती है। यहा पहुच कर उपज मे आगे वृद्धि होनी तो रुक जाती है। परन्तु जितनी उपज उत्तरोत्तर मिनटो मे यहाँ अब हो रही है उतनी ही रफतार से बराबर आगे के ८ या दस घण्टो या एक दो दिन तक चलती रहती है। इतने काल पश्चात् उपज की रफतार घटने लगती है। और पाच या छ घण्टों तक उपज शून्य पर पहुँच जाती है, अर्थात् आगे उपज होनी अब बिल्कुल बन्द हो जाती है। परन्तु जितने उत्पन्न हो चुके है वे अब भी इसमे उस समय तक जीवित रहते हैं जब तक कि या तो इनकी आयु समाप्त न हो जाये और या किन्ही बाह्य प्राकृतिक अथवा मनुष्य कृत प्रयोगो से यह दूर न कर दिये जाये।

वैक्टेरिया उत्पत्ति रेखा (GROWTH CURVE)
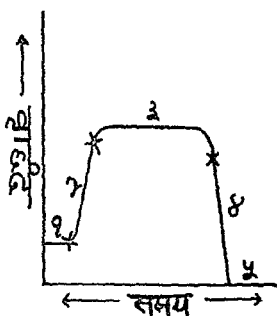
ऊपर दिखाई गई कर्व मे नं० १ वह भाग है जिस समय मे कि उपज प्रारम्भ ही नही हुई है। न० २ उपज की उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि को, न० ३ उत्कृष्ट उपज के प्रवाह को, नं० ४ उपज की हानि को और नं० ५ नवीन उपज के अभाव को प्रदर्शित करते है।

७ उत्पत्ति मर्यादा काल — *भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में वैक्टेरिया की उत्पत्ति क्रम का यह न० १ वाला अर्थात् प्रथम* आध या पौन घण्टा प्रयोजनीय है। उत्पत्ति क्रम का यह भाग नवीन उत्पत्ति से रहित होने के कारण वस्तुत शुद्धि की मर्यादा काल (Time Limit) कहा जाता है। आगम मे भोज्य पदार्थो की मर्यादा का कथन आता है। उससे तात्पर्य यही पहला कुछ समय है जिसे अन्तर्मुहूर्त या अधिक से अधिक ४८ मिनट स्वीकार किया गया है। हम भी आगे के प्रकरणो मे इसे मर्यादा नाम से पुकारेंगे।

मर्यादा में रहते रहते ही वह पदार्थ भक्ष्य है। मर्यादा को उलघन कर जाने पर वैक्टेरिया राशि अधिक उत्पन्न हो जाने के कारण पदार्थ अभक्ष्य की कोटि मे चला जाता है। इसलिये इतने समय के अन्दर अन्दर ही किन्ही भी योग्य बाह्य उपचार विशेषो के द्वारा (अर्थात् गर्म करके, उबाल कर या अन्य रीति से) पदार्थ में से वैक्टेरिया के बीज को यदि दूर कर दिया जावे तो आगे इसमे वैक्टेरिया की उत्पत्ति होनी सम्भव न हो सकेगी और पदार्थ की पवित्रता बनी रहेगी। यद्यपि बीज दूर करने की यह प्रक्रिया हिंसा जनक है तो भी आगे की अधिक हिंसा से बचने के लिये यह अल्प हिंसा ग्राह्य है। ग्राह्य

कहने का तात्पर्य वास्तव मे ग्राह्य सिद्ध करना नही बल्कि वही "सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बाट" वाला सिद्धान्त है। खाये बिना साधना सम्भव नही, और भोजन की प्राप्ति शत प्रतिशत अहिंसा के आधार पर हो नही सकती, इसलिए अधिक हिंसा का त्याग करा कर अल्प हिंसा को ग्राह्य बताया है।

भोजन शुद्धि मे मर्यादा पर बहुत जोर दिया जाता है, क्योकि इससे साधना व स्वास्थ्य की रक्षा होती है। इसीलिये जल व दूध को छान लेने व थनो से निकलने के पश्चात् यथा शक्ति तुरत ही अर्थात् अधिक से अधिक पौन घण्टे के अन्दर अन्दर गर्म करना या उबाल लेना बतलाया है, क्योकि इतने समय तक तो केवल सख्यात (Countable) ही जीवो की हिंसा होती है, परन्तु इससे आगे जीव राशि बढ जाने के कारण उन को गर्म करने या उबालने से असख्यात (Countless) जीवो के विनाश का प्रसग आता है। गर्म क्यो किया जाता है इसका कारण आगे के प्रकरणो मे आने वाला है जहा यह बताया जायगा कि गर्मी से बैक्टेरिया दूर हो जाता है।

८ बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार

वनस्पति या दूध आदि किसी भी मूल पदार्थ मे पहले ही से बैक्टेरिया विद्यमान हो ऐसा तत्वत. नही होता। परन्तु प्राय पूर्ण पवित्रता सम्भव न होने के कारण तथा वृक्ष, बेल, गाय, आदि के शरीरो मे कोई रोग विशेष रहने के कारण उन से प्राप्त मूल पदार्थो मे भी अत्यन्त अल्प मात्रा मे बैक्टेरिया पहले से विद्यमान होते है, जो आगे की सन्तान वृद्धि के लिये बीज का काम कर सकते है। परन्तु अत्यन्त अल्प होने के कारण तथा उनसे बचा जाना अशक्य होने के कारण यहा उनका विचार प्रधान नही है। उन्ही का विचार करना कार्यकारी है जिनसे बचने के लिये प्रयत्न किया जाना सम्भव हो। इसलिये यहा यह जानना इष्ट है कि पदार्थो मे बैक्टेरिया कहा से व किस प्रकार प्रवेश पाता है।

बैक्टेरिया प्रवेश के प्रमुख द्वार ५ है—(१) वायु मण्डल, (२) वह कमरा या घर जहा कि खाद्य पदार्थ रखा है, (३) बर्तन, (४) वस्त्र, (५) शरीर। वायुमण्डल मे सर्वत्र प्राय बैक्टेरिया का निवास है, और गन्दे वायुमण्डल मे वह बहुत अधिक रहते है। वायुमण्डल के बैक्टेरिया से पदार्थ की रक्षा करने के लिये यथा सम्भव वस्तु को ढक कर ही रखना चाहिये, उघडा हुआ नही। काटने छाटने से पहले छिलके वाली बनस्पति या सूखा अन्न भले खुला पडा रहे पर काटने छाटनेके पश्चात् नही। क्योकि छिलके वाली वनस्पति या अन्न आदिक प्राकृतिक रूप से छिलके के अन्दर बन्द है। कमरे व घर की भूमि व दीवारो व छतो मे वह बराबर उत्पन्न होते रहते है।

मुख्यत गन्दी व छिद्र सहित (Porous) दीवारो मे वे बहुत अधिक पाये जाते है। यहां गन्दे शब्द से तात्पर्य है धूल, धुआं, गोबर व अन्य कोई मल मूत्रादि, तथा कोई भी दुर्गन्धित पदार्थो की सन्निकटता। इनकी सन्निकटता से वायुमण्डल दुर्गन्धित व गन्दा हो जाता है। क्योकि यह गोबर आदि पदार्थ अनन्त बैक्टेरिया के पुञ्ज है। उनमे से निकल निकल कर वे बडे वेग से वायुमण्डल मे तथा दीवारो आदि के छिद्रो या मसामो (Pores) मे प्रवेश पाने व पनपने लगते है। दीवारे आदि जितनी खुरदरी होगी उतनी ही अधिक बैक्टेरिया राशि वहां अपने रहने का स्थान ढूंढ लेगी। और जितनी

चिकनी होंगी उतनी ही कम राशि को स्थान मिल सकेगा। बहुत अधिक चिकनी व चमकदार दीवारो मे बैक्टेरिया प्रवेश नही पा सकता क्योकि उसमे छिद्र या मसाम नही होते।

बर्तनो मे भी यदि कही मैल लगा रह जाये या यदि ठीक से न माझा जाने के कारण उसमे चिकनाहट रह जाये तो वहा बैक्टेरिया की सन्तान वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। जिस बर्तन मे खड्डे पड गये हो उस बर्तन मे तो प्राय. करके बहुत अधिक बैक्टेरिया राशि पाई जाती है क्योकि उन खड्डो मे मैल एकत्रित हुए बिना नही रह सकता। उस मैल मे स्वभावत. ही बैक्टेरिया उत्पन्न हो जाते है। क्योकि वह मैल बैक्टेरिया का खाद्य है। चिकने, चमकदार, साफ व बिना खड्डो वाले बर्तनो मे बैक्टेरिया उत्पन्न नही हो सकता। उनको यदि माझ धो कर गीले रख दिये जाये तो उत्पन्न हो जाते है, परन्तु सूखो मे बिल्कुल उत्पन्न नही होते।

बर्तनो को भाति वस्त्र व शरीर मे भी समझना। मैले वस्त्र मे या मैले शरीर मे वह बहुत वेग से पनप उठते है, साफ व सूखे वस्त्र मे उनकी उत्पत्ति नही होती। परन्तु शरीर को तो पवित्र व साफ रखा जाना असम्भव है क्योकि इसमे से हर समय पसेव आदि रिसते रहते है, जिनमे बराबर बैक्टेरिया जन्म पाते रहते है। परन्तु वस्त्र के द्वारा उनकी किञ्चित् रोक थाम हो जाती है। इसलिये किसी भी पदार्थ को बिना अच्छी तरह हाथ धोये छूना योग्य नही।

इन पाचो पदार्थों के निकट सम्पर्क मे आने पर खाद्य पदार्थ में बैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है और वहा उसकी सन्तानोत्पत्ति बडे वेग से वृद्धि पाने लगती है। इसलिये ऐसे पदार्थो से छूआ हुआ खाद्य पदार्थ अपवित्र माना जाता है। यहाँ तक कि स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ शरीर व स्वच्छ बर्तन भी यदि ऐसे गन्दे पाचो पदार्थो मे से किसी से छू जाये तो उनमे भी तुरत बैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है। जिसके कारण स्वच्छ भी वे अस्वच्छ व अपवित्र हो जाते है।

इसी कारण वश वस्त्र व शरीर शुद्धि मे छूआ छून का बहुत विचार रखा जाना योग्य है। वस्त्र व शरीर को धो लेना ही पर्याप्त नही है बल्कि धुलने के पश्चात् उनकी अन्य अपवित्र व गन्दी वस्तुओ तथा अन्य व्यक्तियो के वस्त्रो व शरीरो के स्पर्श से रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्त्र आदि धोने का अर्थ यहाँ पानी मे से निकाल कर सुखा देना मात्र नही है। वह तो केवल रूढ़ि है। अच्छी तरह से साबुन या सोडे आदि के प्रयोग द्वारा या उसे सोडे साबुन के पानी मे पका कर या भाप (Steam) मे पका कर उसका मैल निकाल कर उसे बिल्कुल सफेद कर लेना योग्य है। जो लोग साबुन आदि से वस्त्र को सफेद नही धोते वे वास्तव में शुद्ध भोजन न बना सकते हैं, और न खा सकते है। उनके वस्त्र व शरीर स्वय जीव राशि के निवास स्थान बने रहते हैं, भले वह त्यागी हो कि ब्रह्मचारी। भले ही अपने को बहुत शुद्ध कहते व मानते हो पर सिद्धान्त का आधार किसी व्यक्ति विशेष की मान्यता नही, पर वस्तु स्वभाव है। गन्दे वस्त्रो मे पवित्रता रहनी सम्भव नही।

वस्त्रो की इस छूआ छून को सम्भवत· हम इतने अश मे न निभा सकें जितना कि विदेशी निभाते है। इसलिये इसे रूढ़ि न समझना। इसमें बहुत सार है। इसीलिये डाक्टर लोग आपरेशन रूम मे तभी प्रवेश करते है जब कि भाप में पका (Sterilised) एक लम्बा कोट पहन ले ताकि सर्व अपवित्र

वस्त्र उसके नीचे छिप जायें और वहां से बैक्टेरिया निकल कर रोगी के घाव मे प्रवेश न करने पाये। यहा तक कि मु ह व नाक के आगे भी एक स्वच्छ वस्त्र बाँध लेते हैं। तथा साबुन से अच्छी तरह हाथ धो कर ही औजारा को छूते है। बिल्कुल इसी प्रकार विदेशो मे प्रत्येक उस कारखाने मे जहा कि भोज्य सामग्री तैयार की जाती है, जैसे कि डेयरी फार्म या बेकरी (डबल रोटी व बिस्कुट का कारखाना) मे यह नियम बहुत दृढता से पाला जाता है। कारखाने का कोई भी कर्मचारी उस कमरे मे जहा कि पदार्थ बनता व रखा जाता है, भाप मे पका लम्बा कोट पहन कर, मु ह व नाक के सामने वस्त्र बाध कर तथा साबुन से हाथ धो कर ही प्रवेश करता है, अन्यथा नही। इस नियम की उपेक्षा करना वहा एक दण्डनीय अपराध है। व्यक्तिगत भोजन शालाओ मे भी गृह स्वामिनी या बावरची इसी प्रकार के लम्बे कोट का प्रयोग करते है। भाप मे पकाने के साधन हम लोगो को उपलब्ध न होने के कारण साबुन से धुले वस्त्रो का प्रयोग करने मे ही हमे सन्तोप करना पडता है। उत्तम तो भाप मे पकाना ही है।

६ बैक्टेरिया दूर करने के उपाय

यदि उपरोक्त पाच बातो के सम्बन्ध मे सावधानी वर्ती जाये तो भोजन मे बैक्टेरिया का प्रवेश होना रोका जा सकता है। परन्तु पदार्थ मे पहले से विद्यमान बैक्टेरिया को दूर करना भी उसकी रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि नवीन प्रवेश को रोक दिया जाने पर भी यदि ऐसा न करे तो पदार्थ मे बैक्टेरिया की सन्तान वृद्धि रोकी नही जा सकती। इसलिए बैक्टेरिया को दूर करने का उपाय भी यहा विचारनीय है। यद्यपि यह उपाय करना हिंसा मे सम्मिलित होता है परन्तु पहले की भाति यहा भी अधिक हिंसा से बचने के लिये यह अल्प हिंसा कथन्चित इष्ट है।

कुछ बैक्टेरिया तो ऐसे है जो अल्प मात्र ही गर्मी को सहन कर सकते है। और कुछ ऐसे है जो बहुत अधिक भी गर्मी को सहन कर सकते है। कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक गर्मी मे उत्पन्न होते है। इसलिये एक समस्या है कि यदि पदार्थ को थोडा गर्म करते है तो सर्व बैक्टेरिया दूर नही होते। और यदि अधिक गर्म करते है तो न० २ जाति के बैक्टेरिया उत्पन्न हो जाते है। इस समस्या को हल करने के लिये दो उपाय विज्ञान बताता है। एक तो यह है कि पदार्थो को कुछ सैकण्डो के लिये बहुत अधिक गर्म कर दिया जावे और एक यह है कि अधिक देर तक थोडा गर्म रखा जाये। मुख्यत. जल व दूध आदि तरल पदार्थो को यदि आध घण्टे तक ६३ डिग्री तापमान पर या ३ मिनट तक ८० डिग्री तापमान पर गर्म कर दिया जाये तो उसमे रहे बैक्टेरिया प्राय दूर हो जाते है। इस प्रक्रिया का नाम पास्चुराइजेशन (Pasturisation) है। बडी बड़ी डेयरी फार्मो व अन्य कारखानों मे तो मशीनो के द्वारा ठीक ठीक तापमान देने के साधन विद्यमान होने के कारण उनके लिये तो वह सम्भव है। पर एक भारतीय साधारण गृहस्थ के लिये यह सम्भव नही कि ठीक ठीक ही समय व तापमान दिया जा सके। प्राय गर्म ही किया जाना सम्भव है, इसलिए प्राय दूध व जल को उबाल लिया जाना चाहिए। पर बराबर घण्टों तक उबलते रहने न दिया जाये, बल्कि दो या तीन उबाल आ चुकने पर अग्नि पर से हटाकर उन्हे ठण्डा करने को रख दिया जाना चाहिए, ताकि गर्मी वाले बैक्टेरिया उनमे उत्पन्न होने न पावे।

कम ताप मान पर उत्पन्न होने वाले न० १ जाति के बैक्टेरिया से उसकी रक्षा करने के लिये आवश्यक है कि उस उबले हुये पदार्थ को शीघ्रातिशीघ्र ठण्डा कर दिया जाये। यदि रैफ्रीजिरेटर (Refrigerator) उपलब्ध हो तो उसमे रख कर नहीं तो ठण्डे जल मे रख कर जितनी जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा किया जाना सम्भव हो, कर देना चाहिये। यदि उसे पास्चुराइजेशन के पश्चात् शीघ्र

गृह (Cold Storage) मे रख कर बहुत अधिक ठण्डा कर दिया जाये तो वह दूध बैक्टेरिया से सर्वथा मुक्त बना हुआ महीनों तक भी खराब नही हो सकता। बडी बडी डेयरी फार्मो मे इसी प्रकार दूध को महीनो तक सुरक्षित रखा जाता है। इतने साधन हमारे पास नही है और न ही महीनो तक रखने की आवश्यकता है इसलिये उबाल कर शीघ्र यथा शक्ति ठण्डा करना भी पर्याप्त है। यदि ऐसा भी किया जाये तो भी गर्मी के दिनो मे २४ घण्टे दूध खट्टा नही हो सकता। दही जमाने के लिये भी यदि इस प्रक्रिया को अपनाया जाये तो गर्मी के दिनों मे भी दही बहुत मीठी व कडी जमती है। वह पानी नही छोड़ती तथा फटती नही।

परन्तु यह उबालने की क्रिया दुध व जल की प्राप्ति के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र (अधिक से अधिक पौन घण्टे की पूर्वोक्त मर्यादा काल के अन्दर अन्दर) करनी चाहिये। क्योकि मर्यादा काल बीत जाने पर उन पदार्थो मे बैक्टेरिया की सन्तान मे वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है। अत. तब उबालने का कार्य करने मे अधिक हिंसा का प्रसग आता है।

१० नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम — बैक्टेरिया की उत्पत्ति के लिये चार बातो की आवश्यता है। वायु, जल, आहार (Neutrient) व तापमान। यदि इन चारों चीजो में से किसी एक का भी पदार्थ मे से अभाव कर दिया जाये तो बैक्टेरिया उत्पन्न नही हो सकता। यदि किसी पदार्थ को पूर्वोक्त प्रकार बैक्टेरिया रहित करके वायु रहित (Air-tight and Air-exhausted) डब्बो मे सील बन्द कर दिया जाये *(अर्थात् डब्बे का मुह खाम कर दिया जाये ताकि उसमे वायु प्रवेश न कर सके)* तो बैक्टेरिया की उत्पत्ति नही हो सकती। क्योकि उपरोक्त चार बातो मे से वहाँ हवा नही है। इसी कारण डब्बो मे बन्द अनेको विलायती पदार्थ व औषधिया बिना सड़े वर्षो तक ज्यो के त्यो बनी रहती है।

यदि किसी पदार्थ को धूप में पूर्णत सुखा कर किसी ऐसे बन्द डब्बे मे या शीशे के जार मे रख दिया जाये जिसमे कि नमी प्रवेश न कर सके तो भी वह वस्तु वर्षो तक खराब होनी सम्भव नही, क्योकि वहा चार चीजो मे से जल या नमी नहीं है अत. बैक्टेरिया उत्पन्न नही हो सकता।

यदि किसी स्थान पर आहार के योग्य कोई पदार्थ न हो तो वहां बैक्टेरिया उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि चारो चीजो मे से वहां आहार का अभाव है। इसी कारण मैले वर्तनो मे व कपडो मे ही बैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव है, स्वच्छ व साफ मे नही, क्योकि तनिक सा भी मैल बैक्टेरिया के लिये पर्याप्त आहार है।

यदि किसी पदार्थ को अत्यन्त शीत मे रखा जाये तो बैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव नही, क्योकि चार चीजो मे से वहां योग्य तापमान का अभाव है। इसी कारण रैफ्रीजिरेटर या शीत गृह (Cold Storage) मे रखी हुई वनस्पति व अन्य पदार्थ वर्षों बिगडते नही।

बस अपने भोजन की रक्षा करने के लिये भी हम इस सिद्धान्त को काम में ला सकते है। भले ही हमारे पास पूर्ण साधन उपलब्ध न होने के कारण हम पदार्थ को पूर्णत. बैक्टेरिया की उपज से

सुरक्षित न रख सके पर यथा शक्ति हीनाधिक रूप मे कुछ रक्षा अवश्य कर सकते है। उपरोक्त चार चीजो मे से वायु, जल, व योग्य तापमान यह तीन चीजे तो सर्वत्र वायुमण्डल मे विद्यमान है। पर आहार केवल खाद्य पदार्थ मे ही है, अन्य पदार्थो मे नही। इसलिये खाद्य पदार्थो मे ही उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यत्र नही। पर गन्दगी व मैल के कारण भूमि दीवारो व वस्त्रो आदि मे भी उनकी उपज होती रहती है। इन पदार्थो मे उनकी उपज यथा सम्भव रोकी जा सकती है, यदि स्वच्छता का विचार रखा जाये तो।

११ स्थिति मर्यादा काल

खाद्य पदार्थो मे भी गीले खाद्य पदार्थो, जैसे बनस्पति व पके हुए भोजन, मे तो चारों चीजो की उपस्थिति होने के कारण उनकी उत्पत्ति सर्वथा रोकी नही जा सकती, परन्तु सूखे अन्न, खाण्ड, नमक, घी व तेल आदि मे यदि नमी का प्रवेश न होने दिया जाये तो वहा उनकी उत्पत्ति रोकी जा सकती है। अन्नादिक को धूप मे सुखा कर तथा घी, तेल आदि को उबाल कर नमी दूर की जा सकती है। परन्तु वायुमण्डल मे से मुख्यत वर्षा ऋतु मे यह पदार्थ स्वत नमी खीच लेते है। इसलिये सुखाने के पश्चात् इन्हें लोहे, धातु, या काच आदि के बन्द बर्तनों मे ही रखा जाना योग्य है। बोरी मे या मिट्टी के बर्तनो मे रखने से इनमे नमी का प्रवेश रोका नही जा सकता। डब्बो के ढकने भी बहुत टाईट होने चाहिये। ढीले ढकनो मे से नमी प्रवेश कर जाती है। ढकनो को उघाडा हुआ छोडना भी इस दिशा मे अत्यन्त बाधक है।

पके हुए पदार्थो को यद्यपि बैक्टेरिया की उत्पत्ति से सर्वथा सुरक्षित तो नही रखा जा सकता पर यदि बाहर से बैक्टेरिया इसमे प्रवेश न होने दिया जाये तो बीजारोपण के अभाव के कारण इनको कुछ काल तक अवश्य बैक्टेरिया की उपज से रोका जा सकता है। वस्तुत. तो ऊपर कथित सर्व अन्न खाण्ड आदि पदार्थो मे भी सर्वथा के लिये उनकी उपज को रोक दिया जावे, यह हमारे लिये शक्य नही है, क्योकि वायु व नमी का सर्वथा अभाव करने या डब्बो से खेच लेने के साधन हमारे पास नही है। इसीलिए भोजन शुद्धि को बनाए रखने के लिए गुरुओ को अनुमान से काम लेना पडता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे प्राय कितने काल पश्चात् बैक्टेरिया उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है, यह अनुमान करके गुरुओ ने पदार्थो का मर्यादा काल हमारे लिये सीमित कर दिया है। उस काल के पश्चात् बैक्टेरिया की उपज हो जाने के कारण वे भक्ष्य पदार्थ ही अभक्ष्य की कोटि मे चले जाते है। इसको मर्यादा काल कहते है। जैसे आटे की मर्यादा सर्दी मे ७ दिन, गर्मी, मे ५ दिन और वर्षा ऋतु मे ३ दिन बताई है। इसी प्रकार खाण्ड की मर्यादा सर्दी मे एक महीना, गर्मी मे १५ दिन, वर्षा ऋतु मे एक सप्ताह है। रोटी व पकी हुई दाल की मर्यादा ६ घण्टे, पकी हुई भाजी की मर्यादा १२ घण्टे, तले हुये पदार्थो की मर्यादा २४ घण्टे और इसी प्रकार अन्य सर्व पदार्थों की मर्यादा आगम में बताई है वहा से जान लेना। इतने काल के अन्दर ही यह पदार्थ सावधानी पूर्वक प्रयोग मे लाये जाने चाहिये। इतने काल पश्चात् नही।

उपरोक्त मर्यादाये वास्तव मे उस समय मे स्थापित की गई है जब कि आज के जैसे साधन नही थे। आटा आदि पदार्थ मिट्टी के घडे मे रखे जाते थे, जिनमे से नमी प्रवेश कर जाती थी। पर आज उनकी अपेक्षा कुछ अच्छे साधन उपलब्ध है। इसलिये वस्तुत वायु शून्य (Airtight) डब्बो व काच के बर्तनो मे सूखे पदार्थो को रख कर और रेफ्रीरेजेटर मे पके हुए गीले भोजन को रख कर

यद्यपि वस्तुओं की उपरोक्त मर्यादा एक सीमा तक बढ़ाई जा सकती है, परन्तु प्रमाद व शिथिलता से अपनी रक्षा करने के लिये आगम कथित मर्यादाओ को स्वीकार किये रखना ही योग्य है। क्योकि अधिक मर्यादा को तो कम करके ग्रहण करने मे कोई दोष नही आता, परन्तु यदि कदाचित् अपने अनुमान से काम लेकर छद्मस्थता के कारण यथार्थ मर्यादा से कुछ अधिक ग्रहण कर ली गई तो भोजन शुद्धि बनी न रह सकेगी, और एक महान दोष का प्रसग आयेगा। अत. उपरोक्त आगम कथित मर्यादाये ही स्वीकारनीय हैं।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान

१२ मन वचन काय व आहार शुद्धि अत्यन्त पवित्र शान्ति का भोज करने के लिए बाह्य मे भी शुद्ध ही भोजन का ग्रहण आवश्यक है। भोजन शुद्धि के सम्बन्ध मे अनेको बाते सिद्धान्त रूप से तो पहले प्रकरणो मे समझा दी गई। आओ अब उनका प्रयोग अपनी चर्या मे करके देखे। किस रूप मे वह हमारी चर्या में हमको सहायता दे सकती हैं।

भोजन शुद्धिके सम्बन्धमे चार बातें मुख्यत. विचारनीय हैं। (१) मन शुद्धि, (२) वचन शुद्धि, (३) काय शुद्धि, (४) आहार शुद्धि। इन चार शुद्धियो को मुख से उच्चारण करना तो हम सब जानते है और किसी भी त्यागी या सन्यासी को भोजन कराते समय "मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार जल शुद्ध है। ग्रहण कीजिये।" इस प्रकार के मन्त्रोच्चारण करने की रूढ़ि को पूरा करना तो हम कभी भी भूलते नही, और वह अतिथि भी आपके यह शब्द सुन कर सन्तुष्ट हो जाता है। पर न तो आप और न वह यह जानने का प्रयत्न करते है कि यह मन्त्र वचनों तक ही समाप्त हो गया है, या चर्या मे भी कुछ आया है। प्रभो! कुछ विवेक धारण कीजिये। रूढ़ि मात्र कार्यकारी नही। जीवन के कल्याण का प्रश्न है मिट्टी का नही। शान्ति का सौदा करने चले हैं। पद पद पर बाधा हैं। सबसे सुरक्षित रहना है। अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यह चारो बाते वचनो तक ही सीमित नही रहनी चाहिये, बल्कि जीवन मे उतरनी चाहिये। आओ इन चारो का अर्थ बताये। उसे समझ कर चर्या मे लाने का प्रयत्न करना।

<u>मन शुद्धि</u> कहना तभी सार्थक है जब कि आपके मन मे उस अतिथि के प्रति भक्ति हो। भार दण्ड समझ कर भोजन न दे रहे हो, बल्कि अपना सौभाग्य समझ कर, अपने को धन्य मान कर दे रहे हो। यदि कदाचित् मन मे ऐसा विचार आ जाये कि मैं इसको भोजन दे कर इस पर कोई एहसान कर रहा हू, या ऐसा विचार आ जाए कि किसी प्रकार यह बला थोडा घना खा कर जल्दी से टल जाए तो अच्छा, तो आपका मन शुद्ध नही है, अशुद्ध है। आपके मन की यह अशुद्धता वास्तव मे भोजन मे विष घोल देती है। उससे प्रभावित आपका भोजन शुद्ध नही अशुद्ध है। जैसे कि लोकोक्ति है कि "थाली परोसी पर उससे दूर कर।"

<u>वचन शुद्धि</u> कहना तभी सार्थक है जब कि उस अतिथि के प्रति आपके मुख से अत्यन्त मिष्ट व भक्तिपूर्ण ही शब्द निकलें। आपकी भाषा से प्रेम टपकता हो, दण्ड या क्रोध नहीं। अतिथि के

प्रति ही नही बल्कि किसी भी अन्य घर वाले के प्रति या चौके मे रहने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति झु झलाहट के या उतावल के शब्द "जल्दी कर, जल्दी परोस, पानी ला" इत्यादि नही निकलने चाहिए। क्योकि ऐसा करने से सम्भवत. घबरा कर उस व्यक्ति से कोई ऐसा कार्य जल्दी मे बन बैठे जिससे कि अतिथि को भोजन छोड देना पडे। धैर्य सन्तोष व शान्ति की अत्यन्त मन्द भाषा ही योग्य है। अन्यथा भोजन अशुद्ध हो जायेगा।

काय शुद्धि कहना भी तभी सार्थक है जब कि आपने शरीर को भली भाँति रगड, धो व पोछकर इस पर से मैल उतार कर इसे स्वच्छ व पवित्र कर लिया हो। इसमे कही भी किसी प्रकार की ग्लानि का भाव जैसे कोई घाव, फोडा, फुन्सी, मैल, मल, मूत्रादि का स्रवन विद्यमान न हो। इसके अतिरिक्त आपके शरीर पर नीचे के वस्त्र (Under Wear) या ऊपर के वस्त्र सब ही स्वच्छ व पवित्र हो। नीचे के वस्त्र (कच्छा बनियान आदि) तो मैले हो और ऊपर के (धोती आदि) स्वच्छ, ऐसा नही करना चाहिए। वस्त्र साबुन से धुले हुए बिल्कुल सफेद होने चाहिए। इसके अतिरिक्त चौके मे घुसने से पहले पावो को बहुत अच्छी तरह ऐडी से पञ्जे तक रगड कर काफी पानी मे धो लेना चाहिए, ताकि पावो के तलवे पर कुछ भी लगा न रह जाये। पावो का तलवा अत्यन्त निकृष्ट स्थान है यह ध्यान रखना चाहिए। एक आध चुल्लू मात्र पावो के ऊपर डाल कर पावो धोने की रूढि पूरी करना योग्य नही। चौके मे प्रवेश करते ही पहले हाथो को अच्छी तरह रगड कर तीन बार धोना चाहिए। स्नान करने व स्वच्छ वस्त्र पहनने के पश्चात् यह सावधानी रखनी चाहिए कि आपका शरीर या आपका वस्त्र घर के किसी भी अन्य पदार्थ वस्त्र व दीवार व किवाड आदि से छूने न पाए। छूआ छूत के इस विवेक का प्रयोजन वास्तव मे व्यक्तिगत घृणा नही बल्कि बैक्टेरिया के प्रति सुरक्षा का भाव है। यदि व्यक्तिगत घृणा को अवकाश दिया तो मन शुद्धि बाधित हो जाएगी, यह ध्यान रहे। इस प्रकार सारी बाते चर्या मे आने पर हो काय शुद्धि कही जा सकती है, अन्यथा नही।

आहार शुद्धि के अन्तर्गत चार बाते आती है। आहार शुद्धि कहना तभी सार्थक है जब कि यह चार बाते पूर्ण रीतिया चर्या मे आ चुकी हो। वह चार बाते है—(१) द्रव्य शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि (३) काल शुद्धि (४) भाव शुद्धि। इन चारो की व्याख्या ही अब क्रम से की जाती है। धारण करने का प्रयत्न करना।

१३ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव शुद्धि

द्रव्य शुद्धि का अर्थ है प्रत्येक उस पदार्थ की अर्थात् भोज्य पदार्थ की शुद्धि जो कि भोजन बनाने के लिये प्रयोग मे आ रहे हो। मुख्यतः निम्न पदार्थो की शुद्धि द्रव्य शुद्धि मे सम्मिलित है :—

१—अन्न शुद्धि। २—जल शुद्धि। ३—दुग्ध शुद्धि। ४—घृत व तेल शुद्धि। ५—खाण्ड शुद्धि। ६—बनस्पति शुद्धि। ७—ईधन शुद्धि।

अन्न शुद्धि मे आते है गेहूँ, चावल, दाल मसाले व सूखे मेवा आदि। इन सर्व पदार्थो को भली भाति सूर्य प्रकाश मे बीन कर इनमे से निकली जीव राशि को सुरक्षित रूप से किसी कोने मे क्षेपण करे, मार्ग मे नही। मार्ग मे ही उन्हे छोड़ देना महान अनर्थ है क्योकि वहा वे बेचारे पावो के

नीचे आकर रौंदे जाते हैं। फिर इनको स्वच्छ जल में धो लें। ताकि इन पर लगा गोबर मल मूत्रादि का अंश अथवा इनके ऊपर विद्यमान बैक्टेरिया को साफ किया जा सके। धोकर इन्हें धूप में सुखा लें। बिना धुले अन्न, मसाले आदि का प्रयोग योग्य नहीं है। चावल व दाल को हाथ की हाथ धोकर रांधा जाता है। इसलिये इनको पहले से धोकर सुखाने की आवश्यकता नहीं। गेहूँ आदि को सूख जाने के पश्चात् हाथ की चक्की में पीस लें। पीसने से पहले चक्की को अच्छी तरह झाड़ लें ताकि उसमें कोई क्षुद्र जीव रहने न पावे। चक्की पोंछने के लिए तथा चक्की में से आटा निकालने के लिए जो कपड़े प्रयोग में लाये जावें वे धुले हुए स्वच्छ होने चाहिए, मैले नहीं। आटा सूर्य के प्रकाश में स्वच्छ वस्त्र पहन कर व हाथों को धो पोंछ कर पीसना चाहिए। पिसा हुआ आटा बन्द डब्बे में, यदि हो सके तो शीशे के जार में रखना चाहिये, ताकि बाहर की नमी को वह खेंचने न पावे। इसी प्रकार मसाले को भी धो सुखा कर सफाई से कूट पीस कर रख लेना चाहिए। नमक को भोजन बनाते समय हाथ की हाथ ही पीसना योग्य है क्योंकि उसकी मर्यादा बहुत ही अल्प है। मेवा में मुनक्का आदि प्रयोग में लानी है तो सावधानी पूर्वक उसके बीज निकाल देने चाहिए. क्योंकि बीज को ग्रहण करने में कुछ दोष आता है। पदार्थ रखने के डब्बे ऐसे होने चाहिए जिसमें चींटी आदि का प्रवेश न हो सके। बिना धुले अन्न को भी शोध कर उसमें कोई ऐसा पदार्थ डाल कर रखना चाहिए जिससे कि आगे उसमें जीव राशि उत्पन्न न होने पावे। मिट्टी में पारा मिला कर उसकी टिकिया बना लें और प्रत्येक छोटे बड़े डब्बों में यथा योग्य रूप से उन्हें डाल दें तो इस प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

अब लीजिये <u>जल शुद्धि</u>। जल शुद्धि में दो बातें आती हैं। एक जल को छानना तथा दूसरी जल में से निकले जीवों की रक्षार्थ जिवानी करना। जल छानने में छलने सम्बन्धी विवेक अत्यन्त आवश्यक है। छलना १२ गिरह चौड़ा और १॥ (डेढ़) गज लम्बा होना चाहिये। ताकि दुहरा होकर वह १२ गिरह चौकोर बन जाये। छोटा सा कपड़े का कोई टुकड़ा छलना नहीं कहलाता। रूमाल या पहना हुआ कपड़ा धोती आदि छलने के रूप में प्रयोग नहीं करना चाहिये। छलना केवल जल छानने के काम के लिये अलग ही रखना चाहिये। यह मील के सूत का नहीं होना चाहिए। बल्कि हाथ के कते सूत का ही होना चाहिये। क्योंकि हाथ का कता सूत रूएं वाला होता है, मील का नहीं होता। छलना मोटे खद्दर का होना चाहिये, पतले कपड़े का नहीं। खादी भण्डार से इस प्रकार का हाथ का बुना मोटा खद्दर उपलब्ध हो सकता है। छलना अत्यन्त स्वच्छ होना चाहिये, मैला नहीं और इसीलिये प्रत्येक तीसरे चौथे दिन उसको साबुन सोडे से धोना आवश्यक है। छलने को जल छानने के पश्चात् तुरत ही सुखाना चाहिये। क्योंकि अधिक देर गीला रहने से उसमें बैक्टेरिया की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिए ऐसे गीले घटे छलने में से छने हुए जल के ऊपर कुछ झाग से तैरते हुए देखे जाते हैं। कोर पान वाला कपड़ा छलने के रूप में या चौके के किसी भी काम में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। क्योंकि मील की कोर पान में चर्बी होने के कारण वह अत्यन्त अशुद्ध है। साधारण रीति से घर पर धोकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। धोबी के यहां की भट्टियों पर जब तक वह न धुल जाए तब तक प्रयोग में लाने योग्य नहीं होता। धोबी का धुला प्रत्येक कपड़ा भी बिना अपने हाथ से घर पर धोए प्रयोग में लाना नहीं चाहिए। जिवानी करने में भी इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जिवानी का पानी भूमि या कुए की दीवार आदि पर न पड़े बल्कि सीधा कुए के पानी में पड़े।

दुग्ध शुद्धि के सम्बन्ध मे आवश्यक तो यह है कि पशु को भली प्रकार स्नान करके दुहा जाये ताकि उसके शरीर पर लगी धूल व गोबर आदि से निकलकर बैक्टेरिया दूध मे प्रवेश न कर सके। इसी प्रकार दुहने वाले को भी स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहन लेने चाहिये। बर्तन भी चमकदार व स्वच्छ मजा हुआ होना चाहिये। दुहने से पहले हाथ व थन अच्छी तरह धो लेने चाहिये, ताकि बर्तन, कपडे व हाथो से भी बैक्टेरिया का प्रवेश दूध मे न हो सके। दूध निकालते ही बर्तन को अच्छी प्रकार ढक देना चाहिये, ताकि वायुमण्डल से भी बैक्टेरिया का प्रवेश न हो सके। यह सब बाते वास्तव मे वही निभा सकता है जिसके अपने घर पर पशु हो। पर आज की विकट परिस्थिति मे यह सब बाते पूर्णत: निभाई जानी असम्भव है। इसलिये जितनी अधिक से अधिक निभानी शक्य हो निभानी चाहिये। कम से कम बर्तन अवश्य अपना ही होना चाहिए क्योकि बाजार वालो के बर्तन स्वच्छ मंजे हुए नही होते। मापने का बर्तन भी अपना ही होना चाहिये। दुहने वाले के हाथ व पशु के थन कम से कम अवश्य अपने छने हुए स्वच्छ पानी से धुलवा दिये जाने चाहिय। घर ला कर उसे अवश्य दूसरे बर्तन मे छान लेना चाहिए।

जल व दूध दोनो को जल्दो से जल्दी आग पर रख देना चाहिए, ताकि उनमे रहे थोड़े बहुत बैक्टेरिया भी दूर हो जाये, और उनमे उनकी सन्तान वृध्रि न होने पाए। यदि शाम तक रखना अभीष्ट है तो तीन बार उबाल दे कर दूध को अग्नि पर से उतार लेना चाहिए और जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि जल्दी ही प्रयोग मे ला कर समाप्त कर देना हो तो ठण्डा करने की कोई आवश्यकता नही, आग पर ही रखा रहे तब भी कोई हर्ज नही। जल के सम्बन्ध मे तोन विकल्प है। यदि छ घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग मे लाकर समाप्त कर देना हो तो उसमें छानने के पश्चात् तुरत ही पिसी हुई लोग हरडे या जीरा आदि अन्य कोई मसाला थोड़ा सा डाल देना चाहिए, ताकि जल का रङ्ग व गन्ध बदल जाए। मात्र २ या ४ साबुत लौंग डाल कर रूढि पूरी करना योग्य नही। जल का रङ्ग व गन्ध न बदले तो डालने का कोई लाभ नही। यदि १२ घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग मे ले आना हो तो जल को इतना गर्म कर लेना चाहिए जिसमे कि हाथ दिया जा सके। बहुत कम गर्म करके सन्तोष नही पाना चाहिए। यदि २४ घण्टे मे काम में लाना हो तो उसे भात उबाल गर्म करना चाहिए। पीने का पानी उबाल कर ही प्रयोग मे लाना योग्य है, क्योकि खाना बनाने व भाजी आदि मे डाला गया पानी तो खाना बनाने मे उबल ही जाता है। पर पीने मे कच्चा पानी स्वास्थ्य को कुछ बाधा पहुँचा सकता है। उबले हुए पानी में से सर्व रोग दूर हो जाते हैं। दूध या जल को गर्म करने के लिए ४८ मिनट की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए बल्कि जितनी जल्दी हो सके गर्म करना चाहिए, क्योंकि जितनी भी जल्दी गर्म हो सके उतनी कम हिंसा होती है। अधिक देर हो जाने पर बैक्टेरिया की सख्या बराबर बढ़ती जाती है। जल को कुए से लाते ही तुरत ही उपरोक्त तीनो विकल्पो मे से कोई न कोई अवश्य पूरा करना चाहिए। उसे खाली छोड़ना योग्य नही।

दही जमाने के लिए जामन का व दूध के तापमान का बहुत अधिक विचार रखना चाहिए। आग के निकट रख कर दही जमाने का प्रयत्न नही करना चाहिए। क्योकि ऐसा करने से दही फट जाती है व खट्टी हो जाती है। गर्मी के दिनो मे दही वाला बर्तन बराबर ठण्डे पानी में रखना चाहिये। और सर्दी के दिनो मे उसे किसी स्वच्छ कपड़े मे लपेट कर रखना चाहिये। ठण्डे पानी मे रखने

के लिये ऐसा करना चाहिये कि किसी मिट्टी के बड़े मु ह के वर्तन मे थोडा पानी डाल कर उसके अन्दर दही के वर्तन को उसके किनारे से कुछ नीचे तक डुबा कर रख दे ताकि वह पानी गर्म न होने पावे, ठण्डा ही बना रहे।

जामन के सम्बन्ध मे वहुत विवेक की आवश्यकता है । जामन मीठी दही का ही हो चाहिये, खट्टी का नही। क्योकि खट्टे जामन से दही भी खट्टी हो जायेगी। जामन फटा हुआ नही हो चाहिये। जामन मे से दही का पानी (Whey) नचोड कर निकाल देना चाहिए, क्योकि वह खट्टा हो है। जामन को दो तीन वार स्वच्छ पानी मे धो ले तो और भी अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने से उ से रहा सहा सब खटास निकल जाता है। जामन को धोने के लिये जामन वाले वर्तन मे थोडा जल ड कर हिला दे। फिर जल को नितार कर निकाल दे। जामन के प्रयोग का सरल उपाय तो यह है कच्चे गोले के ऊपरी छिलके की कटोरी को दही में डाल कर जमा दे। अगले दिन उसे निकाल कर सु दें। अब जब भी जामन देना हो दूध मे इस कटोरी को डुबा दे। दही प्रयोग करते समय इसे निक कर फिर सुखा दे। नया जामन बनाने के लिये आधी छटाक दूध मे थोडा जीरा डाल दे। ३ या ४ घण्टे के पश्चात् वह जम जायगा। इसको जामन के रूप मे प्रयोग कर सकते हैं। टाटरी या अम आदि से जमाना ठीक नही क्योकि उससे दही फट जाती है। गर्मी मे जामन थोड़ा दिया जाता है, अ सर्दी मे अधिक। अनुमान से काम लेना होता है। अधिक देर मे जमानी अभीष्ट हो तो थोड़ा जामन दि जाता है, और थोड़ी देर मे जमानी अभीष्ट हो तो अधिक।

घृत शुद्धि के लिये यह विवेक रखना आवश्यक है कि उपरोक्त शुद्ध दही को वलो उसमे से निकला मक्खन तुरत ही आग पर रख देना चाहिये। दो तीन दिन तक रखने का तो प्रश्न नही, १० मिनट की प्रतीक्षा करनी भी योग्य नही, क्योकि इसमे वैक्टेरिया की उत्पत्ति बडे वेग से ह है। फिर भी अधिक से अधिक पौन घण्टे की मर्यादा के अन्दर अन्दर अवश्य गर्म कर लेना योग्य है इ अधिक काल बीत जाने पर वह अभक्ष्य की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार से बने हुये घी को अ पहरा घी कहते हैं। क्योकि दूध से घी बनने तक केवल ८ पहर या २४ घण्टे ही लगे हैं। ऐसा अष्ट प घी ही शुद्ध है। इसको भी बराबर प्रति मास उवाल कर पुन पुन. नितारते रहना चाहिये। त वैक्टेरिया का बीज वहां उत्पन्न न होने पावे। आप देखेंगे कि प्रत्येक बार कुछ न कुछ छाछ अवश्य नि जाती है।

तेल शुद्धि के लिये सरसो या तिल आदि को अपने घर पर स्वच्छ जल से धो कर स् लें। फिर कोल्हू को अपने स्वच्छ जल से अच्छी प्रकार धुलवा कर उसमें पीड़ दे। इस प्रकार प्राप्त कि गया तेल ही शुद्ध है।

खाण्ड शुद्धि के लिये चाहिये तो यह कि गन्ने का रस निकालने से पहले कोल्हू को ध साफ कर लें। रस पडने वाला व रस पकने वाला दोनों वर्तन वाल्टी या कड़ाह आदि धुले हुये साफ होने चाहिये। गन्नो को अच्छी तरह झाड़ व शोध कर कोल्हू में डाले। हाथ अच्छी तरह धोकर काम क चाहिये। खाड खांची के द्वारा नही मशीन के द्वारा निकालनी चाहिये। उसे सफेद करने के लिए हाइड्र प्रयोग नही करना चाहिये। परन्तु इस प्रकार की खाण्ड बनाना सर्व के लिए सम्भव नहीं। सम्भव ही

अपनाई जा सकती है। इसलिये आज की परिस्थिति में बाजार की खाण्ड (Sugar) भी ग्रहण कर ली जा सकती है। परन्तु यह विवेक अवश्य रहना चाहिए कि वह खाण्ड हाइड्रो वाली नही होनी चाहिए। बाजार से आई हुई खाण्ड को घर पर पुन स्वच्छ जल मे पका कर उसकी बूरा कूट लेनी चाहिए। ऐसा करने से उसकी पहली सब अशुद्धियां दूर हो जाती है। इस शुद्ध खाण्ड को ऐसे डब्बे मे रखना चाहिए जिसमे चींटी का प्रवेश न हो सके। शीशे के जार मे रखना श्रेयस्कर है।

बनस्पति शुद्धि मे यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई भी बनस्पति काटने छांटने से पहले या चौके मे प्रवेश करने से पहले अपने स्वच्छ जल से एक बार अच्छी तरह रगड रगड कर धो ले, ताकि उसके बाहर लगे अशुद्ध जल व अन्य छूआ छूत व बैक्टेरिया सम्बन्धी सर्व दोष दूर हो जाये।

ईंधन शुद्धि मे लकड़ी को अच्छी तरह झाड कर प्रयोग मे लाना चाहिए। बीझी लकडी का प्रयोग करना योग्य नही। आर्णों का प्रयोग चौके मे नही होना चाहिए।

अब क्षेत्र शुद्धि सम्बन्धी बात चलती है। क्षेत्र शुद्धि के अन्तर्गत आपकी पाकशाला अत्यन्त स्वच्छ व साफ धुली घुलाई होनी चाहिए। वह स्थान अन्धयारा नही होना चाहिए। दीवारे धुए से काली हो जायें तो चूना करा लेना चाहिए। फर्श चिकनी सीमेन्ट की हो तो अच्छा, नही तो गारा से लिपी हुई होनी चाहिए। लीपने मे गोबर का प्रयोग करना योग्य नही। पाकशाला मे जाले आदि लगे नही होने चाहिए। छत पर धुला हुआ स्वच्छ चन्दोवा बधा रहना चाहिए। चन्दोवा इतना बडा हो कि चूल्हा, बर्तन व पकाने खाने व परोसने वाला सब उसके भीतर ही रहे, बाहर नही। चन्दोवा मैला नही होना चाहिए।

बर्तन सूखे मजे होने चाहिए। खड्डे वाले बर्तनो का प्रयोग नही करना चाहिए। बर्तन खूब चमकदार होने चाहिए। उन पर चिकनाई लगी रहनी नही चाहिए। बर्तन पोछने का या हाथ पोछने का या रोटियां रखने का छलना व कपडा आदि साबुन से धुले हुए अत्यन्त स्वच्छ रहने चाहिए। तनिक भी मैले कपडे का प्रवेश ही चौके मे नही होना चाहिए। बर्तन का प्रयोग करने से पहले उसे स्वच्छ जल से एक बार धो व पोछ लेना चाहिए। पटडे व पखा आदि जो भी चौके मे लाये जाये धो कर ही लाए जाये। इनको चौके से बाहर ही धो लेना योग्य है। बिना धुला पखा प्रयोग मे लाना योग्य नही। पखे को धो कर सुखा लेना चाहिये। गीला का गीला प्रयोग करने से भोजन मे उससे उडने वाले पानी के छीटे पड़ने का भय है।

शुद्ध द्रव्य व अशुद्ध (उपरोक्त विवेक रहित बनाया गया) साधारण द्रव्य को साथ साथ रखना या पकाना योग्य नही। घी मसाले व आटा आदि उतना ही लेना चाहिये जितना कि प्रयोग मे आकर बाकी न बचे। घी मसाले आदि के पूरे के पूरे बर्तन या डब्बे भोजन बनाते समय पास मे नही रखने चाहिये। क्योकि ऐसा करने से सम्भवत उनमे अन्न व नमो का अंश चला जाये, जिससे कि उनमे बैक्टेरिया की शीघ्र उत्पत्ति होने लगे। भोजन बना कर बचा हुआ घी आटा आदि पुन मूल पदार्थ मे नही मिलाना चाहिये, क्योकि याद रहे कि इस बचे हुये पदार्थ मे अन्न का अंश आ चुका है जो पदार्थ मे पड कर सारे पदार्थ को बिगाड देगा। पृथक पृथक वस्तुओ को देगची से निकालने के लिये पृथक पृथक चमचे रखने चाहिये। एक का चमचा दूसरे मे नही देना चाहिये

बने हुये सब पदार्थों के बर्तन किसी चौकी पर या पाटे पर या किसी ऊंचे स्थान पर सजा कर रखने चाहिये, ताकि इधर उधर से आया हुआ पानी उनके नीचे न जा सके। जिस स्थान पर आपका पाव आता हो वहाँ पके हुये पदार्थ का बर्तन नही रखना चाहिये। यदि नीचे ही बर्तन रखने पड़े तो राख बिछा कर रखने चाहिये, ताकि उतने उतने स्थान मे पावो के आने का भय न रहे। बेलन कभी पावो पर नही रखना चाहिये। रोटी बेल कर उसे परात में ही रखना चाहिये। अपना हाथ भूमि से स्पर्श नही होने देना चाहिये। यदि हो जाये तो धोना चाहिये। बिना धुला हुआ पखा या पाटा चौके मे नही आना चाहिये। इत्यादि अन्य भी अनेको प्रकार से छूआ छूत का विवेक बनाये रखना योग्य है। मक्खियो के प्रवेश के प्रति जितनी भी सावधानी सम्भव हो करनी चाहिये। चिडिया कबूतर आदि के प्रवेश के प्रति भी यथा सम्भव रोक थाम करनी चाहिये।

काल शुद्धि के अन्तर्गत चौके सम्बन्धी कोई कार्य रात को या अन्धेरे मे नही करना चाहिये। कम से कम इतना प्राकृतिक प्रकाश अवश्य होना चाहिये कि पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे जाये। बिजली व दीपक के प्रकाश मे काम करना योग्य नही, क्योकि दीपक पर आते हुये या स्वाभाविक रूप से अन्धयारे वायुमण्डल मे घूमने वाले छोटे छोटे उडने वाले प्राणियो की भोजन मे पड़ जाने की सम्भावना है।

भाव शुद्धि के अन्तर्गत आपके चित्त में क्रोधादि कषाय या उतावल के भाव नही होने चाहिये। भक्ति व शान्ति, सौभाग्य व उल्लास रखना चाहिये। जल्दी जल्दी काम करने की हाबड़ दौड़ मे अवश्यमेव कोई ऐसी गड़बड़ बन जाती है कि अतिथि के आहार में बाधा अर्थात् अन्तराय आ जाता है।

उपरोक्त सर्व प्रकार की सावधानियां बडे विवेक पूर्वक निभानी योग्य हैं। स्थान, बर्तन व वस्त्र की स्वच्छता का विशेष विचार रखना चाहिये।

(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान

१४ दूध दही की भक्ष्यता

आज दूध व दही के सम्बन्ध मे एक संशय की ध्वनि चारो ओर से आती सुनाई दे रही है, जो दूध व दही को या अण्डे के समान बता रही है, या सर्वथा अभक्ष्य। अत. यह विषय भी कुछ विचारनीय है।

जीव हिंसा के सम्बन्ध मे विचारने से तो वास्तव मे सर्व ही पदार्थ अभक्ष्य हैं। क्योकि कोई भी पदार्थ बैक्टेरिया रहित नही है। इसलिये किसी की शक्ति आज्ञा दे और वह भोजन मात्र का ही त्याग करके जीवन चला सके या साधना कर सके तो अत्यन्त उत्तम है। पर ऐसा सम्भव नही है, इसलिये यह विकल्प तो उठाना ही योग्य नही।

दूसरा विकल्प यह है कि यदि आहार ग्रहण ही किया जावे तो ऐसा होना चाहिए जिसमे अल्प मात्र ही हिंसा हो, अधिक नही। इस प्रयोजन के अर्थ हीनाधिक हिंसा का माप दण्ड स्थापित करना होगा, जिसके लिये खाद्य पदार्थो को कुछ श्रेणियो मे विभाजित करके देखना योग्य है—

(१) एक श्रेणी तो उन पदार्थो की है जिसमे चलने फिरने व उड़ने वाले प्राणियो (Animal Life), जिसे हम त्रस जीव कहते हैं का सद्भाव हो, जैसे मास, अण्डा, शराव, शहद, अन्जीर, गूलर, फूल गोभी आदि।

(२) दूसरी श्रेणी उन पदार्थों की है जिनमे त्रस जीवो का तो नही पर बहुत अधिक मात्रा मे (असंख्यात या अनन्त (Countless) स्थावर जीवो (Plant Life) या बैक्टेरिया का सद्भाव हो। जैसे आलू, अरवी, गाजर, मूली, अदरक, कच्ची कोपल, पुष्प आदि।

(३) तीसरी श्रेणी उन पदार्थों की है जिनमे अल्प मात्र ही अर्थात् सख्यात या (Countable) स्थावर जीवो का ही सद्भाव हो-जैसे घिया, तोरी, केला, सतरा आदि बनस्पति व दूध, दही, घी आदि पशुओ से प्राप्त पदार्थ (Organic Material)।

इन तीनो मे पहली दो श्रेणिया तो सर्वथा अभक्ष्य हैं क्योकि उनके प्रयोग में अधिक [हिंसा का प्रसग आता है। न० ३ की श्रेणी के भी दो भाग हैं। पहला बनस्पति भाग वस्तुत॰ दूसरे भाग से अधिक शुद्ध है-ग्लानि की अपेक्षा से भी व जीव हिंसा की अपेक्षा से भी। क्योकि एक तो दूध मे बनस्पति से अधिक बैक्टेरिया होते है, तथा उत्पन्न हो जाते है, दूसरे वह ग्लानि मयी मास पेशियो मे पड़ी नसा जाल मे से बह कर आता है। बनस्पति भाग मे भी सारी बनस्पतिया समान हो सो नही। जीव हिंसा की अपेक्षा उनको भी दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है—एक शुष्क रहने वाला अन्न और दूसरा हरित बनस्पति। इस प्रकार कुल भक्ष्य रूप से ग्रहण किये गये पदार्थो के तीन भाग हो जाते हैं।

१—अन्न, २—हरित बनस्पति, ३—दूध दही।

इन तीनो मे भी यदि भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया जावे तो न० ३ बहुत दूषित है, न० २ उससे कम और नं० १ उससे कम। अब रही ग्राह्य और अग्राह्य की वात। सो व्यक्ति विशेष की शक्ति

पर आधारित है। यह ध्यान रहे कि यहां एक मध्यम मार्ग का विचार हो रहा है जिससे कि जीवन भी बना रहे, साधना मे बाधा भी न हो और जीव हिंसा भी कम से कम हो।

यदि कोई व्यक्ति केवल सूखे अन्न पर निर्वाह कर सके और उसकी साधना बाधित न हो तो अत्यन्त उत्तम है। उसको हरित व दुग्ध का त्याग कर देना चाहिए। यदि अन्न व वनस्पति से काम चला सके तो कभी भी दूध ग्रहण करना नही चाहिये, पर अनुभव करने पर यह प्रतीति मे आता है कि इन दो पदार्थों के अतिरिक्त शरीर को कुछ चिकनाई व अन्य आवश्यक विटामिन की भी आवश्यकता है, जो दूध मे मिलते है, वनस्पति मे नही। इसीलिये यदि अधिक काल तक दूध का प्रयोग न किया जावे तो शरीर शिथिल हो जाता है, विचारणायें बाधित हो जाती है, बुद्धि सोने लगती है, साधना भङ्ग हो जाती है। यह यद्यपि अपनी ही कमजोरी है पर इसी कमजोर हालत मे साधना करना अभीष्ट है। इसलिये तीनो मे सबसे निकृष्ट होते हुए भी दूध दही आदि के ग्रहण की आज्ञा गुरुओ ने दी है। यहां इतना विवेक अवश्य रखना चाहिये कि यह प्रयोजन वश रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। वास्तव मे तो यह दूध अग्राह्य ही है। यदि किसी की शक्ति बढ़ जाये तो सबसे पहले उसे दूध का ही त्याग करना चाहिये, वनस्पति के त्याग का नम्बर उससे पीछे आना चाहिये। समाधि मरण के प्रकरण मे जो अन्न का त्याग पहले व दूध का पीछे बताया है वह दूसरी अपेक्षा से है। शारीरिक शक्ति बढ़ने की वहां अपेक्षा नही है, बल्कि आहार घटाने की अपेक्षा है। अन्न की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण दूध का त्याग वहाँ पीछे होता है।

१५ अण्डे व दूध में महान अन्तर

यहां एक और प्रश्न होता है कि शक्ति की हीनता वश रिश्वत देने ही की बात है, तो अण्डे व मांस की रिश्वत देना भी योग्य हो जायेगा। ऐसा वास्तव में नही है, क्योंकि शरीर के लिये सर्व आवश्यक अङ्ग खाद्य पदार्थों की उस अन्तिम श्रेणी में विद्यमान हैं। आज का विज्ञान उसको सिद्ध करता है। दूध व घी मे मांस व अण्डे से अधिक विटामिन मौजूद हैं अतएव शरीर के लिये तो मासादि की आवश्यकता है नही, हां स्वाद के लिये हो तो हो। स्वाद के लिये किया गया ग्रहण रिश्वत नही कहा जा सकता, क्योकि वह भोग में गर्भित है। दूसरे वे पदार्थ पहले ही अधिक हिंसा के कारण अभक्ष्य बता दिये गये। साधक को भक्ष्य ही पदार्थ ग्रहण होने चाहिये। प्राण जाये तो भी अभक्ष्य का ग्रहण करना योग्य नही, क्योकि उनके ग्रहण से साधना में सहायता मिलने का तो प्रश्न ही नही, पर बाधा अवश्य आ जाती है। अर्थात् जैसे कि पहले बता दिया गया वह तामसिक भोजन है सात्विक नहीं। उनका प्रभाव जीवन पर बड़ा विषैला होता है। अत. जीव हिंसा, साधना, व तामसिक पना इन तीनों बातों के कारण मांस व अण्डा, दूध व घी से नही मिलाए जा सकते।

एक प्रश्न और है कि भले ही मांस को त्रस जीव (Animal Life) की हिंसा के कारण अभक्ष्य कहें पर अण्डा तो ऐसा नही है क्योकि अण्डे भी दो प्रकार के होते है—एक प्राण सहित और एक प्राण रहित। अर्थात् एक वह जिसमे से कि बच्चा निकल सकता है और एक वह जिसमे से बच्चा नही निकलता। प्राण रहित अण्डा तो भक्ष्य मानना ही चाहिए, पर प्राण सहित भी भक्ष्य ही है क्योंकि उसमें भी प्राण बाद पीछे से आते हैं, पहले से विद्यमान नहीं होते। पहले तो केवल कुछ पीला पीला पानी सा ही होता है।

भाई! तनिक विवेक से काम लो। जिह्वा के वश में होकर ऐसी अयोग्य बात करनी युक्त

नही। आज तो विज्ञान का युग है। आज भी तू ऐसा कह रहा है, आश्चर्य है। सूक्ष्म निरीक्षण यन्त्र (Microscope) मे दोनो ही जाति के अण्डो का वह पीला सा पानी क्या देखा है कभी ? यदि नही तो एक बार देखने का प्रयत्न कर, या मुझ पर विश्वास कर। वह पीला पीला दीखने वाला पानी वास्तव मे त्रस जीवो (Animal Life) के पुन्ज के अतिरिक्त और कुछ नही। भले ही इन चक्षुओं मे दिखाई न दे पर यन्त्र मे वह भागते दौडते व कुमि कुमि करते स्पष्ट दिखाई देते है। वह भी एक दो नही होते, असख्यात (Countless) होते है। अण्डे मे प्राणी पीछे से आता हो, सो भी बात नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो अण्डा कभी बडा न हो पाता। तात्पर्य यह है कि दूध व अण्डे मे आकाश पाताल का अन्तर है।

दूध यद्यपि नसों मे से आता अवश्य है पर उसमे पाए जाने वाले वैक्टेरिया त्रस नही हैं, बनस्पति काय के (Plant Life) है। यह मै अपनी तरफ से कह रहा हूँ ऐसा नही है। सूक्ष्म प्राणी विज्ञान (Biology Science) ऐसा कहती है। दूसरे वह भी सख्यात मात्र ही होते हैं असंख्यात नही। इसलिए अण्डा तामसिक है, और दूध सात्विक। दही जमाने के लिए भी यद्यपि जान बूझ कर दूध मे जामन के द्वारा कुछ वैक्टेरिया विशेष प्रवेश करा कर उसमे उनकी सन्तान वृद्धि कराई जाती है, पर फिर भी वह भक्ष्य है, क्योकि उनकी सख्या सख्यात मात्र को उलघन कर नही पाती। फिर भी दूध की अपेक्षा दही मे वैक्टेरिया अधिक होते हैं, यह सत्य है। और इसलिए दूध की अपेक्षा दही त्याज्य है। पर घी बनाने के लिए दही जमाना आवश्यक है इसलिए उसका ग्रहण किया गया है।

५१

—: सल्लेखना :—

१—शान्ति के उपासक की गर्जना, २—सल्लेखना आत्म हत्या नहीं, ३—साधक व शरीर का सम्बन्ध
४—अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन, ५—साम्यता, ६—आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर।

१ शांति के उपासक की गर्जना — अहो शान्ति के उपासक की अलौकिक घोषणा, "जीऊगा तो शान्ति से और मरूगा तो भी शान्ति से।" एक अग्रेजी का उपासक कहता है 'कि हसना हो तो अग्रेजी मे और रोना हो तो भी अग्रेजी मे।' इसे कहते है आदर्श या लक्ष्य बिन्दु, ध्रुव सकल्प, आन्तरिक वीर्य। लोक की बडी से वडी वाधा भी मुझे मेरे आदर्श से विचलित करने मे समर्थ नही। अव तक स्वामी बन कर जीया हूँ, आगे भी स्वामी बन कर ही जीऊगा। एक क्षण को भी दासत्व स्वीकार करना मेरे लिये असम्भव है। शरीर जायेगा तो और मिल जायेगा, पर शान्ति गई तो फिर न मिलेगी। और यदि कदाचित् सदा के लिये बिदाइगी लेकर जाता है तो इससे अच्छी वात ही क्या ? न रहेगा बास और न वजेगी बाँसुरी। न शरीर रहेगा और न रहेगे इसके सम्बन्ध के यह बचे खुचे विकल्प, जो मार्ग मे आ आकर मेरी शान्ति मे रोडा ही अटकाते हैं। और मुझे चाहिये ही क्या ? मै शान्ति का उपासक बन कर निकला हू शरीर का नही। शरीर गया तो मैंने कुछ नही खोया, पर शान्ति गई तो मैने सब कुछ खो दिया।"

२ सल्लेखना आत्म हत्या नहीं — लौकिक मानव बेचारा क्या समझे इस गर्जना के मूल्य को। वह ठहरा शरीर का उपासक। उसकी दृष्टि मे शान्ति का क्या मूल्य ? शरीर ही तो उसका सर्वस्व है। शरीर गया तो उसका सब कुछ चला गया। वल्कि शरीर भी क्या उसके लिये तो शरीर की अपेक्षा भी धन अधिक प्रिय है। धन गया तो सब कुछ गया। और उसके पीछे खाना नहाना आदि सब कुछ गया, पागल हो गया और अन्त मे वही मृत्यु की गोद, जहा जा कर कि सब को विश्राम मिल जाता है। धन के पीछे खाना नहाना छोड कर या अरूचि पूर्वक जबरदस्ती थोडा वहुत खा कर पागलो की भांति बराबर शरीर को कृश करता हुआ एक दिन मृत्यु से आलिगन कर लेता है, तब तो मानव उसे आत्म हत्या नही कहता। परन्तु जब एक शान्ति का उपासक अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ प्रसन्नता पूर्वक शरीर से उपेक्षा धारण करके मृत्यु का सत्कार करने जाता है तो उसे वह आत्म हत्या कह देता है। क्या कारण ? यही न कि उसकी दृष्टि मे धूल मिट्टी ही धन है शान्ति नही। बस उसी प्रकार शान्ति के उपासक का शान्ति ही धन है, धूल मिट्टी नही। जिस प्रकार तेरी धारणा तेरी ही दृष्टि मे सत्य है

शान्ति के उपासक की दृष्टि मे नही, बस उसी प्रकार उसकी धारणा भी उसकी दृष्टि मे सत्य है, भले तू उसे सत्य न समझता हो। अपने सम्बन्ध मे कोई भी निर्णय करने का अधिकार जब तू उसे नही देता, तो भला विचार तो सही कि अपनी दृष्टि के निर्णय करने का अधिकार वह तुझे क्यो देने लगा। तेरी बात लौकिक है और उसकी अलौकिक। दोनो की दिशाये एक दूसरे के विपरीत हैं। अत भाई! उसकी इस घोषणा का मूल्य उसकी ही की दृष्टि से मापने का प्रयत्न कर। इसमे अपनी दृष्टि की टाग न अड़ा। यहाँ सब स्वतन्त्र है।

देख एक वीर योद्धा का आदर्श। शत्रु देश पर चढ कर आये तो अपना तन मन धन सर्वस्व होम दे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये। जीऊगा तो स्वामी बन कर, दास बन कर जीना मुझे स्वीकार नही, प्राण जाये तो जाये। और कूद पड़ता है जान बूझ कर युद्ध की आग मे, इसलिये कि या तो तेजवान बन कर निकलू गा या भस्म हो जाऊगा। तब तो उसकी इस साहस पूर्ण क्रिया को आत्म हत्या न कह कर वीरता कहता है। परन्तु एक शान्ति का उपासक योद्धा, अपने शान्ति देश पर शरीर की शिथिलिता के द्वारा किये गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिये जब इससे दृढ संकल्प पूर्वक युद्ध करने या अपना सर्वस्व अर्पण करने जाता है तब उसे आत्म हत्या की उपाधि प्रदान करता है। क्यो ? इसीलिये न कि बाहर का देश तो तुझे दीखता है, उसमे तो तेरा कुछ स्वार्थ है, पर अन्तरङ्ग का शान्ति देश तुझे इष्ट नही है। इसी से उस का तेरी दृष्टि मे कोई मूल्य नही है।

शत्रु देश पर चढ आये तब कायर लोग तो भय के मारे छिपने को स्थान ढूढने लगते है। रजाई मे मुह छिपा कर अपने को सुरक्षित करने का असफल प्रयास करते है। पर वीर जन तो ऐसे अवसरो की मानो प्रतीक्षा ही करते हो, ऐसे अवसर उसके लिये मानो सौभाग्य का सन्देश ले कर आये हो। और इसीलिये उसका मन हर्ष से फूल उठता है, साहस जागृत हो जाता है, भुजाये फडकने लगती है, और बेधडक हाथ मे तलवार लेकर निकल जाता है, घर से बाहर, अपने भाग्य को आजमाने, या यो कहिये कि अपनी वीरता की परीक्षा करने, जो कि उसकी दृष्टि मे सर्वस्व है। बस उसी प्रकार शरीर पर किंचित् भी बाधा या मृत्यु आई देख कर कायर व शरीर के दास लौकिक जन तो छिपने का ढूढने लगते है कोई स्थान, लेने लगते है डाक्टर की शरण, गिडगिड़ाने लगते है उसके सामने, भिखारियो की भाति, कि किसी प्रकार मृत्यु से उसे बचाले, पर शान्ति का उपासक वह वीर तो मानो पहले से ही तैयार बैठा था, मृत्यु का सत्कार करने के लिये। क्योकि लौकिक जनो की भाति उसका विश्वास पोच न था। यही तो अन्तर है लौकिक व अलौकिक जनो मे। अलौकिक वह शान्ति का पुजारी तो जानता है कि मृत्यु का ग्रास बनना ही इस शरीर का धर्म है, और शान्ति की रक्षा करना मेरा। पर लौकिक जन भले शब्दो मे कुछ भी कहे परन्तु अन्त करण मे यही विचारते रहते हैं, कि मृत्यु भले किसी अन्य को नबीना बना ले पर उसको तो नही बना सकती, क्योकि उसके पास बुद्धि व धन है। भाई! एक क्षण तो यह अहकार छोड़ कर उस अलौकिक दृष्टि को पहचानने का प्रयत्न कर, जिससे कि यह तेरा संशय, जो कि सल्लेखना और समाधिमरण को आज आत्म हत्या बता रहा है, दूर हो जाय।

साधक व शरीर का सम्बन्ध

सल्लेखना कहते है सत्—लेखना अर्थात् अपने शान्ति स्वभाव को देखना या उनको ही अपना जीवन समझते हुये चलना। शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका शरीर

हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उसके लिये इस चमडे के शरीर का क्या मूल्य ? पडा है तो पड़ा रहे, जावे तो जाये। पडा रहने से विशेष लाभ नही, और इसके जाने से कोई हानि नही। इसीलिये तो अपने जीवन काल मे वह शरीर को दास बना कर रखता है, लौकिक जनो की भांति उसका दास बन कर नही रहता। वह शरीर से स्पष्ट कह देता है कि, "देख भाई! तू आया है तो आ, मै तेरे आने मे कोई रोडा नही अटकाता, परन्तु एक शर्त है, कि यदि तुझे मेरे साथ रहना है तो जरा सम्भल कर रहना होगा। तेरी वह पुरानी टेव जो लौकिक जनो पर तू आजमाता है यहा न चलेगी। तेरी शक्ति यहां काम न कर सकेगी। और इस अपनी घोषणा की सत्यता का उसे विश्वास दिला देता है तपश्चरणादि अनुष्ठानो के द्वारा। जब शरीर को यह विश्वास हो जाता है कि यह ठीक ही कहता है, तो कुत्ते की भाति दुम हिलाता हुआ उसका दासत्व स्वीकार कर लेता है। उसके कार्य मे उसकी सहायता करता हुआ उसके साथ रहने लगता है, जिसके बदले मे वह शान्ति का उपासक उसको योग्य आहार आदि के रूप मे कुछ वेतन देना स्वीकार कर लेता है। पर यह बात पहले ही स्पष्टत बता देता है कि देख भाई! मै स्पष्टत. तेरे हृदयगम करा देना चाहता हूँ, कि यह वेतन मै तुझे उसी समय तक दूंगा जब तक कि तू मेरे काम मे अर्थात् मेरी शान्ति की साधना मे मेरी कुछ न कुछ थोडी या बहुत सहायता करता रहेगा। मै तेरे स्वभाव से भली भाति परिचित हू। मै इस बात को भूला नही हूँ कि तू मृत्यु का पुत्र है। तू सब लौकिक प्राणियो को अपने बाहरी प्रपच मे फसा कर अन्त मे उन्हे धोखा दे जाया करता है। भले ही उसने तेरी कितनी सेवाये की हो पर उस समय तू तोते की भाति आखे फिरा कर मानो सब कुछ भूल जाता है। तेरे सब वादे वेश्या के वादो वत् बन कर रह जाते है। और उसको साफ जवाब देकर उसके सर्वस्व अर्थात् शान्ति का अपहरण करके उसे रोता झीकता छोड तू अपना रास्ता नापता दिखाई देता है। बस तो समझ ले कि तेरा वह दाव मुझ पर न चलेगा। तुझे वेतन उसी समय तक दूगा जब तक कि तू मेरा दास बना मेरी कुछ सहायता करता रहेगा। जिस दिन भी तूने जरा आंख दिखाई कि मै तुझे वेतन देना बन्द कर दूगा। फिर भले ही रोना कि चीखना या जगत के जीवो की गवाही लेकर मानवी न्यायशालाओ मे आत्महत्या की दुहाई देना, मै एक न सुनूंगा। जो तुझे यह शर्त स्वीकार हो तो रह और नही तो अभी से जहा जाना है चला जा। मै तुझे रोकूगा नही।"

ऐसी निर्भीक गर्जना भला शरीर को सुनने का अभ्यास कहां ? वह तो जानता है केवल दूसरे को दास बनाना। स्वय दास बनाना उसने सीखा ही कब है ? पर क्या करे, इस योगी के सामने पेश पडती न देख दासत्व स्वीकार किये बिना और कोई चारा उसे दिखाई नही देता। इसलिये ही जीवन काल मे, वह उस योगी की साधना मे सदा सहायक रहता है। स्वाध्याय करने मे, तत्व चिंतन मे, आत्म ध्यान मे, शान्ति के वेदन मे, गुरुओ के दर्शन करने मे, उनका उपदेश सुनने मे, अन्य जनो की कल्याण करने की भावनाओ मे व अन्य शान्ति के कार्य क्षेत्रो मे वह सदा उसका, स्वामी भक्त सेवक की भाँति, साथ निभाता चलता है, ताकि उस योगी को उसके प्रति कोई सन्देह न रह जाये। सम्भवत वह सोच रहा हो कि योगी के हृदय पर अपनी सेवाओं की छाप जमा कर उसके चित्त को अपनी स्वामी भक्ति के सम्बन्ध मे पूर्ण विश्वास दिला दे, और कदाचित् ऐसा हो जाये तो एक दिन उससे उसके इस रूखे वर्ताव का बदला चुका ले। अर्थात् मृत्यु के अन्तिम समय मे उसके घरम डाका डाल कर उसका शान्ति धन चुरा कर सदा के लिये उससे बिदाई ले जाये।

४ अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन

परन्तु शरीर की यह उपरोक्त धारणा वास्तव मे भ्रम पूर्ण है। योगी सदा जागृत रहते है। एक क्षण को भी इसके प्रति से असावधान नही होते। जहा भी जरा बुढ़ापे के चिन्ह इस पर प्रगट हुए, या किसी असाध्य रोग ने इसे आ घेरा, या कुछ अन्य खराबियों के कारण यह साधना मे कुछ बाधक बनने लगा, या इस मे शिथिलता आती दिखाई देने लगी, स्वाध्याय व ध्यान आदि मे पूर्ववत् साथ निभाता प्रतीत न हुआ, कि योगी उसे वह पहले लिया वादा याद दिला कर उसे सम्बोधने लगता है। कि, "देख भाई! परस्पर मे हुये उस वादे के अनुसार हमारा और तेरा नाता अब टूटता है। बुरा न मानना। हमे तेरे प्रति कोई द्वेष नही है, बल्कि कुछ करुणा ही है। तूने इतने दिन हमारा साथ निभाया उसके लिये धन्यवाद। मै जानता हूँ कि तेरा दिल अब मुझे छोड़ कर जाने को सम्भवत. न भी हो, पर तू क्या करे, तू तो पराधीन ठहरा। तेरा स्वामी यम का हरकारा तेरे सर पर खडा है। तुझे तो उसके साथ जाना ही है, क्योकि तू उसका भोज्य है। मै यदि उससे तेरी रक्षा करने को समर्थ होता तो अवश्य करता। पर क्या करू यह मेरी शक्ति से बाहर है। इसलिये सम्भवत अब भी मै तुझे वेतन देता रहता यदि इस प्रकार करने से तेरी रक्षा हो सकती तो। परन्तु यह असम्भव है। इसलिये इस अवसर पर तुझे आहार आदि देना तुझे तो कोई लाभ न पहुँचा सकेगा, पर मुझे हानि अवश्य पहुँचा देगा। क्योकि यदि आहारादि के विकल्प उत्पन्न कर कर के तेरी सेवा मे मै जुट जाऊ तो मेरी ध्यानाध्ययन आदि शान्ति की साधना बाधित हुए बिना न रहे। और तू तो जानता है कि शांति मुझे कितनी प्रिय है। अत. भाई! अब मुझे क्षमा करना। जीवन काल मे जो दोष तेरे प्रति मुझ से बने है उसके लिये तुम मुझे क्षमा करना, और मै भी इस अवसर पर तुम्हारे सब दोषो को क्षमा करता हूँ। जाओ भाई जाओ, तुम अपने स्वामी का आश्रय लो। यही तुम्हारा कर्तव्य है। और मैं अपनी निधि की सम्भाल करू। सबको अपना अपना कर्तव्य निभाना ही योग्य है। अच्छा विदायगी।"

५ साम्यता

और इस प्रकार सरलता, शान्ति व साम्यता पूर्वक शरीर पर से अपना लक्ष्य हटा कर अन्तरध्यान मे लीन होने का अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्ति मे खो जाता है। उसे इस समय जगत के किसी भी प्राणी के प्रति या किसी भी पदार्थ के प्रति, पीछी कमण्डलादि के प्रति या शास्त्र के प्रति या शरीर के प्रति न कोई राग भाव या प्रेम भाव होता है और न द्वेष भाव। शरीर से या किसी साधु से या शिष्य से या गुरु से या यदि गृहस्थी है तो कुटुम्ब से कोई भी बदला लेने आदि की या उन्हे दु ख देने या सताने की भावना हो, ऐसा भी नही है। इसीलिये जिस प्रकार शरीर को सम्बोध कर शान्ति पूर्वक उससे विदाई ली उसी प्रकार कुटुम्बादि को सम्बोध कर सब को शान्ति प्रदान कर देता है। उसके उस समय के मधुर सम्भाषण से किसी को भी कोई कष्ट हो यह तो सम्भव ही नही है, हाँ सबको शान्ति ही मिलती है। जिसके अन्दर मे शान्ति पड़ी है वह दूसरो को भी शान्ति के अतिरिक्त और क्या दे सकेगा।

सबको इसी प्रकार सम्बोधता है, "भो मेरे साथियो हो! मै तुम सब का बहुत आभारी हूं। इस जीवन मे आपने मेरी बहुत सेवाये की हैं। उनके बदले मे आपको देने को तो कुछ नही, हां क्षमा चाहता हूँ। भाईयो! तुम्हारे हृदय मे यदि मेरे प्रति कोई राग या प्रेम भाव पडा है तो उसे निकाल देना, क्योंकि मिलना और बिछुड़ना इस लोक का स्वरूप ही है। सदा के लिये कौन मिल कर रह सकता है। सराय के पथिको वत् यह सम्मेल था। अब इसे भुला देना। याद रखने का प्रयत्न न करना। हम कहा से आये थे, हमे स्वय पता नही। अब कहां जा रहे है, हमें स्वयं पता नही। किनका साथ छोड़

कर यहां आये थे, हमे स्वयं पता नही। आपका साथ छोड़ कर अब किनका साथ पकड़ेंगे, यह भी पता नही। और आप भी यह सब कुछ नही जानते। इसलिये सदा साथ बने रहने की भावना का आप त्याग करो। हम शान्ति की शरण जाते हैं। प्रभु तुम्हे भी शान्ति प्रदान करें। हमारी सबके प्रति क्षमा है। हमे भी सब क्षमा करना।"

६ आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर

अब तनिक विचार कर देख तो सही कि क्या अन्तर है आत्म हत्या और इस सल्लेखना मे। भाई ऊपर की क्रियाओ पर से अनुमान लगाने का प्रयत्न न कर, अन्दर की भावनाओ को टटोल। ऊपर से तो नि.सन्देह कुछ आत्म हत्या सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दर मे उतर कर देखते हैं तो आकाश पाताल का अन्तर पाते हैं। सल्लेखनागत योगी मे है, सब के प्रति साम्यता और आत्म हत्या गत अपराधी मे है द्वेष या क्रोध की पूर्ति की भावना। योगी सबको शान्ति प्रदान करके जाता है, और अपराधी सब को दाह उपजा कर जाता है। योगी के अन्दर है शान्ति का सौम्य स्वाद, और अपराधी के अन्दर मे है द्वेष की भड़कती ज्वाला, जिसमे वह स्वय भडाभड जल रहा है। योगी के मुख मण्डल पर है मुस्कान व आशा, और अपराधी के मुख पर है क्रोध व निराशा। और इसी-लिये नियम से योगी के आगे आने वाला जीवन तो होता है शान्ति पूर्ण, और अपराधी का क्रोध व द्वेष पूर्ण। योगी तो आगे भी पुन शांति की साधना के प्रति ही झुकता है, और अपराधी क्रोध के वश पड़ा अपराधो के प्रति ही झुकता है। योगी के आगे आगे आने वाले जीवनो मे बराबर शाति की वृद्धि होती है और अपराधी के आगे आगे के जीवनो मे क्रोध की। योगी तो अपने प्रत्येक जीवन मे शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय मे सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवन मे उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है। दो या चार जीवनो के पश्चात् ही योगी की साधना तो पूर्णता को स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह तो पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है, पर अपराधी कषाय व चिन्ताओं के सागर रूप इस ससार में सदा गोते खाता रहता है। वर्तमान के प्रत्यक्ष दीखने वाले लक्षणो मे तथा अगले जीवनों के इन आने वाले लक्षणो मे इतना महान अन्तर देख लेने पर भी क्या यह शंका बनी रह सकती है कि सल्लेखना आत्म हत्या है? नही यह शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है, एक सच्चे वीर का महान पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर उसे जवाब दे, वह स्वयं उसे शान्ति व साम्यता पूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्ति की रक्षा मे सावधान रहता हुआ उस ही मे लय हो जाता है। इसीलिये इसका नाम समाधिमरण भी कहने मे आता है। समाधि अर्थात् निज शान्ति स्वभाव के साथ एकमेक होकर उसमे लय हो जाना।